❁ नमः सिद्धं ❁

मोक्षमार्गप्रकाशक

आचार्यकल्प पण्डित प्रवर टोडरमलजी

—: प्रकाशक :—

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, मुम्बई

एवं

तीर्थधाम मङ्गलायतन, अलीगढ़

ॐ

॥ नमः सिद्धं ॥

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी द्वारा विरचित

मोक्षमार्गप्रकाशक

पण्डित टोडरमलजी द्वारा विरचित मूल हस्तलिखित प्रति से
पुनः मिलान करके, आधुनिक खड़ी बोली में प्रकाशित

संशोधित एवं सम्पादित संस्करण;
परिशिष्ट-1 मोक्षमार्गप्रकाशक प्रश्नोत्तरी;
परिशिष्ट-2 मोक्षमार्गप्रकाशक दृष्टान्त वैभव।

सम्पादकद्वय -

डॉ. राकेश जैन शास्त्री
तीर्थधाम ज्ञानायतन
रामटेक रोड, नागपुर (महा.)

पवन जैन
तीर्थधाम मङ्गलायतन
अलीगढ़ / हाथरस (उ.प्र.)

—: प्रकाशक :—

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस.लि.
वी.एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400056

एवं

तीर्थधाम मङ्गलायतन
श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट
अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी-204216 हाथरस (उत्तरप्रदेश)

पण्डित टोडरमलजी द्वारा विरचित मूल हस्तलिखित प्रति से पुनः मिलान करके आधुनिक खड़ी बोली में प्रकाशित
नवीन संशोधित एवं सम्पादित संस्करण - 2019 : 4000 प्रतियाँ
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी की 130वीं जन्म-जयन्ती के अवसर पर प्रकाशित (वैशाख शुक्ल द्वितीया)

पुनः संशोधित एवं सम्पादित संस्करण - 2020 : 1000 प्रतियाँ
द्वितीय संस्करण - आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी के 300वें जन्म-जयन्ती वर्ष के
उपलक्ष्य में पुनः संशोधित एवं सम्पादित संस्करण

न्योछावर राशि :

— मुमुक्षुता की प्रगटता अथवा भावना/संकल्प ही,
इस ग्रन्थ का उचित मूल्य है।

प्राप्तिस्थान :

- **तीर्थधाम मङ्गलायतन**
  अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी - 204216, हाथरस (उत्तरप्रदेश)
  Mob. : 9997996346; Website : www.mangalayatan.com; e-mail : info@mangalayatan.com
- **श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट**
  हस्ते - **श्री हितेन ए. सेठ**
  302, कृष्ण-कुंज, प्लॉट नं. - 30, नवयुग सीएचएस लि., वी.एल. मेहता मार्ग
  विलेपार्ले (पश्चिम), मुम्बई - 400056
  e-mail : vitragva@vsnl.com / shethhiten@rediffmail.com
- **तीर्थधाम चिढ़ायतन,** हस्तिनापुर, जिला मेरठ-250404, उत्तर प्रदेश
  Mob. : 9837079003
- **पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट,** ए-4, बापूनगर, जयपुर - 302015 (राजस्थान)
- **सत्श्रुत प्रभावक ट्रस्ट,** 'गुरुगौरव', जैन मन्दिर मार्ग, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)
- **जैन अध्ययन केन्द्र,** पाटनी भवन, कहान तिराहा, झालरापाटन-326023 (राज०)
- **आजाद ट्रेडिंग कम्पनी,** जैनमन्दिर के नीचे, लाल कुँआ, बुलन्दशहर-203001 (उ.प्र.)

टाइप सेटिंग :
मङ्गलायतन ग्राफिक्स, अलीगढ़

मुद्रक : देशना कम्प्यूटर, जयपुर

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी द्वारा विरचित

मोक्षमार्गप्रकाशक

(नवीन संशोधित एवं सम्पादित संस्करण - 2019)

विषय-सूची

— आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी (संक्षिप्त जीवनवृत्त) 11
— अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी : संक्षिप्त जीवनवृत्त 15
— प्रकाशकीय (प्रकाशकीय - तीर्थधाम मङ्गलायतन) 21
— सम्पादकीय 23
— प्रस्तावना 42
— जैनशास्त्रों के अर्थ करने की पद्धति 67
— शास्त्र स्वाध्याय का प्रारम्भिक मङ्गलाचरण 68

मोक्षमार्गप्रकाशक

पहला अधिकार : **पीठबन्ध प्ररूपण** [१-२०]

मंगलाचरण
— अरहन्तों का स्वरूप; सिद्धों का स्वरूप २
आचार्य-उपाध्याय-साधु का सामान्य स्वरूप; आचार्य का स्वरूप ३
उपाध्याय का स्वरूप; साधु का स्वरूप; पूज्यत्व का कारण ४
अरहन्तादि से प्रयोजन सिद्धि; मंगलाचरण करने का कारण ८
ग्रन्थ की प्रामाणिकता और आगम-परम्परा; अपनी बात ११
असत्यपद रचना प्रतिषेध १४
वाँचने-सुननेयोग्य शास्त्र १४
वक्ता का स्वरूप १७
श्रोता का स्वरूप १७
मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रन्थ की सार्थकता १८

दूसरा अधिकार : संसार अवस्था का स्वरूप [२१-४४]

कर्मबन्धन का निदान २२-३२

कर्मों के अनादिपने की सिद्धि २२
जीव और कर्मों की भिन्नता २३
अमूर्तिक आत्मा से मूर्तिक कर्मों का बन्धन कैसे ? २४
घाति-अघाति कर्म और उनका कार्य २४
निर्बल जड़ कर्मों द्वारा जीव के स्वभाव का घात तथा
बाह्यसामग्री का संयोग २५

नवीन बन्ध विचार २६-३१

योग और उसके निमित्त से प्रकृति-प्रदेश बन्ध २६
कषाय और उसके निमित्त से स्थिति-अनुभाग बन्ध २७
ज्ञानहीन जड़-पुद्गल परमाणुओं का यथायोग्य प्रकृतिरूप परिणमन २८

कर्मों की सत्तारूप अवस्था २९

कर्मों की उदयरूप अवस्था २९

द्रव्यकर्म व भावकर्म का स्वरूप और प्रवृत्ति ३०

नोकर्म का स्वरूप और प्रवृत्ति ३१

नित्य निगोद और इतर निगोद ३१

कर्मबन्धनरूप रोग के निमित्त से होनेवाली जीव की अवस्था ३२-४४

घातिकर्म के निमित्त से होनेवाली अवस्थाएँ ३२

ज्ञानावरण-दर्शनावरण कर्म के उदय एवं क्षयोपशमजन्य अवस्था ३२
मतिज्ञान की पराधीन प्रवृत्ति ३३
श्रुतज्ञान की पराधीन प्रवृत्ति ३४
अवधिज्ञान-मन:पर्ययज्ञान-केवलज्ञान की प्रवृत्ति ३५
चक्षुदर्शन-अचक्षुदर्शन-अवधिदर्शन-केवलदर्शन की प्रवृत्ति ३५
क्षायोपशमिक ज्ञान-दर्शन की सामान्य प्रवृत्ति ३६
मोहनीय कर्मोदयजन्य अवस्था : ३७

दर्शनमोहरूप जीव की अवस्था ३८
चारित्रमोहरूप जीव की अवस्था ३८

अघातिकर्म के निमित्त से होनेवाली अवस्थाएँ ४१
वेदनीय कर्मोदयजन्य अवस्था ४१
आयु कर्मोदयजन्य अवस्था ४२
नाम कर्मोदयजन्य अवस्था ४३
गोत्र कर्मोदयजन्य अवस्था ४४

तीसरा अधिकार : **संसार दुःख तथा मोक्ष सुख का निरूपण** [४५-७५]

संसार दुःख और उसका मूलकारण ४६-७१

(क) कर्मों की अपेक्षा ४६-६१

ज्ञान-दर्शनावरण के निमित्त से होनेवाले दुःख और निवृत्ति ४६
मोहनीय कर्म के उदय से होनेवाले दुःख और उनसे निवृत्ति ५०
दर्शनमोहजनित दुःख और उनसे निवृत्ति ५०
चारित्रमोहजनित दुःख और उनसे निवृत्ति ५२
नो कषायजन्य अवस्था ५४
अन्तराय कर्म के निमित्त से होनेवाले दुःख और उनसे निवृत्ति ५७
वेदनीय कर्म के उदय से होनेवाले दुःख और उनसे निवृत्ति ५८
आयुकर्म के उदय से होनेवाले दुःख और उनसे निवृत्ति ६१
नामकर्म के उदय से होनेवाले दुःख और उनसे निवृत्ति ६१
गोत्रकर्म के उदय से होनेवाले दुःख और उनसे निवृत्ति ६२

(ख) पर्याय की अपेक्षा ६२-६९
एकेन्द्रिय जीवों के दुःख ६२
विकलत्रय व असंज्ञी पंचेन्द्रिय के दुःख ६५
संज्ञी पंचेन्द्रिय के दुःख ६५-६९
नरक गति के दुःख ६५
तिर्यंच गति के दुःख ६६

मनुष्य गति के दुःख ६७
देव गति के दुःख ६८
(ग) दुःख का सामान्य स्वरूप ७०-७१
चार प्रकार की इच्छाएँ ७०
मोक्ष सुख और उसकी प्राप्ति का उपाय ७२-७५

चौथा अधिकार : **मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र का निरूपण** [७६-९४]

मिथ्यादर्शन का स्वरूप ७६-८४
प्रयोजनभूत-अप्रयोजनभूत पदार्थ ७८
मिथ्यादर्शन की प्रवृत्ति ८०
जीव-अजीवतत्त्व सम्बन्धी अयथार्थ श्रद्धान ८०
आस्रवतत्त्व सम्बन्धी अयथार्थ श्रद्धान ८२
बन्धतत्त्व सम्बन्धी अयथार्थ श्रद्धान ८३
संवरतत्त्व सम्बन्धी अयथार्थ श्रद्धान ८३
निर्जरातत्त्व सम्बन्धी अयथार्थ श्रद्धान ८३
मोक्षतत्त्व सम्बन्धी अयथार्थ श्रद्धान ८४
पुण्य-पाप सम्बन्धी अयथार्थ श्रद्धान ८४
मिथ्याज्ञान का स्वरूप ८५-८७
मिथ्याचारित्र का स्वरूप ८८-९४
इष्ट-अनिष्ट की मिथ्या कल्पना ८९
राग-द्वेष का विधान व विस्तार ९१
मोह की महिमा ९३

पाँचवाँ अधिकार : **अन्यमत निरूपण** [९५-१६७]

सर्वव्यापी अद्वैत ब्रह्म मीमांसा ९६-१२४
सृष्टिकर्तावाद का निराकरण ९९
लोक के अनादिनिधनपने की पुष्टि ११०

ब्रह्मा से कुल प्रवृत्ति आदि का निषेध १११
अवतार मीमांसा ११२
योग मीमांसा : ज्ञानयोग मीमांसा ११५
भक्तियोग मीमांसा ११९
अन्यमत कल्पित मोक्ष की मीमांसा १२२
मुस्लिममत सम्बन्धी विचार १२३
अन्यमत निरूपित तत्त्व-विचार १२५-१३७
सांख्यमत १२५
शिवमत : नैयायिकमत १२७
वैशेषिकमत १२८
मीमांसकमत १३१
जैमिनीयमत; बौद्ध मत १३२
चार्वाकमत १३४
अन्यमत निराकरण : उपसंहार १३६
अन्यमतों से जैन मत की तुलना १३७-१४४
अन्यमत के उद्धरणों से जैनधर्म की समीचीनता और प्राचीनता १३९
श्वेताम्बर मत विचार १४५-१६७
अन्य लिंग से मुक्ति का निषेध १४६-१४९
गृहस्थ मुक्ति का निषेध १४६
स्त्री मुक्ति का निषेध; शूद्र मुक्ति का निषेध १४७
अछेरों का निराकरण १४८
श्वेताम्बर मत कथित 'देव-गुरु-धर्म' का अन्यथा स्वरूप १४९-१६०
देव का अन्यथा स्वरूप १४९
गुरु का अन्यथा स्वरूप १५२
धर्म का अन्यथा स्वरूप १५७
ढूँढक मत विचार १५८-१६७
प्रतिमाधारी श्रावक की अन्यथा प्रवृत्ति का निषेध १६०
मुखपट्टी आदि का निषेध १६१
मूर्ति पूजा निषेध का निराकरण १६२

छठा अधिकार : **कुदेव-कुगुरु-कुधर्म का निषेध** [१६८-१९२]

कुदेव का निरूपण और उनके श्रद्धानादि का निषेध **१६८-१७५**

व्यन्तरादि का स्वरूप और उनके पूजने का निषेध १६९

क्षेत्रपाल-पद्मावती आदि पूजने का निषेध १७३

कुगुरु का निरूपण और उसके श्रद्धानादि का निषेध **१७५-१८७**

कुलादि अपेक्षा गुरुपने का निषेध १७५

शिथिलाचार की पोषक युक्तियाँ और उनका निराकरण १८४

कुधर्म का निरूपण और उसके श्रद्धानादि का निषेध **१८८-१९२**

सातवाँ अधिकार : **जैन मिथ्यादृष्टियों का विवेचन** [१९३-२६७]

निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि **१९३-२१३**

निश्चयाभासी की स्वच्छन्दता और उसका निषेध २००

केवल निश्चयाभास के अवलम्बी जीव की प्रवृत्ति २०६

व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि **२१३-२४८**

कुल अपेक्षा धर्मधारक व्यवहाराभासी २१४

परीक्षा रहित आज्ञानुसारी धर्मधारक व्यवहाराभासी २१५

सांसारिक प्रयोजन के लिए धर्मधारक व्यवहाराभासी २१८

उक्त व्यवहाराभासी धर्मधारकों की सामान्य प्रवृत्ति २२०

धर्मबुद्धि से धर्मधारक व्यवहाराभासी २२१

सम्यग्दर्शन का अन्यथारूप **२२१-२३५**

देवभक्ति का अन्यथारूप २२१

गुरुभक्ति का अन्यथारूप २२३

शास्त्रभक्ति का अन्यथारूप २२३

सप्त तत्त्व का अन्यथारूप **२२४**

जीव-अजीवतत्त्व का अन्यथारूप २२५

आस्रवतत्त्व का अन्यथारूप २२६

बन्धतत्त्व का अन्यथारूप २२७

संवरतत्त्व का अन्यथारूप २२७
गुप्ति; समिति; धर्म २२८
अनुप्रेक्षा; परीषहजय; चारित्र २२९
निर्जरातत्त्व का अन्यथारूप २३०
मोक्षतत्त्व का अन्यथारूप २३३
सम्यग्ज्ञान का अन्यथारूप २३५
सम्यक्चारित्र का अन्यथारूप २३८
उभयाभासी मिथ्यादृष्टि २४८-२५७
सम्यक्त्व-सन्मुख मिथ्यादृष्टि २५७-२६७
पाँच लब्धियों का स्वरूप २६१

आठवाँ अधिकार : **उपदेश का स्वरूप** [२६८-३०४]

अनुयोगों का प्रयोजन २६८-२७१
प्रथमानुयोग का प्रयोजन २६८
करणानुयोग का प्रयोजन २६९
चरणानुयोग का प्रयोजन २७०
द्रव्यानुयोग का प्रयोजन २७१
अनुयोगों के व्याख्यान का विधान २७१-२८६
प्रथमानुयोग के व्याख्यान का विधान २७१
करणानुयोग के व्याख्यान का विधान २७५
चरणानुयोग के व्याख्यान का विधान २७७
द्रव्यानुयोग के व्याख्यान का विधान २८४
अनुयोगों के व्याख्यान की पद्धति २८६
व्याकरण-न्याय आदि शास्त्रों का प्रयोजन २८७
अनुयोगों में दोष-कल्पनाओं का निराकरण २८८-२९४
प्रथमानुयोग में दोष-कल्पना का निराकरण २८८
करणानुयोग में दोष-कल्पना का निराकरण २९०

चरणानुयोग में दोष-कल्पना का निराकरण २९१
द्रव्यानुयोग में दोष-कल्पना का निराकरण २९२
व्याकरण-न्यायादि शास्त्रों की उपयोगिता २९४
अनुयोगों में दिखायी देनेवाले परस्पर विरोध का निराकरण २९४
अनुयोगों का अभ्यास क्रम ३०४

नौवाँ अधिकार : **मोक्षमार्ग का स्वरूप** [३०५-३३९]

आत्मा का हित 'मोक्ष' ही है ३०५
पुरुषार्थ से ही मोक्ष-प्राप्ति ३०९
मोक्षमार्ग का स्वरूप ३१३-३३९
सम्यग्दर्शन का सच्चा लक्षण ३१५
तत्त्वार्थ सात ही क्यों ? ३१६
'तत्त्वार्थश्रद्धान' में अव्याप्ति-अतिव्याप्ति-असम्भवि दोष-परिहार ३१९
सम्यक्त्व के विभिन्न लक्षणों का समन्वय ३२३
सम्यक्त्व के भेद और उनका स्वरूप ३३०
सम्यग्दर्शन के आठ अंग ३३८
सम्यग्दर्शन के पच्चीस मलदोष ३३९

परिशिष्ट

(१) **समाधिमरण का स्वरूप** (पण्डित गुमानीरामजी) ३४० (i)-३४०(xvi)
(२) **रहस्यपूर्ण चिट्ठी** (पण्डित टोडरमलजी) ३४१-३४९
(३) **परमार्थ वचनिका** (पण्डित बनारसीदासजी) ३५०-३५५
(४) **उपादान-निमित्त की चिट्ठी** (पण्डित बनारसीदासजी) ३५६-३५९
(५) **शास्त्राभ्यास की महिमा** (पण्डित टोडरमलजी) ३६०-३६२

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी

(संक्षिप्त जीवनवृत्त)

अनुपम व्यक्तित्व के धनी आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी, राजस्थान प्रान्त के प्राचीन लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वानों में से एक हैं; इन्हें अद्‌भुत स्मरणशक्ति और मेधा प्राप्त थी। पण्डित टोडरमलजी के नाम का उल्लेख भी कई प्रकार से मिलता है—कहीं 'टोडरमल', तो कहीं 'टोडरमल्ल'। कहीं-कहीं 'टोडर' का भी प्रयोग मिलता है। आदर के साथ आपको लोग 'मल्लजी' या 'मलजी' भी कहा करते थे। यद्यपि इनका वास्तविक नाम 'टोडरमल' ही है। टोडर और टोडरमल्ल तो, छन्दानुरोध के कारण लिखे गये हैं क्योंकि इनके उल्लेख, पद्य में ही प्राप्त होते हैं।

इनके नाम के साथ 'पण्डित' शब्द का प्रयोग, विद्वत्ता के अर्थ में हुआ है। जैन-परम्परा में, 'पण्डित' शब्द का प्रयोग किसी के भी साथ जातिगत अर्थ में नहीं होता है। आपके नाम के साथ 'आचार्यकल्प' की उपाधि भी लगी मिलती है तथा जैनसमाज में आप '**आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी**' के नाम से ही अधिक प्रसिद्ध हैं। यद्यपि 'आचार्य' पद का सम्बन्ध तो उन महान दिगम्बराचार्यों से है, जिन्होंने जैन साहित्य की वृद्धि में अभूतपूर्व योगदान किया है तथापि उनके समान सम्मान देने के लिए इन्हें 'आचार्यकल्प' कहा जाता है क्योंकि इनका काम जैन आचार्यों से किसी भी प्रकार कम नहीं है किन्तु जैन परम्परा में 'आचार्यपद' नग्न दिगम्बर साधु को ही प्राप्त होता है; अत: इन्हें आचार्य न कहकर, 'आचार्यकल्प' कहा गया है।

विद्वानों के मतानुसार पण्डित टोडरमलजी की जन्मतिथि के बारे में कोई स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। हाँ, उनका देह-वियोग वि.सं. 1823-24 निश्चित है तथा पूर्व प्रचलित मान्यतानुसार उनकी उम्र लगभग 27 वर्ष मानी जाती रही है। पण्डित चैनसुखदासजी (जयपुर) ने उनका जन्म वि.सं. 1797 (सन् 1740 ईस्वी) लिखा है। पण्डित परमानन्द शास्त्री और पण्डित मिलापचन्द कटारिया का स्पष्ट मन्तव्य है कि पण्डितजी का जन्म, हर हालत में वि.सं. 1797 से लगभग 20 वर्ष पूर्व होना चाहिए।

यद्यपि पण्डित टोडरमलजी ने अपनी जन्म-तिथि के बारे में कहीं कुछ नहीं लिखा है किन्तु गोम्मटसार पूजा की जयमाला में, राजा जयसिंह के नाम का उल्लेख अवश्य आया है तथा उसमें गोम्मटसार आदि ग्रन्थों की भाषाटीका बन जाने का भी संकेत है। उक्त आधार पर, इस रचना एवं भाषाटीकाओं को सवाई जयसिंह के राज्यकाल में विरचित मानने पर, ये रचनाएँ वि.सं. 1800 के पूर्व की माननी होंगी, क्योंकि सवाई जयसिंह का राज्यकाल वि.सं. 1800 तक ही है। यदि उक्त तथ्य को सही माना जाए तो पण्डित टोडरमलजी का जन्म इससे 25-30 वर्ष पूर्व अवश्य मानना होगा, क्योंकि 25-30 वर्ष की उम्र के पूर्व गोम्मटसारादि ग्रन्थों की भाषाटीका लिख पाना सम्भव

नहीं लगता। आदरणीय डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल ने अपने शोध-ग्रन्थ में अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध कर दिया है कि उनकी आयु 27 वर्ष नहीं, बल्कि 47 वर्ष है।

इसी प्रकार पण्डित टोडरमलजी के जन्म-स्थान के सम्बन्ध में भी कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। उनके समकालीन ब्रह्मचारी रायमलजी ने उनके सिंघाणा-निवास की चर्चा अपनी जीवन-पत्रिका में स्पष्टरूप से की है। जहाँ तक उनके जन्म स्थान का प्रश्न है, वह तो जयपुर में होना सम्भव नहीं लगता, क्योंकि उस समय जयपुर बसा ही नहीं था; जयपुर का उद्भव, वि.सं. 1784 में हुआ है।

पण्डितजी के पिता का नाम श्री जोगीदास एवं माता का नाम श्रीमती रम्भादेवी था। ये जाति से खण्डेलवाल थे और गोत्र था 'गोदीका', जिसे भौंसा व बड़जात्या भी कहते हैं; इनके वंशज 'ढौलाका' भी कहलाते थे। वे विवाहित थे, लेकिन उनकी पत्नी व ससुराल पक्षवालों का कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता। उनके दो पुत्र थे — श्री हरिश्चन्द और पण्डित गुमानीराम; इनमें पण्डित गुमानीराम, उनके ही समान उच्चकोटि के विद्वान और प्रभावक आध्यात्मिक प्रवक्ता थे। उनके पास बड़े-बड़े विद्वान भी तत्त्व का रहस्य समझने आते थे। घुमक्कड़ विद्वान पण्डित देवीदासजी गोधा ने 'सिद्धान्तसार टीका प्रशस्ति' में इसका स्पष्ट उल्लेख किया है। पण्डित टोडरमलजी की मृत्यु के उपरान्त, वे उनके द्वारा संचालित धार्मिक क्रान्ति के सूत्रधार रहे; उनके नाम से एक पन्थ भी चला, जो 'गुमान पन्थ' के नाम से जाना गया है।

वे मेधावी और प्रतिभासम्पन्न थे एवं सदा अध्ययन-मनन-चिन्तन में अपना समय सार्थक करते थे। थोड़ा बहुत समय खाने-खेलने में गया होगा, उसके लिए उन्होंने स्वयं खेद व्यक्त किया है। उनकी शिक्षा, जयपुर में ही हुई। स्वयं उन्होंने अपने गुरु का उल्लेख कहीं भी नहीं किया है, अन्यत्र भी कोई स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं है।

पण्डितप्रवर जयचन्दजी छाबड़ा ने 'सर्वार्थसिद्धि वचनिका प्रशस्ति' में जयपुर की तेरापंथी सैली में शिक्षित होने की चर्चा की है। पण्डित टोडरमलजी ने भी जयपुर की इसी सैली में ही शिक्षा प्राप्त की थी। उन्होंने बाद में उक्त सैली का सफल संचालन भी किया। उनके पूर्व बाबा बंशीधरजी, उक्त सैली के संचालक थे; वे पुरुषों, महिलाओं और बच्चों को धार्मिक शिक्षा के साथ-साथ, न्याय, व्याकरण, छन्द, अलंकार, काव्य आदि विषय भी पढ़ाते थे; अत: सम्भावना यही है कि उनके शिक्षागुरु बाबा बंशीधर ही रहे होंगे। उक्त सैलियों में विधिवत् निर्वाचित नेता कोई नहीं होता था; प्राय: सभी तत्त्वप्रेमी बराबरी से रहते थे किन्तु कुछ व्यक्तित्व, विद्वान और प्रामाणिक वक्ता के रूप में स्वयं उभर आते थे और उनके निर्देशन में गोष्ठियाँ संचालित होने लगती थीं। इस कारण नेतृत्व या गुरु-शिष्य परम्परा सम्बन्धी कोई उल्लेख मिलना सम्भव नहीं है। जो भी कथन मिलते हैं, वे सामान्यरूप से सैलियों के मिलते हैं। यही कारण है कि पण्डित टोडरमलजी ने व्यक्ति-विशेष का गुरुरूप में उल्लेख नहीं किया।

पण्डित टोडरमलजी, गूढ़ तत्त्वों के तो स्वयंबुद्ध ज्ञाता थे। 'लब्धिसार' व 'क्षपणासार' की संदृष्टियाँ आरम्भ करते हुए वे स्वयं लिखते हैं, **'शास्त्र विषैं लिख्या नाहीं अर बतावने वाला मिल्या नाहीं।'**

उनकी आर्थिक स्थिति, साधारण थी। उन्हें अपनी आजीविका के लिए, जयपुर छोड़कर सिंघाणा तक जाना पड़ा था। सिंघाणा, जयपुर के पश्चिम में करीब 150 किलोमीटर दूर वर्तमान खेतड़ी प्रकल्प के पास स्थित है। वहाँ भी उनका कोई स्वतन्त्र व्यवसाय नहीं था। वे दिल्ली-निवासी एक साहूकार के यहाँ कार्य करते थे और निश्चितरूप से वे वहाँ चार-पाँच वर्ष से कम नहीं रहे।

कन्नड़ भाषा और लिपि का ज्ञान एवं अभ्यास भी उन्होंने स्वयं किया था, उसमें अध्यापकों के सहयोग की सम्भावना भी नहीं की जा सकती है क्योंकि उस समय उत्तर-भारत में कन्नड़ के अध्यापन की व्यवस्था, दुस्साध्य कार्य था। कन्नड़, एक कठिन लिपि है। द्राविड़ परिवार की सभी लिपियाँ कठिन हैं। उसको किसी की सहायता के बिना, सीखना और भी कठिन था, फिर भी उन्होंने उसका अभ्यास कर लिया और वह भी साधारण अभ्यास नहीं, बल्कि वे कन्नड़ भाषा के ग्रन्थों पर व्याख्यान भी करते थे एवं उन्हें कन्नड़ लिपि में लिख भी लेते थे। ब्रह्मचारी रायमलजी ने लिखा है, **'दक्षिण देस सूं पांच-सात और ग्रंथ ताड़पत्रां विषै कर्णाटी लिपि मैं लिख्या इहां पधारे हैं, ताकूं मलजी बांचै हैं, वाका यथार्थ व्याख्यान करै हैं वा कर्णाटी लिपि मैं लिखि ले हैं।'**

पण्डित टोडरमलजी की मृत्यु, जयपुर में ही हुई; उनके अपूर्ण टीका ग्रन्थ 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' की भाषाटीका वि.सं. 1827 में पूर्ण करनेवाले पण्डित दौलतराम कासलीवाल ने उसकी प्रशस्ति में इसका स्पष्ट उल्लेख किया है, पर 'कब और कैसे' के सम्बन्ध में वे एकदम मौन हैं। जबकि वि.सं. 1827 में ही पण्डित बखतराम शाह ने 'बुद्धि-विलास' समाप्त किया था और उन्होंने उसमें पण्डित टोडरमलजी को दिये गये, मृत्युदण्ड का विस्तृत वर्णन किया है। पण्डित बखतराम शाह के अनुसार, कुछ मतान्ध लोगों द्वारा लगाये गये शिवपिण्डी को उखाड़ने के आरोप के सन्दर्भ में राजा द्वारा सभी श्रावकों को कैद कर लिया गया था और तेरापंथियों के गुरु, महान धर्मात्मा, महापुरुष, पण्डित टोडरमलजी को मृत्युदण्ड दिया गया था। दुष्टों के भड़काने में आकर राजा ने उन्हें मात्र प्राणदण्ड ही नहीं दिया, बल्कि गन्दगी में गड़वा दिया था। यह भी कहा जाता है कि उन्हें हाथी के पैर के नीचे कुचलकर मारा गया था।

जगत के सभी भौतिक द्वन्द्वों से दूर रहनेवाले एवं निरन्तर आत्म-साधना व साहित्य-साधनारत इस महामानव को जीवन के मध्यवय में ही साम्प्रदायिक विद्वेष का शिकार होकर, जीवन से हाथ धोना पड़ा।

इस प्रकार पण्डित टोडरमलजी का जीवन, आध्यात्मिक चिन्तन और साहित्य-साधना के लिए समर्पित जीवन रहा है। अपने कठिन परिश्रम एवं प्रतिभा के बल पर ही उन्होंने अगाध विद्वत्ता

प्राप्त की व उसे बाँटा भी दिल खोलकर; अत: तत्कालीन धार्मिक समाज में उनकी विद्वत्ता व कर्तृत्व की विशेष पहिचान थी।

गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए भी, उनकी वृत्ति - सात्त्विक, निरीह एवं साधुता की प्रतीक थी; उनका अध्ययन-मनन, पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिए नहीं, वरन् अपने दोषों को दूरकर, जीवन को परम पवित्र बनाने के लिए था।

पण्डित टोडरमलजी, गम्भीर प्रकृति के आध्यात्मिक महापुरुष थे। वे स्वभाव से सरल, संसार से उदास, धुन के धनी, निरभिमानी, विवेकी, अध्ययनशील, प्रतिभावान, बाह्याडम्बर-विरोधी, दृढ़ श्रद्धानी, क्रान्तिकारी, सिद्धान्तों की कीमत पर कभी न झुकनेवाले, आत्मानुभवी, लोकप्रिय प्रवचनकार, सिद्धान्त-ग्रन्थों के सफल टीकाकार एवं परोपकारी महामानव थे।

उनका समग्र जीवन, आध्यात्मिक था; वे अपने दैनिक पत्र-व्यवहार में भी लोगों को आध्यात्मिक प्रेरणाएँ दिया करते थे। मुलतान (पाकिस्तान) में रहनेवाली अध्यात्मप्रेमी साधर्मी जैनसमाज को लिखी 'रहस्यपूर्ण चिट्ठी' के निम्नलिखित वाक्य, उनके आध्यात्मिक व्यक्तित्व के प्रतिबिम्ब हैं —

इहां जथासंभव आनन्द है, तुम्हारे 'चिदानन्दघन के अनुभव से सहजानन्द की वृद्धि' चाहिए।

उन्हें इस बात का बहुत दु:ख था कि वर्तमान में आध्यात्मिकरसिक, विरले ही हैं। अध्यात्म की चर्चा करनेवालों से उन्हें, सहज अनुराग था। वे व्यर्थ की लौकिक चर्चाओं से युक्त पत्र-व्यवहार करना पसन्द नहीं करते थे, पर अध्यात्म और आगम की चर्चा उन्हें बहुत प्रिय थी; अत: इस प्रकार के पत्रों को पाकर उन्हें प्रसन्नता होती थी और अपने स्नेहियों को इस प्रकार के पत्र लिखकर भेजने के लिए प्रेरणा भी दिया करते थे किन्तु सर्वोपरि प्रधानता 'आत्मानुभव' को ही देते थे; अत: वे अपने पत्रों में बार-बार यह प्रेरणा देना आवश्यक समझते थे कि '**निरन्तर स्वरूपानुभव में रहना।**' स्वरूपानुभव के बाद, द्वितीय वरीयता देते हुए वे लिखते हैं, '**तुम अध्यात्म तथा आगम ग्रन्थों का अभ्यास रखना।**'

इस प्रकार आप ज्ञान-ध्यानमय जीवनशैली की जीवन्त मूर्ति थे। जैनशासन के इस अग्रदूत का परिचय, उनकी लेखनी ही है; अत: पाठकों से अनुरोध है कि उस महामानव 'पण्डित टोडरमलजी' का अन्तस् झाँकने के लिए, उनके साहित्य का अवलोकन अवश्य करें।

डॉ० सचिन्द्र शास्त्री
तीर्थधाम मङ्गलायतन
अलीगढ़

साभार : पण्डित टोडरमल व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व - डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल
तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा - डॉ० नेमीचन्द शास्त्री, ज्योतिषाचार्य
जैन निबन्ध रत्नावली, भाग-2 - पण्डित मिलापचन्द कटारिया

अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

(संक्षिप्त जीवनवृत्त)

भारतदेश के सौराष्ट्र प्रान्त में बलभीपुर के समीप समागत 'उमराला' गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली वणिक परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्दभाई के घर, माता उजमबा की कूख से, विक्रम संवत् 1946 के वैशाख शुक्ल दूज, रविवार (दिनाङ्क - 21 अप्रैल, 1890 - ईस्वी) प्रात:काल इन बाल महात्मा का जन्म हुआ।

जिस समय यह बाल महात्मा इस वसुधा पर पधारे, उस समय जैन समाज का जीवन अन्ध-विश्वास, रूढ़ि, अन्धश्रद्धा, पाखण्ड, और शुष्क क्रियाकाण्ड में फँस रहा था। जहाँ कहीं भी आध्यात्मिक चिन्तन चलता था, उस चिन्तन में अध्यात्म होता ही नहीं था—ऐसे इस अन्धकारमय कलिकाल में तेजस्वी कहान सूर्य का उदय हुआ।

पिताश्री ने सात वर्ष की लघुवय में लौकिक शिक्षा हेतु, विद्यालय में प्रवेश दिलाया। प्रत्येक वस्तु के ह्रार्द तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धि, प्रतिभा, मधुरभाषी, शान्तस्वभावी, सौम्य, गम्भीर मुखमुद्रा तथा स्वयं कुछ करने के स्वभाववाले होने से, बाल 'कानजी', शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में लोकप्रिय हो गये। विद्यालय और जैन पाठशाला के अभ्यास में प्राय: प्रथम नम्बर आता था किन्तु विद्यालय की लौकिक शिक्षा से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। अन्दर ही अन्दर ऐसा लगता था कि 'मैं जिसकी खोज में हूँ, वह यह नहीं है।'

तेरह वर्ष की उम्र में छह कक्षा उत्तीर्ण होने के पश्चात्, पिताजी के साथ उनके व्यवसाय के कारण, पालेज जाना हुआ और चार वर्ष बाद पिताजी के स्वर्गवास के कारण, सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यवसायिक प्रवृत्ति में जुड़ना हुआ।

व्यवसाय की प्रवृत्ति के समय भी आप अप्रमाणिकता से अत्यन्त दूर थे; सत्यनिष्ठा, नैतिकता, निखालिसता और निर्दोषता से सुगन्धित आपका व्यावहारिक जीवन था। साथ ही आन्तरिक व्यापार और झुकाव तो सतत सत्य की शोध में ही संलग्न रहता था। दुकान पर भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। वैरागी चित्तवाले कहान कुँवर, कभी रात्रि को रामलीला या नाटक देखने जाते तो उसमें से भी वैराग्यरस का घोलन करते थे; जिसके फलस्वरूप पहली बार, सत्रह वर्ष की उम्र में पूर्व की आराधना के संस्कार और मङ्गलमय उज्ज्वल भविष्य की अभिव्यक्ति करता हुआ, बारह पंक्तियों का काव्य इस प्रकार रच जाता है —

शिवरमणी रमनार तूं, तूं ही देवनो देव।

उन्नीस वर्ष की उम्र में ही आपने रात्रि का आहार, जल तथा अचार का त्याग कर दिया था।

सत्य की खोज के लिए, दीक्षा लेने के भाव से 22 वर्ष की युवा अवस्था में दुकान का परित्याग करके, गुरु (स्थानकवासी) के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया और 24 वर्ष की उम्र में (अगहन शुक्ल 9, संवत् 1970) के दिन, छोटे से उमराला गाँव में 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में, स्थानकवासी सम्प्रदाय की दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा के समय, हाथी पर चढ़ते हुए धोती फट जाने से, तीक्ष्ण बुद्धि के धारक इन महापुरुष को शंका हो गयी कि कुछ गलत हो रहा है परन्तु सत्य क्या है? यह तो मुझे ही खोजना पड़ेगा।

दीक्षा के बाद, सत्य के शोधक इन महात्मा ने स्थानकवासी और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त आगमों का गहन अभ्यास, मात्र चार वर्ष में पूर्ण कर लिया।

सम्प्रदाय में बड़ी चर्चा चलती थी, कि कर्म है तो विकार होता है न? यद्यपि गुरुदेवश्री को अभी दिगम्बरशास्त्र प्राप्त नहीं हुए थे, तथापि पूर्व संस्कार के बल से, वे दृढ़तापूर्वक सिंहगर्जना करते हैं —

जीव, स्वयं से स्वतन्त्ररूप से, विकार करता है; कर्म से नहीं अथवा पर से नहीं। जीव, अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार करता है और सुल्टे पुरुषार्थ से उसका नाश करता है।

विक्रम संवत् 1978 में महावीरप्रभु के शासन उद्धार का और हजारों मुमुक्षुओं के महान पुण्योदय का सूचक एक मङ्गलकारी पवित्र प्रसंग बना —

महाराजश्री को, 32 वर्ष की उम्र में, विधि के किसी धन्य पल में, श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव रचित 'समयसार' नामक महान परमागम, एक सेठ द्वारा हस्तकमल में आया। इन पवित्र पुरुष के अन्तर से सहज ही उद्गार निकले – '**सेठ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।**' इसका अध्ययन और चिन्तवन करने से, अन्तर में आनन्द और उल्लास प्रगट होता है। इन महापुरुष के अन्तरंग जीवन में भी परम-पवित्र परिवर्तन हुआ। **भूली पड़ी परिणति ने, निज घर देखा।**

तत्पश्चात् श्री प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह, सम्यग्ज्ञानदीपिका इत्यादि दिगम्बर शास्त्रों के अभ्यास से, आपको नि:शंक निर्णय हो गया कि '**दिगम्बर जैनधर्म ही मूलमार्ग है और वही सच्चा धर्म है।**' इस कारण, आपकी 'अन्तरंग श्रद्धा कुछ और; बाहर में वेष कुछ' – यह स्थिति आपको असह्य हो गयी; अत: अन्तरंग में अत्यन्त मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय के परित्याग का निर्णय लिया।

परिवर्तन के लिए योग्य स्थान की खोज करते-करते, सोनगढ़ आकर वहाँ 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक एकान्त मकान में महावीरप्रभु के जन्मदिवस, चैत्र शुक्ल 13, संवत् 1991 (दिनांक - 16 अप्रैल, 1935) के दिन, दोपहर सवा बजे, 'सम्प्रदाय के चिह्न, मुँहपट्टी का त्याग'

कर दिया और स्वयं घोषित किया कि **अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं; मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म का श्रावक हूँ।** सिंहसमान वृत्ति के धारक इन महापुरुष ने, 45 वर्ष की उम्र में, महावीर्य उछाल कर यह अद्‌भुत पराक्रमी कार्य किया।

स्टार ऑफ इण्डिया में निवास करते हुए, मात्र तीन वर्ष के दौरान ही जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान छोटा पड़ने लगा; अत: भक्तों ने इन परम-प्रतापी सत्‌पुरुष के निवास और प्रवचन का स्थल '**श्री जैन स्वाध्यायमन्दिर**' का निर्माण कराया। गुरुदेवश्री ने वैशाख कृष्ण 8, संवत् 1994 (दिनांक - 22 मई, 1938) के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण किया। यह स्वाध्यायमन्दिर जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीरशासन की प्रभावना का केन्द्र बन गया।

दिगम्बरधर्म के चारों अनुयोगों के छोटे-बड़े 183 ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन किया, उनमें से मुख्य 38 ग्रन्थों पर, सभा में प्रवचन किये, जिनमें श्री समयसार ग्रन्थ पर 19 बार की गयी अध्यात्म वर्षा, विशेष उल्लेखनीय है। प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, परमात्मप्रकाश, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, समयसार कलश टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी बहुत बार प्रवचन किये हैं।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले और कुन्दकुन्दादि आचार्यों के गहन शास्त्रों के रहस्योद्‌घाटक इन महापुरुष की, भवताप विनाशक अमृतवाणी को ईस्वी सन् 1960 से नियमितरूप से टेप में उत्कीर्ण कर लिया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास, नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षित उपलब्ध हैं।

यह मङ्गल गुरुवाणी, देश-विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर-घर में गुंजायमान हो रही है। इससे इतना तो निश्चित है कि भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को पञ्चम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी ही भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

इन महापुरुष का धर्म-सन्देश, समग्र भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को, नियमित उपलब्ध होता रहे, तदर्थ सर्व प्रथम विक्रम संवत् 2000 के माघ माह (दिसम्बर, 1943) से **आत्मधर्म** नामक मासिक आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन, सोनगढ़ से आदरणीय श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी के सम्पादकत्व में प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान में भी गुजराती एवं हिन्दी भाषा में नियमित प्रकाशित हो रहा है।

पूज्य गुरुदेवश्री के दैनिक प्रवचनों को प्रसिद्ध करता दैनिक पत्र **श्री सद्‌गुरु प्रवचनप्रसाद** के नाम से ईस्वी सन् 1950, सितम्बर माह से नवम्बर, 1956 तक प्रकाशित हुआ। स्वानुभवविभूषित चैतन्यविहारी इन महापुरुष की मङ्गलवाणी को पढ़कर और सुनकर, हजारों स्थानकवासी श्वेताम्बर तथा अन्यमत के भव्यजीव भी तत्त्व की समझपूर्वक सच्चे दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी हुए। अरे! **मूल दिगम्बर जैन भी, सच्चे अर्थ में दिगम्बर जैन बने।**

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा दिगम्बर आचार्यों और प्रामाणिक पण्डितवर्यों के ग्रन्थों तथा पूज्य गुरुदेवश्री के उन ग्रन्थों पर हुए प्रवचन ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य विक्रम संवत् 199 (ईस्वी सन् 1943) से शुरु हुआ।

इस सत्साहित्य द्वारा वीतरागी तत्त्वज्ञान की देश-विदेश में अपूर्व धर्म-प्रभावना हुई, जो आज भी अविरलरूप से चल रही है। परमागमों का गहन रहस्य समझा कर, कृपालु कहान गुरुदेव ने हम साधर्मियों पर करुणा बरसायी है। तत्त्वजिज्ञासु जीवों के लिए यह एक महान आधार है और दिगम्बर जैन साहित्य की यह एक अमूल्य सम्पत्ति है।

ईस्वी सन् 1962 के दशलक्षण पर्व से, भारत भर में अनेक स्थानों पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रवाहित तत्त्वज्ञान के प्रचार के लिए **आध्यात्मिक प्रवचनकार** भेजना प्रारम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति से देशभर के समस्त दिगम्बर जैनसमाज में अभूतपूर्व आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न हुई। आज भी देश -विदेश में दशलक्षणपर्व में सैकड़ों प्रवचनकार विद्वान्, इस वीतरागी तत्त्वज्ञान का डंका बजा रहे हैं।

बालकों में तत्त्वज्ञान के संस्कारों का अभिसिंचन हो, तदर्थ सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 (ईस्वी सन् 1941) के मई महीने के ग्रीष्मकालीन अवकाश में **बीस दिवसीय धार्मिक शिक्षणवर्ग** प्रारम्भ हुआ, बड़े लोगों के लिए **प्रौढ़ शिक्षण वर्ग** विक्रम संवत् 2003 के श्रावण महीने से शुरु किया गया।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 की फाल्गुन शुक्ल दूज के दिन, नूतन **श्री सीमन्धरस्वामी दिगम्बर जिनमन्दिर** में, कहान गुरु के मङ्गल हस्त से श्री सीमन्धर आदि भगवन्तों की **पंच कल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा** सम्पन्न हुई। उस समय सौराष्ट्र में मुश्किल से चार-पाँच दिगम्बर मन्दिर थे और दिगम्बर जैन तो भाग्य से ही दृष्टिगोचर होते थे। जिनमन्दिर निर्माण के बाद, दोपहर कालीन प्रवचन के पश्चात् जिनमन्दिर में नित्य प्रति भक्ति का क्रम प्रारम्भ हुआ, जिसमें जिनवर भक्त गुरुराज हमेशा उपस्थित रहते थे और कभी-कभी अतिभाववाही भक्ति भी कराते थे।

इस प्रकार गुरुदेवश्री का जीवन, निश्चय-व्यवहार की अपूर्व सन्धि युक्त था।

ईस्वी सन् 1941 से ईस्वी सन् 1980 तक सौराष्ट्र-गुजरात के उपरान्त, समग्र भारतदेश के अनेक शहरों में तथा नैरोबी में **कुल 66 दिगम्बर जिनमन्दिरों की मङ्गल प्रतिष्ठा**, इन वीतराग-मार्ग प्रभावक सत्पुरुष के पावन कर-कमलों से हुई।

जन्म-मरण से रहित होने का सन्देश निरन्तर सुनानेवाले इन चैतन्य विहारी पुरुष की मङ्गलकारी जन्म जयन्ती 59 वें वर्ष से सोनगढ़ में मनाना शुरु हुआ। तत्पश्चात् अनेकों मुमुक्षु-मण्डलों द्वारा अन्तिम 91 वें जन्मोत्सव तक, भव्य रीति से मनाये गये। 75 वीं हीरक जयन्ती के अवसर पर समग्र भारत की जैनसमाज द्वारा चाँदी जड़ित आठ सौ पृष्ठीय **अभिनन्दन ग्रन्थ**, भारत सरकार के तत्कालीन प्रधानमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा मुम्बई में देशभर के हजारों भक्तों की उपस्थिति में पूज्यगुरुदेवश्री को अर्पित किया गया।

श्री सम्मेदशिखरजी की तीर्थयात्रा के निमित्त, समग्र उत्तर और पूर्व भारत में **मङ्गल विहार**, ईस्वी सन् 1957 और ईस्वी सन् 1967 में, ऐसे दो बार हुआ। इसी प्रकार समग्र दक्षिण और मध्यभारत में, ईस्वी सन् 1959 और ईस्वी सन् 1964 में ऐसे दो बार विहार हुआ।

इन **मङ्गल तीर्थयात्राओं** के विहार प्रसंगों में, लाखों जिज्ञासुओं ने इन सिद्धपद के साधक सन्त के दर्शन किए तथा भवान्तकारी अमृतमय वाणी सुनकर, अनेक भव्यजीवों के जीवन की दिशा आत्म-सन्मुख हो गयी। इन सन्त पुरुष को अनेक स्थानों से अस्सी से अधिक अभिनन्दनपत्र अर्पण किये गये हैं।

श्री महावीरप्रभु के निर्वाण के पश्चात् यह अविच्छिन्न, पैंतालीस वर्ष का समय (वीर संवत् 2461 से 2507 अर्थात् ईस्वी सन् 1935 से 1980 तक) वीतरागमार्ग की प्रभावना का स्वर्णकाल था। जो कोई मुमुक्षु, अध्यात्म तीर्थधाम स्वर्णपुरी / सोनगढ़ आते, उन्हें यहाँ तो चतुर्थ काल का ही अनुभव होता था।

विक्रम संवत् 2037, कार्तिक कृष्ण 7 अर्थात् दिनांक - 28 नवम्बर, 1980, दिन शुक्रवार को ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष - देह का, बीमारी का और मुमुक्षुसमाज का भी लक्ष्य छोड़कर, अपने ज्ञायक भगवान के अन्तर-ध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज परमात्मतत्त्व में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने, मुक्तिपुरी के पन्थ में यहाँ **भरतक्षेत्र से स्वर्गपुरी में प्रयाण** किया। वीरशासन को प्राणवन्त करके, अध्यात्मयुग सृजक बनकर प्रस्थान किया।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस युग के एक महान और असाधारण व्यक्तित्व थे, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से अत्यन्त दूर जन्म लेकर भी, स्वयंबुद्ध की तरह, स्वयं सत्य का अनुसन्धान किया और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से जीवन में उसे आत्मसात् किया।

इन वैदेही दशावन्त महापुरुष का अन्तर जितना उज्ज्वल है, उतना ही बाह्य भी पवित्र है – ऐसा पवित्रता और पुण्य का संयोग, इस कलिकाल में महाभाग्य से ही दृष्टिगोचर होता है। आपश्री की अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्त्विक और परिमित आहार, आगमसम्मत संभाषण, करुण और सुकोमल हृदय, आपके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। शुद्धात्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तवन और स्वाध्याय ही आपका जीवन था। जैनश्रावक के पवित्र आचार के प्रति, आप सदैव सतर्क और सावधान थे। जगत् की प्रशंसा और निन्दा से अप्रभावित रहकर, मात्र अपनी साधना में ही तत्पर रहे।

आप भावलिंगी मुनियों के परम-उपासक थे। आचार्य भगवन्तों ने जो मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उसे इन रत्नत्रय विभूषित सन्त पुरुष ने, अपने शुद्धात्म तत्त्व की अनुभूति के

आधार पर, सातिशय ज्ञान और वाणी द्वारा युक्ति और न्याय से, सर्व प्रकार से स्पष्ट समझाया है।

द्रव्य की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, आत्मा का शुद्धस्वरूप, सम्यग्दर्शन और उसका विषय, सम्यग्ज्ञान और ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता तथा सम्यक्चारित्र का यथार्थ स्वरूप इत्यादि समस्त ही विषय, आपश्री के परम-प्रताप से इस काल में सत्यरूप से प्रसिद्धि में आये हैं; उसके माध्यम से आज देश-विदेश में लाखों जीव, मोक्षमार्ग को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं – यह आपश्री का ही प्रभाव है।

समग्र जीवन के दौरान इन गुणवन्ता ज्ञानी पुरुष ने बहुत ही अल्प लिखा है क्योंकि आपको तो तीर्थङ्कर की वाणी जैसा योग था, आपकी अमृतमय मङ्गलवाणी का प्रभाव ही ऐसा है कि सुननेवाला उसका रसपान करते हुए थकता ही नहीं। दिव्य भावश्रुतज्ञानधारी इन पुराण पुरुष ने, स्वयं ही परमागम के सारभूत ऐसे सिद्धान्त लखाये हैं —

1. एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता।
2. प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय, क्रमबद्ध ही होती है।
3. उत्पाद, उत्पाद से है; व्यय या ध्रुव से नहीं।
4. उत्पाद, अपने षट्कारक के परिणमन से होता है।
5. पर्याय के और ध्रुव के प्रदेश भिन्न हैं।
6. भावशक्ति के कारण, पर्याय होती ही है; करनी नहीं पड़ती।
7. भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है।
8. चारों अनुयोगों का तात्पर्य, वीतरागता है।
9. स्वद्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करना, वह अन्यवशपना है।
10. ध्रुव का अवलम्बन है परन्तु वेदन नहीं, और पर्याय का वेदन है, अवलम्बन नहीं।

इन अध्यात्मयुगसृष्टा महापुरुष द्वारा प्रकाशित **स्वानुभूति का पावनपथ** जगत में सदा जयवन्त वर्तो!

तीर्थङ्कर श्री महावीरभगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले शासन स्तम्भ **श्री कहान गुरुदेव**, त्रिकाल जयवन्त वर्तो!!

सत्पुरुषों का प्रभावना उदय, सदा जयवन्त वर्तो!!!

प्रकाशकीय

(द्वितीय संस्करण)

'*तीर्थधाम मङ्गलायतन*' से प्रकाशित '**श्री मोक्षमार्गप्रकाशक**' के इस नवीन संस्करण का विचार पिताश्री पवनजी के मन में उत्पन्न हुआ। शरीर की अत्यन्त जर्जर अवस्था में भी, उन्होंने इसका सम्पादन करना प्रारम्भ किया। विशेषरूप से अल्प विराम (,) पूर्ण विराम (।) से शुरु हुआ यह सम्पादन कार्य, इतना विशालरूप ले लेगा – यह हमने भी नहीं सोचा था।

सम्पादन करते हुए कुछ स्थलों पर ऐसा विचार आया कि यदि इसे मूल हस्तलिखित प्रति से भी मिलान कर लिया जाए तो उचित होगा। पश्चात् हस्तलिखित प्रति की खोज करने पर, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर के व्यवस्थापक श्री पीयूषजी जैन के माध्यम से वहीं के एक विद्यार्थी श्री ऋषभ जैन शास्त्री, दिल्ली के पास इसकी पीडीएफ प्रति प्राप्त हो गयी।

हस्तलिखित प्रति के माध्यम से पिताश्री पवनजी एवं पण्डित श्री सचिनजी – दोनों ने मिलकर, इसके मिलान का कार्य प्रारम्भ किया।

इसी बीच आदरणीय पिताश्री की इस प्रकाशन के सम्बन्ध में डॉ. राकेश जैन शास्त्री, नागपुर के साथ फोन पर चर्चा भी हुई। उसके कुछ दिनों बाद ही पिताश्री का स्वास्थ्य देखने हेतु, डॉ० राकेशजी का मङ्गलायतन आना हुआ, तो वे भी उनके साथ इस सम्पादन कार्य में शामिल हो गए। उनका यहाँ का दो दिन का प्रवास, बीस दिन में परिवर्तित हो गया और उन्होंने मिलकर मूल हस्तलिखित ग्रन्थ के साथ, मिलान के कार्य का, एक दौर पूर्ण किया।

इसके बाद हमने अपने संशोधनों पर राय जानने के लिए एक विस्तृत पत्र, पिताश्री पवनजी के नाम से, भारत के अनेक विद्वानों को भेजा, उनमें सम्पादक-द्वय (पवन जैन अलीगढ़ एवं राकेश जैन शास्त्री, नागपुर) के अलावा डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल, जयपुर; पण्डित विमलदादा झांझरी, उज्जैन; ब्र. हेमन्तभाई गाँधी, सोनगढ़; ब्रह्मचारिणी कल्पनाबेन, जयपुर; पण्डित सचिनजी, मङ्गलायतन; पण्डित देवेन्द्रजी, बिजौलिया; पण्डित विक्रान्तजी शास्त्री, झालरापाटन; मङ्गलार्थी संयम जैन शास्त्री, नागपुर आदि प्रमुख हैं।

उनके द्वारा प्राप्त सुझावों से, हमने अपना संशोधन एवं सम्पादन कार्य एक बार पुनः प्रारम्भ

किया, परन्तु इस बार आदरणीय पिताश्री की अस्वस्थता के कारण, वे इसमें शामिल नहीं हो सके; अत: इस कार्य को नागपुर में रहकर डॉ. राकेशजी ने अपने परिवार के सहयोग से, स्वयं ही मिलान करके सम्पन्न किया।

एक बात और बताना चाहते हैं कि जिस प्रकार मङ्गलायतन से यह मूलप्रति के साथ मिलान का कार्य हुआ; उसी प्रकार जैन अध्ययन केन्द्र, झालरापाटन, राजस्थान के पण्डित श्री विक्रान्त पाटनी के नेतृत्व में, अध्येता विद्वानों ने मिलकर भी यह मिलान का कार्य किया है; अत: उनके द्वारा अनेक उपयोगी सुझाव भी हमें प्राप्त हुए हैं, जिनका हमने इस संस्करण में भरपूर उपयोग किया है।

वे स्वयं, राजस्थान प्रान्त के मूलनिवासी होने के कारण उनका पण्डित टोडरमलजी की मूलभाषा पर अच्छा अधिकार है।

इसी प्रकार श्री जगदीशजी पंवार, उज्जैन आदि महानुभावों ने भी स्वयं स्फूर्त भावना से, मूल से मिलान करके, अनेक उपयोगी सुझाव हमें भेजे; हमने व्यक्तिगतरूप से भी अनेक विद्वानों से सम्पर्क करके सुझाव प्राप्त किये, हम उनका भी आभार व्यक्त करते हैं। उक्त सभी विद्वज्जनों के यथोचित मार्गदर्शन / सहयोग से अत्यधिक परिश्रम करके लगभग एक वर्ष तक अनवरत यह सम्पादन एवं संशोधन कार्य गतिमान रहा है। डॉ० राकेशजी से अन्तिम रूप में प्राप्त होने पर एक बार पिताश्री पवनजी, पण्डित सचिनजी एवं डॉ० सचिन्द्रजी के द्वारा पुन: मिलान किया गया।

इस नवीन संशोधित संस्करण के प्रकाशन कार्य में जितने भी महानुभाव विद्वानों (सम्पादकीय में विशेषरूप से उल्लिखित) ने हमें मार्गदर्शन / सुझाव / सहयोग आदि प्रदान किया है; इसी प्रकार टायपिंग कार्य में श्री विवेक पाल, मङ्गलायतन एवं संशोधन कार्य में मङ्गलायतन के सभी विद्वान् साथियों का सहयोग रहा है। '*तीर्थधाम मङ्गलायतन*' की ओर से हम उक्त सभी का, हार्दिक आभार ज्ञापित करते हैं।

आशा है '*तीर्थधाम मङ्गलायतन*' के प्रति आप सभी महानुभावों का हार्दिक स्नेह, आशीर्वाद और समर्पण यथावत् बना रहेगा।

श्री हितेन ए. सेठ
302, कृष्ण-कुंज, प्लॉट नं. - 30,
नवयुग सीएचएस लि., वी.एल. मेहता मार्ग,
विलेपार्ले (पश्चिम), मुम्बई - 400056

स्वप्निल जैन, महामन्त्री
श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट
'*तीर्थधाम मङ्गलायतन*',
अलीगढ़ / हाथरस (उ.प्र.)

सम्पादकीय

'*तीर्थधाम मङ्गलायतन*' के तत्त्वावधान में '**मोक्षमार्गप्रकाशक**' का नवीन संशोधित संस्करण, '**आचार्यकल्प महामना पण्डित टोडरमलजी**' के द्वारा स्वयं उनके हाथों से लिखी हुई मूलप्रति से पुनः मिलान करके, आज की प्रचलित हिन्दीभाषा में संशोधित एवं सम्पादित करके प्रकाशित करते हुए, अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

इस सन्दर्भ में यह जानकर आपको प्रसन्नता होगी कि '**मोक्षमार्गप्रकाशक**' – एक ऐसा ग्रन्थ है, जो सम्पूर्ण समाज द्वारा अत्यधिक आदर को प्राप्त है; '**जो अपूर्ण होनेपर भी, अपूर्व है।**'

हम यह गौरव के साथ कह सकते हैं कि यदि यह ग्रन्थ पूर्ण हो जाता तो इसमें सम्पूर्ण जिनागम ही समाहित हो जाता क्योंकि मौलिक ग्रन्थ होने के कारण, भले ही इस ग्रन्थ का आधार कोई एक ग्रन्थ न हो, भले ही यह किसी एक ग्रन्थ की टीका न हो, परन्तु समग्र जिनागम इसमें अवश्य ही समा जाता है। वर्तमान उपलब्ध '**मोक्षमार्गप्रकाशक की रचना शैली**' से भी इस बात की पुष्टि होती है।

मोक्षमार्गप्रकाशक : इतिहास के झरोखे से

इस ग्रन्थ के रचनाकाल से ही इसे इतना अधिक सम्मान एवं स्नेह प्राप्त हुआ कि पण्डित टोडरमलजी, जैसे-जैसे इसे लिखते जाते थे, इसकी अनेकों प्रतिलिपियाँ साथ ही साथ तैयार होती जाती थीं और सारे देश में विविध साधनों द्वारा वितरित कर दी जाती थीं।

आसपास के लोग तो अपने-अपने व्यापार एवं रिश्तेदारी के कारण, यहाँ आते ही थे; सारे देश के लोग भी जयपुर दर्शनार्थ पधारते थे; उनके माध्यम से इसकी प्रतियाँ सारे देश में पहुँच जाती थीं। इसी कारण, सारे देश के जिनमन्दिरों में इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ आज भी अत्यधिक संख्या में सुरक्षित हैं।

इसी कारण सम्पूर्ण भारत में 'पद्मपुराण' की हस्तलिखित प्रतियों की सर्वाधिक संख्या के बाद, सबसे अधिक प्रतियाँ, 'मोक्षमार्गप्रकाशक' की ही प्राप्त होती हैं; इससे इस ग्रन्थ के प्रति स्वाध्याय प्रेमियों में व्याप्त सम्मान व स्नेह, दीवानगी के स्तर तक अनुमानित किया जा सकता है, जो आज भी लगभग उसी स्तर पर सर्वत्र दिखाई देता है।

मूल हस्तलिखित प्रति : इस ग्रन्थ की मूल हस्तलिखित प्रति आज भी **श्री दिगम्बर जैनमन्दिर, दीवान भदीचन्दजी, घी वालों का रास्ता, जयपुर** में सुरक्षित है; जिसके फोटो प्रिन्ट, मुम्बई, दिल्ली, सोनगढ़ आदि स्थानों पर आज से लगभग ६५-७० वर्ष पूर्व ही सुरक्षित करा लिये गये थे।

आज से लगभग २५४ वर्ष पूर्व, वि. सं. १८२१ (ई. सन् १७६४) में पण्डित टोडरमलजी के सान्निध्य में जयपुर में ही वृहद् स्तर पर, एक '**इन्द्रध्वज विधान महोत्सव**' रचाया गया था, जिसमें सम्मिलित होने के लिए 'समयसार के वचनिकाकार : पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा' भी अपने परिवारीजनों के साथ आये थे, उस समय उनकी उम्र मात्र ११ वर्ष की थी।

इस महोत्सव के अवसर पर, ब्रह्मचारी रायमल्लजी ने दो पत्रिकाएँ लिखी थीं —

१. पण्डित टोडरमलजी की जीवन पत्रिका; २. इन्द्रध्वज विधानमहोत्सव की आमन्त्रणपत्रिका

इनमें ब्रह्मचारी रायमल्लजी ने उल्लेख किया है कि 'मोक्षमार्गप्रकाशक', बीस हजार श्लोक प्रमाण तैयार हो चुका है।

— इस बात से ये प्रश्न उत्पन्न होते हैं कि यदि उनकी मृत्यु वि. सं. २०२३-२४ में हुई तो बीच के दो-तीन वर्ष तक वे क्या करते रहे? क्या वे मृत्यु के बहुत पहले ही कैद हो चुके थे? क्या स्वास्थ्य आदि कारणों से उनका आगे लिखना सम्भव नहीं हो सका? ... इत्यादि अनुत्तरित प्रश्नों के समाधान तो खोजकर्ता ही जानें।

इसी सन्दर्भ में श्री पवनजी अलीगढ़ ने भी डॉ. संजीवजी गोधा जयपुर के साथ मिलकर, राजस्थान सरकार के तत्कालीन महामहिम राज्यपाल महोदय श्री कल्याणसिंहजी के सहयोग से प्रयास किया था। उन्होंने कोषागार आदि स्थानों से यह जानने की कोशिश की थी कि 'क्या मोक्षमार्गप्रकाशक के कुछ पृष्ठ और लिखे गये थे? – जो उनके जब्ती के सामान से हमें प्राप्त हो सकें?' परन्तु उनका यह प्रयास भी सफल नहीं हुआ।

अन्तिम निष्कर्ष के रूप में हमें यही सन्देश प्राप्त हुआ कि 'अब हमें उनका कुछ भी जब्त सामान प्राप्त नहीं हो सकता – या तो सरकारी कर्मचारियों के द्वारा उस सम्पूर्ण जब्ती के सामान को नष्ट कर दिया गया अथवा स्वयं प्रकृति ने ही उसे काल-कवलित कर दिया हो।'

मोक्षमार्गप्रकाशक की मूल हस्तलिखित प्रति और नवीन संस्करण

कतिपय विद्वान्, इस ग्रन्थ को 'मोक्षमार्गप्रकाश' के नाम से भी जानते हैं, सम्भवतया उनके अपने कुछ तर्क भी हों, परन्तु हम स्पष्ट करना चाहते हैं कि मूल हस्तलिखित प्रति में स्पष्टरूप से 'मोक्षमार्गप्रकाशक' नाम ही मिलता है; अतः पाठकों को भ्रमित होने की आवश्यकता नहीं है।

मूल हस्तलिखित प्रति के अनुसार, ग्रन्थ के अधिकारों का क्रम : एक विशेष बात की

ओर आप सबका ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं कि पण्डित टोडरमलजी **'मोक्षमार्गप्रकाशक' ग्रन्थ के अधिकारों का क्रम** कुछ परिवर्तन करना चाहते थे क्योंकि तीन अधिकार तक तो वे स्वयं मूल हस्तलिखित प्रति में इसका निर्देश करते हुए, इस प्रकार लिखते हैं —

'पीठबंध प्ररूपक' प्रथम अधिकार समाप्त भया। (मूल हस्तलिखित प्रति, पृष्ठ २६) **'संसार अवस्था का निरूपक' द्वितीय अधिकार सम्पूर्ण भया।** (मूल हस्तलिखित प्रति, पृष्ठ ५२) **'संसार दु:ख एवं मोक्ष सुख का निरूपक' तृतीय अधिकार पूर्ण भया।** (मूल हस्तलिखित प्रति, पृष्ठ ८७)

इसके बाद अधिकारों के अन्त में कहीं भी पण्डितजी ने अधिकार के क्रमांक का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है; सिर्फ प्रकाशित प्रतियों के चौथे अधिकार के बाद, उन्होंने इसे छठा अधिकार लिखा है; उनका स्वयं का कथन इस प्रकार है–**'मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र का निरूपणरूप' छट्ठा अधिकार संपूर्ण भया।** (मूल हस्तलिखित प्रति, पृष्ठ ११०)

पाँचवें आदि अधिकारों के अन्त में, अधिकार क्रमांक की जगह खाली छोड़ी गयी है; जैसे– पाँचवें अधिकार के बाद लिखा है–**'अन्य मत निरूपण' ..... समाप्त भया।'** (मूल हस्तलिखित प्रति, पृष्ठ २०४), छठे अधिकार के बाद लिखा है–**'कुदेव-कुगुरु-कुधर्म निषेध वर्णनरूप' ..... अधिकार समाप्त भया।'** (मूल हस्तलिखित प्रति, पृष्ठ २३७), सातवें अधिकार के बाद लिखा है–**'जैन मतवाले मिथ्यादृष्टी का निरूपण' जामैं भया अैसा ..... अधिकार संपूर्ण भया।'** (मूल हस्तलिखित प्रति, पृष्ठ ३४०), आठवें अधिकार के बाद लिखा है–**'उपदेशस्वरूप प्रतिपादक' नामा ..... अधिकार संपूर्ण भया।'** (मूल हस्तलिखित प्रति, पृष्ठ ३९१)

पश्चात् **नौवें अधिकार का समापन तो हुआ ही नहीं।**

'बहु' : प्राप्त हस्तलिखित प्रति के अन्त में पण्डित टोडरमलजी 'बहुरि' शब्द भी पूरा नहीं लिख पाये; मात्र **'बहु'** .... लिखने के बाद ही उनकी कलम रुक गयी; **उसके बाद वे और क्या-क्या लिखना चाहते थे, वह उनके साथ ही चला गया।**

— इस विश्लेषण से प्रतीत होता है कि वे अधिकारों को आगे-पीछे भी करना चाहते थे। पूर्व प्रचलित एवं प्रकाशित चौथे अधिकार को, छठा अधिकार लिखने से तो स्पष्टत: ज्ञात होता ही है अर्थात् वे पाँचवें-छठे अधिकारों को, चौथा-पाँचवाँ अधिकार बनाना चाहते थे क्योंकि उनमें गृहीतमिथ्यात्व का कथन किया गया है। उसके बाद वे **'अगृहीतमिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र के निरूपणरूप' छठा अधिकार** प्रस्तुत करना चाहते थे। इसके बाद ही सातवें अधिकार में **'जैन मिथ्यादृष्टि का निरूपण'** करके, आठवें-नौवें अधिकारों का क्रम उचित प्रतीत होता है।

नवीन संस्करण का सम्पादन-संशोधन

सम्पादनकार्य सम्पन्न करने में किये गये सत्प्रयत्नों एवं सहयोगी विद्वानों की क्रमवार सम्पूर्ण

जानकारी, पूर्व में प्रकाशकीय के माध्यम से दी जा चुकी है।

इस नवीन संस्करण के सम्पादनकार्य में विशेषरूप से जो संशोधन किये गये हैं, उनका दो प्रकार से वर्गीकरण किया जा सकता है—**सामान्य** एवं **विशेष संशोधन**।

'**सामान्य संशोधन**' में उन संशोधनों का समावेश किया गया है, जिन्हें इस संस्करण में सर्वत्र प्रयुक्त किया गया है; जैसे—विराम (,), अर्द्ध विराम (;), पूर्ण विराम (।), डैश (–) आदि वर्तनीसम्बन्धी संशोधन; तथा 'बहुरि', 'सो', 'अर', 'जो' आदि शब्दों के यथायोग्य प्रकरणानुसार अनुवादसम्बन्धी संशोधन, इत्यादि।

'**विशेष संशोधन**' में उन संशोधनों का समावेश है, जो आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी की मूल हस्तलिखित प्रति के आधार पर, विद्वानों की राय लेकर, अनुवाद में यत्किंचित् संशोधन किये गये हैं, उनमें से कुछ संशोधनों के उदाहरण, आपके अवलोकनार्थ प्रस्तुत हैं —

सामान्य संशोधन :

१. वर्तमानकालीन हिन्दी खड़ी बोली की वर्तनी के अनुसार, विभक्तियों को शब्दों से अलग रखा गया है। इसी शृंखला में अन्यत्र भी मूल का अनुसरण करते हुए, खड़ी बोली को ध्यान में रखते हुए, अनुवाद में संशोधन किया गया है।

२. भाषा की सहजता बनी रहे एवं वाक्यों के भाव, अच्छी तरह से समझ में आ जाएँ – इस उद्देश्य से, विराम (,), अर्द्ध विराम (;), पूर्ण विराम (।), डैश (–) आदि वर्तनीसम्बन्धी चिह्नों पर विशेष ध्यान दिया गया है।

३. पण्डितजी ने अपनी मूल हस्तलिखित प्रति में '**बहुरि**' शब्द का बहुत प्रयोग किया है, उसका अनुवाद करते हुए तो अनुच्छेद (पैराग्राफ) तोड़ा गया है अथवा उसकी जगह पर 'तथा', 'वहाँ', 'यदि', 'पुनः', 'अब', 'परन्तु', 'अर्थात्' आदि शब्दों के द्वारा उसका यथायोग्य अनुवाद किया है, ताकि विषय का यथार्थ भावभासन हो सके।

४. इसी प्रकार पण्डितजी ने अपनी मूल हस्तलिखित प्रति में '**सो**' शब्द का विभिन्न अर्थों में प्रयोग किया है; जैसे – 'वह', 'यह', 'अतः', 'इसलिए', 'लेकिन', 'किन्तु', 'परन्तु', 'जबकि', 'यदि' आदि। अतः हमने अनुवाद में भी 'सो' की जगह, 'उपयुक्त' शब्द का प्रयोग करके, उसके अर्थ को स्पष्ट किया है।

५. पण्डितजी ने अपनी मूलप्रति में, संज्ञा-सर्वनाम वाचक शब्दों के बाद '**कै**' शब्द का प्रयोग '**को**' के अर्थ में किया है तथा '**के**' शब्द का प्रयोग, सामान्यतः '**के**' अर्थ में ही किया है।

६. पण्डितजी ने '**यह**' और '**यहु**'—दोनों शब्द के प्रयोग किये हैं। जहाँ वे '**यह**' पर जोर देना चाहते हैं, वहाँ उन्होंने '**यहु**' शब्द का प्रयोग किया है; अतः '**यहु**' के स्थानपर, '**यह ही**' '**यह तो**' आदि अनुवाद किये गये हैं।

७. इसी तरह पण्डितजी के '**अर**' एवं '**वा**' शब्द की जगह पर '**और**', 'एवं', '**व**', 'तथा', 'या', 'अथवा' आदि उपयुक्त शब्दों का प्रयोग किया है।

८. पण्डितजी ने 'जो' शब्द का प्रयोग भी अलग-अलग अर्थों में किया है; जैसे–'**कि**', '**जो**', '**यदि**', (–) आदि; अत: उसकी जगहपर, उपयुक्त शब्द या चिह्न का प्रयोग किया है।

९. पण्डितजी ने मूलप्रति में 'मिथ्यादृष्टी' और 'मिथ्यादृष्टि'–ऐसे दो शब्दों के प्रयोग किये हैं। वे 'मिथ्यादृष्टी' कहकर, 'मिथ्यादृष्टी जीव' की बात करते हैं और 'मिथ्यादृष्टि' कहकर, भावरूप 'मिथ्यादर्शन, मिथ्याश्रद्धान या मिथ्यात्व' की बात करते हैं; अत: उन्होंने दोनों शब्दों के पृथक्-पृथक् प्रयोग किये हैं।

जैसे–प्रकाशित प्रति के पृष्ठ १९३ पर, तीन जगह 'मिथ्यादृष्टि' शब्द का प्रयोग, मिथ्यात्व के अर्थ में किया है तथा पृष्ठ १९५ में ऊपर से ६ठी पंक्ति में, 'मिथ्यादृष्टी' शब्द का प्रयोग, 'मिथ्यादृष्टि जीव' के अर्थ में किया है। इसी प्रकार 'सम्यग्दृष्टि (भाव) और सम्यग्दृष्टी (जीव)' 'बुद्धि (भाव) और बुद्धी (जीव)' आदि शब्दों के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए।

वर्तमान खड़ी बोली में, दृष्टी, बुद्धी आदि में बड़ी 'ई' की मात्रावाले प्रयोग दिखाई ही नहीं देते; अत: पूर्व प्रकाशित प्रतियों के अनुवादकों, सम्पादकों आदि का अनुसरण करते हुए तथा अनेक संस्कृत-हिन्दी भाषा के विद्वानों से चर्चा करने के उपरान्त, हमने भी 'जीव' के अर्थ में भी मिथ्यादृष्टि, अल्पबुद्धि आदि प्रयोग ही रहने दिये हैं लेकिन भावरूप 'दृष्टि', बुद्धि आदि के प्रयोग करते समय उसे पूर्व शब्द से अलग रखा है। जैसे–'मिथ्या दृष्टि' 'अल्प बुद्धि' आदि।

१०. **इस संस्करण में यह प्रयास किया गया है कि मूलप्रति में से एक भी शब्द को छोड़ा नहीं जाए।** जैसे–उन्होंने सर्व प्रथम, ग्रन्थ प्रारम्भ करते समय, '**ॐ नमः सिद्धं**' लिखा है तो हमने भी ग्रन्थारम्भ में वही रखा है। इसी प्रकार उन्होंने प्रश्नों के उत्तर लिखते समय '**ताका समाधान**' लिखा है, तो हमने भी उसका अनुवाद करते समय, '**उसका समाधान**' लिखा है। ... इसी प्रकार अन्यत्र जानना।

११. मूलप्रति में छठे अध्याय के बाद, सभी अध्यायों में मंगलाचरण के पूर्व '**ॐ नमः**' लिखा है; अत: उसे आधार बनाकर, हमने सभी अध्यायों के प्रारम्भ में दोहे के ऊपर ॥ **ॐ नमः** ॥ लिखा है।

१२. 'आदि' शब्द के लिए, उन्होंने अधिकतर '**आदिक**' और कभी-कभी '**आदि**' भी लिखा है; अत: हमने समानार्थक होने से, एकरूपता के लिए और संशय न हो, इस दृष्टि से, विद्वानों की राय लेकर, सर्वत्र '**आदि**' शब्द का प्रयोग ही किया है।

१३. इसी प्रकार 'घाति कर्म' या 'अघाति कर्म' को कहीं-कहीं '**घातियाकर्म**' या '**अघातियाकर्म**' भी लिखा है; अत: हमने एकरूपता की दृष्टि से, सर्वत्र '**घातिकर्म**' या '**अघातिकर्म**' ही रहने दिया है।

१४. यद्यपि मूलप्रति में सन्दर्भ के साथ, कहीं-कहीं ही अध्याय आदि का विवरण लिखा मिलता है तथापि पूर्ववर्ती प्रकाशनों में अधिकतम सन्दर्भों के विवरण खोजने का प्रयास किया गया है। कुछ सन्दर्भ इस संस्करण में और भी खोजे हैं, उनके विवरण कोष्ठकों अथवा पाद टिप्पण में दिये गये हैं। जैसे–पृष्ठ २३४ पर, '**प्रवचनसार, गाथा २३९ की उत्थानिका एवं टीका**' तथा पृष्ठ २३७ पर, '**समयसार गाथा २७३, २७४, २७५ एवं आत्मख्याति टीका**' आदि के उल्लेख प्रस्तुत किये हैं। ध्यान रहे–इस प्रकार सर्वत्र कोष्ठकों में दिये गये विवरण, अनुवादक-सम्पादक द्वारा ही दिये गये हैं।

१५. सन्दर्भों के जो उल्लेखनीय पाठभेद प्राप्त हुए हैं, उन्हें भी पादटिप्पण में समाविष्ट किया गया है; जैसे–पृष्ठ २९३ में समागत मोक्षपाहुड़ की गाथा ७७ की पहली पंक्ति मूलप्रति में – '**अज्ज वि तिरयणसुद्धा, अप्पा झाऊण जंति सुरलोए**' मिलता है, जबकि उसका पाठभेद यह भी मिलता है–'**अज्ज वि तिरयणसुद्धा, अप्पा झाएवि लहदि इंदत्तं**'। .... इसी प्रकार अन्यत्र जानना।

१६. यद्यपि पूर्व प्रकाशित संस्करणों में अनुच्छेदों (पैराग्राफ) का बँटवारा किया ही जा चुका था तथापि अभी भी जहाँ बड़े-बड़े अनुच्छेद प्रतीत हुए हैं, उन्हें भी विषयानुसार जहाँ सम्भव हुआ है, वहाँ अनुच्छेदों को छोटे करने का प्रयत्न किया गया है, जिससे पाठक को प्रकरण का मर्म समझने में मदद होती है।

१७. इस संस्करण में कुछ नये शीर्षक जोड़े गये हैं। जैसे – पृष्ठ ३२ पर '**घातिकर्म के निमित्त से होनेवाली अवस्थाएँ**' तथा पृष्ठ ४१ पर '**अघातिकर्म के निमित्त से होनेवाली अवस्थाएँ**' –ऐसे नये शीर्षक जोड़े गये हैं। ऐसे ही पृष्ठ ३६ पर भी, एक नया शीर्षक '**क्षायोपशमिक ज्ञान-दर्शन की सामान्य प्रवृत्ति**' जोड़ा गया है। .... इसी प्रकार अन्यत्र जानना।

१८. इसी प्रकार अनेक जगह विषय वस्तु के आधार पर, शीर्षकों में संशोधन भी किया गया है। जैसे–पृष्ठ ३२ पर '**ज्ञानावरण-दर्शनावरण कर्म के उदय एवं क्षयोपशमजन्य अवस्था**' – इस शीर्षक में '**एवं क्षयोपशमजन्य अवस्था**'–यह अतिरिक्त पद जोड़ा गया है क्योंकि संसारी जीव को ज्ञानावरण-दर्शनावरण कर्म का क्षयोपशम भी होता है तथा पण्डितजी ने उसकी अवस्था का वर्णन भी किया है तथा पृष्ठ ४१ पर '**अन्तरायकर्म के उदय एवं क्षयोपशमजन्य अवस्था**' – यह शीर्षक सुधार कर लिखा गया है। इसी प्रकार पृष्ठ १२२ पर '**अन्य मत कल्पित मोक्ष की मीमांसा**' – इस शीर्षक में '**मोक्षमार्ग**' की जगह '**मोक्ष**' सुधार कर लिखा है क्योंकि आगे पण्डितजी स्वयं 'अन्य मत के द्वारा मान्य मोक्ष का वर्णन' ही कर रहे हैं। .... इसी प्रकार अन्यत्र जानना।

१९. पूर्ववर्ती संस्करणों के समान ही इस संस्करण में, कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण वाक्यांशों को भी मोटे (बोल्ड) अक्षरों में परिवर्तित किया है, जिससे उन प्रकरणों पर, पाठकों का ध्यान आकर्षित हो।

२०. यद्यपि अनेक स्थानों पर विषय तो बदल गया है तथापि नया शीर्षक देना सम्भव नहीं

हुआ है; अत: वहाँ अनुच्छेद की अन्तिम पंक्ति के बाद ❁ ❁ ❁ – ऐसे निशान बनाकर, प्रकरण बदलने की सूचना दी गई है। (पृष्ठ १६६ पर देखें)।

२१. इस नवीन संस्करण में मूलप्रति के कुछ विशिष्ट स्थलों पर, कटी हुई पंक्तियों को पढ़ने का भी हमारे विद्वान् मित्र श्री विक्रान्त पाटनी ने प्रयास किया है। यद्यपि उन स्थलों को मूल में तो कदापि शामिल नहीं किया है तथापि कुछ स्थलों पर, पादटिप्पणी में संकेत अवश्य किये हैं; जैसे–पृष्ठ २०३ (कुछ काटे हुए उदाहरण), २०७ (विषय का स्पष्टीकरण), २०९ (सप्त तत्त्वों का संक्षिप्त स्वरूप), २१७ (विषय का स्पष्टीकरण), २२१ (प्रवचनसार गाथा ८० के आधार पर, देव का स्वरूप), २३४ (पुण्य-पाप तत्त्व का अन्यथा स्वरूप) आदि स्थल, ध्यान देनेयोग्य हैं।

२२. पूर्व प्रकाशित प्रति के जिन स्थलों पर, मूलप्रति को देखकर परिवर्तन किया गया है अथवा कुछ जोड़ा गया है, उनमें से कुछ विशिष्ट स्थलों पर, पादटिप्पणी में, मूलप्रति का पृष्ठ क्रमांक भी दिया गया है; जैसे–पृष्ठ क्रमांक १८५ पर, एक पूरी पंक्ति–'**सो दातार को उंचा मांनै अर दातार लोभी को नीचा मांनै**'–छूट गयी थी, वह जोड़ी गयी है।

विशेष संशोधन

विशेष संशोधनों में विशेष ध्यान देनेयोग्य बात यह है कि उपलब्ध मूलप्रति के पृष्ठ क्रमांक १ से १०९ तक और आगे भी अनेक स्थलों पर, मूलप्रति के पृष्ठ कटने-फटने-गलने आदि के कारण, अन्य प्रतिलिपिकारों के पृष्ठों को स्थान दिया गया है परन्तु उनमें वह शुद्धता ज्ञात नहीं होती, जो स्वयं पण्डितजी के हाथ से लिखे हस्तलिखित पृष्ठों में है। यद्यपि इन मूल हस्तलिखित पृष्ठों में काटना-सुधारना बहुत हुआ है, जिससे पढ़ने में असुविधा बहुत होती है तथापि यही काट-छाँट, उन पृष्ठों के **स्वयं पण्डितजी के द्वारा लिखित होने का प्रमाण** प्रस्तुत कर रहे हैं।

यद्यपि अन्य प्रतिलिपिकारों के पृष्ठों में उतना काटना-सुधारना नहीं दिखाई नहीं देता है, सफाई भी दिखाई देती है तथापि उनमें वह शुद्धता ज्ञात नहीं होती क्योंकि प्रतिलिपिकारों के निश्चितरूप से विद्वान् होने की कोई नियम नहीं होता है; उनसे तत्त्वज्ञान की सुनिश्चित अपेक्षा करना भी, बेमानी है; अत: उनके लिखने में अशुद्धता होना स्वाभाविक है।

यदि उन प्रतिलिपिकारों के लेखनोपरान्त स्वयं लेखक या किसी अन्य तत्त्वज्ञ विद्वान् व्यक्ति ने उनका सुधार नहीं किया है, फिर तो प्रति में गलतियों को होने से, किसी भी प्रकार रोका नहीं जा सकता है।

विशेष संशोधनों में कुछ स्थल ऐसे भी मिले हैं, जिनमें मूलप्रति का अनुसरण करते हुए, शब्दों की वर्तनी में यत्किंचित् परिवर्तन भी किया गया है। जैसे–नौवें अधिकार में पृष्ठ ३१५ में लक्षणाभास के प्रकरण में **अतिव्याप्त** को **अतिव्याप्ति, अव्याप्त** को **अव्याप्ति** और **असम्भव** को

असम्भवि किया है। ..... इसी प्रकार अन्यत्र जानना।

हम यहाँ उन **विशेष संशोधनों के कतिपय स्थल,** पाठकों के अवलोकनार्थ प्रस्तुत कर रहे हैं —

१. उपलब्ध मूलप्रति (हस्तलिखित) के पृष्ठ ३३ पर, प्रतिलिपिकार के प्रमादवश, तीन जगह पर, '**योग**' के लिए '**उपयोग**' शब्द का प्रयोग हुआ है। दो जगह पर, '**शुभयोग**' को '**शुभोपयोग**' और एक जगह पर '**अशुभयोग**' को '**अशुभोपयोग**' लिखा गया है। (ध्यान रहे – यदि ये पृष्ठ पण्डितजी के द्वारा लिखे हुए होते तो ऐसी गलती कभी नहीं होती।) यही कारण है कि प्रकाशित प्रति में (पृष्ठ २७ पर) पूर्ववर्ती अनुवादकों एवं सम्पादकों ने स्वविवेक से निर्णय करके, यहाँ '**योग**' के सूचक '**शुभयोग**' एवं '**अशुभयोग**' – इन शब्दों का ही प्रयोग किया है क्योंकि यहाँ प्रकरण, योग का ही चल रहा है; उपयोग का नहीं–इस बात की सूचना देने के लिए, हमने इस नवीन संस्करण में, उसी पृष्ठ के नीचे इस स्पष्टीकरण का सूचक, पादटिप्पण भी लगाया है।

२. इसी प्रकार एक और प्रकरण की ओर आपका ध्यान आकर्षित करते हैं–उपलब्ध मूलप्रति के पृष्ठ ३६ पर भी, प्रतिलिपिकार के प्रमादवश '**नो**' शब्द के साथ, '**कषाय**' शब्द गलती से जुड़ गया है। यह हम इसलिए कह रह रहे हैं क्योंकि वहाँ प्रकरण '**नोकषाय**' का नहीं; '**नोकर्म**' का चल रहा है। यही कारण है कि पूर्व प्रकाशित प्रति में (पृष्ठ ३१ पर), पूर्ववर्ती विद्वानों ने संशोधन करके, '**कषाय**' शब्द नहीं रखा, जो कि उचित है–यही सूचनार्थ हमने नवीन संस्करण में पादटिप्पण भी लगाया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि मूलप्रति में, यहाँ जो '**नो ईषत् कषाय वाचक**'–ऐसा लिखा है, वह '**नोकषाय के समान अल्प**'–ऐसा समझाने के लिए लिखा है। इस विषय की अधिक स्पष्टता के लिए प्रकाशित प्रति के पृष्ठ ४० (अन्तिम पंक्ति) भी देखें। वहाँ '**ईषत्कषाय**' का ही प्रकरण है और '**ईषत्कषाय**' ही लिखा है, उसके मूल में भी ऐसा ही है।

३. उपलब्ध मूलप्रति के पृष्ठ १३७ से १४७ तक एवं प्रकाशित प्रति के पृष्ठ ११५ से १२२ तक, 'योगमीमांसा' का वर्णन किया गया है, उसके दो प्रकार हैं–'ज्ञानयोग मीमांसा' और 'भक्तियोग मीमांसा'; अत: इसी क्रम में उनका वर्णन भी होना चाहिए। मूलत: 'योगदर्शन' में भी, इन दोनों का यही क्रम स्वीकार किया गया है।

यद्यपि मूलप्रति में पण्डितजी ने स्वयं पहले भक्तियोग का और बाद में ज्ञानयोग का वर्णन लिखा है परन्तु बाद में उन्हें स्वयं लगा कि ज्ञानयोग का वर्णन पहले होना चाहिए; अत: उन्होंने मूलप्रति में ही तीन बार इस बात के संकेत निम्न प्रकार दिये हैं —

❖ मूलप्रति के पृष्ठ क्रमांक १३७ पर, भक्तियोग का वर्णन लिखते समय, उसके हासिए पर ऊपर लिखा है–'**पहली आगैं ज्ञानयोग का निरूपण करै है, सो लिषि पीछै याको लिखना।**' अर्थात्

इसके बाद ज्ञानयोग का निरूपण किया है, उसे पहले लिखकर, बाद में इस (भक्तियोग) को लिखना।

❁ मूलप्रति के पृष्ठ क्रमांक १३७ की ६ठी पंक्ति में, ज्ञानयोग के ऊपर '१' का निशान (**ज्ञानयोग**[१]) और भक्तियोग के ऊपर '२' का निशान (**भक्तियोग**[२]) बना हुआ है।

❁ मूलप्रति के पृष्ठ क्रमांक १४२ पर, ज्ञानयोग का वर्णन लिखने के बाद, उसके हासिए पर ऊपर लिखा है–'**याकों पहलै लिखना**'।

यही कारण है कि हमने नवीन संस्करण में '**योगमीमांसा**' में '**ज्ञानयोग** का वर्णन' पहले और '**भक्तियोग** का वर्णन' बाद में प्रकाशित किया है। यद्यपि यहाँ पाठकों को पूर्व प्रकाशित प्रति से मिलान करनेपर, परेशानी होगी, परन्तु **पण्डितजी की भावना का सम्मान करते हुए, यह परिवर्तन किया है।** इस संशोधन के सूचनार्थ इस नवीन संस्करण के पृष्ठ ११५ पर, नीचे पादटिप्पण भी दिया है।

४. मूलप्रति (पृष्ठ १९०) एवं तदनुसार पूर्व प्रकाशित प्रति (पृष्ठ १५७) पर 'नौ पदार्थों के स्वरूप का संक्षिप्त उल्लेख' लिखा है परन्तु इस स्थल पर, 'बन्ध का संक्षिप्त स्वरूप' लिखना रह गया है; अतः यहाँ **[प्रकृति आदिरूप बन्ध का]** –ऐसा लघु वाक्यांश नवीन संस्करण में अतिरिक्त जोड़ा है तथा इस संशोधन के सूचनार्थ वहाँ पृष्ठ के नीचे, पादटिप्पण भी लिखा है।

५. पूर्व प्रकाशित प्रति (पृष्ठ १६६) पर लिखा है कि '**दूसरे को कहोगे तो प्रतिज्ञाभंग का पाप हुआ व परिणामों के अनुसार धर्मात्मापना नहीं ठहरा, परन्तु पाठादि करने के अनुसार ठहरा।**' जबकि मूलप्रति (पृष्ठ २०३) में 'प्रतिज्ञाभंग का पाप हुआ' की जगह 'प्रतिज्ञाभंग का पाप न भया अर्थात् प्रतिज्ञाभंग का पाप नहीं हुआ'–लिखा है।

इसका **समाधान** यह है कि पण्डितजी की मूलप्रति में प्रश्नात्मक भाषा का प्रयोग है; अतः हमने अनुवाद में '**प्रतिज्ञाभंग का पाप न भया ?**'–ऐसा साथ में प्रश्नवाचक चिह्न (?) भी लगाया है तथा इसी अभिप्राय का पोषक पादटिप्पण भी वहाँ दिया है।

६. पूर्व प्रकाशित प्रति (पृष्ठ १६८) में छठे अधिकार के प्रारम्भ में, मंगलाचरण के दोहे के नीचे '**अर्थः**–' ऐसा लिखा है परन्तु वहाँ दोहे का कोई अर्थ तो लिखा ही नहीं है; यहाँ मूलप्रति (पृष्ठ २०४) के अनुसार '**अथ**' लिखा है; जिसका तात्पर्य 'नवीन अधिकार के मंगलमयी प्रारम्भ की सूचना' करना है; अतः अनुवाद में वही सुधार किया है।

७. पूर्व प्रकाशित प्रति (पृष्ठ १७५) पर लिखा है–'प्रथम तो परद्रव्यों को इष्ट-अनिष्ट मानना ही मिथ्या है क्योंकि कोई द्रव्य, किसी का मित्र-शत्रु है नहीं तथा **जो इष्ट-अनिष्ट पदार्थ पाये जाते हैं**, उसका कारण, पुण्य-पाप है; इसलिए जैसे पुण्यबन्ध हो, पापबन्ध न हो, वह करना।' जबकि यहाँ मूलप्रति (पृष्ठ २१३) में–'जो इष्ट-अनिष्ट पदार्थ पाये जाते हैं' की जगह '**जो इष्ट-अनिष्ट की**

बुद्धि पायी जाती है'—ऐसा लिखा है; अत: यही हमने अनुवाद में भी सुधार कर लिखा है।

८. पूर्व प्रकाशित प्रति (पृष्ठ १८१) पर लिखा है—'जो आप कुगुरु है, उस कुगुरु के श्रद्धानसहित सम्यक्त्वी कैसे हो सकता है?' जबकि मूलप्रति (पृष्ठ २२२) में लिखा है कि 'जे आप कुगुरु, ते कुगरु का श्रद्धानरहित सम्यक्त्वी कैसैं होई' अर्थात् '**जो आप (स्वयं) कुगुरु हैं, वे कुगुरु के श्रद्धानरहित, सम्यक्त्वी कैसे हो सकते हैं?**'—ऐसा मूलानुगामी अनुवाद किया है।

९. पूर्व प्रकाशित प्रति (पृष्ठ १८३) पर परमात्मप्रकाश, अध्याय २, दोहा ८८ का अनुवाद इस प्रकार लिखा है—'चेला-चेली और पुस्तकों द्वारा मूढ़, सन्तुष्ट होता है; भ्रान्तिरहित ज्ञानी, उन्हें बन्ध का कारण जानता हुआ, उनसे लज्जायमान होता है।' जबकि यहाँ इस नवीन संशोधित संस्करण में इस वाक्य को मूलप्रति (पृष्ठ २२४) के अनुसार इस प्रकार सुधारा गया है —

'चेला-चेली और पुस्तकों से मूढ़, सन्तुष्ट होता है, वह (मूढता में) भ्रान्तिरहित ऐसा ही है परन्तु ज्ञानी, इन्हें बन्ध का कारण जानता हुआ, इनसे लज्जायमान होता है।'

— ऐसा ही अर्थ श्रीमद् राजचन्द्र ग्रन्थमाला, अगास से प्रकाशित मूलग्रन्थ 'परमात्मप्रकाश' में भी, पृष्ठ २०७ पर किया गया है।

१०. इस नवीन संशोधित प्रति (पृष्ठ १८३) में मूलप्रति के आधार पर, पण्डितजी की दूरगामी सोच को प्रदर्शित करता हुआ एक पादटिप्पण निम्न प्रकार से लगाया गया है —

'मूलप्रति में इसके बाद, पृष्ठ २२४ का लगभग आधा पृष्ठ एवं उसके बाद पृष्ठ २२५ पूरा खाली छोड़ा गया है, इससे प्रतीत होता है कि पण्डितजी यहाँ इस प्रकरण में और भी कुछ लिखना चाहते थे।'

११. पूर्व प्रकाशित प्रति (पृष्ठ १८५) पर लिखा है—'यद्यपि बाह्य में शास्त्र सुनानेवाला महन्त रहता है तथापि अन्तरंग में लोभी होता है; इसलिए सर्वथा महन्तता नहीं हुई।' जबकि यहाँ मूलप्रति (पृष्ठ २२८) में इसका सम्पूर्ण वाक्य एवं उसका अनुवाद इस प्रकार है—'यद्यपि बाह्य में शास्त्र सुनानेवाला महन्त रहता है तथापि अन्तरंग में लोभी होता है, तो **वह दातार को ऊँचा मानता है और दातार, लोभी को नीचा मानता है; (सो दातार कों उँचा मानै अर दातार, लोभी कों नीचा मांनै)**; इसलिए उसके सर्वथा महन्तता नहीं हुई।'

ध्यान रहे—यहाँ पूरा एक वाक्यांश ही छूट गया है, जिसे इस नवीन संस्करण में अनुवाद करके समाविष्ट किया गया है। साथ ही इस स्थल पर इसका सूचक एक पादटिप्पण भी लगाया गया है।

१२. पूर्व प्रकाशित प्रति (पृष्ठ २६४) एवं मूलप्रति (पृष्ठ ३३६) पर, अन्तरकरण के प्रकरण में लिखा है—अनिवृत्तिकरण के काल पश्चात्, उदय आनेयोग्य - ऐसे मिथ्यात्वकर्म के मुहूर्तमात्र निषेक, उनका अभाव करता है; उन परमाणुओं को अन्य स्थितिरूप परिणमित करता है।' हमने इस सन्दर्भ

में जयधवला, लब्धिसार आदि को देखकर, '**मुहूर्त**' की जगह '**अन्तर्मुहूर्त**' पाठ किया है। पूर्ववर्ती संस्करणों में भी 'अन्तरकरण' के सम्बन्ध में जयधवला का जो सन्दर्भ पादटिप्पण में दिया है, उससे भी इसी बात की पुष्टि होती है। तथा इस सन्दर्भ में पृष्ठ के नीचे हमने भी एक पादटिप्पण दिया है।

ध्यान रहे – मूलप्रति के पृष्ठ ३३६-३३७–ये दो पृष्ठ ही किसी कारणवश, अन्य प्रतिलिपिकार के द्वारा लिखाये गये हैं; ये पण्डितजी के लिखे हुए नहीं हैं; इसीलिए इन दो पृष्ठों में से ही प्रतिलिपिकार की भूलवश, '**मिथ्यात्व के मुहूर्तमात्र निषेक**'–ऐसा लिखा गया है।

१३. पूर्व प्रकाशित प्रति (पृष्ठ २६८) एवं मूलप्रति (पृष्ठ ३४०) से 'आठवाँ-अधिकार : उपदेश का स्वरूप' प्रारम्भ होता है परन्तु इस अधिकार में, मंगलाचरण का दोहा नहीं है; इसलिए कदाचित् यह भ्रम हो सकता है कि यहाँ से नया अधिकार प्रारम्भ माने या नहीं, लेकिन यह नया अधिकार ही है, इसके अनेक कारण ज्ञात होते हैं; जो इस प्रकार हैं —

* सातवें-अधिकार के अन्त में, पण्डितजी ने स्वयं प्रशस्ति लिखकर यह सूचित किया है कि यहाँ अधिकार पूरा होता है।
* आठवें अधिकार का प्रारम्भ भी, दूसरे अधिकारों के समान '**॥ॐ नमः॥**' से किया गया है–यह पद ही मंगलाचरण का प्रतीक है, इसका अर्थ ही यह होता है कि 'पंच परमेष्ठी को नमस्कार हो' अर्थात् मानो मंगलाचरण पूरा हो गया।
* सर्वत्र, जैसे–अधिकार का प्रारम्भ 'अथ' शब्द से किया गया है, उसी प्रकार यहाँ भी 'अथ' से ही अधिकार का प्रारम्भ हुआ है।
* आठवें-अधिकार के अन्त में भी, पण्डितजी ने पृथक् प्रशस्ति लिखकर अधिकार का समापन किया है।

१४. पूर्व प्रकाशित प्रति (पृष्ठ २७६) पर लिखा है–'अहमिन्द्रों के दुःख का कारण, व्यक्त नहीं है तथापि कदाचित् असाता का उदय कहा है। इसी प्रकार अन्यत्र जानना।' यहाँ मूलप्रति (पृष्ठ ३५२) में 'इसी प्रकार अन्यत्र जानना' के पहले, एक पंक्ति और लिखी है, जिसमें लिखा है–'**और नारकियों के सुख का कारण, व्यक्त नहीं है तथापि कदाचित् साता का उदय कहा है।**' अतः नवीन संस्करण में उसे जोड़ दिया है तथा इस अभिप्राय का एक पादटिप्पण भी लगाया है।

१५. पूर्व प्रकाशित प्रति (पृष्ठ ३३७) पर लिखा है–'**कषायों का अधिक-हीनपना होने पर भी, जैसे-प्रमत्तादि गुणस्थानों में, सर्वत्र 'सकलसंयम' ही नाम पाता है; उसी प्रकार मिथ्यात्वादि असंयत पर्यन्त गुणस्थानों में, 'असंयम' नाम पाता है, सर्वत्र 'असंयम की समानता' नहीं जानना।**'

यहाँ पर नीचे एक टिप्पणी भी दी है–विशेष देखें, आचार्य समन्तभद्र विरचित **युक्त्यनुशासन,**

श्लोक ५२ की आचार्य विद्यानन्दि द्वारा रचित, संस्कृत टीका। वहाँ टीका में अनेक प्रकार से शंका -समाधान करके, विस्तार में सिद्ध किया है, उसका एक अंश इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है —

''**शंका**—इस प्रकार तो असंयत सम्यग्दृष्टि को भी संयतपने का प्रसंग आता है क्योंकि मन के समत्व को ही संयम का स्वरूप माना गया है?

समाधान—तो ऐसा कौन कहता है कि **अविरतसम्यग्दृष्टि को सर्वथा संयम का अभाव होता है? उसको भी अनन्तानुबन्धी कषायात्मक असंयम का अभाव होने से, संयतपने की सिद्धि होती है। ....**

..... इसलिए असंयतसम्यग्दृष्टि को स्वानुरूप (अपनी अवस्था के अनुरूप) मनःसाम्य की अपेक्षा, समतारूप मन की सिद्धि होती है।''

इसी प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द विरचित अष्टपाहुड़ के अन्तर्गत आनेवाले चारित्रपाहुड़ में भी मूलगाथाओं (गाथा ४-२०) में चारित्र के दो भेद करके, अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में चतुर्थ गुणस्थान में प्रगट होनेवाले **निश्चय-व्यवहारस्वरूप सम्यक्त्वाचरणचारित्र** की चर्चा की है।

— इस प्रकार अनेक स्थलों पर, विद्वानों से राय लेकर, संशोधन किये हैं।

मोक्षमार्गप्रकाशक का प्रकाशन : इतिहास के झरोखे से

यह एक अत्यन्त लोकप्रिय ग्रन्थ है – इसका प्रमाण यह है कि सम्पूर्ण समाज में आज तक इसके बीसों संस्करण, बीसों संस्थाओं के माध्यम से निकल चुके हैं। **डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, जयपुर** ने अपने शोधग्रन्थ में उन सबका उल्लेख, विस्तार से किया है।[१] **इस नवीन संस्करण में भी उनके द्वारा लिखित प्रस्तावना, पूर्णरूप से प्रकाशित की जा रही है।** पाठकगण उसका लाभ लेवें।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ से प्रकाशित प्रथम संस्करण में प्रयुक्त खड़ीबोली का भाषा परिवर्तन अर्थात् अनुवाद को, **पण्डित टोडरमलजी** की **मूलप्रति** की फोटोप्रति के आधारपर, पूर्व प्रकाशित संस्करणों का सहारा लेकर, **श्री मगनलालजी जैन, ललितपुर** ने सोनगढ़ में रहकर, बड़ी लगन के साथ किया था।

इसका मिलान स्वयं **पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी** के सान्निध्य में, **पण्डित रामजीभाई माणिकचन्दजी दोशी, पण्डित हिम्मतलाल जेठालाल शाह, पण्डित श्री खीमचन्दभाई, ब्रह्मचारी चन्दूभाई तथा श्री नेमीचन्द पाटनी आदि** महानुभावों ने सूक्ष्मता से किया था; तत्पश्चात् ही इसे प्रकाशन हेतु दिया गया था।

सन् १९६६ में इसकी **११००० प्रतियों का प्रथम संस्करण** प्रकाशित हुआ, जिसका

---

[१] देखें, पण्डित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व, पृष्ठ १०९-११०

स्वाध्यायार्थ विक्रय मूल्य, मात्र 'दो रुपये' रखा गया; पश्चात् ७००० प्रतियों का द्वितीय संस्करण भी हूबहू प्रकाशित किया गया।

पश्चात् '**पण्डित टोडरमल : व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व**' पर पीएच.डी. करनेवाले सुप्रसिद्ध आध्यात्मिक विद्वान् **डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल** से मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रन्थ पर, **एक विस्तृत प्रस्तावना** लिखने हेतु निवेदन किया गया, जिसे उन्होंने सहर्ष स्वीकार किया और उनकी २८ पृष्ठीय प्रस्तावना के साथ, इसकी ७००० प्रतियों का तृतीय संस्करण प्रकाशित हुआ।

इसके बाद भी सम्पादनसम्बन्धी अनेक कमियों की ओर, स्वयं डॉ. साहब ने ध्यान दिलाया; जैसे–अटपटे शीर्षक, अनावश्यक लम्बे-लम्बे पैराग्राफ (अनुच्छेद) आदि। इन्हें दूर करने का महान श्रम भी डॉ. साहब ने ही किया और इसका ११००० प्रतियों का चतुर्थ संस्करण, उनके ही सम्पादकत्व में सोनगढ़ संस्थान से प्रकाशित किया गया। इसी प्रति के आधार पर, आगामी बारह संस्करण, ऑफसेट पद्धति (फोटो पद्धति) से हूबहू प्रकाशित होते रहे; पश्चात् १९९७ में इसका तेरहवाँ संस्करण, कम्प्यूटर द्वारा कम्पोज कराकर किया गया, लेकिन इन सभी संस्करणों में इस बात का ध्यान रखा गया कि पूर्ववर्ती संस्करणों के ही पृष्ठ क्रमांक पूर्ववत् रखे जाएँ, ताकि पूर्ववर्ती संस्करणों के साथ ही इसका भी स्वाध्याय होता रहे। इसका यह भी लाभ हुआ कि जिन महानुभावों ने मोक्षमार्गप्रकाशक के विषयसम्बन्धी पृष्ठ क्रमांक आदि यादकर रखे थे, उन्हें भी परेशानी नहीं हुई और नये पृष्ठ क्रमांक याद नहीं करने पड़े।

इसी नियम को इस नवीन संस्करण में भी, ध्यान में रखा गया है। विषयों के पृष्ठ क्रमांक वही रखने का प्रयास किया है। यदि कहीं कोई आवश्यकता पड़ी तो भी एक दो लाइन का ही फर्क आया है लेकिन उसे आगे नहीं बढ़ने दिया गया है।

इस अनुपम ग्रन्थ को जन-जन तक पहुँचाने में यदि किसी को इसका सम्पूर्ण श्रेय जाता है, तो वे हैं – **पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी**; उन्होंने अनेक बार इस ग्रन्थ पर, आद्योपान्त प्रवचन किए, जिनका प्रकाशन भी किया गया, उसका सार-संक्षेप प्रस्तुत किया गया, 'मोक्षमार्गप्रकाशक की किरणें' एवं 'मोक्षमार्गप्रकाशक प्रवचन' के नाम से। इसी प्रकार उनके कुछ अक्षरश: प्रवचनों का प्रकाशन 'मोक्षनो स्वतन्त्र मार्ग' के नाम से, गुजरातीभाषा में भी किया गया।

यह ग्रन्थ, गुरुदेवश्री के सान्निध्य में–**सोनगढ़ में लगनेवाले शिविरों** का प्रमुख विषय हुआ करता था एवं उनके समाधिस्थ होने के बाद, आज भी यह ग्रन्थराज, **आध्यात्मिक शिक्षण-शिविरों** का कण्ठहार बना हुआ है।

आज दिगम्बर जैनसमाज का ऐसा कोई मन्दिर नहीं होगा, बल्कि ऐसा कोई घर नहीं होगा,

जिसमें मोक्षमार्गप्रकाशक विराजमान न हो; इसी प्रकार सर्वत्र स्वाध्याय सभाओं में सर्वाधिक पढ़ा जानेवाला यह ग्रन्थाधिराज है।

इस प्रकार यह महा ग्रन्थ, विगत २५० वर्षों से, जैनसमाज का सर्वाधिक पढ़ा जानेवाला ग्रन्थ बना हुआ है। श्रीमद् राजचन्द्र के अनुयायी भी इस ग्रन्थ का अत्यन्त श्रद्धा के साथ स्वाध्याय करते हैं क्योंकि स्वयं श्रीमद्जी ने स्वाध्यायार्थ २० प्रमुख ग्रन्थों की सूची (जिसमें २० में से १९ ग्रन्थ, दिगम्बराचार्यों द्वारा रचित हैं) में इस महान ग्रन्थ को रखा है।

आज से लगभग १७ वर्ष पूर्व, **सिद्धान्ताचार्य पण्डित जवाहरलालजी शास्त्री, भिण्डरवालों** के प्रधान सम्पादकत्व में, मूल हस्तलिखित प्रति की ढूँढारी (या ब्रज) मूलभाषा में ही इस ग्रन्थ का प्रकाशन कराया था, उस प्रकाशन के सम्पादकीय में **मोक्षमार्गप्रकाशक के प्राचीन इतिहास** को विस्तार से प्रस्तुत किया गया है, जिसके कतिपय अंश, निम्न प्रकार हैं —

''हिन्दी में जैनदर्शन के प्राचीन जैनसाहित्य की चर्चा करें तो अनिवार्यरूप से उसमें आचार्यकल्प पण्डित श्री टोडरमलजी के मोक्षमार्गप्रकाशक का समावेश करना ही पड़ेगा। ....

यद्यपि इस ग्रन्थ का मूलविषय, मोक्षमार्ग का प्रकाशन है तथापि प्रकरणवश इसमें कर्म—सिद्धान्त, निमित्त-उपादान, स्याद्वाद-अनेकान्त, निश्चय-व्यवहार, पुण्य-पाप, दैव-पुरुषार्थ आदि विषयों की भी तात्त्विक एवं आध्यात्मिक विवेचना की गयी है।

इस प्रकार इसमें एक तरह से जैनागम का सार आ गया है। समग्र जैन विचारपद्धति की सटीक और चुस्त रूपरेखा प्रस्तुत करने में, इस ग्रन्थ को अद्वितीय माना गया है।

अब तक शायद इस ग्रन्थ की एक लाख से अधिक (आज से १७ वर्ष पूर्व तक) प्रतियाँ छप चुकी होंगी। कहना ही होगा कि इतना विस्तृत प्रचार-प्रसार विरले ही ग्रन्थों को प्राप्त होता है।

प्रकाशन का प्रारम्भ : विक्रम संवत् १८२४-२५ (डॉ. भारिल्ल के अनुसार, विक्रम संवत् १८२३-१८२४) में रचित मोक्षमार्गप्रकाशक की हस्तलिखित प्रतियाँ, इतनी प्रचलित होती रहीं कि हिन्दीभाषी प्रदेशों के प्राय: हर जिनालय में वे मिल जाती हैं।

मुद्रणयन्त्रों (मशीनों) के प्रादुर्भाव के साथ ही इस उपयोगी ग्रन्थ के प्रकाशन के प्रयास प्रारम्भ हो गये। प्राप्त सूचनाओं के आधार पर, सबसे पहले, सन् १८९७ (वि. सं. १९५४) में **बाबू ज्ञानचन्दजी जैनी (जैन)** ने लाहौर से इस मोक्षमार्गप्रकाशक का पहला संस्करण (मूलभाषा में १००० प्रतियाँ) प्रकाशित किया था।

इसके चौदह वर्ष पश्चात्, सन् १९११ में **श्री नाथूरामजी प्रेमी** ने अपने 'हिन्दी जैनग्रन्थ

रत्नाकर कार्यालय, बम्बई' से इसे (३००० प्रतियाँ) प्रकाशित किया। .....

सन् १९३९ में **श्री दुलीचन्द परवार** ने 'जिनवाणी प्रचारक कार्यालय, कलकत्ता' से इस ग्रन्थ को, प्रेमीजी के १९११ के संस्करण की अक्षरश: प्रति कराकर, प्रकाशित किया। इस बीच मुम्बई से ही **पण्डित रामप्रसादजी शास्त्री** द्वारा एक और संस्करण प्रकाशित किया जा चुका था, पर उसकी प्रति हमारे देखने में नहीं आयी, मात्र उसकी सूचना है।

खड़ीबोली में रूपान्तरण : मोक्षमार्गप्रकाशक की मूलभाषा 'ढूँढारी' राजस्थान के एक छोटे से भू-भाग की भाषा है। पिछले डेढ-दो सौ वर्षों में उस भाषा में कुछ परिवर्तन भी हुए हैं। हिन्दी का क्षेत्र, बहुत बड़ा है और किसी भी ग्रन्थ को ढूँढारी की अपेक्षा, प्रचलित हिन्दी या खड़ी-बोली में पढ़ना-समझना, अधिकाधिक पाठकों के लिए आसान होता है।

इस तथ्य को ध्यान में रखकर, इस उपयोगी ग्रन्थ को खड़ीबोली में रूपान्तरित करके प्रस्तुत करने की आवश्यकता का अनुभव किया गया। सन् १८९७ में बाबू ज्ञानचन्दजी जैनी ने जिसका मंगलाचरण किया था, रूपान्तरण (अनुवाद) का यह कार्य, उनके पचास वर्ष के बाद, १९४७-४८ (वि. सं. २००५) में पहली बार सामने आया।

सर्व प्रथम पमारी (आगरा) निवासी **पण्डित लालबहादुरजी शास्त्री** ने सन् १९४२ में मोक्षमार्गप्रकाशक के भाषा-रूपान्तरण का कार्य हाथ में लिया, जिसे उन्होंने दो वर्ष के कठोर परिश्रम से, सन् १९४४ में समाप्त कर लिया, परन्तु उसका प्रकाशन 'भारतवर्षीय दिगम्बर जैनसंघ, चौरासी-मथुरा' द्वारा सन् १९४८ में 'जैनसंघ ग्रन्थमाला' के दूसरे पुष्प के रूप में सम्भव हुआ।...

पण्डित परमानन्दजी से उन्हें सहयोग प्राप्त हुआ तथा **पण्डित कैलाशचन्दजी शास्त्री** का कार्य निष्पादन में सर्वोपरि योगदान रहा। मथुरा संघ से प्रकाशित संस्करण में, ग्रन्थ को अधुनातन सम्पादकीय पद्धति तथा मुद्रण पद्धति से संवार कर, प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया था।

उस समय तक इस ग्रन्थ के पाँच विभिन्न संस्करण, सम्पादक के समक्ष आ गये थे।

इसके पूर्व मूल हस्तलिखित प्रतियों में तो अल्प विराम और पूर्ण विराम लगाने का प्रचलन ही नहीं था। पैरा (अनुच्छेद) भी कहीं कदाचित् ही दर्शाये जाते थे। विषयवार शीर्षक और उपशीर्षक भी नहीं होते थे। पूरे ग्रन्थ में विषयवार शीर्षक / उपशीर्षक देने का कार्य, १९११ में प्रेमीजी ने कर लिया था परन्तु वे सारे 'शीर्षक' ग्रन्थ की सूची में ही दिये गये थे। ग्रन्थ के पृष्ठों पर, कोई शीर्षक नहीं थे।

पण्डित लालबहादुरजी शास्त्री ने, प्रेमीजी द्वारा सूचित शीर्षकों का भरपूर लाभ उठाया और उन्हें कुछ और संवारकर, ग्रन्थ में ही यथास्थान जोड़ दिया। इससे पाठकों को बहुत सुभीता हुआ।

पण्डित टोडरमलजी ने मत-मतान्तरों के खण्डन में, जगह-जगह उनकी मान्यताओं

का उल्लेख तो किया था परन्तु उनके स्रोत स्पष्ट नहीं किये थे। पण्डित लालबहादुरजी शास्त्री ने, उन सभी स्थलों को खोजकर, ग्रन्थ-प्रकरण-अध्याय और श्लोकसहित उनके सन्दर्भ अंकित कर दिये और पूरे-पूरे उद्धरण भी सामने ला दिये। यह बहुत परिश्रमसाध्य कार्य था।

शास्त्रीजी ने ग्रन्थ के अन्त में, विस्तृत परिशिष्ट देकर भी एक बड़ा कार्य किया। परिशिष्ट को दो भागों में विभक्त करके प्रस्तुत किया गया है। पहले भाग में ग्रन्थ के विशेष स्थलों को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है और दूसरे भाग में, वे कथाएँ प्रस्तुत की गई हैं, जिनका पण्डित टोडरमलजी ने ग्रन्थ में दृष्टान्तरूप में उपयोग किया था।

शास्त्रीजी ने इस सम्पादनकार्य में, प्रयुक्त ९९ ग्रन्थों की जो तालिका, ग्रन्थ के प्रारम्भ में दी है, उसके अवलोकनमात्र से उनके परिश्रम का संकेत मिल जाता है।

अन्य भाषाओं में अनुवाद : पण्डित लालबहादुरजी शास्त्री के इसी संस्करण के आधार पर, **श्री धन्यकुमार गंगासा भोरे** ने 'मोक्षमार्गप्रकाशक का मराठी अनुवाद' तैयार किया, जो सन् १९५६ में कारंजा लाड (श्री महावीर ब्रह्मचर्याश्रम) महाराष्ट्र से प्रकाशित हुआ। यद्यपि इस प्रकाशन से पूर्व, **पण्डित कल्लप्पा भरमप्पा निटवे** ने मराठी अनुवाद का कार्य प्रारम्भ किया था परन्तु उसके कुछ अंश मात्र 'जैन बोधक' में छपकर रह गये। शायद यह अनुवाद पूरा नहीं हुआ।

इसके पूर्व गुजराती में भी ग्रन्थ के दो संस्करण **(प्रकाशक—श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़, ६७०० प्रतियाँ)** सामने आ चुके थे। ... दिल्ली की **'सस्ती ग्रन्थमाला कमेटी'** ने उसी पचास के दशक में (तीन संस्करण और १९६५ में एक संस्करण) ग्रन्थ का मूल ढूँढारी संस्करण, प्रेमीजी के प्रकाशन के आधार पर, प्रकाशित किया। ... बाद में दिल्ली से ही **श्री मुसद्दीलाल जैन चैरिटेबल ट्रस्ट** ने सन् १९८४ में एक संस्करण और प्रकाशित किया। (आगे की जानकारी नहीं है।)

इसके पूर्व सन् १९२४ (वी. नि. सं. २४५१) में **बाबू पन्नालाल चौधरी, वाराणसी** द्वारा तथा सन् १९३६ (वी. नि. सं. २४६३) में **मुनि अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला, बम्बई** द्वारा भी एक-एक संस्करण (मूलभाषा में १०००-१००० प्रतियाँ) प्रकाशित हो चुके थे।

इसके बहुत बाद (वि. सं. २०२७ में) दिल्ली **(दाताराम चैरिटेबिल ट्रस्ट, दरीबाकलाँ, देहली)** से उर्दू में भी एक संस्करण (१००० प्रतियाँ) प्रकाशित हुआ है।

श्री टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर का योगदान : सुरुचिपूर्ण मुद्रण और अल्प मूल्य पर, प्रचुर मात्रा में प्रसार की दृष्टि से, मोक्षमार्गप्रकाशक का उल्लेखनीय प्रकाशन, **श्री टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर** से हुआ है। **बड़े टाइप में, अपेक्षाकृत मोटे कागज पर, अच्छी जिल्द के साथ, लागत से भी कम मूल्य पर, इस ग्रन्थ को सबसे पहले सोनगढ़ के 'दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट' के नाम से १९६५-६६ में सामने लाया गया।**

पिछले तीस-बत्तीस वर्षों में, जयपुर से इस ग्रन्थ की लगभग अस्सी हजार प्रतियाँ (सन् १९९७ तक ८१ हजार १०० प्रतियाँ) वितरित हो चुकी हैं। यह एक सराहनीय कार्य कहा जाना चाहिए। ...

श्री टोडरमल स्मारक ट्रस्ट की ओर से ही, मोक्षमार्गप्रकाशक का अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत किया जा चुका है। अनुवादक विद्वान् **ब्र. हेमचन्दजी जैन (भोपाल/देवलाली)** श्रुतज्ञ मुमुक्षु हैं।

सोनगढ़ ने दिल्ली की प्रति (सस्ती ग्रन्थमाला) का भी अनुसरण किया और जयपुर के 'श्री भदीचन्द दीवान दिगम्बर जैनमन्दिर' से हस्तलिखित प्रति मँगाकर, उसके फोटो (प्रिन्ट) लिये तथा उसके सहारे ही खड़ीबोली का संस्करण तैयार किया था। ...

उस (हस्तलिखित मूलप्रति) के प्रारम्भ के ५५ पत्र (१०९ पृष्ठ), किसी अन्य व्यक्ति के हाथ से लिखे हुए हैं; इनमें पद, अक्षर और मात्राओं की प्रचुर अशुद्धियाँ हैं लेकिन इनका संशोधन पण्डित टोडरमलजी नहीं कर पाये। ... अन्यत्र कुछ पृष्ठ भी, किसी अन्य व्यक्ति द्वारा लिखकर लगाये गये हैं।

अधूरे ग्रन्थ की पूर्णता के प्रयास : यह सर्वमान्य तथ्य है कि प्राप्त 'मोक्षमार्गप्रकाशक' पूर्ण ग्रन्थ नहीं है। लेखक की ग्रन्थ प्रतिज्ञा तथा अन्य स्पष्ट संकेतों के अनुसार, यह एक अधूरा ग्रन्थ है।

अधिकांश विद्वानों का तो यह मूल्यांकन है कि पण्डितजी के मन में जिस विस्तारपूर्वक ग्रन्थ लिखने का संकल्प था, उसके सामने यह लिखित भाग, ग्रन्थ का प्रारम्भ भी नहीं है—यह तो मात्र उसकी भूमिका है।

पण्डितजी के व्यक्तित्व और कर्तृत्व पर, अपना शोधग्रन्थ प्रस्तुत करते हुए, डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल ने तो स्पष्ट लिखा है—**'यदि यह ग्रन्थ जो मात्र साढ़े तीन सौ पृष्ठों (मूल हस्तलिखित प्रति के ४४७ पृष्ठ) का ही हमें मिला है, यदि यह पण्डितजी के हाथों पूरा हो पाता तो कम से कम पाँच हजार पृष्ठों का अवश्य होता।**

इस प्रकार भारिल्लजी की मान्यता में संकल्पित लेखन की, मात्र सात-आठ प्रतिशत सामग्री ही हमारे सामने उपलब्ध है। पण्डितजी के असमय देहावसान के तुरन्त बाद से ही, इस ग्रन्थ को पूरा करने के बारे में सोचा जाने लगा था परन्तु विषय की गहनता और वर्णन की सहजता को देखकर, किसी ने भी इस काम को हाथ में लेने का साहस नहीं किया।

इस सम्बन्ध में पण्डित लालबहादुरजी शास्त्री ने अपनी प्रस्तावना में लिखा है —

---

① प्रकाशक - प्रतिष्ठाचार्य पण्डित विमलकुमार जैन सौंरया, टीकमगढ द्वारा मूलभाषा में प्रकाशित ग्रन्थ 'मोक्षमार्गप्रकाशक', पृष्ठ ३-९; प्रधान सम्पादक, सिद्धान्ताचार्य पण्डित जवाहरलाल जैन भीण्डर, एवं सम्पादक मण्डल के सदस्य - पण्डित नीरज जैन सतना, डॉ० चेतनप्रकाश पाटनी एवं पण्डित हंसमुख जैन, धरियावाद द्वारा लिखित सम्पादकीय के अंश।

'उस समय के विद्वान् स्वतन्त्र ग्रन्थरचना के लिए, अपने आपको अधिकारी विद्वान् न पाते थे। उस सम्बन्ध में हम अपनी तरफ से कुछ न लिखकर, टोडरमलजी से लगभग पचास वर्ष बाद लिखी गयी **पण्डित जयचन्दजी (छाबड़ा)** के ही एक पत्र की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत कर देना ठीक समझते हैं। यह पत्र, **कवि वृन्दावनदासजी, काशी (बनारस)** को लिखा गया था, जिसे '**वृन्दावन विलास**' के अन्त में ज्यों का त्यों छापा गया है। पत्र की वे पंक्तियाँ इस प्रकार हैं —

''और लिख्या कि टोडरमलजी कृत मोक्षमार्गप्रकाश ग्रन्थ पूरण भया नाहीं, ताको पूरण करना योग्य है, सो कोई एक मूलग्रन्थ की भाषा होइ तौ पूरण करें। उनकी बुद्धि बड़ी थी, यातैं बिना मूलग्रन्थ के आश्रय, उनने किया। हमारी एती बुद्धि नाहीं, कैसे पूरण करें?''

— इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि उस समय के विद्वान् भी स्वतन्त्र रचना के लिए, अपने आपको अधिकारी न पाते थे। पद्मपुराण, हरिवंशपुराण आदि ग्रन्थों के सफल टीकाकार, **पण्डित श्रीदौलतरामजी (कासलीवाल)**, टोडरमलजी के समकालीन विद्वान् थे किन्तु टोडरमलजी के स्वर्गारोहण के पश्चात्, उनके अधूरे ग्रन्थों में से वे पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की ही टीका पूरी कर सके। मोक्षमार्गप्रकाशक को उन्होंने भी पूरा नहीं किया।'' **(मथुरा संस्करण / प्रस्तावना / पृष्ठ २)**

ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी का प्रयास : पण्डित टोडरमलजी के इस अधूरे अनुष्ठान को पूरा करने का एक प्रयास, सन् १९३० में **ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी** ने किया था। उन्होंने श्री प्रेमीजी के १९११ के संस्करण के माध्यम से, मोक्षमार्गप्रकाशक का अध्ययन किया और स्वयं पण्डित टोडरमलजी के संकेतों के अनुसार, विषय निर्धारित करके, छोटे आकार के ३४४ पृष्ठों के कलेवर में 'मोक्षमार्गप्रकाशक, द्वितीय भाग' की रचना करके, इस अधूरे ग्रन्थ को पूर्ण करने का दावा किया।

शायद! अपने लेखन को एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की श्रेणी में रखना भी ब्रह्मचारीजी का लक्ष्य रहा हो क्योंकि उन्होंने इसमें नये सिरे से सम्यग्दर्शन, देव-शास्त्र-गुरु और सात तत्त्वों का सविस्तार वर्णन किया है। अन्तिम दो सौ पृष्ठों में, करणानुयोग के विषय का निरूपण करके, उन्होंने कुछ संदृष्टियाँ प्रस्तुत की हैं, जो महत्त्वपूर्ण कही जा सकती हैं परन्तु इस पुस्तक से बात कुछ बनी नहीं। पण्डितजी का संकल्प जैसा सर्वांग, परिपूर्ण और विशाल था, उसके आगे ब्रह्मचारीजी का प्रयास, बौना ही रहा। ...

जब उनके द्वारा मोक्षमार्गप्रकाशक का द्वितीय भाग लिखने की घोषणा हुई तो उसका विरोध भी हुआ। ग्रन्थ के प्रकाशन के पूर्व ही 'जैन गजट' में उसके विरोध में कुछ लेख आदि प्रकाशित हुए और इन्दौर की महिला परिषद् ने तो ग्रन्थ के विरोध में एक प्रस्ताव भी पारित किया परन्तु ब्रह्मचारीजी ने विरोध की आवाज को अनसुना करते हुए, ग्रन्थ को सूरत से प्रकाशित किया और 'जैन-मित्र' के ग्राहकों को नि:शुल्क भेंट कराया।

भूमिका में ब्रह्मचारीजी ने अपनी लघुता और पण्डित टोडरमलजी की महत्ता को स्वीकार करते हुए, इसे एक वैकल्पिक प्रयासमात्र कहा था परन्तु उनके लेखन ने, पण्डित टोडरमलजी के संकल्प के शायद शतांश को भी पूरा नहीं किया; इसलिए उनकी वह रचना, काल के गाल में विलीन हो गयी, फिर पुन: उसकी कोई आवृत्ति निकली हो – ऐसा प्रमाण नहीं मिला।

श्रीमद् राजचन्द्र का मोक्षमार्गप्रकाश : यह पुस्तक, राज-सौभाग सत्संग मण्डल, सायला (सौराष्ट्र) से १९८२ में प्रकाशित हुई है परन्तु देखनेपर पता चला कि यह श्रीमद्जी के (इस विषय -सम्बन्धी) कतिपय पत्रों का संकलनमात्र है। पण्डित टोडरमलजी के मोक्षमार्गप्रकाशक से इसका कोई साम्य, सम्बन्ध या समतुल्यता नहीं है।''

विशेष निवेदन—पण्डित टोडरमलजी की मृत्यु का समय, विक्रम संवत् १८२३-२४ निश्चित हुआ है, जबकि अभी विक्रम संवत् २०७५ चल रहा है अर्थात् इस ग्रन्थ की रचना को २५१ वर्ष पूर्ण हो चुके हैं। पण्डित टोडरमलजी की कुल उम्र, पहले २७ वर्ष मानी जाती थी लेकिन डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल ने अपने शोधग्रन्थ में उनकी उम्र, ४७ वर्ष सिद्ध की है। इसके अनुसार, उनका जन्म वर्ष विक्रम संवत् १७७६-१७७७ होता है; अत: आगामी वर्ष २०७६-७७, तदनुसार ईसवी सन् २०२०-२१ को उनके जन्म को ३०० वर्ष हो जाएँगे; अत: हमें उनका ३००वाँ जन्म वर्ष मनाने के लिए तैयार रहना चाहिए।

अन्त में आ. डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल द्वारा सम्पादित, पूर्व प्रकाशित संस्करण के सम्पादकीय -अंश पर अपनी बात का समापन करते हैं, जो इस सम्पादन-कार्य के लिए प्रेरणासमान है —

इसके सम्पादन के समय यह अनुभव हुआ कि 'जो लोच और लावण्य, पण्डित टोडरमलजी की मूलभाषा में था, वह अनुवाद में सुरक्षित नहीं रह पाया है;' उसे ठीक करने का विकल्प भी आया, परन्तु वह काम इतना बड़ा था, जो इस समय समयाभाव से सम्भव नहीं था।

आशा है पाठकगण, हमारे नवीन सम्पादन एवं संशोधन के प्रयास को समादृत करेंगे और उसका सम्पूर्णरूप से लाभ लेंगे।

भवदीय :

डॉ. राकेश जैन शास्त्री
तीर्थधाम ज्ञानायतन
रामटेक रोड, नागपुर (महा.)

पवन जैन
तीर्थधाम मङ्गलायतन
अलीगढ़ / हाथरस (उ.प्र.)

प्रस्तावना

(पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर द्वारा प्रकाशित 'मोक्षमार्गप्रकाशक' से साभार)

विक्रम की उन्नीसवीं शती के आरम्भिक दिनों में राजस्थान का गुलाबीनगर 'जयपुर', जैनियों की काशी बन रहा था। आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी की अगाध विद्वत्ता और प्रतिभा से प्रभावित होकर सम्पूर्ण भारत का तत्त्व-जिज्ञासु समाज, जयपुर की ओर चातक दृष्टि से निहारता था। भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तों में संचालित तत्त्व-गोष्ठियों और आध्यात्मिक मण्डलियों में चर्चित गूढ़तम शंकाएँ, समाधानार्थ जयपुर भेजी जाती थीं और जयपुर से पण्डितजी द्वारा समाधान पाकर तत्त्व-जिज्ञासु समाज, अपने को कृतार्थ मानता था। साधर्मी भाई ब्रह्मचारी रायमलजी ने अपनी 'जीवन-पत्रिका' में तत्कालीन जयपुर की धार्मिक स्थिति का वर्णन इस प्रकार किया है -

'तहाँ निरन्तर हजारां पुरष-स्त्री देवलोक की-सी नांईं, चैत्यालै आय महा पुन्य उपारजैं, दीर्घ काल का संच्या पाप, ताका क्षय करैं। सौ-पचास भाई पूजा करने वारे पाईए, सौ-पचास भाषा-शास्त्र बांचनें वारे पाइए, दस-बीस संस्कृत-शास्त्र बांचनें वारे पाईए, सौ-पचास जनैं चरचा करनें वारे पाईए और नित्यान का सभा के शास्त्र का व्याख्यान विषै, पांच सै - सात सै पुरष, तीन सै - च्यारि सै स्त्रीजन, सब मिलि हजार-बारा सै पुरष-स्त्री शास्त्र का श्रवण करै, बीस-तीस बायां (स्त्रियाँ) शास्त्राभ्यास करैं, देश-देश का प्रश्न इहां आवै, तिनका समाधान होय उहां पहुँचै, इत्यादि अद्‌भुत महिमां चतुर्थकालवत या नग्र विषैं जिनधर्म की प्रवर्त्ति पाईए है।'[1]

यद्यपि सरस्वती माँ के इस वरद पुत्र का जीवन, आध्यात्मिक साधनाओं से ओतप्रोत है तथापि साहित्यिक व सामाजिक क्षेत्र में भी उनका प्रदेय कम नहीं है। आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी उन दार्शनिक साहित्यकारों एवं क्रान्तिकारियों में से हैं, जिन्होंने आध्यात्मिक क्षेत्र में

---

[1] पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट जयपुर द्वारा प्रकाशित 'पण्डित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व', परिशिष्ट १

आयी हुई विकृतियों का सार्थक व समर्थ खण्डन ही नहीं किया, वरन् उन्हें जड़ से उखाड़ फेंका। उन्होंने तत्कालीन प्रचलित साहित्य-भाषा 'ब्रज' में दार्शनिक विषयों का विवेचक, ऐसा गद्य प्रस्तुत किया, जो उनके पूर्व विरल (दुर्लभ) है।

पण्डितजी का समय, विक्रम की अठारहवीं शती का अन्त एवं उन्नीसवीं शती का आरम्भ काल है, वह संक्रान्तिकालीन युग था; उस समय राजनीति में अस्थिरता, सम्प्रदायों में तनाव, साहित्य में शृंगार, धर्म के क्षेत्र में रूढ़िवाद, आर्थिक जीवन में विषमता एवं सामाजिक जीवन में आडम्बर – ये सब, अपनी चरम सीमा पर थे; उन सबसे पण्डितजी को संघर्ष करना था, जो उन्होंने डटकर किया और प्राणों की बाजी लगाकर किया।

पण्डित टोडरमलजी, गम्भीर प्रकृति के आध्यात्मिक महापुरुष थे। वे स्वभाव से सरल, संसार से उदास, धुन के धनी, निरभिमानी, विवेकी, अध्ययनशील, प्रतिभावान, बाह्याडम्बर विरोधी, दृढ़ श्रद्धानी, क्रान्तिकारी, सिद्धान्तों की कीमत पर कभी न झुकनेवाले, आत्मानुभवी, लोकप्रिय प्रवचनकार, सिद्धान्त-ग्रन्थों के सफल टीकाकार एवं परोपकारी महामानव थे।

वे विनम्र, पर दृढ़ निश्चयी विद्वान् एवं सरल स्वभावी थे; वे प्रामाणिक महापुरुष थे। तत्कालीन आध्यात्मिक समाज में तत्त्वज्ञान-सम्बन्धी प्रकरणों में उनके कथन, प्रमाण के तौर पर प्रस्तुत किये जाते थे; वे लोकप्रिय आध्यात्मिक प्रवक्ता थे। धार्मिक उत्सवों में जनता की अधिक से अधिक उपस्थिति के लिए उनके नाम का प्रयोग, आकर्षण के रूप में किया जाता था। गृहस्थ होने पर भी, उनकी वृत्ति, साधुता की प्रतीक थी।

पण्डितजी के पिता का नाम 'जोगीदासजी' एवं माता का नाम 'रम्भादेवी' था। वे जाति से 'खण्डेलवाल' थे और गोत्र था 'गोदीका', जिसे भौंसा व बड़जात्या भी कहते हैं; उनके वंशज ढोलाका भी कहलाते थे। वे विवाहित थे, पर उनकी पत्नी व ससुराल पक्षवालों का कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता। उनके दो पुत्र थे – हरिचन्द और गुमानीराम।

'गुमानीराम' भी उनके समान उच्च कोटि के विद्वान् और प्रभावक आध्यात्मिक प्रवक्ता थे; उनके पास बड़े-बड़े विद्वान् भी तत्त्व का रहस्य समझने आते थे। पण्डित देवीदासजी गोधा ने 'सिद्धान्तसार टीका-प्रशस्ति' में इसका स्पष्ट उल्लेख किया है। पण्डित टोडरमलजी की मृत्यु के उपरान्त, वे पण्डित टोडरमलजी द्वारा संचालित धार्मिक क्रान्ति के सूत्रधार रहे; उनके नाम से एक पन्थ भी चला, जो 'गुमान-पन्थ' के नाम से जाना जाता है।

तत्कालीन समाज में धार्मिक अध्ययन के लिए, आज के समान, विद्यालय-महाविद्यालय नहीं चलते थे। लोग स्वयं ही 'सैलियों' के माध्यम से तत्त्वज्ञान प्राप्त करते थे। तत्कालीन समाज में जो आध्यात्मिक चर्चा करनेवाली दैनिक गोष्ठियाँ होती थीं, उन्हें 'सैली' कहा जाता था। ये सैलियाँ सम्पूर्ण भारतवर्ष में यत्र-तत्र थीं।

महाकवि बनारसीदास भी, आगरा की एक सैली में ही शिक्षित हुए थे।

पण्डित टोडरमलजी की सामान्य-शिक्षा भी, जयपुर की एक आध्यात्मिक (तेरापन्थ) सैली में हुई, जिसका बाद में उन्होंने सफल संचालन भी किया; उनके पूर्व 'बाबा बंशीधरजी' उक्त सैली के संचालक थे। पण्डित टोडरमलजी, गूढ़ तत्त्वों के तो स्वयंबुद्ध ज्ञाता थे। 'लब्धिसार' व 'क्षपणासार' की संदृष्टियाँ आरम्भ करते हुए वे लिखते हैं –

'शास्त्र विषैं लिख्या नाहीं अर बतावनेवाला मिल्या नाहीं।'

प्राकृत, संस्कृत और हिन्दी के अतिरिक्त उन्हें कन्नड़ भाषा का भी ज्ञान था। मूलग्रन्थों को वे कन्नड़ लिपि में पढ़-लिख सकते थे। कन्नड़ भाषा और लिपि का ज्ञान एवं अभ्यास भी उन्होंने स्वयं किया; उसमें अध्यापकों के सहयोग की सम्भावना भी नहीं की जा सकती है, क्योंकि उस समय उत्तर भारत में कन्नड़ के अध्यापन की व्यवस्था दु:साध्य कार्य था। कन्नड़, एक कठिन लिपि है, द्राविड़ परिवार की सभी लिपियाँ कठिन हैं; उनको किसी की सहायता के बिना सीखना और भी कठिन था, पर उन्होंने उसका अभ्यास कर लिया और साधारण अभ्यास नहीं, वे कन्नड़ भाषा के ग्रन्थों पर व्याख्यान करते थे एवं उन्हें कन्नड़ लिपि में लिख भी लेते थे।

ब्रह्मचारी रायमलजी ने लिखा है –

'दक्षिण देससूं पांच-सात, और ग्रन्थ ताड़पत्रां विषै कर्णाटी लिपि मैं लिख्या इहाँ पधारे हैं, ताकूं मलजी बाँचै हैं, वाका यथार्थ व्याख्यान करै हैं वा कर्णाटी लिपि मैं लिखि ले हैं।'[1]

यद्यपि उनका अधिकांश जीवन जयपुर में ही बीता, तथापि उन्हें अपनी आजीविका के लिए कुछ समय सिंघाणा रहना पड़ा; वहाँ वे दिल्ली के एक साहूकार के यहाँ कार्य करते थे।

उनके व्यवसाय और आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध में कुछ भ्रान्तियाँ प्रचलित हैं; कहा जाता है कि 'वे आर्थिकदृष्टि से बहुत सम्पन्न थे, उनको पढ़ाने के लिए बनारस से विद्वान बुलाया गया था, उनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर उनके अध्ययन की व्यवस्था अमरचन्दजी दीवान ने की थी, दीवान अमरचन्दजी के कारण उनको राज्य में सम्माननीय पद प्राप्त था, इस राज-कर्मचारी पद से राज्य और प्रजा के हित में उन्होंने अनेक कार्य किये; उनका प्रखर पाण्डित्य, राज्य के विद्वानों को अखरने लगा और कई बार पराजित होने से वे उन पर द्वेषभाव रखने लगे।'

– यह बात सम्भव नहीं है कि जिस व्यक्ति को उस युग में – जब कि कोई व्यक्ति घर से बाहर जाना पसन्द नहीं करता था और यातायात के समुचित साधन उपलब्ध नहीं थे – जिसे अपनी अल्प वय में आजीविका के लिए बाहर जाना पड़ा हो, वह आर्थिक दृष्टि से इतना सम्पन्न रहा हो कि उसकी शिक्षा के लिए उसके माता-पिता ने बनारस से विद्वान बुलाया हो। दूसरे, यह भी सम्भव

---

[1] इन्द्रध्वज विधान महोत्सव पत्रिका ['पण्डित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व', परिशिष्ट १]

नहीं कि दीवान अमरचन्दजी ने उनके पढ़ाने की व्यवस्था की हो या उन्हें राज्य में कोई अच्छा पद दिलाया हो, क्योंकि पण्डित टोडरमलजी के दिवंगत होने तक, अमरचन्दजी दीवान पद पर प्रतिष्ठित ही नहीं हुए थे। पण्डितजी के राज-कर्मचारी पद से राज्य और प्रजा के हित में अनेक कार्य करने की बात भी निरी कल्पना ही लगती है। इस सम्बन्ध में कोई भी प्रमाण उपलब्ध नहीं है। राजा की विद्वत्परिषद में जाने एवं वहाँ वाद-विवाद करने के भी कोई उल्लेख नहीं मिलते और न यह सब उनकी प्रकृति के अनुकूल ही था।

परम्परागत मान्यतानुसार उनकी कुल आयु २७ वर्ष कही जाती रही है परन्तु उनकी साहित्य-साधना, ज्ञान व प्राप्त उल्लेखों को देखते हुए, मेरा यह निश्चित मत है कि वे ४७ वर्ष तक अवश्य जीवित रहे। इस सम्बन्ध में साधर्मीभाई ब्रह्मचारी रायमलजी द्वारा लिखित, चर्चा-संग्रह ग्रन्थ की अलीगंज (एटा, उत्तरप्रदेश) में प्राप्त हस्तलिखित प्रति के पृष्ठ १७३ का निम्नलिखित उल्लेख विशेष द्रष्टव्य है -

'बहुरि बारा हजार त्रिलोकसारजी की टीका वा बारा हजार मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रंथ, अनेक शास्त्रों के अनुस्वारि अर आत्मानुसासनजी की टीका तीन हजार, या तीनां ग्रंथां की टीका भी टोडरमल्लजी सैंतालीस बरस की आयु पूर्ण करि परलोक विषै गमन की।'

उनकी मृत्यु-तिथि, विक्रम संवत् १८२३-२४ के लगभग निश्चित है; अत: उनका जन्म विक्रम संवत् १७७६-७७ में होना चाहिए।

पण्डित बखतराम शाह के अनुसार, कुछ मतान्ध लोगों द्वारा लगाए गए शिवपिण्डी को उखाड़ने के आरोप के सन्दर्भ में राजा द्वारा सभी श्रावकों को कैद कर लिया गया था और तेरापन्थियों के गुरु, महान धर्मात्मा, महापुरुष, पण्डित टोडरमलजी को मृत्युदण्ड दिया गया था। दुष्टों के भड़काने में आकर राजा ने उन्हें मात्र प्राण-दण्ड ही नहीं दिया, बल्कि गन्दगी में गड़वा दिया था① यह भी कहा जाता है कि उन्हें हाथी के पैर के नीचे कुचला कर मारा गया था।②

---

① **तब ब्राह्मणनु मतौ यह कियौ, सिव उठान कौ टौना दियौ।**
तामैं सबै श्रावगी कैद, करिके दंड किए नृप फैद॥१३०३॥
यक तेरह पंथिनु मैं भ्रमी, हो तौ महा जोग्य साहिमी।
कहै खलनि कै नृप रिसि ताहि, हति कैं धर्‌यौ अशुचि थल वाहि॥३०४१॥

पाठान्तर -

तब ब्राह्मणनु मतौ यह कियौ, सिव उठानन कौ टौंना दियौ।
तामैं सबै श्रावगी कैद, डंड कियौ नृप करि कै फैद॥१३०३॥
गुरु तेरह पंथिनु कौं भ्रमी, टोडरमल्ल नांम साहिमी।
ताहि भूप मार्‌यौ पल मांहि, गाड्यौ मद्धि गंदगी तांहि॥१३०४॥

- बुद्धि विलास

② (क) वीरवाणी : टोडरमलांक २८५-२८६
(ख) हिन्दी साहित्य, द्वितीय खण्ड, ५००

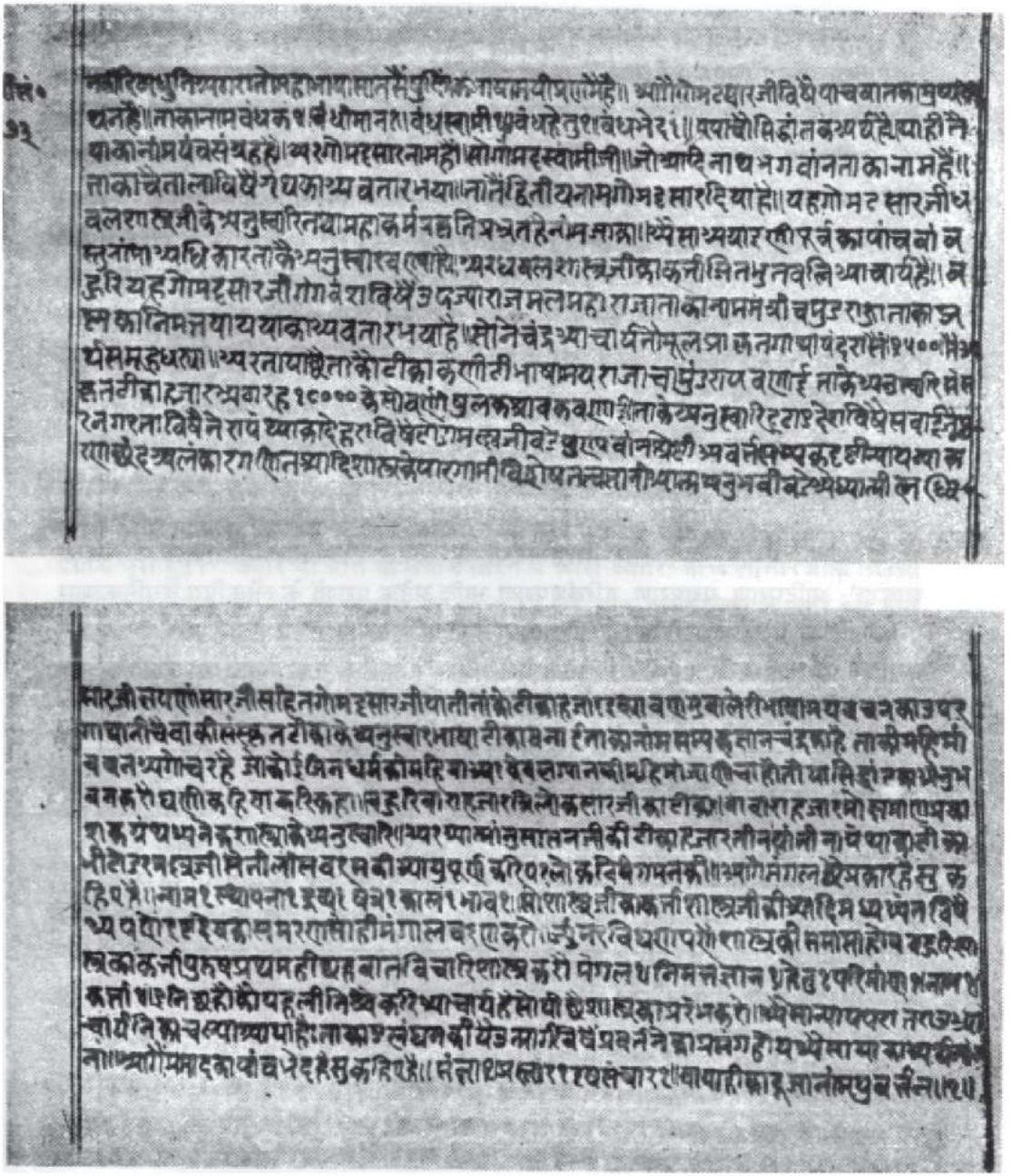

श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, अलीगंज (जिला – एटा, उत्तरप्रदेश) में उपलब्ध,
विक्रम संवत् १८५४ में लिपिबद्ध 'चर्चा-संग्रह' ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति, पृष्ठ १७३

पण्डित टोडरमलजी के जन्म-मृत्यु और आयु के सम्बन्ध में 'पण्डित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व' में विस्तार से विचार किया गया है। विशेष जानकारी के लिए उक्त ग्रन्थ का दूसरा अध्याय देखें।

पण्डितजी का कार्यक्षेत्र, आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान का प्रचार व प्रसार करना था, जिसे वे लेखन-प्रवचन आदि के माध्यम से करते थे; उनका सम्पर्क तत्कालीन आध्यात्मिक समाज से प्रत्यक्ष व परोक्षरूप से दूर-दूर तक था। साधर्मी भाई ब्रह्मचारी रायमल्लजी, शाहपुरा से उनसे मिलने सिंघाणा गये थे तथा उनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर तीन वर्ष तक वहीं तत्त्वाभ्यास करते रहे। तथा जो व्यक्ति उनके पास नहीं आ सकते थे, वे पत्र-व्यवहार द्वारा अपनी शंकाओं का समाधान किया करते थे। इस सन्दर्भ में मुलतानवालों की शंकाओं के समाधान में लिखा गया उनका पत्र (रहस्यपूर्ण चिट्ठी), अपने आप में एक ग्रन्थ बन गया है।

अनेक जिज्ञासु उनके सम्पर्क में आकर विद्वान् बने; उनसे प्रेरणा पाकर कई विद्वानों ने साहित्य-सेवा में अपना जीवन लगाया एवं परवर्ती विद्वानों ने उनका अनुकरण किया। प्रमेयरत्नमाला, आप्तमीमांसा, समयसार, अष्टपाहुड़, स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, सर्वार्थसिद्धि आदि अनेकों गम्भीर न्याय और सिद्धान्त ग्रन्थों के सफल टीकाकार पण्डितप्रवर जयचन्दजी छाबड़ा①; आदिपुराण, पद्मपुराण, हरिवंशपुराण आदि अनेक पुराणों के लोकप्रिय वचनिकाकार पण्डित सेवारामजी, तथा महान उत्साही भ्रमणशील विद्वान् पण्डित देवीदासजी गोधा② आदि ने पण्डित टोडरमलजी की संगति से लाभ उठाया एवं उनसे प्रेरणा पाकर, अपना जीवन माँ सरस्वती की सेवा में समर्पित कर दिया।

दीवान रतनचन्द और बालचन्द छाबड़ा के अतिरिक्त, उदासीन श्रावक महाराम ओसवाल, अजबराय, त्रिलोकचन्द पाटनी, त्रिलोकचन्द सौगाणी, नयनचन्द पाटनी आदि, पण्डित टोडरमलजी के सक्रिय सहयोगी एवं उनकी दैनिक सभा के श्रोता थे।③

उनकी आत्मसाधना और तत्त्वप्रचार का कार्य, सुनियोजित एवं सुव्यवस्थित था। मुद्रण की सुविधा न होने से - तत्सम्बन्धी अभाव की पूर्ति हेतु दश-बारह कुशल लिपिकार शास्त्रों की प्रतिलिपियाँ करते रहते थे। पण्डित टोडरमलजी का व्याख्यान सुनने उनकी शास्त्रसभा में हजार-बारह सौ स्त्री-पुरुष प्रतिदिन आते थे। बालक-बालिकाओं एवं प्रौढ़ पुरुषों एवं महिला वर्ग के धार्मिक अध्ययन-अध्यापन की पूरी-पूरी व्यवस्था थी। उक्त सभी व्यवस्था की चर्चा, ब्रह्मचारी रायमल्लजी ने विस्तार से की है।④

---

① सर्वार्थसिद्धि वचनिका प्रशस्ति

② सिद्धान्तसार संग्रह वचनिका प्रशस्ति

③ वही, सिद्धान्तसार संग्रह वचनिका प्रशस्ति

④ जीवन पत्रिका [पण्डित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व, परिशिष्ट १]

उनका कार्यक्षेत्र सम्पूर्ण भारतवर्ष था; उनका प्रचार कार्य ठोस था। यद्यपि उस समय यातायात की कोई सुविधाएँ नहीं थीं, तथापि उन्होंने दक्षिण भारत में समुद्र के किनारे तक धवलादि सिद्धान्त-शास्त्रों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न किया था।

उक्त सन्दर्भ में ब्रह्मचारी रायमल्लजी, इन्द्रध्वज विधान महोत्सव पत्रिका में लिखते हैं –

'और दोय-च्यारि भाई धवल महाधवल, जयधवल लेने कूँ दक्षिण देश विषैं जैनबद्री नगर वा समुद्र तांई गए थे।'

बहुत परेशानी उठाने के बाद भी – यहाँ तक कि एक व्यक्ति की जान भी चली गई, उन्हें उक्त शास्त्र प्राप्त करने में सफलता नहीं मिली, किन्तु उन्होंने प्रयास करना नहीं छोड़ा; इस सन्दर्भ में ब्रह्मचारी रायमल्लजी लिखते हैं –

'धवलादि सिद्धान्त तौ उहां भी बचै नांही है। दर्शन करनें मात्र ही है। उहाँ वाकी यात्रा जुरै है ..... ई देश मैं सिद्धातां का आगमन हूवा नांहीं। रुपया हजार दोय २०००) पांच-सात आदम्यां कै जाबै-आबै खरचि पड्या। एक साधर्मी डालूराम की उहां ही पर्याय पूरी हुई। ..... बहुरि या बात के उपाय करने मैं बरस च्यारि-पाँच लागा। पाँच विश्वा औरूं भी उपाय वर्तै है। औरंगाबाद सूं सौ कोस परैं एक मलयखेड़ा है, तहां भी तीनूँ सिद्धान्त बिराजै है। ..... मलयखेड़ा सूं सिद्धान्त मंगायबे का उपाय है। सो देखिए ए कार्य वणनें विषैं कठिनता विशेष है।' ①

अध्ययन और ध्यान, यही उनकी साधना थी। निरन्तर आध्यात्मिक अध्ययन-चिन्तन -मनन के फलस्वरूप 'मैं टोडरमल हूँ' की अपेक्षा, 'मैं जीव हूँ' की अनुभूति, उनमें अधिक प्रबल हो उठी थी। यही कारण है कि जब वे 'सम्यग्ज्ञान-चन्द्रिका प्रशस्ति' में अपना परिचय देने लगे, तो सहज ही लिखा गया –

मैं हूँ जीव-द्रव्य नित्य चेतना स्वरूप मेर्यो,
लग्यो है अनादि तैं कलंक कर्म मल कौ।
ताहि को निमित्त पाय रागादिक भाव भये,
भयो है शरीर को मिलाप जैसे खल कौ॥
रागादिक भावनि को पाय कें निमित्त पुनि,
होत कर्मबन्ध ऐसौ हु बनाव जैसे कल कौ॥
ऐसें ही भ्रमत भयो मानुष शरीर जोग,
बनैं तो बनैं यहां उपाय निज थल कौ॥ ३६॥

---

① इन्द्रध्वज विधान महोत्सव पत्रिका ['पण्डित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व', परिशिष्ट १]

रम्भापति स्तुत गुण जनक, जाको जोगीदास।
सोई मेरो प्रान है, धारै प्रगट प्रकाश॥ ३७॥

मैं आतम अरु पुद्गल खंध, मिलि कै भयो परस्पर बंध
सो असमान-जाति-पर्याय, उपज्यो 'मानुष' नाम कहाय॥ ३८॥

मात गर्भ में सो पर्याय, करकैं पूरण अंग सुभाय।
बाहर निकसि प्रगट जब भयो, तब कुटुम्ब को मेलो भयो॥ ३९॥

नाम धर्‌यो तिन हर्षित होय, 'टोडरमल्ल' कहैं सब कोय।
ऐसो यहु मानुष पर्याय, बधत भयो निज काल गमाय॥ ४०॥

देश ढुंढारह मांहि महान, नगर 'सवाई जयपुर' थान।
तामें ताको रहनो घनो, थोरो रहनो ओठै बनो॥ ४१॥

तिस पर्याय विषैं जो कोय, देखन-जानन हारो सोय।
मैं हूँ जीवद्रव्य गुन-भूप, एक अनादि अनन्त अरूप॥ ४२॥

कर्म उदय को कारण पाय, रागादिक हो हैं दुःखदाय।
ते मेरे औपाधिक भाव, इनिकों विनशैं मैं शिवराय॥ ४३॥

प्रतिभा के धनी और आत्मसाधना-सम्पन्न होने पर भी उन्हें अभिमान छू भी नहीं गया था। अपनी रचनाओं के कर्तृत्व के सम्बन्ध में वे लिखते हैं -

बचनादिक लिखनादिक क्रिया, वर्णादिक अरु इन्द्रिय-हिया।
ये सब हैं पुद्गल के खेल, इनमें नाहिं हमारो मेल॥

रागादिक वचनादिक घनां, इनके कारण-कारिज पनां।
तातैं भिन्न न देख्यो कोय, बिनु विवेक जग अंधो होय॥

ज्ञान-राग तो मेरौ मिल्यौ, लिखनौ-करनौ तनु को मिल्यौ।
कागज मसि अक्षर आकार, लिखिया अर्थ-प्रकाशन हार॥

ऐसौ पुस्तक भयो महान, जातैं जानें अर्थ सुजान।
यद्यपि यहु पुद्गल कौ खंद, है तथापि श्रुतज्ञान निबंध॥[१]

पण्डित टोडरमलजी, आध्यात्मिक साधक थे; उन्होंने जैनदर्शन और सिद्धान्तों का गहन अध्ययन ही नहीं किया है, अपितु उसे तत्कालीन जनभाषा में लिखा भी है; इसमें उनका मुख्य उद्देश्य अपने दार्शनिक चिन्तन को जनसाधारण तक पहुँचाना था। पण्डितजी ने प्राचीन जैनग्रन्थों की विस्तृत व गहन, परन्तु सुबोध भाषा-टीकाएँ लिखीं। इन भाषा-टीकाओं में कई विषयों पर

[१] सम्यग्ज्ञान-चंद्रिका प्रशस्ति

बहुत ही मौलिक विचार मिलते हैं, जो उनके स्वतन्त्र चिन्तन के परिणाम थे। बाद में इन्हीं विचारों के आधार पर उन्होंने कतिपय मौलिक ग्रन्थों की रचना भी की; उनकी रचनाओं में से सात तो टीका -ग्रन्थ हैं और पाँच मौलिक रचनाएँ हैं। उनकी रचनाओं को दो भागों में बाँटा जा सकता है-

(१) मौलिक रचनाएँ (२) व्याख्यात्मक टीकाएँ

मौलिक रचनाएँ, गद्य और पद्य दोनों रूपों में हैं; उनमें गद्य रचनाएँ, चार शैलियों में मिलती हैं-

(क) वर्णनात्मक शैली (ख) पत्रात्मक शैली

(ग) यन्त्र-रचनात्मक [चार्ट] शैली (घ) विवेचनात्मक शैली

वर्णनात्मक शैली में समवसरण आदि का सरल भाषा में सीधा वर्णन किया गया है।

पण्डितजी के पास जिज्ञासु लोग दूर-दूर से अपनी शंकाएँ भेजते थे, उनके समाधान में, वे जो कुछ लिखते थे; वह लेखन, **पत्रात्मक शैली** के अन्तर्गत आता है; इसमें तर्क और अनुभूति का सुन्दर समन्वय है। इन पत्रों में एक पत्र बहुत महत्त्वपूर्ण है। सोलह पृष्ठीय यह पत्र, 'रहस्यपूर्ण चिट्ठी' के नाम से प्रसिद्ध है।

यन्त्र-रचनात्मक शैली में चार्टों द्वारा विषय को स्पष्ट किया गया है। 'अर्थसंदृष्टि अधिकार' इसी प्रकार की रचना है।

विवेचनात्मक शैली में सैद्धान्तिक विषयों को प्रश्नोत्तर पद्धति में विस्तृत विवेचन करके युक्ति व उदाहरणों से स्पष्ट किया गया है। 'मोक्षमार्गप्रकाशक' इसी श्रेणी में आता है।

पद्यात्मक रचनाएँ, दो रूपों में उपलब्ध हैं - (१) भक्तिपरक (२) प्रशस्तिपरक

भक्तिपरक रचनाओं में गोम्मटसार पूजा एवं ग्रन्थों के आदि, मध्य और अन्त में प्राप्त फुटकर पद्यात्मक रचनाएँ हैं। तथा ग्रन्थों के अन्त में लिखी गयी परिचयात्मक प्रशस्तियाँ, प्रशस्तिपरक श्रेणी में आती हैं।

पण्डित टोडरमलजी की **व्याख्यात्मक टीकाएँ,** दो रूपों में पायी जाती हैं -

(१) संस्कृत ग्रन्थों की टीकाएँ (२) प्राकृत ग्रन्थों की टीकाएँ

संस्कृत ग्रन्थों की टीकाओं में, आत्मानुशासन भाषा-टीका और पुरुषार्थसिद्ध्युपाय भाषा-टीका हैं। **प्राकृत** ग्रन्थों की टीकाओं में गोम्मटसार जीवकाण्ड, गोम्मटसार कर्मकाण्ड, लब्धिसार-क्षपणासार और त्रिलोकसार हैं, जिनकी भाषा-टीकाएँ उन्होंने लिखी हैं।

गोम्मटसार जीवकाण्ड, गोम्मटसार कर्मकाण्ड, लब्धिसार और क्षपणासार की भाषा-टीकाएँ, पण्डित टोडरमलजी ने अलग-अलग बनायी थीं किन्तु उक्त चारों टीकाओं को परस्पर एक-दूसरे से सम्बन्धित एवं एक का अध्ययन दूसरे के अध्ययन में परस्पर सहायक जानकर, उन्होंने उक्त चारों टीकाओं को मिलाकर, एक कर दिया तथा उसका नाम 'सम्यग्ज्ञान-चन्द्रिका'

रख दिया। सम्यग्ज्ञान-चन्द्रिका की पीठिका में उक्त चारों ग्रन्थों की टीका मिलाकर, एक कर देने के सम्बन्ध में सयुक्ति समर्थ कारण प्रस्तुत किये हैं। प्रशस्ति में तत्सम्बन्धी उल्लेख इस प्रकार है-

या विधि गोम्मटसार लब्धिसार ग्रन्थनि की,
भिन्न-भिन्न भाषा-टीका कीनी अर्थ गाय कैं।
इनि कै परस्पर सहायकपनौ देख्यौ,
तातैं एक कर दई हम तिनकौ मिलाय कैं॥
सम्यग्ज्ञान-चंद्रिका धर्यो है याकौ नाम,
सोई होत है सफल ज्ञानानन्द उपजाय कैं।
कलिकाल-रजनी में अर्थ को प्रकाश करैं,
यातैं निज काज कीजै इष्ट भाव भाय कैं॥ ३०॥

सम्यग्ज्ञान-चन्द्रिका, विवेचनात्मक गद्य शैली में लिखी गयी है। प्रारम्भ में ७१ पृष्ठों की पीठिका है। आज नवीन शैली से सम्पादित ग्रन्थों में भूमिका का बड़ा महत्त्व माना जाता है। शैली के क्षेत्र में लगभग दो सौ बीस वर्ष पूर्व लिखी गयी सम्यग्ज्ञान-चन्द्रिका की पीठिका, आधुनिक भूमिका का आरम्भिक रूप है किन्तु भूमिका का आद्यरूप होने पर भी, उसमें प्रौढ़ता पायी जाती है; उसमें हल्कापन कहीं भी देखने को नहीं मिलता। इसके पढ़ने से ग्रन्थ का पूरा हार्द खुल जाता है एवं इस गूढ़ ग्रन्थ के पढ़ने में आनेवाली पाठक की समस्त कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं।

हिन्दी आत्मकथा-साहित्य में जो महत्त्व महाकवि पण्डित बनारसीदास के 'अर्द्धकथानक' को प्राप्त है, वही महत्त्व हिन्दी भूमिका-साहित्य में सम्यग्ज्ञान-चन्द्रिका की पीठिका का है।

पण्डित परमानन्द शास्त्री, 'त्रिलोकसार भाषा टीका' को भी सम्यग्ज्ञान-चन्द्रिका में सम्मिलित मानते हैं①, पर पण्डित टोडरमलजी ने स्पष्टरूप से कई स्थानों पर लिखा है कि 'सम्यग्ज्ञान-चन्द्रिका'- यह गोम्मटसार जीवकाण्ड, गोम्मटसार कर्मकाण्ड, लब्धिसार और क्षपणासार की टीका का नाम है।② कहीं भी त्रिलोकसार के नाम का उल्लेख नहीं किया है। लब्धिसार-क्षपणासार सहित भाषा-टीका समाप्त करते हुए लिखा है -'इति श्रीमत् लब्धिसार वा क्षपणासार सहित गोम्मटसार शास्त्र की सम्यग्ज्ञान-चन्द्रिका भाषा टीका सम्पूर्ण।③' अतः यह निश्चित है कि 'त्रिलोकसार भाषा-टीका', सम्यग्ज्ञान-चन्द्रिका का अंग नहीं है।

---

① मोक्षमार्गप्रकाशक (सस्ती ग्रन्थमाला, दिल्ली) प्रस्तावना, २८

② **श्रीमत् लब्धिसार वा क्षपणासार सहित श्रुत गोम्मटसार।**
ताकी सम्यग्ज्ञानचंद्रिका भाषामय टीका विस्तार॥
प्रारंभी पूरन हुई, भए समस्त मंगलाचार।
सफल मनोरथ भयो हमारो, पायो ज्ञानानंद अपार॥ १॥

③ श्री दिगम्बर जैन बड़ामन्दिर तेरापंथियान, जयपुर में उपलब्ध हस्तलिखित प्रति (वि.सं. १८५०), पृष्ठ २८५

मोक्षमार्गप्रकाशक, पण्डित टोडरमलजी का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का आधार कोई एक ग्रन्थ न होकर, सम्पूर्ण जैन साहित्य है। यह सम्पूर्ण जैनसिद्धान्त को अपने में समेट लेने का एक सार्थक प्रयत्न था, परन्तु खेद है कि यह ग्रन्थराज पूर्ण न हो सका, अन्यथा यह कहने में संकोच न होता कि यदि सम्पूर्ण जैन वाङ्मय कहीं एक जगह सरल, सुबोध और जन-भाषा में देखना हो तो 'मोक्षमार्गप्रकाशक' को देख लीजिए। **अपूर्ण होने पर भी, यह अपनी अपूर्वता के लिये प्रसिद्ध है।**

यह एक अत्यन्त लोकप्रिय ग्रन्थ है, जिसके कई संस्करण निकल चुके हैं① एवं खड़ीबोली में इसके अनुवाद भी कई बार प्रकाशित हो चुके हैं②। यह उर्दू में भी छप चुका है।③ मराठी और गुजराती में इसके अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं।④ अभी तक सब कुल मिलाकर इसकी ६२,२०० प्रतियाँ छप चुकी हैं। इसके अतिरिक्त भारतवर्ष के दिगम्बर जैनमन्दिरों के शास्त्र-भण्डारों में इस ग्रन्थराज की हजारों हस्तलिखित प्रतियाँ पायी जाती हैं।

समूचे समाज में यह स्वाध्याय और प्रवचन हेतु लोकप्रिय ग्रन्थ है। आज भी पण्डित टोडरमलजी, दिगम्बर जैनसमाज में सर्वाधिक पढ़े जानेवाले विद्वान हैं। मोक्षमार्गप्रकाशक की मूलप्रति भी उपलब्ध है⑤ एवं उसके फोटो-प्रिण्ट करा लिये गये हैं, जो जयपुर⑥, बम्बई⑦, दिल्ली⑧ और सोनगढ़⑨ में सुरक्षित हैं। इस पर स्वतन्त्र प्रवचनात्मक व्याख्याएँ भी मिलती हैं⑩।

	प्रकाशक	प्रकाशन तिथि	भाषा	प्रतियाँ
①	(क) बाबू ज्ञानचन्दजी जैन, लाहौर	वि.सं. १९५४	ब्रजभाषा	१०००
	(ख) जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई	सन् १९११ ई०	ब्रजभाषा	३०००
	(ग) बाबू पन्नालाल चौधरी, वाराणसी	वी. नि. सं. २४५१	ब्रजभाषा	१०००
	(घ) अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला, बम्बई	वी. नि. सं. २४६३	ब्रजभाषा	१०००
	(ङ) सस्ती ग्रन्थमाला, दिल्ली	—	ब्रजभाषा	४०००
	(च) सस्ती ग्रन्थमाला, दिल्ली	—	ब्रजभाषा	१०००
	(छ) सस्ती ग्रन्थमाला, दिल्ली	—	ब्रजभाषा	२३००
	(ज) सस्ती ग्रन्थमाला, दिल्ली	सन् १९६५ ई०	ब्रजभाषा	२२००
②	(क) अ. दिगम्बर जैन संघ, मथुरा	वी. नि. सं. २००५	खड़ी बोली	१०००
	(ख) श्री दि. जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़	वि. सं. २०२३	खड़ी बोली	११०००
	(ग) श्री दि. जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़	वि. सं. २०२६	खड़ी बोली	७०००
	(घ) श्री दि. जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़	वि. सं. २०३०	खड़ी बोली	७०००
	(ङ) श्री दि. जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़	वि. सं. २०३५	खड़ी बोली	११०००
③	दाताराम चेरिटेबिल ट्रस्ट, १५८३, दरीबाकलाँ, देहली	वि.सं. २०२७	उर्दू	१०००
④	(क) श्री दि. जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़		गुजराती	६७००
	(ख) महावीर ब्रह्मचर्याश्रम, कारंजा		मराठी	२०००

⑤ श्री दिगम्बर जैनमंदिर दीवान भदीचंदजी, घी वालों का रास्ता, जयपुर
⑥ वही, श्री दिगम्बर जैनमंदिर दीवान भदीचंदजी, घी वालों का रास्ता, जयपुर
⑦ श्री दिगम्बर जैन सीमन्धर जिनालय, जवेरी बाजार, बम्बई
⑧ श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, श्री दिगम्बर जैन मन्दिर धर्मपुरा, देहली
⑨ श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़
⑩ आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी द्वारा किये गये प्रवचन 'मोक्षमार्गप्रकाशक की किरणें' नाम से दो भागों में श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ से हिन्दी व गुजराती में कई बार प्रकाशित हो चुके हैं।

इस ग्रन्थ का निर्माण, ग्रन्थकार की अन्त:प्रेरणा का परिणाम है। अल्पबुद्धिवाले जिज्ञासु जीवों के प्रति धर्मानुराग ही उनकी अन्त:प्रेरणा का प्रेरक रहा है। ग्रन्थ-निर्माण के मूल में कोई लौकिक आकांक्षा नहीं थी। धन, यश और सम्मान की चाह तथा नया पन्थ चलाने का मोह भी इसका प्रेरक नहीं था, किन्तु जिनको न्याय, व्याकरण, नय और प्रमाण का ज्ञान नहीं है और जो महान शास्त्रों के अर्थ समझने में सक्षम नहीं हैं, उनके लिए जनभाषा में, सुबोध ग्रन्थ बनाने के पवित्र उद्देश्य से ही इस ग्रन्थ का निर्माण हुआ है①।

प्राप्त 'मोक्षमार्गप्रकाशक' में नौ अधिकार हैं। प्रारम्भ के आठ अधिकार तो पूर्ण हो गए, किन्तु नौवाँ अधिकार अपूर्ण है। इस अधिकार में जिस प्रकार विषय (सम्यग्दर्शन) उठाया गया है, उसके अनुरूप इसमें कुछ भी नहीं कहा जा सका है। सम्यग्दर्शन के आठ अंग और पच्चीस दोषों के नाम-मात्र गिनाये जा सके हैं; उनका सांगोपांग विवेचन नहीं हो पाया है। जहाँ विषय छूटा है, वहाँ विवेच्य प्रकरण भी अधूरा रह गया है, यहाँ तक कि अन्तिम पृष्ठ का अन्तिम शब्द 'बहुरि' भी 'बहु...' ..... लिखा जाकर, अधूरा छूट गया है।

'मोक्षमार्गप्रकाशक' की हस्तलिखित मूलप्रति देखने पर, यह प्रतीत हुआ कि 'मोक्षमार्गप्रकाशक' के अधिकारों के क्रम एवं वर्गीकरण के सम्बन्ध में पण्डितजी पुनर्विचार करना चाहते थे, क्योंकि तीसरे अधिकार तक तो वे अधिकार के अन्त होनेपर स्पष्टरूप से लिखते हैं कि प्रथम, द्वितीय व तृतीय अधिकार समाप्त हुआ; किन्तु चौथे अधिकार से यह क्रम अव्यवस्थित हो गया है।

चौथे के अन्त में लिखा है - 'छठा अधिकार समाप्त हुआ'। पाँचवें अधिकार के अन्त में कुछ लिखा व कटा हुआ है। पता नहीं चलता कि क्या लिखा हुआ है एवं वहाँ अधिकार शब्द का प्रयोग नहीं है। छठे अधिकार के अन्त में, छठा लिखने की जगह छोड़ी गयी है। उसकी जगह ६ का अंक लिखा हुआ है।

सातवें और आठवें अधिकार के अन्त का विवरण स्पष्ट होने पर भी, उनमें अधिकार संख्या नहीं दी गयी है एवं उसके लिये स्थान खाली छोड़ा गया है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में प्रथम पृष्ठ पर अधिकार का नम्बर तथा नाम जैसे 'पीठबंध प्ररूपक प्रथम अधिकार' नहीं लिखा है, जैसा कि प्रथम अधिकार के अन्त में लिखा गया है।

'ॐ नम: सिद्धं॥ अथ मोक्षमार्ग्ग प्रकाशक नामा शास्त्र लिख्यते॥' - ऐसा लिखकर 'मंगलाचरण' आरम्भ कर दिया गया है। अन्य अधिकारों के प्रारम्भ में भी अधिकार निर्देश व नामकरण नहीं किया गया है।

---

① मोक्षमार्गप्रकाशक, प्रस्तुत संस्करण, पृष्ठ १९

अपूर्ण नौवें अधिकार को पूर्ण करने के बाद, उसके आगे और भी कई अधिकार लिखने की उनकी योजना थी। न मालूम पण्डितप्रवर टोडरमलजी के मस्तिष्क में कितने अधिकार प्रच्छन्न (गर्भित) थे?

प्राप्त नौ अधिकारों में लेखक ने बारह स्थानों पर ऐसे संकेत दिये हैं कि इस विषय पर आगे यथास्थान विस्तार से प्रकाश डाला जाएगा①।

उक्त संकेतों और प्रतिपादित विषय के आधार पर प्रतीत होता है कि यदि यह महाग्रन्थ निर्विघ्न समाप्त हो गया होता तो पाँच हजार पृष्ठों से कम नहीं होता और उसमें मोक्षमार्ग के मूलाधार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का विस्तृत विवेचन होता।

'उनके अन्तर में क्या था? वे इसमें क्या लिखना चाहते थे? यह तो वे ही जानें, परन्तु प्राप्त ग्रन्थ के आधार पर हम कह सकते हैं कि उसकी सम्भावित रूपरेखा कुछ ऐसी होती –

---

① मोक्षमार्गप्रकाशक (प्रस्तुत संस्करण) में देखें –

(१) **सो इन सबका विशेष, आगे कर्म अधिकार में लिखेंगे, वहाँ से जानना।** पृष्ठ ३०

(२) **सर्वज्ञ-वीतराग अरहन्तदेव हैं; बाह्य-अभ्यन्तर परिग्रह रहित निर्ग्रन्थ गुरु हैं। इनका वर्णन इस ग्रन्थ में आगे विशेष लिखेंगे, सो जानना।** पृष्ठ १३६

(३) **इसलिए उनके ऐसा श्रद्धान नहीं होता, तब भी सम्यक्त्व हुआ है। इसलिए सम्यक्श्रद्धान का स्वरूप यह नहीं है; सच्चा स्वरूप है, उसका वर्णन आगे करेंगे, सो जानना।** पृष्ठ १५७

(४) **परन्तु द्रव्यलिंगी मुनि के शास्त्राभ्यास होने पर भी, मिथ्याज्ञान कहा है, असंयत सम्यग्दृष्टि का विषयादिरूप जानना, उसे सम्यग्ज्ञान कहा है। इसलिए यह स्वरूप नहीं है; सच्चा स्वरूप आगे कहेंगे, उसे जानना।** पृष्ठ १५७

(५) **और उनके मत के अनुसार, गृहस्थादिक के महाव्रतादि बिना अंगीकार किये भी सम्यक्चारित्र होता है, इसलिए यह स्वरूप नहीं है; सच्चा स्वरूप दूसरा है, उसे आगे कहेंगे।** पृष्ठ १५८

(६) **सच्चे जिनधर्म का स्वरूप आगे कहते हैं।** पृष्ठ १६७

(७) **ज्ञानी के भी मोह के उदय से रागादिक होते हैं, यह सत्य है परन्तु बुद्धिपूर्वक रागादिक नहीं होते; उसका विशेष वर्णन आगे करेंगे।** पृष्ठ २०७

(८) **तथा भरतादिक सम्यग्दृष्टियों के विषय-कषायों की प्रवृत्ति जैसे होती है, वह भी विशेषरूप से आगे कहेंगे।** पृष्ठ २०७

(९) **इसलिए बाह्य प्रवृत्ति के अनुसार, निर्जरा नहीं है; अन्तरंग कषायशक्ति घटने से, विशुद्धता होने पर निर्जरा होती है; सो इसके प्रगट स्वरूप का आगे निरूपण करेंगे, वहाँ से जानना।** पृष्ठ २३२

(१०) **और फल लगता है, वह अभिप्राय में जो वासना है, उसका लगता है; उसका विशेष व्याख्यान आगे करेंगे, वहाँ स्वरूप भलीभाँति भासित होगा।** पृष्ठ २३८

(११) **आज्ञानुसारी हुआ देखा-देखी साधन करता है; इसलिए इसके निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग नहीं हुआ। निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग का आगे निरूपण करेंगे, उसका साधन होने पर ही, मोक्षमार्ग होगा।** पृष्ठ २५७

(१२) **उसी प्रकार वही आत्मा, कर्मउदय निमित्त के वश, बन्ध होने के कारणों में भी प्रवर्तता है, विषय-सेवनादि कार्य व क्रोधादि कार्य करता है तथापि उस श्रद्धान का उसके नाश नहीं होता, इसका विशेष निर्णय आगे करेंगे।** पृष्ठ ३२१

काशी-निवासी कविवर वृन्दावनदासजी को लिखे पत्र में पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा ने विक्रम संवत् १८८० में 'मोक्षमार्गप्रकाशक' के अपूर्ण होने की चर्चा की एवं उसको पूर्ण करने के उनके अनुरोध को स्वीकार करने में असमर्थता व्यक्त की है।①

अत: यह तो निश्चित है कि वर्तमान प्राप्त मोक्षमार्गप्रकाशक अपूर्ण है, पर प्रश्न यह रह जाता है कि इसके आगे मोक्षमार्गप्रकाशक लिखा गया या नहीं ? इसके आकार के सम्बन्ध में साधर्मी भाई ब्रह्मचारी रायमल्लजी ने अपनी इन्द्रध्वज विधान महोत्सव पत्रिका② में विक्रम संवत् १८२१ में इसे बीस हजार श्लोक प्रमाण लिखा है तथा इन्होंने ही अपने चर्चा-संग्रह③ ग्रन्थ में इसके बारह हजार श्लोक प्रमाण होने का उल्लेख किया है।

ब्रह्मचारी रायमल्लजी, पण्डित टोडरमलजी के अनन्य सहयोगी एवं नित्य निकट सम्पर्क में रहनेवाले व्यक्ति थे; उनके द्वारा लिखे गये उक्त उल्लेखों को परस्पर विरोधी उल्लेख कहकर अप्रमाणित घोषित कर देना, अनुसन्धान के महत्त्वपूर्ण सूत्र की उपेक्षा करना होगा।

गम्भीरता से विचार करने पर ऐसा लगता है कि बारह हजार श्लोक प्रमाण तो प्राप्त मोक्षमार्गप्रकाशक के सम्बन्ध में है, क्योंकि प्राप्त मोक्षमार्गप्रकाशक है भी इतना ही, किन्तु बीस हजार श्लोक प्रमाणवाला उल्लेख, उसके अप्राप्तांश की ओर संकेत करता है।

मेरा अनुमान है कि इस ग्रन्थ का अप्राप्तांश, उनके अन्य सामान के साथ तत्कालीन सरकार द्वारा जब्त कर लिया गया होगा और यदि उनका जब्ती का सामान राजकोष में सुरक्षित होगा तो निश्चित ही उनके अध्ययन की अन्य सामग्री व बाकी का मोक्षमार्गप्रकाशक भी उसमें होना चाहिए।

उनके जब्त किये गये सामान की एक सूची भी लेखक के द्वारा देखी गयी है, पर उसके बारे में अभी विस्तार से कुछ लिखना सम्भव नहीं है।

यह ग्रन्थ, विवेचनात्मक गद्यशैली में लिखा गया है। प्रश्नोत्तरों द्वारा विषय को बहुत गहराई से स्पष्ट किया गया है। इसका प्रतिपाद्य एक गम्भीर विषय है परन्तु जिस विषय को उठाया गया है, उसके सम्बन्ध में उठनेवाली प्रत्येक शंका का समाधान प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया गया है।

प्रतिपादन शैली में मनोवैज्ञानिकता एवं मौलिकता पायी जाती है। प्रथम शंका के समाधान में द्वितीय शंका की उत्थानिका निहित रहती है। ग्रन्थ को पढ़ते समय पाठक के हृदय में जो प्रश्न

---

① ..... और लिख्या कि टोडरमलजी कृत मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रंथ पूरण भया नाहीं, ताकों पूरण करना योग्य है। सो कोई एक मूल ग्रंथ की भाषा होय तो हम पूरण करें। उनकी बुद्धि बड़ी थी, यातैं बिना मूल ग्रंथ के आश्रय उनने किया। हमारी एती बुद्धि नाहीं, कैसे पूरण करें। -वृन्दावन विलास, १३२

② पण्डित टोडरमल : व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व, परिशिष्ट १

③ प्रस्तुत ग्रन्थ, प्रस्तावना, १९

उपस्थित होता है, उसे हम अगली पंक्ति में लिखा पाते हैं। ग्रन्थ पढ़ते समय, पाठक को आगे पढ़ने की उत्सुकता बराबर बनी रहती है।

वाक्य-रचना संक्षिप्त और विषय-प्रतिपादन शैली, तार्किक एवं गम्भीर है। व्यर्थ का विस्तार उसमें नहीं है, परन्तु विस्तार के संकोच में कोई विषय अस्पष्ट नहीं रहा है। लेखक, विषय का यथोचित विवेचन करता हुआ, आगे बढ़ने के लिए सर्वत्र ही आतुर रहा है। जहाँ कहीं विषय का विस्तार भी हुआ है, वहाँ उत्तरोत्तर नवीनता आती गयी है। वह विषय-विस्तार सांगोपांग विषय-विवेचना की प्रेरणा से ही हुआ है। जिस विषय को उन्होंने छुआ, उसमें 'क्यों' का प्रश्न-वाचक समाप्त हो गया है। शैली ऐसी अद्‌भुत है कि एक अपरिचित विषय भी सहज हृदयंगम हो जाता है।

विषय को स्पष्ट करने के लिए, समुचित उदाहरणों का समावेश हुआ है। कई उदाहरण तो सांगरूपक के समान कई अधिकारों तक चलते है। जैसे—रोगी और वैद्य का उदाहरण, द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ और पंचम अधिकार के आरम्भ में आया है।

अपनी बात, पाठक के हृदय में उतारने के लिए पर्याप्त आगम-प्रमाण, सैंकड़ों तर्क तथा जैन-अजैन दर्शनों और ग्रन्थों के अनेक कथन व उद्धरण प्रस्तुत किये गये हैं।

ऐसा लगता है वे जिस विषय का विवेचन करते हैं, उसके सम्बन्ध में असंख्य ऊहापोह, उनके मानस में हिलोरें लेने लगते हैं तथा वस्तु की गहराई में उतरते ही अनुभूति, लेखनी में उतरने लगती है। वे विषय को पूरा स्पष्ट करते हैं। प्रसंगानुसार जहाँ विषय अस्पष्ट छोड़ना पड़ा है, वहाँ उल्लेख कर दिया है कि उसे **आगे विस्तार से स्पष्ट करेंगे।**

प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से भी पण्डितजी का प्रदेय कम नहीं है। यद्यपि 'मोक्षमार्गप्रकाशक' का प्रत्येक वाक्य आर्ष-सम्मत है तथापि उसमें बहुत-सा नया प्रमेय उपस्थित किया गया है, जो जिनागम में उसरूप में अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं है। इस प्रकार के विषय, ग्रन्थ में सर्वत्र आये हैं।

विशेष कर सातवाँ व आठवाँ अधिकार इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। कुछ प्रकरण निम्नलिखित हैं - जिनका विस्तृत विवेचन यहाँ सम्भव नहीं है; अत: वे मूल में पठनीय हैं -

(१) निश्चयाभासी, व्यवहाराभासी आदि के रूप में
जैन मिथ्यादृष्टियों का वर्गीकरण (पृष्ठ १९३)

(२) पंच-परमेष्ठी का सही स्वरूप (पृष्ठ २ व २२१)

(३) सप्त तत्त्वों सम्बन्धी भूल (पृष्ठ २२५)

(४) निश्चय-व्यवहार (पृष्ठ २४८)

(५) जैनशास्त्रों का अर्थ समझने की पद्धति (पृष्ठ २५१)

(६) चारों अनुयोगों का प्रयोजन, व्याख्यान का विधान,
कथन-पद्धति, दोष-कल्पना का निराकरण आदि (पृष्ठ २६८)

सैद्धान्तिक दृष्टि से तो उन्होंने नया प्रमेय उपस्थित किया ही है, साथ ही तत्कालीन समाज एवं उसके धार्मिक क्रिया-कलाप भी उनकी दृष्टि से ओझल नहीं रह सके हैं। शास्त्राध्ययन एवं आत्मानुभवन के अतिरिक्त उनका लोक-निरीक्षण भी अत्यन्त सूक्ष्म रहा है। दृष्टान्त के तौर पर लगभग २१० वर्ष पुराना उनका यह चित्रण आज भी सर्वत्र देखा जा सकता है -

"वहाँ जो जीव, कुल-प्रवृत्ति से अथवा देखा-देखी अथवा लोभादि के अभिप्राय से धर्म साधते हैं, उनके तो 'धर्म-दृष्टि' नहीं है।

यदि भक्ति करते हैं तो चित्त तो कहीं है, दृष्टि घूमती रहती है और मुख से पाठादि करते हैं व नमस्कारादि करते हैं परन्तु यह ठीक नहीं है। मैं कौन हूँ? किसकी स्तुति करता हूँ? किस प्रयोजन के अर्थ स्तुति करता हूँ? पाठ में क्या अर्थ है? - उसका कुछ पता नहीं है।

कदाचित् कुदेवादि की भी सेवा करने लग जाता है; वहाँ सुदेव-गुरु-शास्त्रादि में एवं कुदेव-गुरु-शास्त्रादि में अन्तर पहिचानता नहीं है।

यदि दान देता है तो 'पात्र-अपात्र के विचाररहित'- जैसे, अपनी प्रशंसा हो, वैसे दान देता है। तथा तप करता है तो 'भूखा रहने से महन्तपना हो' - ऐसे कार्य करता है, परिणामों की पहिचान नहीं है। तथा व्रतादि धारण करता है तो 'वहाँ बाह्यक्रिया पर दृष्टि है', उसमें भी कोई सच्ची क्रिया करता है, कोई झूठी करता है और 'जो अन्तरंग रागादि भाव पाये जाते हैं', उनका विचार ही नहीं है तथा 'बाह्य में रागादि के पोषण के साधन करता है।'

यदि पूजा-प्रभावनादि कार्य करता है तो वहाँ जिस प्रकार लोक में बड़ाई हो व विषय -कषाय का पोषण हो, उस प्रकार कार्य करता है तथा बहुत हिंसादि उत्पन्न करता है।

इस प्रकार उक्त कार्य तो अपने तथा अन्य जीवों के परिणाम सुधारने के अर्थ कहे हैं।

यद्यपि वहाँ किंचित् हिंसादि भी उत्पन्न होते हैं तथापि 'जिसमें थोड़ा अपराध हो और गुण अधिक हो, वह कार्य करना' कहा है, परन्तु परिणामों की तो पहिचान नहीं है और 'यहाँ अपराध कितना लगता है? गुण कितना होता है?' - ऐसे नफे-टोटे का ज्ञान नहीं है एवं विधि -अविधि का ज्ञान नहीं है।

यदि शास्त्राभ्यास करता है तो वहाँ पद्धतिरूप प्रवर्तता है। यदि वाँचता है तो औरों को सुना देता है; यदि पढ़ता है तो आप पढ़ जाता है; सुनता है तो जो कहते हैं, वह सुन लेता है

मोक्षमार्गप्रकाशक की संभावित रूपरेखा :

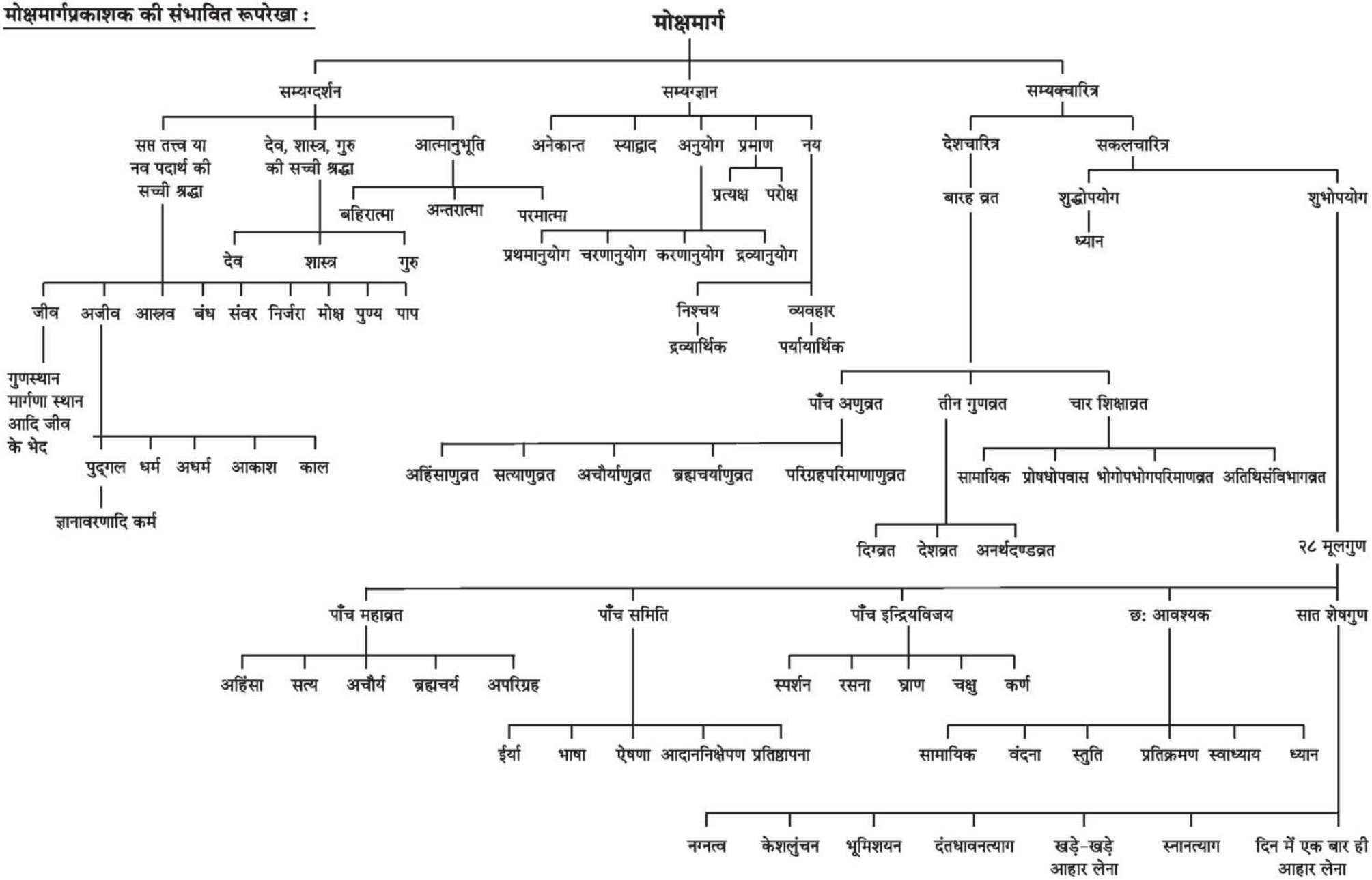

परन्तु जो शास्त्राभ्यास का प्रयोजन है, उसे आप अन्तरंग में नहीं अवधारण करता, इत्यादि धर्मकार्यों के मर्म को नहीं पहिचानता।

अथवा तो 'जिस प्रकार कुल में बड़े प्रवर्तते हैं, उसी प्रकार हमें भी करना' अथवा 'दूसरे लोग करते हैं, वैसा हमें भी करना' अथवा 'ऐसा करने से हमारे लोभादि की सिद्धि होगी'; इत्यादि विचारसहित अभूतार्थ धर्म को साधते हैं।''①

विद्वानों और मुमुक्षु-बन्धुओं का ध्यान आकर्षित करने के लिए, 'मोक्षमार्गप्रकाशक' में समागत जैनधर्म के मूलतत्त्व को स्पर्श करने वाले कुछ क्रान्तिकारी वाक्य-खंड यहाँ प्रस्तुत हैं -

(१) **इसलिए हिंसादिवत् अहिंसादि को भी बन्ध का कारण जानकर, हेय ही मानना।** (पृष्ठ २२६)

(२) **तत्त्वार्थसूत्र में आस्रवपदार्थ का निरूपण करते हुए, 'महाव्रत-अणुव्रत को भी आस्रवरूप' कहा है; वे उपादेय कैसे हो सकते हैं?** (पृष्ठ २२९)

(३) **वहाँ हिंसा के परिणामों से तो पाप होता है और रक्षा के परिणामों से संवर कहोगे तो पुण्यबन्ध का कारण कौन ठहरेगा?** (पृष्ठ २२८)

(४) **भक्ति तो रागरूप है और राग से बन्ध है; इसलिए मोक्ष का कारण नहीं है।** (पृष्ठ २२२)

(५) **वहाँ 'राग-द्वेष-मोह रूप' जो आस्रवभाव हैं, उनका तो नाश करने की चिन्ता नहीं है और बाह्यक्रिया अथवा बाह्यनिमित्त मिटाने का उपाय रखता है परन्तु उनके मिटाने से, आस्रव नहीं मिटता।** (पृष्ठ २२७)

(६) **परद्रव्य, कोई जबरन तो बिगाड़ता नहीं है; अपने भाव बिगड़ें, तब वह भी बाह्यनिमित्त है तथा उसके निमित्त बिना भी, भाव बिगड़ते हैं; इसलिए नियमरूप निमित्त भी नहीं है। इस प्रकार परद्रव्य का तो दोष देखना, मिथ्याभाव है। रागादिभाव ही बुरे हैं।** (पृष्ठ २४४)

(७) **तथापि करें क्या? - सच्चा तो दोनों नयों का स्वरूप भासित हुआ नहीं और जिनमत में दो नय कहे हैं, उनमें से किसी को छोड़ा भी नहीं जाता; इसलिए भ्रमसहित दोनों का साधन साधते हैं, वे जीव भी मिथ्यादृष्टि जानना।** (पृष्ठ २४८)

(८) **मोक्षमार्ग दो नहीं हैं; मोक्षमार्ग का निरूपण, दो प्रकार का है। जहाँ 'सच्चे मोक्षमार्ग को मोक्षमार्ग' निरूपित किया जाए, वह 'निश्चयमोक्षमार्ग' है और जहाँ जो मोक्षमार्ग तो है नहीं, परन्तु 'मोक्षमार्ग का निमित्त है व सहचारी है, उसे उपचार से मोक्षमार्ग' कहा जाए, वह 'व्यवहारमोक्षमार्ग' है क्योंकि निश्चय-व्यवहार का सर्वत्र ऐसा ही लक्षण है - 'सच्चा निरूपण, वह निश्चय', 'उपचार निरूपण, वह व्यवहार'।** (पृष्ठ २४८)

---

① मोक्षमार्गप्रकाशक, प्रस्तुत संस्करण, पृष्ठ २२०-२२१

(९) व्यवहारनय, स्वद्रव्य-परद्रव्य को, उनके भावों को व कारण-कार्यादि को किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है - ऐसे ही श्रद्धान से मिथ्यात्व होता है; इसलिए इसका त्याग करना तथा निश्चयनय, उन्हीं का यथावत् निरूपण करता है; किसी को किसी में नहीं मिलाता है - ऐसे ही श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है; इसलिए इसका श्रद्धान करना। (पृष्ठ २५१)

(१०) जैसे - मेघवर्षा होने पर, बहुत से जीवों का कल्याण होता है परन्तु किसी को उल्टा नुकसान हो तो उसकी मुख्यता करके मेघ का तो निषेध नहीं करना; उसी प्रकार सभा में अध्यात्म उपदेश होने पर, बहुत से जीवों को मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है परन्तु कोई उल्टा पाप में प्रवर्तता हो तो उसकी मुख्यता करके, अध्यात्म शास्त्रों का तो निषेध नहीं करना। (पृष्ठ २९२)

(११) देखो! तत्त्वनिर्णय न करने में किसी कर्म का दोष नहीं है, तेरा ही दोष है परन्तु तू आप (स्वयं) तो महन्त रहना चाहता है और अपना दोष, कर्मादि को लगाता है लेकिन जिन-आज्ञा माने तो ऐसी अनीति सम्भव नहीं है। (पृष्ठ ३११)

(१२) वात्सल्य अंग की प्रधानता से मुनि विष्णुकुमारजी की प्रशंसा की है परन्तु इस छल से औरों को ऊँचा धर्म छोड़कर, नीचा धर्म अंगीकार करना योग्य नहीं है। (पृष्ठ २७४)

(१३) ग्वाले ने मुनि को अग्नि से तपाया, उसने करुणा से ऐसा कार्य किया; .... इसलिए उसकी प्रशंसा की है परन्तु इस छल से औरों को धर्मपद्धति में जो विरुद्ध हो, वह कार्य करना योग्य नहीं है। (पृष्ठ २७४)

(१४) देखो! तत्त्वविचार की महिमा!! 'तत्त्वविचाररहित' - देवादि की प्रतीति करे, बहुत शास्त्रों का अभ्यास करे, व्रतादि पाले, तपश्चरणादि करे; उसको तो 'सम्यक्त्व होने का अधिकार नहीं' और 'तत्त्वविचारसहित' - इनके बिना भी 'सम्यक्त्व का अधिकारी' होता है। (पृष्ठ २६०)

पण्डित टोडरमलजी ने 'मोक्षमार्ग में वीतरागता को सर्वोच्च प्राथमिकता' दी है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र - इन तीनों की परिभाषा करते हुए उन्होंने निष्कर्षरूप में वीतरागता को प्रमुख स्थान दिया है। विस्तृत विश्लेषण करने के बाद वे लिखते हैं -

''इसलिए बहुत क्या कहें - जिस प्रकार रागादि मिटाने का श्रद्धान हो, वही श्रद्धान, 'सम्यग्दर्शन' है; जिस प्रकार रागादि मिटाने का जानना (ज्ञान) हो, वही जानना, 'सम्यग्ज्ञान' है तथा जिस प्रकार रागादि मिटें, वही आचरण, 'सम्यक्चारित्र' है - ऐसा ही मोक्षमार्ग मानना योग्य है। (पृष्ठ २१३)

पण्डित टोडरमलजी का पद्य-साहित्य यद्यपि सीमित है, फिर भी उसमें जो भी है, वह उनके कवि-हृदय को समझने के लिये पर्याप्त है। उनके पद्यों में विषय की उपादेयता, स्वानुभूति

की महत्ता, जिन और जिन-सिद्धान्त-परम्परा का महत्त्व आदि बातों का रुचिपूर्ण शैली में अलंकृत वर्णन है। बानगी के तौर पर एक-दो अलंकृत छन्द प्रस्तुत हैं –

गोमूत्रिका बन्ध व चित्रालंकार –

मैं नमों नगन जैन जन ज्ञान ध्यान धन लीन।
मैन मान बिन दान घन एन हीन तन छीन॥

इसे गोमूत्रिका बन्ध में, इस प्रकार रखेंगे –

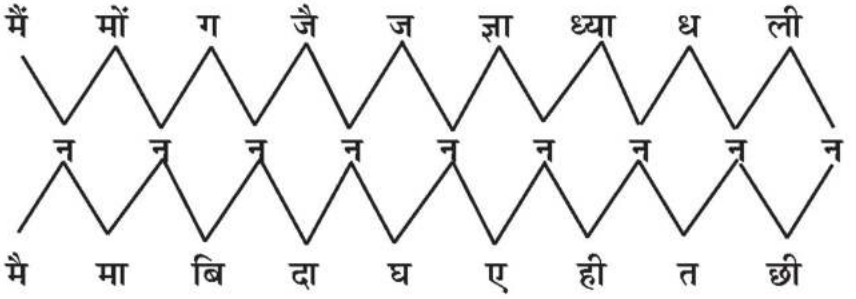

यही छन्द, चित्र के रूप में इस प्रकार रखा जाएगा –

इसका अर्थ – मैं ज्ञान और ध्यानरूपी धन में लीन रहनेवाले, काम और अभिमान से रहित, मेघ के समान धर्मोपदेश की वर्षा करनेवाले, पापरहित, क्षीणकषाय, नग्न दिगम्बर जैन साधुओं को नमस्कार करता हूँ।

ध्यान से देखने पर उक्त छन्द में अनुप्रास, यमक आदि अलंकार भी खोजे जा सकते हैं।

इसी प्रकार एक लम्बा सांगरूपक भी देखने योग्य है, जो कि मूलग्रन्थ गोम्मटसार की तुलना गिरनार से एवं अनेक टीकाओं की तुलना गली, मार्ग एवं वाहन से करते हुए प्रस्तुत किया गया है –

नेमिचंद जिन शुभ पद धारि, जैसे तीर्थ कियो गिरनारि।
तैसें नेमीचंद मुनिराय, ग्रन्थ कियो है तरण उपाय॥
देशनि में सुप्रसिद्ध महान, पूज्य भयो है यात्रा थान।
यामैं गमन करै जो कोय, उच्चपना पावत है सोय॥
गमन करन कौं गली समान, कर्नाटक टीका अमलान।
ताकौं अनुसरती शुभ भई, टीका सुन्दर संस्कृत मई॥
केशव वर्णी बुद्धि निधान, संस्कृत टीकाकार सुजान।
मार्ग कियौ तिहिं जुत विस्तार, जहँ स्थूलनि कौ भी संचार॥
हमहू करिकै तहाँ प्रवेश, पायो तारन कारन देश।
चिंतवन करि अर्थन को सार, अैसे कीन्हों बहुरि विचारि॥
संस्कृत संदृष्टिनि कौ ज्ञान, नहिं जिनके ते बाल समान।
गमन करन कौ अति तरफैरैं, बल बिनु नाहिं पदनि कौं धरैं॥
तिनि जीवनि कौं गमन उपाय, भाषाटीका दई बनाय।
वाहन सम यहु सुगम उपाव, या करि सफल करौ निज भाव॥

पण्डितजी का सबसे बड़ा प्रदेय यह है कि उन्होंने संस्कृत-प्राकृत में निबद्ध आध्यात्मिक तत्त्व-ज्ञान को, भाषा-गद्य के माध्यम से व्यक्त किया और तत्त्व-विवेचन में एक नयी दृष्टि दी। यह नवीनता उनकी क्रान्तिकारी दृष्टि में है। वे तत्त्वज्ञान को केवल परम्परागत मान्यता एवं शास्त्रीय प्रामाणिकता के सन्दर्भ में नहीं देखते। तत्त्वज्ञान उनके लिए एक सजीव चिन्तन प्रक्रिया है, जो केवल शास्त्रीय परम्परागत रूढ़ियों का ही खण्डन नहीं करती, वरन् समकालीन प्रचलित रूढ़ियों का भी खण्डन करती है।

उनकी मौलिकता यह है कि जिस तत्त्वज्ञान से लोग, रूढ़िवाद का समर्थन करते थे, उसी तत्त्वज्ञान से उन्होंने रूढ़िवाद को निरस्त किया। उन्होंने समाज की ही नहीं, तत्त्वज्ञान की भी चिन्तन--रूढ़ियों का खण्डन किया। उनकी स्थापना है कि कोई भी तत्त्व-चिन्तन तब तक मौलिक नहीं, जब तक वह अपनी तर्क और अनुभूति पर सिद्ध न कर लिया गया हो। कुल और परम्परा से जो तत्त्वज्ञान को स्वीकार लेते हैं, वह भी सम्यक् नहीं है। उनके अनुसार **'धर्म, परम्परा नहीं, स्वपरीक्षित साधना है।'**

वे मुख्यरूप से आध्यात्मिक चिन्तक हैं परन्तु उनके चिन्तन में तर्क और अनुभूति का सुन्दर समन्वय है। वे विचार का ही नहीं, उनके प्रवर्तक और ग्रहणकर्ता की योग्यता-अयोग्यता का भी

तर्क की कसौटी पर विचार करते हैं। तत्त्वज्ञान के अनुशीलन के लिए उन्होंने कुछ योग्यताएँ आवश्यक मानी हैं। उनके अनुसार, मोक्षमार्ग कोई पृथक् नहीं, प्रत्युत आत्म-विज्ञान ही है, जिसे वे वीतराग -विज्ञान कहते हैं। जितनी चीजें इस वीतराग-विज्ञान में रुकावट डालती हैं, वे सब मिथ्या हैं।

उन्होंने इन मिथ्याभावों के गृहीत और अगृहीत - ऐसे दो भेद किये हैं। गृहीत मिथ्यात्व से उनका तात्पर्य उन विभिन्न धारणाओं और मान्यताओं से है, जिन्हें हम अध्यात्म से अनभिज्ञ गुरु आदि के संसर्ग से ग्रहण करते हैं और उन्हें ही वास्तविक मान लेते हैं, चाहे वे पर मत की हों या अपने मत की।

इसके अन्तर्गत उन्होंने उन सारी जैनमान्यताओं का तार्किक विश्लेषण किया है, जो छठी शती से लेकर, अठारहवीं शती तक जैनतत्त्वज्ञान का अंग मानी जाती रहीं और जिनका विशुद्ध आध्यात्मिक ज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं रहा। जैनसाधना के इस बाह्य आडम्बर - क्रियाकाण्ड, भट्टारकवाद, शिथिलाचार आदि का उन्होंने तलस्पर्शी और विद्वत्तापूर्ण खण्डन किया है।

इसके पूर्व पण्डित बनारसीदास, इसका खण्डन कर चुके थे परन्तु पण्डितजी ने जिस चिन्तन, तर्क-वितर्क, शास्त्र-प्रमाण, अनुभव और गहराई से विचार किया है; वह ठोस, प्रेरणास्पद, विश्वसनीय एवं मौलिक है। इस दृष्टि से उन्हें एक ऐसा विशुद्ध आध्यात्मिक चिन्तक कहा जा सकता है, जो हिन्दी-जैन साहित्य के इतिहास में ही नहीं, बल्कि प्राकृत व अपभ्रंश में भी पिछले एक हजार वर्षों में नहीं हुआ।

टीकाकार होते हुए भी पण्डितजी ने गद्यशैली का निर्माण, स्वयं किया। उनकी शैली दृष्टान्तयुक्त प्रश्नोत्तरमयी तथा सुगम है। वे ऐसी शैली को अपनाते हैं, जो न तो एकदम शास्त्रीय है और न आध्यात्मिक सिद्धियों और चमत्कारों से बोझिल।

उनकी इस शैली का सर्वोत्तम निर्वाह, 'मोक्षमार्गप्रकाशक' में है। तत्कालीन स्थिति में गद्य को आध्यात्मिक चिन्तन का माध्यम बनाना बहुत ही सूझ-बूझ और श्रम का कार्य था। उनकी शैली में उनके चिन्तक का चरित्र और तर्क का स्वभाव, स्पष्ट झलकता है। एक आध्यात्मिक लेखक होते हुए भी उनकी गद्यशैली में व्यक्तित्व का प्रेक्षप, उनकी मौलिक विशेषता है।

उनकी शैली की एक विशेषता यह है कि प्रश्न भी उनके होते हैं और उत्तर भी उनके। पूर्व प्रश्न के समाधान में अगला प्रश्न उभरकर आ जाता है। इस प्रकार विषय का विवेचन अन्तिम बिन्दु तक पहुँचने पर ही वह प्रश्न समाप्त होता है। उनकी गद्यशैली की एक मौलिकता यह है कि वे प्रत्यक्ष उपदेश न देकर, अपने पाठक के सामने वस्तु-स्थिति का चित्रण और उसका विश्लेषण इस तरह करते हैं कि उसे अभीष्ट निष्कर्ष पर पहुँचना ही पड़ता है।

एक चिकित्सक, रोग के उपचार में जिस प्रक्रिया को अपनाता है, पण्डितजी की शैली में भी

वह प्रक्रिया देखी जा सकती है। उनकी शैली, तर्क-वितर्क मूलक होते हुए भी, अनुभूति मूलक है। कभी-कभी वे मनोवैज्ञानिक तर्कों से भी काम लेते हैं; उनके तर्कों में कठमुल्लापन नहीं है। उनकी गद्य-शैली में उनका अगाध पाण्डित्य एवं आस्था, सर्वत्र प्रतिबिम्बित है।

उनकी प्रश्नोत्तर शैली, आत्मीय है क्योंकि उसमें प्रश्नकर्ता और समाधानकर्ता, एक ही हैं; उसमें शास्त्रीय और लौकिक जीवन से सम्बन्धित, दोनों प्रकार की समस्याओं का विवेचन है। दृष्टान्त, उनकी शैली में, मणि-कंचन योग से चमकते हैं। दृष्टान्तों के प्रयोग में पण्डितजी का सूक्ष्म वास्तु-निरीक्षण प्रतिबिम्बित है। जीवन के और शास्त्रों के प्रत्येक क्षेत्र से उन्होंने उदाहरण चुने हैं, लोकोक्तियों का भी प्रयोग किया है।

उनकी शैली की प्रमुख विशेषता यह है कि उन्होंने अधिकांश आगम-प्रमाण, शंकाकार के मुख में रखे हैं; उनका शंकाकार, प्राय: प्रत्येक शंका, आर्षवाक्य प्रस्तुत करके सामने रखता है और समाधानकर्ता, आर्षवाक्यों का अपेक्षाकृत कम प्रयोग करता है और अनुभूतिजन्ययुक्तियों और उदाहरणों द्वारा उसकी जिज्ञासा शान्त करता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पण्डित टोडरमलजी, न केवल टीकाकार थे, बल्कि अध्यात्म के मौलिक विचारक भी थे। उनका यह चिन्तन, समाज को तत्कालीन परिस्थितियों और बढ़ते हुए आध्यात्मिक शिथिलाचार के सन्दर्भ में एकदम सटीक है। इसके पूर्व ऐसा उदाहरण नहीं मिलता, जिसमें अभिव्यक्ति का माध्यम तात्कालिक प्रचलित लोकभाषा के गद्य को बनाया गया हो और जो इतना प्रांजल हो। वे यह अच्छी तरह समझ चुके थे कि बेलाग और मौलिक चिन्तन के भार को, पद्य की बजाय गद्य ही वहन कर सकता है। इस प्रकार ब्रजभाषा-गद्य के ये प्रथम शैलीकार सिद्ध होते हैं। मूलभाषा ब्रज होते हुए भी, उसमें खड़ीबोली का खड़ापन भी है, साथ ही उसमें स्थानीय रंगत भी है।

वे विशुद्ध आत्मवादी विचारक थे; उन्होंने उन सभी विचारधाराओं पर तीखा प्रहार किया, जो आध्यात्मिकता के विपरीत थीं। आचार्य कुन्दकुन्द के समय जो विशुद्ध अध्यात्मवादी आन्दोलन की लहर उठी थी, वे उसके अपने युग के सर्वोत्तम व्याख्याकार थे।

आध्यात्मिकता के प्रति उनकी रुचि और निष्ठा का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उन्होंने लगभग एक लाख श्लोक प्रमाण गद्य लिखा। सादगी, आध्यात्मिक चिन्तन, लेखन और स्वाभिमान, उनके व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषताएँ हैं। वे अपने युग की जैनआध्यात्मिक विचारधाराओं के ज्योति -केन्द्र थे। आध्यात्मिकता उनके लिए अनुभूतिमूलक चिन्तन है। चारों अनुयोगों के अध्ययन के सम्बन्ध में विचार करते हुए, उन्होंने आध्यात्मिक अध्ययन पर सबसे अधिक बल दिया है।

आध्यात्मिक चिन्तन की ऐसी अनुभूतिमूलक सहज लोकाभिव्यक्ति, वह भी गद्य में पण्डितजी का बहुत बड़ा प्रदेय है। आध्यात्मिक चिन्तन की अभिव्यक्ति के लिए गद्य का प्रवर्तक; व्यवहार

–निश्चय एवं प्रवृत्ति–निवृत्ति का सन्तुलन–कर्ता, धार्मिक आडम्बर और साम्प्रदायिक कट्टरताओं की, तर्क से धज्जियाँ उड़ा देनेवाला, निस्पृही और आत्मनिष्ठ गद्यकार, इसके पूर्व हिन्दी में नहीं हुआ। उनका गद्य, लोकाभिव्यक्ति और आत्माभिव्यक्ति का सुन्दर समन्वय है। दार्शनिक चिन्तन की ऐसी सहज गद्यात्मक अभिव्यक्ति, जिसमें गद्यकार का व्यक्तित्व खुलकर झलक उठे, इसके पूर्व विरल है।

लोकभाषा काव्य शैली में 'रामचरितमानस' लिखकर, महाकवि तुलसीदास ने जो काम किया था, वही काम उनके दो सौ वर्ष बाद, गद्य में जिन–अध्यात्म को लेकर, पण्डित टोडरमलजी ने किया; इसीलिए इन्हें 'आचार्यकल्प' कहा गया। ये रीतिकाल में अवश्य हुए, परन्तु इनका सम्बन्ध रीतिकाव्य से दूर का भी नहीं है और न यह उपाधि 'काव्यशास्त्रीय आचार्य' की सूचक है।

इनका सम्बन्ध तो उन महान दिगम्बराचार्यों से है, जिन्होंने जैनसाहित्य की वृद्धि में अभूतपूर्व योगदान दिया है; उनके समान होने का सम्मान देने के लिए, इन्हें 'आचार्यकल्प' कहा जाता है। इनका काम जैन आचार्यों से किसी भी प्रकार कम नहीं है किन्तु जैनपरम्परा में 'आचार्यपद' नग्न दिगम्बर साधु को ही प्राप्त होता है; अत: इन्हें आचार्य न कहकर, 'आचार्यकल्प' कहा गया।

जगत् के सभी भौतिक द्वन्द्वों से दूर रहनेवाले एवं निरन्तर आत्म–साधना व साहित्य –साधना में निरत इस महामानव को, जीवन की मध्य वय में ही साम्प्रदायिक विद्वेष का शिकार होकर, जीवन से हाथ धोना पड़ा।

'प्रतिभाओं का लीक पर चलना कठिन होता है, पर ऐसी प्रतिभाएँ बहुत कम होती हैं, जो लीक छोड़कर चलें और भटक न जाएँ। पण्डित टोडरमलजी भी उन्हीं में से एक हैं, जो लीक छोड़कर चले, पर भटके नहीं।

प्रस्तुत ग्रन्थ 'मोक्षमार्गप्रकाशक' आद्योपान्त मूलत: पठनीय एवं मननीय है। इसका अध्ययन –मनन प्रत्येक आत्माभिलाषी के लिए परम कल्याणकारक है। पण्डितजी ने स्वयं इसके प्रत्येक अधिकार के अन्त में इस बात का उल्लेख किया है। सहज उपलब्ध तत्त्वज्ञान के सुअवसर को यों ही खो देनेवालों को लक्ष्य करके उन्होंने लिखा है –

जिस प्रकार बड़े दरिद्री को अवलोकनमात्र चिन्तामणि की प्राप्ति हो और वह अवलोकन न करे, तथा जैसे–कोढ़ी को अमृतपान करायें और वह न करे; उसी प्रकार संसारपीड़ित जीव को सुगम मोक्षमार्ग के उपदेश का निमित्त बने और वह अभ्यास न करे तो उसके अभाग्य की महिमा हमसे तो नहीं हो सकती; उसकी होनहार ही का विचार करने पर, अपने को समता आती है। (पृष्ठ २०)

पण्डितजी के इन्हीं प्रेरणाप्रद शब्दों के साथ हम विराम लेते हैं। ❁❁❁

जयपुर, दिनांक २१ जनवरी १९७४ ई.
[संशोधन : १ मई, १९७८ ई.]

– (डॉ.) हुकमचन्द भारिल्ल

जैनशास्त्रों के अर्थ करने की पद्धति

✣ निश्चयनय से जो निरूपण किया हो, उसे तो सत्यार्थ मानकर, उसका श्रद्धान अंगीकार करना और व्यवहार से जो निरूपण किया हो, उसे असत्यार्थ मानकर, उसका श्रद्धान छोड़ना।

✣ ''व्यवहारनय, स्वद्रव्य-परद्रव्य को, उनके भावों को एवं कारण-कार्यादि को, किसी को किसी में मिलाकर, निरूपण करता है'—ऐसे ही श्रद्धान से, मिथ्यात्व होता है; इसलिए इसका त्याग करना। तथा 'निश्चयनय, उन्हीं का यथावत् निरूपण करता है; किसी को किसी में नहीं मिलाता है'—ऐसे ही श्रद्धान से, सम्यक्त्व होता है; इसलिए इसका श्रद्धान करना।

यहाँ प्रश्न—यदि ऐसा है तो जिनमार्ग में दोनों नयों का ग्रहण करना कहा है, वह कैसे ?

उसका समाधान—जिनमार्ग में कहीं तो निश्चयनय की मुख्यतासहित व्याख्यान है, उसे तो—'सत्यार्थ ऐसे ही है'—ऐसा जानना तथा कहीं व्यवहारनय की मुख्यतासहित व्याख्यान है, उसे—'ऐसे है नहीं; निमित्तादि की अपेक्षा उपचार किया है'—ऐसा जानना।

इस प्रकार जानने का नाम ही, दोनों नयों का ग्रहण है तथा दोनों नयों के व्याख्यान को समान सत्यार्थ जानकर, 'ऐसे भी है, ऐसे भी है'—ऐसे भ्रमरूप प्रवर्तन से तो दोनों नयों का ग्रहण करना नहीं कहा है।''

(मो.मा.प्र., सातवाँ अधिकार, पृष्ठ 251)

ॐ

श्री सर्वज्ञवीतरागाय नमः

शास्त्र-स्वाध्याय का प्रारम्भिक मंगलाचरण

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमो नमः ॥१॥
अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलमलकलंका।
मुनिभिरुपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥२॥
अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरुवे नमः ॥३॥

॥ श्री परमगुरवे नमः, परम्पराचार्यगुरवे नमः ॥

सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्य-जीवमनःप्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्राणशकमिदं शास्त्रं श्री मोक्षमार्गप्रकाशकनामधेयं, अस्य मूलग्रन्थकर्तारः श्री सर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रन्थकर्तारः श्रीगणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचनानुसारमासाद्य आचार्यकल्पपण्डितटोडरमलविरचितं, श्रोतारः सावधानतया शृणवन्तु ॥

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥१॥
सर्वमंगलमांगल्यं सर्वकल्याणकारकं।
प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयतु शासनम् ॥२॥

卐

ॐ

❁ नमः सिद्धं ❁

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी कृत

मोक्षमार्गप्रकाशक

पहला अधिकार

पीठबन्ध प्ररूपण

॥ ॐ नमः ॥

अथ मोक्षमार्गप्रकाशक नामक शास्त्र लिखा जाता है —

[मंगलाचरण]

दोहा - **मंगलमय मंगलकरण, वीतराग-विज्ञान।**
नमौं ताहि जातैं भये, अरहन्तादि महान॥ १॥

करि मंगल करिहौं महा, ग्रन्थकरन को काज।
जातैं मिलै समाज सब, पावै निजपद राज॥ २॥

अथ, **मोक्षमार्गप्रकाशक** नामक शास्त्र का उदय होता है, वहाँ मंगल करते हैं —

णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं॥[१]

यह प्राकृतभाषामय नमस्कारमन्त्र है, वह महा-मंगलस्वरूप है तथा इसका संस्कृत ऐसा होता है —

नमोऽर्हद्भ्यः, नमः सिद्धेभ्यः, नमः आचार्येभ्यः, नमः उपाध्यायेभ्यः, नमो लोके सर्वसाधुभ्यः।

इसका **अर्थ** ऐसा है — **अरहन्तों को नमस्कार, सिद्धों को नमस्कार, आचार्यों को नमस्कार, उपाध्यायों को नमस्कार, लोक में समस्त साधुओं को नमस्कार।**

इस प्रकार इसमें नमस्कार किया; इसलिए इसका नाम '**नमस्कारमन्त्र**' है।

अब, यहाँ जिनको नमस्कार किया, उनके स्वरूप का चिन्तवन करते हैं —

---

[१] षटखण्डागम, गाथा १

अरहन्तों का स्वरूप

वहाँ, प्रथम 'अरहन्तों के स्वरूप' का विचार करते हैं -

जो गृहस्थपना त्यागकर, मुनिधर्म अंगीकार करके, निजस्वभाव साधन द्वारा, चार घातिकर्मों का क्षय करके, अनन्त चतुष्टयरूप विराजमान हुए; वहाँ अनन्त ज्ञान द्वारा तो, अपने अनन्त गुण-पर्यायसहित समस्त जीवादि द्रव्यों को, **युगपत् विशेषपने से प्रत्यक्ष** जानते हैं; अनन्त दर्शन द्वारा, उनका **सामान्य अवलोकन** करते हैं; अनन्त वीर्य द्वारा, ऐसी सामर्थ्य को धारण करते हैं; अनन्त सुख द्वारा, निराकुल परमानन्द का अनुभव करते हैं।

पुनश्च, जो सर्वथा सर्व राग-द्वेषादि विकारभावों से रहित होकर, शान्तरसरूप परिणमित हुए हैं तथा क्षुधा-तृषा आदि समस्त दोषों से मुक्त होकर, देवाधिदेवपने को प्राप्त हुए हैं तथा आयुध-अम्बरादि व अंग-विकारादि जो काम-क्रोधादि निन्द्यभावों के चिह्न, उनसे रहित, जिनका परम-औदारिक शरीर हुआ है तथा जिनके वचनों से लोक में धर्म-तीर्थ प्रवर्तता है, जिसके द्वारा जीवों का कल्याण होता है तथा जिनके लौकिक जीवों को प्रभुत्व मानने के कारणरूप, अनेक अतिशय और नाना प्रकार के वैभव का संयुक्तपना पाया जाता है तथा जिनका अपने हित के लिए, गणधर-इन्द्र आदि उत्तम जीव, सेवन करते हैं।

– ऐसे सर्व प्रकार से पूजनेयोग्य 'श्री अरहन्तदेव' हैं, उन्हें हमारा नमस्कार हो।

सिद्धों का स्वरूप

अब, 'सिद्धों का स्वरूप' ध्याते हैं –

जो गृहस्थ अवस्था को त्यागकर, मुनिधर्म साधन द्वारा, चार घातिकर्मों का नाश होनेपर, अनन्त चतुष्टय स्वभाव प्रगट करके, कुछ काल बाद, चार अघातिकर्मों के भी भस्म होनेपर, परम-औदारिक शरीर को भी छोड़कर, ऊर्ध्वगमनस्वभाव से, लोक के अग्रभाग में जाकर विराजमान हुए; वहाँ जिनको समस्त परद्रव्यों का सम्बन्ध छूटने से, मुक्त अवस्था की सिद्धि हुई तथा जिनके चरम शरीर से किंचित् न्यून, पुरुषाकारवत् आत्मप्रदेशों का आकार अवस्थित हुआ।

जिनके प्रतिपक्षी कर्मों का नाश हुआ; इसलिए समस्त सम्यक्त्व-ज्ञान-दर्शनादि आत्मिक-गुण, सम्पूर्णतया अपने स्वभाव को प्राप्त हुए हैं; जिनके नोकर्म का सम्बन्ध दूर हुआ, इसलिए समस्त अमूर्तत्वादि आत्मिकधर्म प्रगट हुए हैं तथा जिनके भावकर्म का अभाव हुआ, इसलिए निराकुल आनन्दमय शुद्धस्वभावरूप परिणमन हो रहा है; जिनके ध्यान द्वारा, भव्यजीवों को स्वद्रव्य -परद्रव्य का और औपाधिकभाव-स्वभावभावों का विज्ञान होता है, जिसके द्वारा उन सिद्धों के समान स्वयं होने का साधन होता है; इसलिए साधनेयोग्य जो अपना शुद्धस्वरूप, उसे दर्शाने को प्रतिबिम्बसमान हैं तथा जो कृतकृत्य हुए हैं; इसलिए ऐसे ही अनन्त कालपर्यन्त रहते हैं।

– ऐसे निष्पन्न हुए 'श्री सिद्ध भगवान' हैं, उनको हमारा नमस्कार हो।

आचार्य-उपाध्याय-साधु का सामान्य स्वरूप

अब, 'आचार्य-उपाध्याय-साधु के स्वरूप' का अवलोकन करते हैं –

जो विरागी होकर, समस्त परिग्रह का त्याग करके, **शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म** अंगीकार करके, अन्तरंग में तो उस शुद्धोपयोग द्वारा, अपने को आपरूप अनुभव करते हैं; परद्रव्य में अहंबुद्धि धारण नहीं करते तथा अपने ज्ञानादि स्वभाव ही को अपना मानते हैं; परभावों में ममत्व नहीं करते तथा जो परद्रव्य व उनके स्वभाव, ज्ञान में प्रतिभासित होते हैं, उन्हें जानते तो हैं परन्तु इष्ट-अनिष्ट मानकर, उनमें राग-द्वेष नहीं करते।

शरीर की अनेक अवस्थाएँ होती हैं, बाह्य नाना निमित्त बनते हैं परन्तु वहाँ कुछ भी सुख-दु:ख नहीं मानते तथा अपने योग्य बाह्यक्रिया जैसे बनती है, वैसे बनती है; खींचकर उनको नहीं करते तथा अपने उपयोग को बहुत नहीं भ्रमाते हैं; उदासीन होकर निश्चलवृत्ति को धारण करते हैं तथा कदाचित् मन्द राग के उदय से, शुभोपयोग भी होता है, उससे जो शुद्धोपयोग के बाह्यसाधन हैं, उनमें अनुराग करते हैं परन्तु उस रागभाव को हेय जानकर, दूर करना चाहते हैं तथा तीव्रकषाय के उदय का अभाव होने से, हिंसादिरूप अशुभोपयोग परिणति का तो अस्तित्व ही नहीं रहा है।

– ऐसी अन्तरंग [दशा] होनेपर, बाह्य दिगम्बर सौम्यमुद्राधारी हुए हैं; शरीर का सँवारना आदि विक्रियाओं से रहित हुए हैं, वन खण्डादि में वास करते हैं, अट्ठाईस मूलगुणों का अखण्डित पालन करते हैं, बाईस परीषहों को सहन करते हैं, बारह प्रकार के तपों को आदरते हैं, कदाचित् ध्यानमुद्रा धारण करके, प्रतिमावत् निश्चल होते हैं; कदाचित् अध्ययनादि बाह्य धर्मक्रियाओं में प्रवर्तते हैं; कदाचित् मुनिधर्म के सहकारी, शरीर की स्थिति के हेतु, योग्य आहार-विहारादि क्रियाओं में सावधान होते हैं।

– ऐसे 'जैनी मुनि' हैं, उन सबकी ऐसी ही अवस्था होती है।

आचार्य का स्वरूप

उनमें जो, सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र की अधिकता से, प्रधान पद प्राप्त करके, संघ में नायक हुए हैं; जो मुख्यरूप से तो निर्विकल्प स्वरूपाचरण में ही मग्न हैं; जो कदाचित् धर्म के लोभी अन्य जीव-याचक, उनको देखकर, राग अंश के उदय से करुणाबुद्धि हों तो, उनको धर्मोपदेश देते हैं; जो दीक्षा ग्राहक हैं, उनको दीक्षा देते हैं और जो अपने दोषों को प्रगट करते हैं, उनको प्रायश्चित-विधि से शुद्ध करते हैं।

– ऐसे आचरण अचरानेवाले 'आचार्य' हैं, उनको हमारा नमस्कार हो।

उपाध्याय का स्वरूप

जो बहुत जैनशास्त्रों के ज्ञाता होकर, संघ में पठन-पाठन के अधिकारी हुए हैं तथा जो समस्त शास्त्रों के प्रयोजनभूत [अर्थ] जानकर, एकाग्र होकर, अपने स्वरूप को ध्याते हैं और यदि कदाचित् कषाय अंश के उदय से, वहाँ उपयोग स्थिर न रहे तो उन शास्त्रों को स्वयं पढ़ते हैं तथा अन्य धर्मबुद्धियों को पढ़ाते हैं।

— ऐसे समीपवर्ती भव्यों को अध्ययन करानेवाले, 'उपाध्याय' हैं, उनको हमारा नमस्कार हो।

साधु का स्वरूप

पुनश्च, इन दो पदवी धारकों के बिना, अन्य समस्त जो मुनिपद के धारक हैं तथा जो आत्मस्वभाव को साधते हैं; जैसे—अपना उपयोग, परद्रव्य में इष्ट-अनिष्टपना मानकर फँसे नहीं व भागे नहीं, वैसे उपयोग को साधते हैं और बाह्य में उनके साधनभूत तपश्चरणादि क्रियाओं में प्रवर्तते हैं तथा कदाचित् भक्ति वन्दनादि कार्यों में प्रवर्तते हैं।

— ऐसे आत्मस्वभाव के साधक, 'साधु' हैं, उनको हमारा नमस्कार हो।

पूज्यत्व का कारण

इस प्रकार इन अरहन्तादि का '**स्वरूप**' है, वह वीतराग-विज्ञानमय है। उस ही के द्वारा, अरहन्तादि, स्तुतियोग्य महान हुए हैं क्योंकि जीवतत्त्व की अपेक्षा तो सर्व ही जीव, समान हैं परन्तु रागादि विकारों से व ज्ञान की हीनता से तो जीव, निन्दायोग्य होते हैं और रागादि की हीनता से व ज्ञान की विशेषता से, स्तुतियोग्य होते हैं; वहाँ अरहन्त-सिद्धों के तो सम्पूर्ण रागादि की हीनता और ज्ञान की विशेषता होने से, सम्पूर्ण वीतराग-विज्ञान भाव, सम्भव होता है और आचार्य, उपाध्याय तथा साधुओं को एक देश रागादि की हीनता और ज्ञान की विशेषता होने से, एक देश वीतराग-विज्ञान सम्भव होता है; इसलिए उन अरहन्तादि को स्तुतियोग्य महान जानना।

पुनश्च, ये जो अरहन्तादि पद हैं, उनमें ऐसा जानना कि मुख्यरूप से तो तीर्थंकर का और गौणरूप से सर्व केवली का, प्राकृतभाषा में अरहन्त तथा संस्कृत में 'अर्हत्'-ऐसा नाम जानना तथा चौदहवें गुणस्थान के अनन्तर समय से लेकर, 'सिद्ध' नाम जानना।

पुनश्च, जिनको आचार्यपद हुआ हो, वे संघ में रहें अथवा एकाकी आत्मध्यान करें अथवा एकल विहारी हों अथवा आचार्यों में भी प्रधानता को प्राप्त करके, गणधर पदवी के धारक हों - उन सबका नाम 'आचार्य' कहते हैं।

पुनश्च, पठन-पाठन तो अन्य मुनि भी करते हैं परन्तु जिनको आचार्यों द्वारा दिया

गया उपाध्यायपद प्राप्त हुआ हो, वे आत्म-ध्यानादि कार्य करते हुए भी, 'उपाध्याय' ही नाम पाते हैं।

जो पदवीधारक नहीं हैं, वे सर्व मुनि, साधुसंज्ञा के धारक जानना।

यहाँ ऐसा नियम नहीं है – पंचाचारों से आचार्यपद होता है, पठन-पाठन से उपाध्यायपद होता है, मूलगुणों के साधन से साधुपद होता है क्योंकि ये क्रियाएँ तो सर्व मुनियों के साधारण हैं परन्तु शब्दनय से उनका अक्षरार्थ वैसे किया जाता है। समभिरूढ़नय से पदवी की अपेक्षा ही आचार्यादि नाम जानना। जिस प्रकार शब्दनय से जो गमन करे, उसे गाय कहते हैं, वहाँ गमन तो मनुष्यादि भी करते हैं परन्तु समभिरूढ़नय से पर्याय अपेक्षा, नाम है; उसी प्रकार यहाँ समझना।

यहाँ सिद्धों से पहले, अरहन्तों को नमस्कार किया, उसका क्या कारण ? – ऐसा सन्देह उत्पन्न होता है।

उसका समाधान यह है – नमस्कार करते हैं, वह अपना प्रयोजन सधने की अपेक्षा से करते हैं, वहाँ अरहन्तों से उपदेशादि का प्रयोजन विशेष सिद्ध होता है; इसलिए पहले नमस्कार किया है। इस प्रकार अरहन्तादि का स्वरूप चिन्तवन किया, क्योंकि स्वरूप चिन्तवन करने से, विशेष कार्य सिद्धि होती है।

पुनश्च, इन अरहन्तादि ही को '**पंच परमेष्ठी**' कहते हैं क्योंकि जो सर्वोत्कृष्ट इष्ट हो, उसका नाम परमेष्ट है। पञ्च जो परमेष्ट, उनका समाहार-समुदाय, उसका नाम पञ्च-परमेष्टी जानना।

पुनश्च, ऋषभ, अजित, सम्भव, अभिनन्दन, सुमति, पद्मप्रभ, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, पुष्पदन्त, शीतल, श्रेयान् (श्रेयांस), वासुपूज्य, विमल, अनन्त, धर्म, शान्ति, कुन्थु, अर, मल्लि, मुनिसुव्रत, नमि, नेमि, पार्श्व, वर्धमान – नाम के धारक, '**चौबीस तीर्थंकर**', इस भरतक्षेत्र में वर्तमान धर्मतीर्थ के नायक हुए हैं; गर्भ-जन्म-तप-ज्ञान-निर्वाण कल्याणकों में, इन्द्रादि के द्वारा विशेष पूज्य होकर, अब सिद्धालय में विराजमान हैं, उन्हें हमारा नमस्कार हो।

पुनश्च, सीमन्धर, युगमन्धर, बाहु, सुबाहु, संजातक, स्वयंप्रभ, वृषभानन, अनन्तवीर्य, सूरप्रभ, विशालकीर्ति, वज्रधर, चन्द्रानन, चन्द्रबाहु, भुजंगम, ईश्वर, नेमिप्रभु, वीरसेन, महाभद्र, देवयश, अजितवीर्य – नाम के धारक, '**बीस तीर्थंकर**', पंच मेरुसम्बन्धी विदेहक्षेत्रों में वर्तमान में केवलज्ञानसहित विराजमान हैं, उन्हें हमारा नमस्कार हो।

यद्यपि '**परमेष्ठी**' पद में, इनका गर्भितपना है तथापि विद्यमान काल में इनकी विशेषता जानकर, अलग नमस्कार किया है।

पुनश्च, त्रिलोक में जो अकृत्रिम जिनबिम्ब विराजमान हैं; मध्यलोक में विधिपूर्वक कृत्रिम जिनबिम्ब विराजमान हैं, जिनके दर्शनादि से एक धर्मोपदेश के बिना, अन्य अपने

हित की सिद्धि, जैसे—तीर्थंकर केवली के दर्शनादि से होती है, वैसे ही होती है; उन जिनबिम्बों को हमारा नमस्कार हो।

पुनश्च, केवली की दिव्यध्वनि द्वारा दिये गये उपदेश के अनुसार, गणधर द्वारा रचे गये अंग-प्रकीर्णक, उनके अनुसार अन्य आचार्यादि द्वारा रचे गये ग्रन्थादि – ऐसे ये सब, जिनवचन हैं; स्याद्वाद चिह्न द्वारा पहिचाननेयोग्य हैं; न्यायमार्ग से अविरुद्ध हैं, इसलिए प्रामाणिक हैं; जीव को तत्त्वज्ञान का कारण है, इसलिए उपकारी हैं; उन्हें हमारा नमस्कार हो।

पुनश्च, चैत्यालय, आर्यिका, उत्कृष्ट श्रावक आदि द्रव्य; तीर्थक्षेत्र आदि क्षेत्र; कल्याणक -काल आदि काल तथा रत्नत्रय आदि भाव; जो मेरे नमस्कार करनेयोग्य हैं, उन्हें नमस्कार करता हूँ तथा जो किंचित् विनय करनेयोग्य हैं, उनकी यथायोग्य विनय करता हूँ।

इस प्रकार अपने इष्टों का सन्मान करके, मंगल किया है।

अब, **वे अरहन्तादि इष्ट कैसे हैं ?** उसका विचार करते हैं –

जिसके द्वारा, सुख उत्पन्न हो तथा दुःख का विनाश हो, उस कार्य का नाम, प्रयोजन है और जिसके द्वारा उस प्रयोजन की सिद्धि हो, वही अपना इष्ट है, सो हमारे इस अवसर में, वीतराग-विशेषज्ञान का होना, वही प्रयोजन है क्योंकि उसके द्वारा निराकुल सच्चे सुख की प्राप्ति होती है और सर्व आकुलतारूप दुःख का नाश होता है।

अरहन्तादि से प्रयोजन सिद्धि

पुनश्च, इस प्रयोजन की सिद्धि, अरहन्तादि द्वारा होती है।

किस प्रकार ? सो विचारते हैं –

आत्मा के परिणाम, तीन प्रकार के हैं—संक्लेश, विशुद्ध और शुद्ध।

वहाँ तीव्र-कषायरूप **संक्लेश** हैं, मन्द-कषायरूप **विशुद्ध** हैं, तथा कषायरहित **शुद्ध** हैं। वहाँ वीतराग-विशेषज्ञानरूप अपने स्वभाव के घातक, जो ज्ञानावरणादि घातिकर्म हैं, उनका संक्लेशपरिणामों द्वारा तो तीव्र बन्ध होता है और विशुद्धपरिणामों द्वारा, मन्द बन्ध होता है तथा विशुद्धपरिणाम प्रबल हों तो पूर्व काल में जो तीव्र बन्ध हुआ था, उसको भी मन्द करता है। शुद्धपरिणामों द्वारा बन्ध नहीं होता; केवल उनकी निर्जरा ही होती है।

अरहन्तादि के प्रति स्तवनादिरूप जो भाव होते हैं, वे कषायों की मन्दतासहित ही होते हैं; इसलिए वे विशुद्धपरिणाम हैं। पुनश्च, समस्त कषाय मिटाने का साधन हैं; इसलिए शुद्धपरिणाम

का कारण हैं, वहाँ ऐसे परिणामों से अपने घातक, घातिकर्म की हीनता होने से, सहज ही वीतराग-विशेषज्ञान प्रगट होता है; जितने अंशों में वह हीन हो, उतने अंशों में यह प्रगट होता है।

इस प्रकार अरहन्तादि द्वारा, अपना प्रयोजन सिद्ध होता है।

अथवा **अरहन्तादि के आकार का अवलोकन करना या स्वरूप का विचार करना या वचन सुनना या निकटवर्ती होना या उनके अनुसार प्रवर्तन करना** इत्यादि कार्य, तत्काल ही निमित्तभूत होकर, रागादि को हीन करते हैं, जीव-अजीवादि के विशेषज्ञान को उत्पन्न करते हैं; इसलिए ऐसे भी अरहन्तादि द्वारा, वीतराग-विशेषज्ञानरूप प्रयोजन की सिद्धि होती है।

यहाँ कोई कहे कि इनके द्वारा ऐसे प्रयोजन की सिद्धि तो इस प्रकार होती है परन्तु जिससे इन्द्रियजनित सुख उत्पन्न हो तथा दुःख का विनाश हो – ऐसे भी प्रयोजन की सिद्धि, इनके द्वारा होती है या नहीं ?

उसका समाधान — जो अरहन्तादि के प्रति, स्तवनादिरूप विशुद्धपरिणाम होते हैं, उनसे अघातिकर्मों की साता आदि पुण्यप्रकृतियों का बन्ध होता है और यदि वे परिणाम, तीव्र हों तो पूर्व काल में जो असाता आदि पापप्रकृतियों का बन्ध हुआ था, उन्हें भी मन्द करता है अथवा नष्ट करके, पुण्यप्रकृतिरूप परिणमित करता है और उस पुण्य का उदय होनेपर, स्वयमेव इन्द्रिय-सुख की कारणभूत सामग्री प्राप्त होती है तथा पाप का उदय दूर होनेपर, स्वयमेव दुःख की कारणभूत सामग्री दूर हो जाती है।

इस प्रकार इस प्रयोजन की भी सिद्धि, उनके द्वारा होती है।

अथवा जिनशासन के भक्त, देवादि हैं, वे उस भक्तपुरुष को, अनेक इन्द्रियसुख की कारणभूत सामग्रियों का संयोग कराते हैं और दुःख की कारणभूत सामग्रियों को दूर करते हैं।

इस प्रकार भी इस प्रयोजन की सिद्धि, उन अरहन्तादि द्वारा होती है **परन्तु इस प्रयोजन से, कुछ भी अपना हित नहीं होता** क्योंकि यह आत्मा, कषायभावों से बाह्य-सामग्रियों में इष्ट-अनिष्टपना मानकर, स्वयं ही सुख-दुःख की कल्पना करता है। कषाय के बिना, बाह्य-सामग्री, कुछ सुख-दुःख की दाता नहीं है तथा कषाय है, वह सर्व आकुलतामय है; इसलिए **'इन्द्रियजनित सुख की इच्छा करना और दुःख से डरना'—यह भ्रम है।**

पुनश्च, इस प्रयोजन के हेतु, अरहन्तादि की भक्ति करने से भी, तीव्र कषाय होने के कारण, पापबन्ध ही होता है; इसलिए अपने को इस प्रयोजन का अर्थी होना, योग्य नहीं है। **अरहन्तादि की भक्ति करने से, ऐसे प्रयोजन तो स्वयमेव ही सिद्ध होते हैं।**

इस प्रकार अरहन्तादि, परम इष्ट माननेयोग्य हैं।

वे अरहन्तादि ही परम-मंगल हैं; उनमें भक्तिभाव होने से, परम-मंगल होता है। '**मंग**' अर्थात् सुख, उसे '**लाति**' अर्थात् देता है अथवा '**मं**' अर्थात् पाप, उसे '**गालयति**' अर्थात् गाले (दूर करे), उसका नाम, मंगल है। **इस प्रकार उनके द्वारा, पूर्वोक्त प्रकार से दोनों कार्यों की सिद्धि होती है; इसलिए उनके परम-मंगलपना सम्भव है।**

मंगलाचरण करने का कारण

यहाँ कोई पूछे — प्रथम, ग्रन्थ के आदि में मंगल ही किया, उसका क्या कारण है?

उसका उत्तर — सुख से ग्रन्थ की समाप्ति हो, पाप के कारण, कोई विघ्न न हो; इसलिए यहाँ प्रथम, मंगल किया है।

यहाँ तर्क — जो अन्य मती इस प्रकार मंगल नहीं करते हैं, उनके भी ग्रन्थ की समाप्ति तथा विघ्न का न होना, देखते हैं; वहाँ क्या हेतु है?

उसका समाधान — अन्य मती जो ग्रन्थ करते हैं, उसमें मोह के तीव्र उदय से, मिथ्यात्व -कषायभावों का पोषण करनेवाले विपरीत अर्थों को धरते (रखते) हैं; इसलिए उसकी निर्विघ्न समाप्ति तो ऐसे मंगल बिना किये ही हो। यदि ऐसे मंगलों से मोह मन्द हो जाए, तो वैसा विपरीत कार्य कैसे बने?

हम भी ग्रन्थ करते हैं, उसमें मोह की मन्दता के कारण, वीतराग तत्त्वज्ञान का पोषण करनेवाले अर्थों को धरेंगे (प्रस्तुत करेंगे), उसकी निर्विघ्न समाप्ति, ऐसे मंगल करने से ही हो। यदि ऐसे मंगल न करें, तो मोह की तीव्रता रहे, तब ऐसा उत्तम कार्य कैसे बने?

पुनश्च, वह कहता है — ऐसे तो मानेंगे, परन्तु कोई ऐसा मंगल नहीं करता, उसके भी सुख दिखायी देता है; पाप का उदय नहीं दिखायी देता और कोई ऐसा मंगल करता है, उसके भी सुख नहीं दिखायी देता; पाप का उदय दिखायी देता है; इसलिए पूर्वोक्त मंगलपना कैसे बने?

उससे कहते हैं — जीवों के संक्लेश-विशुद्धपरिणाम अनेक जाति के हैं, उनके द्वारा अनेक कालों में पहले बँधे हुए कर्म, एक काल में उदय आते हैं; इसलिए जिस प्रकार जिसके पूर्व में बहुत धन का संचय हो, उसके बिना कमाए भी, धन दिखायी देता है और ऋण दिखायी नहीं देता तथा जिसके पूर्व में ऋण बहुत हो, उसके धन कमाने पर भी, ऋण दिखायी देता है और धन दिखायी नहीं देता, परन्तु विचार करने से, कमाना तो धन ही का कारण है; ऋण का कारण नहीं है।

उसी प्रकार जिसके पूर्व में बहुत पुण्य का बन्ध हुआ हो, उसके यहाँ ऐसा मंगल किये बिना भी, सुख दिखायी देता है; पाप का उदय दिखायी नहीं देता और जिसके पूर्व में बहुत पापबन्ध हुआ हो, उसके यहाँ ऐसा मंगल करने पर भी, सुख दिखायी नहीं देता; पाप का उदय दिखायी देता है परन्तु विचार करने से, ऐसा मंगल तो सुख ही का कारण है; पापोदय का कारण नहीं है।

इस प्रकार पूर्वोक्त मंगल का मंगलपना बनता है।

पुनश्च, वह कहता है — यह भी माना, परन्तु जिनशासन के भक्त देवादि हैं, उन्होंने उस मंगल करनेवाले की सहायता नहीं की और मंगल न करनेवाले को दण्ड नहीं दिया, उसका क्या कारण है ?

उसका समाधान — जीवों को सुख-दुःख होने का प्रबल कारण, अपना कर्म का उदय है, उस ही के अनुसार बाह्य निमित्त बनते हैं; इसलिए जिसके पाप का उदय हो, उसको सहाय का निमित्त नहीं बनता और जिसके पुण्य का उदय हो, उसको दण्ड का निमित्त नहीं बनता।

यह निमित्त कैसे नहीं बनता, वह कहते हैं — जो देवादि हैं, वे क्षयोपशमज्ञान से सबको युगपत् नहीं जान सकते; इसलिए मंगल करनेवाले और नहीं करनेवाले का जानपना, किसी देवादि को, किसी काल में होता है; इसलिए यदि उनका जानपना न हो, तो कैसे सहाय करें अथवा दण्ड दें और जानपना हो, तब स्वयं को जो अति मन्द कषाय हो तो सहाय करने के या दण्ड देने के परिणाम ही नहीं होते तथा तीव्र कषाय हो तो धर्मानुराग नहीं हो सकता तथा मध्यम कषायरूप वह कार्य करने के परिणाम हुए और अपनी शक्ति न हो तो क्या करें ?

इस प्रकार सहाय करने का या दण्ड देने का, निमित्त नहीं बनता।

यदि अपनी शक्ति हो और अपने को धर्मानुरागरूप मध्यम कषाय का उदय होने से, वैसे ही परिणाम हों तथा उस समय अन्य जीव का धर्म-अधर्मरूप कर्तव्य जानें, तब कोई देवादि किसी धर्मात्मा की सहाय करते हैं अथवा किसी अधर्मी को दण्ड देते हैं; इस प्रकार कार्य होने का कुछ नियम तो है नहीं—ऐसे समाधान किया।

यहाँ इतना जानना — सुख होने की, दुःख न होने की, सहाय कराने की, दुःख दिलाने की जो इच्छा है, वह कषायमय है, तत्काल तथा आगामी काल में दुःखदायक है; इसलिए ऐसी इच्छा को छोड़कर, **हमने तो एक वीतराग-विशेषज्ञान होने का अर्थी होकर, अरहन्तादि को नमस्कारादिरूप, मंगल किया है।**

ग्रन्थ की प्रामाणिकता और आगम-परम्परा

इस प्रकार मंगलाचरण करके, अब सार्थक 'मोक्षमार्गप्रकाशक' नाम के ग्रन्थ का उद्योत करते हैं। वहाँ, 'यह ग्रन्थ प्रमाण है'—ऐसी प्रतीति कराने के लिए, पूर्व अनुसार का स्वरूप निरूपण करते हैं—

अकारादि अक्षर हैं, वे अनादिनिधन हैं; किसी के किये हुए नहीं हैं। इनका आकार लिखना तो अपनी इच्छा के अनुसार अनेक प्रकार होता है परन्तु जो अक्षर बोलने में आते हैं, वे तो सर्वत्र सर्वदा, ऐसे ही प्रवर्तते हैं। वही कहा है—'**सिद्धो वर्णसमाम्नायः।**' [१]

---

[१] कातन्त्र रूपमाला, सूत्र १

इसका **अर्थ** यह है – जो अक्षरों का सम्प्रदाय है, वह स्वयंसिद्ध है तथा उन अक्षरों से उत्पन्न सत्यार्थ के प्रकाशक पद, उनके समूह का नाम, '**श्रुत**' है, वह भी अनादिनिधन है। जैसे–'जीव' – ऐसा अनादिनिधन पद है, वह जीव को बतलानेवाला है। इस प्रकार अपने-अपने सत्य अर्थ के प्रकाशक अनेक पद, उनका जो समुदाय, उसे '**श्रुत**' जानना।

पुनश्च, जिस प्रकार मोती तो स्वयंसिद्ध हैं, उनमें से कोई थोड़े मोतियों को, कोई बहुत मोतियों को; कोई किसी प्रकार और कोई किसी प्रकार, गूँथकर गहना बनाते हैं; उसी प्रकार पद तो स्वयंसिद्ध हैं, उनमें से कोई थोड़े पदों को, कोई बहुत पदों को, कोई किसी प्रकार और कोई किसी प्रकार गूँथकर, ग्रन्थ बनाते हैं।

यहाँ मैं भी उन सत्यार्थ पदों को, मेरी बुद्धि अनुसार गूँथकर, ग्रन्थ बनाता हूँ; मेरी मति से कल्पित झूठे अर्थ के सूचक पद, इसमें नहीं गूँथता हूँ; इसलिए यह ग्रन्थ, प्रमाण जानना।

यहाँ प्रश्न – उन पदों की परम्परा इस ग्रन्थपर्यन्त किस प्रकार प्रवर्तमान है?

उसका समाधान – अनादि से तीर्थंकर केवली होते आये हैं, उनको सर्व का ज्ञान होता है; इसलिए उन पदों का तथा उनके अर्थों का भी ज्ञान होता है। पुनश्च, उन तीर्थंकर केवलियों का दिव्यध्वनि द्वारा ऐसा उपदेश होता है, जिससे अन्य जीवों को पदों का एवं अर्थों का ज्ञान होता है; उसके अनुसार गणधरदेव, अंग-प्रकीर्णकरूप ग्रन्थ गूँथते हैं तथा उनके अनुसार, अन्य-अन्य आचार्यादि, नाना प्रकार ग्रन्थादि की रचना करते हैं। उनका कोई अभ्यास करते हैं, कोई उनको कहते हैं, कोई सुनते हैं – **ऐसे परम्परा से, मार्ग चला आता है।**

अब, इस भरतक्षेत्र में वर्तमान अवसर्पिणी काल है, उसमें चौबीस तीर्थंकर हुए, जिनमें **श्री 'वर्धमान' नामक अन्तिम तीर्थंकरदेव** हुए; उन्होंने केवलज्ञान [सहित] विराजमान होकर, जीवों को दिव्यध्वनि द्वारा उपदेश दिया, उसको सुनने का निमित्त पाकर, 'गौतम' नामक गणधर ने अगम्य अर्थों को भी जानकर, धर्मानुरागवश अंग-प्रकीर्णकों की रचना की।

फिर वर्धमानस्वामी तो मुक्त हुए; वहाँ पीछे इस पंचम काल में तीन केवली हुए – (१) गौतमस्वामी, (२) सुधर्माचार्य, (३) जम्बूस्वामी।

तत्पश्चात्, कालदोष से केवलज्ञानी होने का तो अभाव हुआ, फिर कुछ काल तक, द्वादशांग के पाठी श्रुतकेवली रहे और फिर उनका भी अभाव हुआ; फिर कुछ काल तक, थोड़े अंगों के पाठी रहे, पीछे उनका भी अभाव हुआ।

तब आचार्यादि के द्वारा, उनके अनुसार बनाये गये ग्रन्थ तथा अनुसारी ग्रन्थों के अनुसार बनाये गये ग्रन्थ, उनकी ही प्रवृत्ति रही; उनमें भी कालदोष से दुष्टों द्वारा, कितने ही ग्रन्थों की व्युच्छित्ति हुई तथा महान ग्रन्थों का अभ्यासादि न होने से, व्युच्छित्ति हुई तथा कितने ही

महान ग्रन्थ पाये जाते हैं, उनका बुद्धि की मन्दता के कारण, अभ्यास होता नहीं।

जैसे—दक्षिण में गोम्मटस्वामी के निकट मूड़बिद्रीनगर में धवल, महाधवल, जयधवल पाये जाते हैं परन्तु दर्शनमात्र ही हैं तथा कितने ही ग्रन्थ, अपनी बुद्धि द्वारा अभ्यास करनेयोग्य पाये जाते हैं, उनमें भी कुछ ग्रन्थों का ही अभ्यास बनता है। ऐसे इस निकृष्ट काल में, उत्कृष्ट जैनमत का घटना तो हुआ, परन्तु इस परम्परा द्वारा अब भी जैनशास्त्रों में सत्य अर्थ का प्रकाशन करनेवाले पदों का सद्भाव प्रवर्तमान है।

अपनी बात

हमने इस काल में यहाँ अब मनुष्यपर्याय प्राप्त की, इसमें हमारे पूर्व संस्कार से व भली होनहार से, जैनशास्त्रों के अभ्यास करने का उद्यम हुआ; जिससे व्याकरण, न्याय, गणित आदि उपयोगी ग्रन्थों का किंचित् अभ्यास करके, टीकासहित समयसार, पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार, नियमसार, गोम्मटसार, लब्धिसार, त्रिलोकसार, तत्त्वार्थसूत्र इत्यादि शास्त्र, और क्षपणासार, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, अष्टपाहुड़, आत्मानुशासन आदि शास्त्र, और श्रावक-मुनि के आचार के प्ररूपक अनेक शास्त्र, और सुष्ठुकथासहित पुराणादि शास्त्र - इत्यादि अनेक शास्त्र हैं, उनमें हमारे बुद्धि अनुसार अभ्यास वर्तता है; उससे **हमें भी किंचित् सत्यार्थ पदों का ज्ञान हुआ है।**

पुनश्च, इस निकृष्ट समय में, हम जैसे मन्दबुद्धियों से भी हीनबुद्धि के धनी, बहुत जन दिखायी देते हैं; उन्हें उन पदों का अर्थ ज्ञान हो, इस हेतु, धर्मानुरागवश देशभाषामय ग्रन्थ रचने की हमें इच्छा हुई है; इसलिए हम यह ग्रन्थ बना रहे हैं; इसमें भी अर्थसहित उन्हीं पदों का प्रकाशन होता है।

इतना तो विशेष है – जिस प्रकार प्राकृत-संस्कृत शास्त्रों में, प्राकृत-संस्कृत पद लिखे जाते हैं; उसी प्रकार यहाँ अपभ्रंशसहित अथवा यथार्थतासहित देशभाषारूप पद लिखते हैं परन्तु अर्थ में व्यभिचार कुछ नहीं है।

– ऐसे इस ग्रन्थपर्यन्त, उन सत्यार्थ पदों की परम्परा प्रवर्तती है।

असत्यपद रचना प्रतिषेध

यहाँ कोई पूछता है – परम्परा तो हमने इस प्रकार जानी, परन्तु इस परम्परा में सत्यार्थ पदों की ही रचना होती आयी; असत्यार्थ पद नहीं मिले – ऐसी प्रतीति हमें कैसे हो?

उसका समाधान – असत्यार्थ पदों की रचना, अति तीव्रकषाय हुए बिना नहीं बनती क्योंकि जिस असत्य रचना से, परम्परा अनेक जीवों का महा बुरा हो और स्वयं को ऐसी महा -हिंसा के फलरूप नरक-निगोद में गमन करना पड़े – ऐसा महा-विपरीत कार्य तो क्रोध,

मान, माया, लोभ के अत्यन्त तीव्र होनेपर ही होता है किन्तु **जैनधर्म में तो ऐसा कषायवान होता नहीं है।**

प्रथम, मूल उपदेशदाता तो तीर्थंकर केवली हैं, वे तो सर्वथा मोह के नाश से, सर्व कषायों से रहित ही हैं। फिर ग्रन्थकर्ता गणधर तथा आचार्य, वे मोह के मन्द उदय से, सर्व बाह्याभ्यन्तर परिग्रह को त्यागकर, महा-मन्दकषायी हुए हैं; उनके उस मन्दकषाय के कारण, किंचित् शुभोपयोग ही की प्रवृत्ति पायी जाती है और कुछ प्रयोजन ही नहीं है।

तथा श्रद्धानी गृहस्थ भी कोई ग्रन्थ बनाते हैं, वे भी तीव्रकषायी नहीं होते। यदि उनके तीव्रकषाय हो, तो सर्व कषायों का जिस-तिस प्रकार से नाश करनेवाला जो जिनधर्म, उसमें रुचि कैसे होती? अथवा यदि कोई, मोह के उदय से, अन्य कार्यों द्वारा कषाय का पोषण करता है तो करो, परन्तु **जिन-आज्ञा भंग करके, अपनी कषाय का पोषण करे, तो जैनीपना नहीं रहता।**

इस प्रकार जिनधर्म में ऐसा तीव्रकषायी कोई नहीं होता, जो असत्य पदों की रचना करके, पर का और अपना, पर्याय-पर्याय में बुरा करे।

यहाँ प्रश्न – यदि कोई जैनाभास, तीव्रकषायी होकर, असत्यार्थ पदों को जैनशास्त्रों में मिलाए और फिर उसकी परम्परा चलती रहे, तो क्या किया जाए?

उसका समाधान – जैसे–कोई सच्चे मोतियों के गहने में, झूठे मोती मिला दे, परन्तु (उनमें सच्चे मोतियों जैसी) झलक नहीं मिलती; इसलिए परीक्षा करके, पारखी ठगाता भी नहीं है; कोई भोला हो, वही मोती के नाम से ठगा जाता है तथा उसकी परम्परा भी नहीं चलती; शीघ्र ही कोई झूठे मोतियों का निषेध करता है।

उसी प्रकार कोई सत्यार्थ पदों के समूहरूप जैनशास्त्र में, असत्यार्थ पद मिलाए, परन्तु जैन-शास्त्रों के पदों में तो कषाय मिटाने का तथा लौकिक कार्य घटाने का प्रयोजन है और उस पापी ने जो असत्यार्थ पद मिलाए हैं, उनमें कषाय का पोषण करने का तथा लौकिक कार्य साधने का प्रयोजन है; इस प्रकार प्रयोजन नहीं मिलता; इसलिए परीक्षा करके, ज्ञानी ठगाता भी नहीं; कोई मूर्ख हो, वही जैनशास्त्र के नाम से ठगा जाता है तथा उसकी परम्परा भी नहीं चलती; शीघ्र ही कोई [ज्ञानी], असत्यार्थ पदों का निषेध करता है।

पुनश्च, ऐसे तीव्रकषायी जैनाभास, यहाँ इस निकृष्ट काल में ही होते हैं; उत्कृष्ट क्षेत्र-काल बहुत है, उनमें तो ऐसे होते नहीं; इसलिए जैनशास्त्रों में असत्यार्थ पदों की परम्परा नहीं चलती – ऐसा निश्चय करना।

पुनश्च, **वह कहे** – कषायों से तो असत्यार्थ पद न मिलाए, परन्तु ग्रन्थ करनेवालों को क्षयोपशमज्ञान है; इसलिए कोई अन्यथा अर्थ भासित हो, उससे असत्यार्थ पद मिलाए, उसकी तो परम्परा चले?

उसका समाधान – मूल ग्रन्थकर्ता तो गणधरदेव हैं, वे स्वयं चार ज्ञान के धारक हैं और साक्षात् केवली के दिव्यध्वनि उपदेश सुनते हैं; उसके अतिशय से सत्यार्थ ही भासित होता है और उस ही के अनुसार, ग्रन्थ बनाते हैं; इसलिए उन ग्रन्थों में तो असत्यार्थ पद कैसे गूँथे जाएँ?

जो अन्य आचार्यादि, ग्रन्थ बनाते हैं, वे भी यथायोग्य सम्यग्ज्ञान के धारक हैं और वे मूल ग्रन्थों की परम्परा से, ग्रन्थ बनाते हैं तथा जिन पदों का स्वयं को ज्ञान न हो, उनकी तो वे रचना करते नहीं और जिन पदों का ज्ञान हो, उन्हें सम्यग्ज्ञानप्रमाण से निर्णय करके, गूँथते हैं।

अत: प्रथम तो ऐसी सावधानी में असत्यार्थ पद, गूँथे जाते नहीं और कदाचित् स्वयं को पूर्व ग्रन्थों के पदों का अर्थ अन्यथा ही भासित हो तथा अपनी प्रमाणता में भी उसी प्रकार आ जाए तो उसका कुछ सारा (वश) नहीं है परन्तु ऐसा किसी को ही भासित होता है; सब ही को तो नहीं भासता; इसलिए जिन्हें सत्यार्थ भासित हुआ हो, वे उसका निषेध करके, परम्परा नहीं चलने देते।

पुनश्च, इतना जानना – जिनको अन्यथा जानने से जीव का बुरा हो, ऐसे देव-गुरु-धर्मादि तथा जीव-अजीवादि तत्त्वों को तो श्रद्धानी जैनी, अन्यथा जानते ही नहीं; इनका तो जैनशास्त्रों में प्रसिद्ध कथन है और जिनको भ्रम से अन्यथा जाननेपर भी, जिन-आज्ञा मानने से, जीव का बुरा न हो – ऐसे कोई सूक्ष्म अर्थ हैं, उनमें से किसी को कोई अन्यथा प्रमाणता में लावे तो भी उसका विशेष दोष नहीं है।

वही, गोम्मटसार में कहा है –

सम्माइट्ठी जीवो, उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भावं, अजाणमाणो गुरुणियोगा॥[१]

इसका अर्थ - सम्यग्दृष्टि जीव, उपदेशित सत्य वचन का श्रद्धान करता है और अजानमान (अजानकार) गुरु के नियोग से, असत्य का भी श्रद्धान करता है – ऐसा कहा है।

पुनश्च, हमें भी विशेषज्ञान नहीं है और जिन-आज्ञा भंग करने का बहुत भय है फिर भी, इसी विचार के बल से, ग्रन्थ करने का साहस करते हैं; इसलिए इस ग्रन्थ में जैसा पूर्व ग्रन्थों में वर्णन है, वैसा ही वर्णन करेंगे अथवा कहीं पूर्व ग्रन्थों में सामान्य गूढ़ वर्णन था, उसका विशेष प्रगट करके, वर्णन यहाँ करेंगे।

– ऐसे वर्णन करने में, मैं तो बहुत सावधानी रखूँगा; सावधानी करनेपर भी

---

[१] गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा २७

कहीं सूक्ष्म अर्थ का, अन्यथा वर्णन हो जाए तो जो विशेष बुद्धिमान हों, वे उसे सँवारकर, शुद्ध करें—ऐसी मेरी प्रार्थना है। **इस प्रकार शास्त्र करने का निश्चय किया है।**

वाँचने-सुनने योग्य शास्त्र

अब यहाँ, कैसे शास्त्र वाँचने-सुनने योग्य हैं तथा उन शास्त्रों के वक्ता-श्रोता कैसे होने चाहिए, उसका वर्णन करते हैं —

जो शास्त्र, मोक्षमार्ग का प्रकाश करें, वे ही शास्त्र वाँचने-सुनने योग्य हैं क्योंकि जीव, संसार में नाना दुःखों से पीड़ित हैं। यदि शास्त्ररूपी दीपक द्वारा, मोक्षमार्ग को प्राप्त कर लें तो, उस मार्ग में स्वयं गमन कर, उन दुःखों से मुक्त हों। वहाँ **मोक्षमार्ग, एक वीतरागभाव है;** इसलिए जिन शास्त्रों में किसी प्रकार, राग-द्वेष-मोहभावों का निषेध करके, वीतरागभाव का प्रयोजन प्रगट किया हो, उन्हीं शास्त्रों का वाँचना-सुनना उचित है।

तथा जिन शास्त्रों में, शृंगार-भोग-कुतूहलादि का पोषण करके, रागभाव का, व हिंसा -युद्धादि का पोषण करके, द्वेषभाव का और अतत्त्वश्रद्धान का पोषण करके, मोहभाव का प्रयोजन प्रगट किया हो, वे शास्त्र नहीं; शस्त्र हैं क्योंकि जिन राग-द्वेष-मोह भावों से, जीव अनादि से दुःखी हुआ, उनकी वासना, जीव को बिना सिखलाये ही थी और इन शास्त्रों द्वारा, उन्हीं का पोषण किया गया; भला होने की क्या शिक्षा दी? जीव का स्वभाव घात ही किया; इसलिए ऐसे शास्त्रों का वाँचना-सुनना उचित नहीं है।

यहाँ वाँचना-सुनना जिस प्रकार कहा, उसी प्रकार जोड़ना-सीखना-सिखाना-विचारना -लिखाना आदि कार्य भी, उपलक्षण से जान लेना।

इस प्रकार जो साक्षात् अथवा परम्परा से वीतरागभाव का पोषण करें — ऐसे शास्त्रों का ही अभ्यास, करनेयोग्य है।

वक्ता का स्वरूप

अब, इनके (वाँचने-सुननेयोग्य शास्त्रों के) **वक्ता का स्वरूप** कहते हैं —

प्रथम तो वक्ता कैसा होना चाहिए? — जो जैन श्रद्धान में दृढ़ हो, क्योंकि यदि स्वयं अश्रद्धानी हो तो औरों को श्रद्धानी कैसे करे? श्रोता तो स्वयं ही से हीनबुद्धि के धारक हैं, उन्हें किसी युक्ति द्वारा श्रद्धानी कैसे करे, और **श्रद्धान ही सर्व धर्म का मूल है**[१]।

पुनश्च, वक्ता कैसा होना चाहिए? — जिसे विद्याभ्यास करने से, शास्त्र वाँचनेयोग्य बुद्धि प्रगट हुई हो क्योंकि ऐसी शक्ति के बिना, वक्तापने का अधिकारी कैसे हो?

पुनश्च, वक्ता कैसा होना चाहिए? — जो सम्यग्ज्ञान द्वारा सर्व प्रकार के व्यवहार -निश्चयादिरूप व्याख्यान का अभिप्राय पहिचानता हो क्योंकि यदि ऐसा नहीं हो तो कहीं अन्य

[१] दंसणमूलो धम्मो (दर्शनपाहुड़, गाथा २)

प्रयोजनसहित व्याख्यान हो, उसका अन्य प्रयोजन प्रगट करके, विपरीत प्रवृत्ति करावे।

पुनश्च, वक्ता कैसा होना चाहिए ? – जिसे जिन-आज्ञा भंग करने का भय बहुत हो क्योंकि यदि ऐसा नहीं हो तो कोई अभिप्राय विचारकर, सूत्रविरुद्ध उपदेश देकर, जीवों का बुरा करे। वही कहा है –

बहु गुणविज्जाणिलयो, असुत्तभासी तहावि मुत्तव्वो।
जह वरमणिजुत्तो वि हु, विग्घयरो विसहरो लोए॥[१]

इसका अर्थ – जो अनेक क्षमादि गुण तथा व्याकरणादि विद्या का स्थान है तथापि यदि उत्सूत्रभाषी है तो छोड़नेयोग्य ही है। जैसे–उत्कृष्ट मणि संयुक्त होनेपर भी, सर्प है, वह लोक में विघ्न ही का करनेवाला है।

पुनश्च, वक्ता कैसा होना चाहिए ? – जिसको शास्त्र वाँचकर, आजीविका आदि लौकिक-कार्य साधने की इच्छा न हो क्योंकि यदि आशावान हो तो यथार्थ उपदेश नहीं दे सकता; उसे तो कुछ श्रोताओं के अभिप्राय के अनुसार व्याख्यान करके, अपना प्रयोजन साधने का ही साधन रहे। यद्यपि श्रोताओं से वक्ता का पद उच्च है तथापि **यदि वक्ता लोभी हो, तो वक्ता स्वयं हीन हो जाए और श्रोता उच्च हो जाए।**

पुनश्च, वक्ता कैसा होना चाहिए ? – जिसके तीव्र क्रोध-मान नहीं हो क्योंकि तीव्र क्रोधी-मानी की निन्दा होगी, श्रोता उससे डरते रहेंगे; तब उससे अपना हित कैसे करेंगे ?

पुनश्च, वक्ता कैसा होना चाहिए ? – जो स्वयं ही नाना प्रश्न उठाकर, स्वयं ही उत्तर दे अथवा अन्य जीव अनेक प्रकार से बहुत बार प्रश्न करें तो भी मिष्ट वचन द्वारा, जिस प्रकार उनका सन्देह दूर हो, उसी प्रकार समाधान करे। यदि स्वयं में उत्तर देने की सामर्थ्य न हो तो ऐसा कहे कि '**इसका मुझे ज्ञान नहीं है**' क्योंकि यदि ऐसा न हो तो श्रोताओं का सन्देह दूर नहीं होगा, तब कल्याण कैसे होगा, और जिनमत की प्रभावना भी नहीं हो सकेगी।

पुनश्च, वक्ता कैसा होना चाहिए ? – जिसके अनीतिरूप लोक निन्द्यकार्यों की प्रवृत्ति न हो क्योंकि लोक निन्द्यकार्यों से, वह हास्य का स्थान हो जाए, तब उसका वचन कौन प्रमाण करे ?–वह जिनधर्म को लजावे।

पुनश्च, वक्ता कैसा होना चाहिए ? – जिसका कुल हीन न हो, अंग हीन न हो, स्वर भंग न हो; मिष्ट वचन हो, प्रभुत्व हो; इसलिए लोक में मान्य हो क्योंकि यदि ऐसा न हो तो उसे वक्तापने की महन्तता शोभे नहीं।

ऐसा वक्ता होता है; वक्ता में ये गुण तो अवश्य होने चाहिए।

---

[१] उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला, गाथा १८

ऐसा ही आत्मानुशासन में कहा है –

प्राज्ञः प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदयः, प्रव्यक्तलोकस्थितिः;
प्रास्ताशः प्रतिभापरः प्रशमवान्, प्रागेव दृष्टोत्तरः।
प्रायः प्रश्नसहः प्रभुः परमनो,-हारी पराऽनिन्दया;
ब्रूयाद्धर्मकथां गणी गुणनिधिः, प्रस्पष्टमिष्टाक्षरः॥ ५॥

इसका अर्थ – जो बुद्धिमान हो, जिसने समस्त शास्त्रों का रहस्य प्राप्त किया हो, लोक-मर्यादा जिसके प्रगट हुई हो, आशा जिसके अस्त हो गयी हो; कान्तिमान हो, उपशमी हो, प्रश्न करने से पहले ही जिसने उत्तर देखा हो, बहुलता से प्रश्नों को सहनेवाला हो, प्रभु हो, पर की तथा पर के द्वारा अपनी निन्दा रहितपने से, पर के मन को हरनेवाला हो, गुणनिधान हो; स्पष्ट मिष्ट जिसके वचन हों–ऐसा सभा का नायक (वक्ता), धर्मकथा कहे।

पुनश्च, वक्ता का विशेष लक्षण ऐसा है – यदि उसके व्याकरण, न्यायादि तथा बड़े-बड़े जैनशास्त्रों का विशेष ज्ञान हो तो विशेषरूप से, उसको वक्तापना शोभित हो।

पुनश्च, ऐसा भी हो, परन्तु **यदि अध्यात्मरस द्वारा यथार्थ अपने स्वरूप का अनुभव जिसको न हुआ हो, वह जिनधर्म का मर्म नहीं जानता; पद्धति ही से वक्ता होता है** क्योंकि अध्यात्मरसमय सच्चे जिनधर्म का स्वरूप, उसके द्वारा कैसे प्रगट किया जाए? **इसलिए आत्मज्ञानी हो तो ही सच्चा वक्तापना होता है** क्योंकि प्रवचनसार में ऐसा कहा है -

आगमज्ञान-तत्त्वार्थश्रद्धान-संयमभाव–ये तीनों, आत्मज्ञान से शून्य, कार्यकारी नहीं हैं।[१]

पुनश्च, दोहापाहुड में ऐसा कहा है –

पंडिय पंडिय पंडिया, कण छोडि वि तुस कंडिया।
अत्थे गंथे तुट्ठो सि, परमत्थ ण जाणइ मूढो सि॥[२]

इसका अर्थ – हे पाण्डे! हे पाण्डे!! हे पाण्डे!!! तू कण को छोड़कर, तुस (भूसी) ही कूट रहा है; तू अर्थ और शब्द में ही सन्तुष्ट है, परमार्थ नहीं जानता; इसलिए मूर्ख ही है।

चौदह विद्याओं में भी पहले अध्यात्मविद्या प्रधान कही है; इसलिए जो अध्यात्मरस का रसिया वक्ता है, उसे जिनधर्म के रहस्य का वक्ता जानना।

पुनश्च, जो बुद्धि-ऋद्धि के धारक हैं तथा अवधि-मनःपर्यय-केवलज्ञान के धनी वक्ता हैं, उन्हें महान वक्ता जानना–**ऐसे वक्ताओं के विशेषगुण जानना।**

वहाँ यदि इन विशेषगुणों के धारी वक्ता का संयोग मिले तो बहुत भला है ही और न मिले, **तो श्रद्धानादि गुणों के धारी, वक्ताओं के मुख से ही शास्त्र सुनना।**

---

[१] प्रवचनसार, गाथा २३९, उत्थानिका एवं तत्त्वप्रदीपिका टीका

[२] पंडिय पंडिय पंडिया, कणु छंडिवि तुस कंडिया।
पय अत्थ तुट्ठो सि, परमत्थु ण जाणहि मूढो सि॥ ८६॥ (पाठ भेद)

इस प्रकार के गुणों के धारक मुनि अथवा श्रावक, उनके मुख से तो शास्त्र सुनना, योग्य है और **पद्धति बुद्धि से अथवा शास्त्र सुनने के लोभ से, श्रद्धानादि गुणरहित, पापी पुरुषों के मुख से शास्त्र सुनना उचित नहीं है।** कहा है –

तं जिणआणपरेण य, धम्मो सोयव्व सुगुरुपासम्मि।
अह उचिओ सद्धाओ, तस्सुवएसस्स कहगाओ॥[१]

इसका अर्थ – जो जिन-आज्ञा मानने में सावधान है, उसे निर्ग्रन्थ सुगुरु ही के निकट, धर्म सुनना योग्य है अथवा उन सुगुरु ही के उपदेश को कहनेवाला उचित श्रद्धानी श्रावक, उससे धर्म सुनना, योग्य है।

– ऐसा वक्ता जो धर्मबुद्धि से उपदेशदाता हो, वही अपना तथा अन्य जीवों का भला करता है और जो कषायबुद्धि से उपदेश देता है, वह अपना तथा अन्य जीवों का बुरा करता है – ऐसा जानना।

इस प्रकार वक्ता का स्वरूप कहा।

श्रोता का स्वरूप

अब, **श्रोता का स्वरूप** कहते हैं –

''भली होनहार है, इसलिए जिस जीव को ऐसा विचार आता है – '**मैं कौन हूँ? मेरा क्या स्वरूप है? यह चरित्र कैसे बन रहा है? ये मेरे भाव होते हैं, उनका क्या फल लगेगा? जीव, दुःखी हो रहा है, अतः दुःख दूर होने का क्या उपाय है?**'–इतनी बातों का निर्णय करके, 'मुझको जो कुछ मेरा हित हो, वह करना'–ऐसे विचार से उद्यमवन्त हुआ है।''

पुनश्च, इस कार्य की सिद्धि, शास्त्र सुनने से होती है–ऐसा जानकर, अति प्रीतिपूर्वक शास्त्र सुनता है; कुछ पूछना हो, वह पूछता है तथा गुरुओं के द्वारा कहे गये अर्थ को, अपने अन्तरंग में बारम्बार विचारता है और अपने विचार से सत्य अर्थों का निश्चय करके, जो कर्तव्य हो, उसका उद्यमी होता है–ऐसा तो **नवीन श्रोता का स्वरूप** जानना।

पुनश्च, जो **जैनधर्म के गाढ़ श्रद्धानी** हैं तथा नाना शास्त्र सुनने से जिनकी बुद्धि निर्मल हुई है तथा व्यवहार-निश्चयादि का स्वरूप भलीभाँति जानकर, जिस अर्थ को सुनते हैं, उसे यथावत् निश्चय जानकर, अवधारण करते हैं तथा जब प्रश्न उठता है, तब अति विनयवान होकर प्रश्न करते हैं अथवा परस्पर अनेक प्रश्नोत्तरकर, वस्तु का निर्णय करते हैं; शास्त्राभ्यास में अति आसक्त हैं; धर्मबुद्धि से निन्द्यकार्यों के त्यागी हुए हैं–ऐसे उन **शास्त्रों के श्रोता** होना चाहिए।

---

[१] उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला, गाथा २३

श्रोताओं के विशेष लक्षण इस प्रकार हैं – यदि उसे कुछ व्याकरण-न्यायादि का तथा बड़े जैनशास्त्रों का ज्ञान हो तो श्रोतापना विशेष शोभा देता है। तथा ऐसा भी श्रोता हो किन्तु यदि उसे आत्मज्ञान न हुआ हो, तो उपदेश का मर्म नहीं समझ सके; इसलिए जो आत्मज्ञान द्वारा स्वरूप का आस्वादी हुआ है, वह **जिनधर्म के रहस्य का श्रोता** है।

पुनश्च, जो अतिशयवन्त बुद्धि से अथवा अवधि-मनःपर्यय से संयुक्त हो, तो उसे **महान श्रोता** जानना–ऐसे **श्रोताओं के विशेषगुण** हैं। इस प्रकार **जिनशास्त्रों के श्रोता** होना चाहिए।

पुनश्च, 'शास्त्र सुनने से हमारा भला होगा'–ऐसी बुद्धि से जो शास्त्र सुनते हैं परन्तु ज्ञान की मन्दता से, विशेष समझ नहीं पाते, उनको पुण्यबन्ध होता है; विशेष कार्य सिद्ध नहीं होता तथा जो कुलप्रवृत्ति से अथवा पद्धतिबुद्धि से अथवा सहज योग बनने से, शास्त्र सुनते हैं अथवा सुनते तो हैं परन्तु कुछ अवधारण नहीं करते; उनके परिणाम अनुसार, कदाचित् पुण्यबन्ध होता है, कदाचित् पापबन्ध होता है।

पुनश्च, जो मद-मत्सर भाव से शास्त्र सुनते हैं अथवा तर्क करने का ही जिनका अभिप्राय है; जो महन्तता के हेतु अथवा किसी लोभादि प्रयोजन के हेतु से शास्त्र सुनते हैं तथा जो शास्त्र तो सुनते हैं परन्तु सुहाता नहीं है–ऐसे श्रोताओं को केवल पापबन्ध ही होता है।

– ऐसा **श्रोताओं का स्वरूप** जानना। इसी प्रकार यथासम्भव सीखना, सिखाना आदि जिनके पाया जाता है, उनका भी स्वरूप जानना।

इस प्रकार शास्त्र का तथा वक्ता-श्रोता का स्वरूप कहा। वहाँ उचित शास्त्र को, उचित वक्ता होकर वाँचना एवं उचित श्रोता होकर सुनना, योग्य है।

मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रन्थ की सार्थकता

अब, यह 'मोक्षमार्गप्रकाशक' नामक शास्त्र रचते हैं, उसकी सार्थकता दिखाते हैं –

इस संसार अटवी में समस्त जीव हैं, वे कर्मनिमित्त से, उत्पन्न नाना प्रकार के दुःखों से पीड़ित हो रहे हैं तथा वहाँ मिथ्या अन्धकार व्याप्त हो रहा है, उस कारण वहाँ से मुक्त होने का मार्ग नहीं पाते और तड़प-तड़प कर, वहाँ ही दुःख को सहते हैं।

– ऐसे जीवों का भला होने में कारणभूत, तीर्थंकर केवली भगवानरूपी सूर्य का उदय हुआ, उनकी दिव्यध्वनिरूपी किरणों द्वारा, वहाँ से मुक्त होने का मार्ग प्रकाशित हुआ। जिस प्रकार सूर्य को ऐसी इच्छा नहीं है कि 'मैं मार्ग प्रकाशित करूँ' परन्तु सहज ही उसकी किरणें फैलती हैं, उनके द्वारा मार्ग का प्रकाशन होता है; उसी प्रकार केवली, वीतराग हैं; इसलिए उनके ऐसी इच्छा नहीं है कि हम मोक्षमार्ग प्रगट करें, परन्तु सहज ही वैसे ही अघातिकर्मों के

उदय से, उनका शरीररूप पुद्गल, दिव्यध्वनिरूप परिणमित होता है, उसके द्वारा मोक्षमार्ग का प्रकाशन होता है।

पुनश्च, गणधरदेवों को यह विचार आया कि 'जब केवलीसूर्य का अस्तपना होगा, तब जीव, मोक्षमार्ग को कैसे प्राप्त करेंगे और मोक्षमार्ग प्राप्त किये बिना जीव, दुःख सहेंगे'—ऐसी करुणाबुद्धि से, अंग-प्रकीर्णकादिरूप ग्रन्थ, 'वे ही हुए महान दीपक', उनका उद्योत किया।

पुनश्च, जिस प्रकार दीपक से दीपक जलाने से, दीपकों की परम्परा प्रवर्तती है; उसी प्रकार किन्हीं आचार्यादि ने उन ग्रन्थों से, अन्य ग्रन्थ बनाए और फिर उन पर से किन्हीं ने, अन्य ग्रन्थ बनाए। इस प्रकार ग्रन्थ बनने से, ग्रन्थों की परम्परा प्रवर्तती है। **मैं भी पूर्व ग्रन्थों (के आधार) से, यह ग्रन्थ बनाता हूँ।**

पुनश्च, जिस प्रकार सूर्य तथा सर्व दीपक हैं, वे मार्ग को एकरूप ही प्रकाशित करते हैं; उसी प्रकार दिव्यध्वनि तथा सर्व ग्रन्थ हैं, वे मोक्षमार्ग को एकरूप ही प्रकाशित करते हैं; यहाँ यह ग्रन्थ भी मोक्षमार्ग को प्रकाशित करता है।

वहाँ जिस प्रकार प्रकाशित करनेपर भी, जो नेत्ररहित अथवा नेत्र-विकारसहित पुरुष हैं, उनको मार्ग नहीं सूझता, तो दीपक के तो मार्ग प्रकाशकपने का अभाव हुआ नहीं है; उसी प्रकार प्रगट करनेपर भी, जो मनज्ञानरहित हैं अथवा मिथ्यात्वादि विकारसहित हैं, उन्हें मोक्षमार्ग नहीं सूझता तो ग्रन्थ के तो मोक्षमार्गप्रकाशकपने का अभाव हुआ नहीं है।

इस प्रकार इस ग्रन्थ का 'मोक्षमार्गप्रकाशक' — ऐसा नाम सार्थक जानना।

यहाँ प्रश्न — मोक्षमार्ग के प्रकाशक ग्रन्थ पहले तो थे ही, तुम नवीन ग्रन्थ किसलिए बनाते हो ?

उसका समाधान — जिस प्रकार बड़े दीपकों का तो उद्योत, बहुत तेलादि के साधन से रहता है; जिनमें बहुत तेलादि की शक्ति न हो, उनको छोटा दीपक जला दें तो वे उसका साधन रखकर, उसके उद्योत से अपना कार्य करें; उसी प्रकार बड़े ग्रन्थों का तो प्रकाश, बहुत ज्ञानादि के साधन से रहता है; जिनमें बहुत ज्ञानादि की शक्ति नहीं है, उनको छोटा ग्रन्थ बना दें तो वे उसका साधन रखकर, उसके प्रकाश से अपना कार्य करें; इसलिए यह छोटा सुगम ग्रन्थ बनाते हैं।

पुनश्च, यहाँ जो मैं यह ग्रन्थ बनाता हूँ, वह कषायों से अपना मान बढ़ाने के लिए अथवा लोभसाधन के लिए अथवा यश प्राप्त करने के लिए अथवा अपनी पद्धति रखने के लिए, नहीं बनाता हूँ। जिनको व्याकरण-न्यायादि का, नय-प्रमाणादि का तथा विशेष

अर्थों का ज्ञान नहीं है; इसलिए उनको बड़े ग्रन्थों का अभ्यास तो बन नहीं सकता तथा किन्हीं छोटे ग्रन्थों का अभ्यास बने, तो भी यथार्थ अर्थ भासित नहीं होता—ऐसे इस काल में मन्द ज्ञानवान जीव, बहुत दिखायी देते हैं, उनका भला होने के लिए, धर्मबुद्धि से यह भाषामय ग्रन्थ बनाता हूँ।

पुनश्च, जैसे—बड़े दरिद्री को अवलोकनमात्र चिन्तामणि की प्राप्ति होवे और वह अवलोकन न करे तथा जैसे—कोढ़ी को अमृतपान करावें और वह न करे; उसी प्रकार संसार पीड़ित जीव को, सुगम मोक्षमार्ग के उपदेश का निमित्त बने और वह अभ्यास न करे, तो उसके 'अभाग्य की महिमा' हमसे तो नहीं हो सकती; उसकी होनहार ही का विचार करनेपर, अपने को समता आती है। कहा भी है –

साहीणे गुरुजोगे, जे ण सुणंतीह धम्मवयणाइ।
ते धिट्ठदुट्ठचित्ता, अह सुहडा भवभयविहुणा॥[१]

इसका अर्थ – स्वाधीन उपदेशदाता गुरु का योग मिलनेपर भी, जो जीव, धर्मवचनों को नहीं सुनते; वे धीठ हैं और उनका दुष्ट चित्त है अथवा **जिस संसार भय से, तीर्थंकरादि डरे,** उस संसार भय से रहित हैं; वे बड़े सुभट हैं।

पुनश्च, प्रवचनसार में भी मोक्षमार्ग का अधिकार लिखा है, वहाँ **प्रथम आगमज्ञान ही उपादेय** कहा है।[२] अत: **इस जीव का तो मुख्य कर्तव्य, आगमज्ञान है; उसके होने से, तत्त्वों का श्रद्धान होता है; तत्त्वों का श्रद्धान होने से, संयमभाव होता है और उस आगम से, आत्मज्ञान की भी प्राप्ति होती है, तब सहज ही मोक्ष की प्राप्ति होती है।**

पुनश्च, धर्म के अनेक अंग हैं, उनमें एक ध्यान बिना, उससे ऊँचा (आगमज्ञान से ऊँचा) और धर्म का अंग नहीं है; इसलिए जिस-तिस प्रकार, आगम अभ्यास करना, योग्य है।

पुनश्च, इस ग्रन्थ का तो वाँचना—सुनना—विचारना बहुत सुगम है; कोई व्याकरणादि का भी साधन नहीं चाहिए; **इसलिए अवश्य इसके अभ्यास में प्रवर्तो! तुम्हारा कल्याण होगा!!**

❁ ❁ ❁

— इति 'श्री मोक्षमार्गप्रकाशक' नामक शास्त्र में
'पीठबन्ध प्ररूपण' नामक प्रथम अधिकार समाप्त हुआ ॥ १ ॥

---

[१] उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला, गाथा ९३ का प्रथम चरण

[२] प्रवचनसार, गाथा २३२, उत्थानिका एवं तत्त्वप्रदीपिका टीका

दूसरा अधिकार

संसार-अवस्था का स्वरूप

॥ ॐ नमः ॥

दोहा - **मिथ्याभाव अभाव तैं, जो प्रगटै निजभाव।**
सो जयवंत रहौ सदा, यह ही मोक्ष उपाव॥

अथ, इस शास्त्र में, '**मोक्षमार्ग का प्रकाश**' करते हैं—वहाँ बन्धन से छूटने का नाम, 'मोक्ष' है। इस आत्मा को कर्म का बन्धन है और उस बन्धन से आत्मा, दुःखी हो रहा है तथा इसके दुःख दूर करने ही का निरन्तर उपाय भी रहता है परन्तु सच्चा उपाय प्राप्त किये बिना, दुःख दूर नहीं होता और दुःख सहा भी नहीं जाता; इसलिए यह जीव, व्याकुल हो रहा है।

इस प्रकार (संसारी) जीव को समस्त दुःख का मूलकारण, कर्म-बन्धन है; उसके अभावरूप मोक्ष है, वही परम-हित है तथा उसका सच्चा उपाय करना, वही कर्तव्य है; इसलिए इस ही का इसे उपदेश देते हैं।

वहाँ जैसे—वैद्य है, वह रोगसहित मनुष्य को प्रथम तो, रोग का निदान बतलाता है कि 'इस प्रकार यह रोग हुआ है' तथा उस रोग के निमित्त से, उसके जो-जो अवस्था होती हैं, उन्हें बतलाता है; उससे उसको निश्चय होता है कि 'मुझे ऐसा ही रोग है', फिर उस रोग को दूर करने का उपाय, अनेक प्रकार से बतलाता है और उस उपाय की उसे प्रतीति कराता है—इतना तो वैद्य का बतलाना है; तथा यदि वह रोगी, उसका साधन करे तो रोग से मुक्त होकर, अपने स्वभावरूप प्रवर्ते, सो यह रोगी का कर्तव्य है।

उसी प्रकार यहाँ कर्म-बन्धनयुक्त जीव को, प्रथम 'कर्म-बन्धन का निदान' बतलाते हैं कि 'ऐसे यह कर्म-बन्धन हुआ है' तथा उस कर्म-बन्धन के निमित्त से, इसके जो-जो अवस्था होती हैं, वह बतलाते हैं; उससे जीव को निश्चय होता है कि 'मुझे ऐसा ही कर्म-बन्धन है', फिर उस कर्म-बन्धन के दूर होने का उपाय, अनेक प्रकार से बतलाते हैं और उस उपाय की इसे प्रतीति कराते हैं—इतना तो शास्त्र का उपदेश है। यदि यह जीव, उसका साधन करे तो कर्म-बन्धन से मुक्त होकर, अपने स्वभावरूप प्रवर्ते, सो यह जीव का कर्तव्य है।

कर्म-बन्धन का निदान

अब यहाँ, प्रथम ही 'कर्म-बन्धन का निदान' बतलाते हैं –

कर्म-बन्धन होने से, नाना औपाधिकभावों में परिभ्रमणपना पाया जाता है; एकरूप रहना नहीं होता; इसलिए कर्म-बन्धनसहित अवस्था का नाम, 'संसार-अवस्था' है। इस संसार -अवस्था में, अनन्तानन्त जीवद्रव्य हैं, वे अनादि ही से कर्म-बन्धनसहित हैं। ऐसा नहीं है कि पहले जीव, न्यारा था और कर्म, न्यारे थे; बाद में इनका संयोग हुआ।

तो कैसे हैं ? – जैसे–मेरुगिरि आदि अकृत्रिम स्कन्धों में अनन्त पुद्गलपरमाणु, अनादि से एक बन्धनरूप हैं, फिर उनमें से कितने ही परमाणु भिन्न होते हैं, कितने ही नये मिलते हैं; इस प्रकार 'मिलना-बिछुड़ना' होता रहता है; उसी प्रकार इस संसार में, एक जीवद्रव्य और अनन्त कर्मरूप पुद्गलपरमाणु, उनका अनादि से एक बन्धनरूप है, फिर उनमें कितने ही कर्मपरमाणु अलग होते हैं, कितने ही नये मिलते हैं; इस प्रकार 'मिलना-बिछुड़ना' होता रहता है।

कर्मों के अनादिपने की सिद्धि

यहाँ प्रश्न – पुद्गलपरमाणु तो रागादि के निमित्त से, कर्मरूप होते हैं; अनादि कर्मरूप कैसे हैं ?

उसका समाधान – निमित्त तो नवीन कार्य हो, उसमें ही सम्भव है; अनादि अवस्था में निमित्त का कुछ प्रयोजन नहीं है। जैसे–नवीन पुद्गलपरमाणुओं का बन्धन तो स्निग्ध-रूक्ष गुणों के अंशों ही से होता है और मेरुगिरि आदि स्कन्धों में अनादि पुद्गलपरमाणुओं का बन्धन है, वहाँ निमित्त का क्या प्रयोजन है ? उसी प्रकार नवीन परमाणुओं का कर्मरूप होना तो रागादि ही से होता है और अनादि पुद्गलपरमाणुओं की कर्मरूप ही अवस्था है; वहाँ निमित्त का क्या प्रयोजन है ? तथा **यदि अनादि में भी निमित्त मानें, तो अनादिपना रहता नहीं; इसलिए कर्म का बन्ध, अनादि मानना** – ऐसा 'प्रवचनसार शास्त्र की तत्त्वप्रदीपिका व्याख्या' में जो 'सामान्य ज्ञेय अधिकार' है, वहाँ कहा है –

रागादि का कारण तो 'द्रव्यकर्म' है और द्रव्यकर्म के कारण, 'रागादि' हैं।

तब वहाँ **तर्क** किया है कि ऐसे तो इतरेतराश्रय दोष लगता है – 'वह उसके आश्रित, वह उसके आश्रित'; कहीं रुकाव नहीं है। तब ऐसा **उत्तर** दिया है –

नैवं, अनादिप्रसिद्धद्रव्यकर्मसम्बन्धस्य तत्र हेतुत्वेनोपादानात्।[१]

इसका अर्थ – इस प्रकार इतरेतराश्रय दोष नहीं है क्योंकि अनादि का स्वयंसिद्ध द्रव्यकर्म का सम्बन्ध है, उसका वहाँ कारणपने से ग्रहण किया है।

---

[१] न हि अनादिप्रसिद्धद्रव्यकर्माभिसम्बद्धस्यात्मनः प्राक्तनद्रव्यकर्मणस्तत्र हेतुत्वेनोपादानात्।

– प्रवचनसार, गाथा १२१, तत्त्वप्रदीपिका टीका

– ऐसा आगम में कहा है तथा युक्ति से भी ऐसा ही सम्भव है। यदि कर्म के निमित्त बिना, पहले से जीव को रागादि कहे जाएँ तो रागादि व जीव का एक स्वभाव हो जाए, क्योंकि पर निमित्त के बिना हो, उसी का नाम 'स्वभाव' है। **इसलिए कर्म का सम्बन्ध, अनादि ही मानना।**

फिर यहाँ प्रश्न – न्यारे-न्यारे द्रव्य और अनादि से उनका सम्बन्ध–ऐसा कैसे सम्भव है?

उसका समाधान – जैसे–मूल ही से जल-दूध का, सोना-किट्टिक का, तुष-कण का तथा तेल-तिल का सम्बन्ध देखा जाता है, नवीन इनका मिलाप हुआ नहीं है; वैसे ही अनादि से जीव-कर्म का सम्बन्ध जानना, नवीन इनका मिलाप हुआ नहीं है।

फिर तुमने कहा – कैसे सम्भव है?

उसका समाधान – अनादि से जिस प्रकार कई भिन्न, द्रव्य हैं; वैसे ही कई मिले द्रव्य हैं; इस प्रकार सम्भव होने में कुछ विरोध तो भासित नहीं होता।

फिर प्रश्न – सम्बन्ध अथवा संयोग कहना तो तब सम्भव है, जब पहले भिन्न हों और फिर मिलें; यहाँ अनादि से मिले जीव-कर्मों का सम्बन्ध, कैसे कहा है ?

उसका समाधान – अनादि से तो मिले थे परन्तु बाद में भिन्न हुए, तब जाना कि भिन्न थे, तो भिन्न हुए; इसलिए पहले भी भिन्न ही थे। इस प्रकार अनुमान से तथा केवलज्ञान से प्रत्यक्ष भिन्न भासित होते हैं; इससे उनका बन्धान होनेपर भी, भिन्नपना पाया जाता है तथा उस भिन्नता की अपेक्षा, उनका सम्बन्ध अथवा संयोग कहा है क्योंकि नये मिलें या मिले हुए ही हों, उन भिन्न द्रव्यों के मिलाप में ऐसे ही कहना सम्भव है।

इस प्रकार इन जीव और कर्मों का अनादि सम्बन्ध है।

जीव और कर्मों की भिन्नता

वहाँ, जीवद्रव्य तो, देखने-जाननेरूप 'चेतनागुण' का धारक है तथा इन्द्रियगम्य न होनेयोग्य अमूर्तिक है; संकोच-विस्तार शक्तिसहित, असंख्यात प्रदेशी एक द्रव्य है, तथा कर्म हैं, वे चेतनागुणरहित, जड़ हैं और मूर्तिक हैं; अनन्त पुद्गलपरमाणुओं के पिण्ड हैं; इसलिए एक द्रव्य नहीं हैं। **इस प्रकार ये जीव और कर्म (शरीर आदि) हैं, इनका अनादि-सम्बन्ध है, तो भी जीव का कोई प्रदेश, कर्मरूप नहीं होता और कर्म का कोई परमाणु, जीवरूप नहीं होता; अपने-अपने लक्षण को धारण किये, भिन्न-भिन्न ही रहते हैं।** जैसे–सोने-चाँदी का एक स्कन्ध हो, तथापि पीतादि गुणों को धारण किये सोना, भिन्न रहता है और श्वेतादि गुणों को धारण किये, चाँदी भिन्न रहती है; वैसे भिन्न जानना।

अमूर्तिक आत्मा से, मूर्तिक कर्मों का बन्धन कैसे ?

यहाँ प्रश्न – मूर्तिक-मूर्तिक का तो बन्धान होना बने; अमूर्तिक-मूर्तिक का बन्धन कैसे बने ?

उसका समाधान–जैसे–जो व्यक्त इन्द्रियगम्य नहीं हैं–ऐसे सूक्ष्म पुद्गल तथा जो व्यक्त इन्द्रियगम्य हैं–ऐसे स्थूल पुद्गल, उनका बन्धान होना मानते हैं; उसी प्रकार जो 'इन्द्रियगम्य होनेयोग्य नहीं है'–ऐसा अमूर्तिक आत्मा तथा 'इन्द्रियगम्य होनेयोग्य है'–ऐसा मूर्तिक कर्म; इनका भी बन्धान होना मानना। इस बन्धान में कोई किसी को करता तो है नहीं; जब तक बन्धान रहे, तब तक साथ रहें; बिछुड़ें नहीं और कारण-कार्यपना[१] उनके बना रहे, इतना ही यहाँ बन्धान जानना; इसलिए मूर्तिक-अमूर्तिक के इस प्रकार बन्धान होने में कुछ विरोध है नहीं।

इस प्रकार, जैसे–एक जीव को अनादि कर्मसम्बन्ध कहा, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न अनन्त जीवों का जानना।

घाति-अघाति कर्म और उनका कार्य

वह कर्म, ज्ञानावरणादि भेदों से आठ प्रकार का है।

वहाँ **चार घातिकर्मों के निमित्त से तो जीव के स्वभाव का घात** होता है –

उनमें **ज्ञानावरण-दर्शनावरण** से तो जो जीव के स्वभाव—ज्ञान-दर्शन, उनकी व्यक्तता नहीं होती, उन कर्मों के क्षयोपशम के अनुसार, किंचित् ज्ञान-दर्शन की व्यक्तता रहती है। **मोहनीय** से जो जीव के स्वभाव नहीं हैं–ऐसे मिथ्याश्रद्धान व क्रोध-मान-माया-लोभादि कषाय, उनकी व्यक्तता होती है। तथा **अन्तराय** से जीव का स्वभाव—दीक्षा लेने की सामर्थ्यरूप वीर्य, उसकी व्यक्तता नहीं होती; उसके क्षयोपशम के अनुसार, किंचित् शक्ति होती है।

इस प्रकार घातिकर्मों के निमित्त से जीव के स्वभाव का घात, अनादि ही से हुआ है – ऐसा नहीं है कि पहले तो स्वभावरूप शुद्ध आत्मा था, पश्चात् कर्म निमित्त से, स्वभावघात होने से, अशुद्ध हुआ।

यहाँ तर्क – घात नाम तो अभाव का है; अतः जिसका पहले सद्भाव हो, उसका अभाव कहना बनता है। यहाँ स्वभाव का तो सद्भाव है ही नहीं, घात किसका किया ?

उसका समाधान – जीव में अनादि ही से ऐसी शक्ति पायी जाती है कि कर्म का निमित्त न हो तो केवलज्ञानादि अपने स्वभावरूप प्रवर्तता है परन्तु अनादि ही से, कर्म का सम्बन्ध पाया जाता है; इसलिए उस शक्ति की व्यक्तता नहीं होती; अतः शक्ति अपेक्षा 'स्वभाव है', उसे व्यक्त न होने देने की अपेक्षा, 'घात किया' कहते हैं।

---

[१] निमित्त-नैमित्तिकपना (निमित्त को कारण और नैमित्तिक को कार्य कहने का आगम में व्यवहार है।)

वहाँ **चार अघातिकर्म** हैं, उनके निमित्त से इस आत्मा को बाह्यसामग्री का सम्बन्ध बनता है –

वहाँ **वेदनीय** से तो शरीर में अथवा शरीर से बाह्य, नाना प्रकार के सुख-दुःख के कारण परद्रव्यों का संयोग जुड़ता है; **आयु** से अपनी स्थितिपर्यन्त प्राप्त शरीर का सम्बन्ध नहीं छूट सकता; **नाम** से गति, जाति, शरीरादि उत्पन्न होते हैं और गोत्र से उच्च-नीच कुल की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार अघातिकर्मों से बाह्यसामग्री एकत्रित होती है, उसके द्वारा मोह-उदय का सहकार होनेपर, जीव, सुखी-दुःखी होता है और शरीरादि के सम्बन्ध से जीव के अमूर्तत्वादि स्वभाव, अपने स्व अर्थ (अपने मूलभूत कार्य) को नहीं करते; जैसे–कोई शरीर को पकड़े तो आत्मा भी पकड़ा जाए तथा जब तक कर्म का उदय रहता है, तब तक बाह्यसामग्री वैसी ही बनी रहती है; अन्यथा नहीं हो सकती – ऐसा इन अघातिकर्मों का निमित्त जानना।

निर्बल जड़कर्मों द्वारा, जीव के स्वभाव का घात तथा बाह्यसामग्री का संयोग

यहाँ कोई प्रश्न करे – कर्म तो जड़ हैं, कुछ बलवान नहीं हैं; उनसे जीव के स्वभाव का घात होना व बाह्यसामग्री का मिलना, कैसे सम्भव है?

उसका समाधान – यदि कर्म, स्वयं कर्ता होकर, उद्यम से जीव के स्वभाव का घात करे व बाह्यसामग्री को मिलावे, तब तो कर्म को चेतनपना भी चाहिए और बलवानपना भी चाहिए, वह तो है नहीं; सहज ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। जब उन कर्मों का उदय काल हो, उस काल में स्वयं ही आत्मा, स्वभावरूप परिणमन नहीं करता; विभावरूप परिणमन करता है तथा जो अन्य द्रव्य हैं, वे वैसे ही सम्बन्धरूप होकर, परिणमित होते हैं।

जैसे–किसी पुरुष के सिरपर मोहनधूल पड़ी हो, उससे वह पुरुष पागल हुआ; वहाँ उस मोहनधूल को ज्ञान भी नहीं था और बलवानपना भी नहीं था परन्तु पागलपना, उस मोहनधूल ही से हुआ देखते हैं। वहाँ मोहनधूल का तो निमित्त है और पुरुष स्वयं ही पागल हुआ परिणमित होता है – ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक बन रहा है।

तथा जैसे–सूर्य के उदय के काल में, चकवा-चकवियों का संयोग होता है; वहाँ रात्रि में किसी ने द्वेषबुद्धि से बलजबरी करके, उन्हें अलग नहीं किये हैं और दिन में किसी ने, करुणाबुद्धि से लाकर मिलाये नहीं हैं; सूर्योदय का निमित्त पाकर, स्वयं ही मिलते हैं – ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक बन रहा है।

उसी प्रकार कर्म का भी निमित्त-नैमित्तिकभाव जानना।

इस प्रकार कर्म के उदय से अवस्था होती है।

नवीन बन्ध विचार

वहाँ **नवीन बन्ध कैसे होता है ?** वह कहते हैं –

जैसे–सूर्य का प्रकाश है, वह मेघपटल से जितना व्यक्त नहीं है, उतने का तो उस काल में अभाव है तथा उस मेघपटल के मन्दपने से जितना प्रकाश प्रगट है, वह उस सूर्य के स्वभाव का अंश है; मेघपटलजनित नहीं है।

उसी प्रकार जीव का ज्ञान-दर्शन-वीर्य, स्वभाव है; वह **ज्ञानावरण-दर्शनावरण-अन्तराय** के निमित्त से जितना व्यक्त नहीं है, उतने का तो उस काल में अभाव है तथा उन कर्मों के क्षयोपशम से जितने ज्ञान-दर्शन-वीर्य प्रगट हैं, वे उस जीव के **स्वभाव के अंश** ही हैं; कर्मजनित औपाधिकभाव नहीं हैं – ऐसे **स्वभाव के अंश** का अनादि से लेकर, कभी अभाव नहीं होता।

इस ही के द्वारा जीव के जीवत्वपने का निश्चय किया जाता है कि **यह देखनेवाली -जाननेवाली शक्ति को धरती हुई जो वस्तु है, वही 'आत्मा' है।**

वहाँ इस स्वभाव से, नवीन कर्म का बन्ध नहीं होता क्योंकि निजस्वभाव ही बन्ध का कारण हो तो बन्ध का छूटना कैसे हो ? तथा उन कर्मों के उदय से जितने ज्ञान-दर्शन-वीर्य अभावरूप हैं, उनसे भी बन्ध नहीं है क्योंकि स्वयं ही का अभाव होनेपर, अन्य को कारण कैसे हो ?

इसलिए ज्ञानावरण-दर्शनावरण-अन्तराय के निमित्त से उत्पन्न भाव, नवीन कर्मबन्ध के कारण नहीं हैं।

मोहनीयकर्म के द्वारा, जीव को अयथार्थ श्रद्धानरूप तो मिथ्यात्वभाव होता है तथा क्रोध -मान-माया-लोभादि कषाय होते हैं। वे यद्यपि जीव के अस्तित्वमय हैं; जीव से भिन्न नहीं हैं, जीव ही उनका कर्ता है, जीव के परिणमनरूप ही वे कार्य हैं तथापि उनका होना, मोहकर्म के निमित्त से ही है; कर्म निमित्त दूर होनेपर, उनका अभाव ही होता है; इसलिए वे जीव के निज स्वभाव नहीं; औपाधिकभाव हैं तथा उन भावों द्वारा नवीन बन्ध होता है।

इसलिए मोह के उदय से उत्पन्न भाव, बन्ध के कारण हैं।

अघातिकर्मों के उदय से बाह्यसामग्री मिलती है, उसमें शरीरादि तो जीव के प्रदेशों से एकक्षेत्रावगाही होकर, एक बन्धानरूप होते हैं और धन-कुटुम्बादि आत्मा से भिन्नरूप हैं।

इसलिए वे सब, बन्ध के कारण नहीं हैं क्योंकि परद्रव्य, बन्ध के कारण नहीं होते; उनके प्रति आत्मा के ममत्वादिरूप मिथ्यात्वादि भाव होते हैं, वे ही बन्ध के कारण जानना।

योग और उसके निमित्त से, प्रकृति-प्रदेश बन्ध

वहाँ इतना जानना – नामकर्म के उदय से शरीर-वचन-मन उत्पन्न होते हैं; उनकी चेष्टा के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों का चंचलपना होता है, उससे आत्मा को

पुद्गलवर्गणा से एक बन्धान होने की शक्ति होती है, उसका नाम **योग** है; उसके निमित्त से प्रतिसमय कर्मरूप होनेयोग्य अनन्त परमाणुओं का ग्रहण होता है। वहाँ अल्प योग हो तो, थोड़े परमाणुओं का ग्रहण होता है और बहुत योग हो तो, बहुत परमाणुओं का ग्रहण होता है।

तथा एक समय में जो पुद्गल परमाणु ग्रहण करें, उनमें ज्ञानावरणादि मूलप्रकृतियों का और उनकी उत्तरप्रकृतियों का, जैसे—सिद्धान्त में कहा है, वैसे बँटवारा होता है; उस बँटवारे के अनुसार, वे परमाणु उन प्रकृतियोंरूप स्वयं ही परिणमित होते हैं।

विशेष इतना — योग दो प्रकार का है — शुभयोग① व अशुभयोग②। वहाँ धर्म के अंगों में मन-वचन-काय की प्रवृत्ति होनेपर तो शुभयोग③ होता है और अधर्म के अंगों में उनकी प्रवृत्ति होनेपर, अशुभयोग होता है। वहाँ शुभयोग हो या अशुभयोग हो, सम्यक्त्व प्राप्त किये बिना, घातिकर्मों की तो सर्व प्रकृतियों का निरन्तर बन्ध होता ही है; किसी भी समय में प्रकृतियों का बन्ध हुए बिना नहीं रहता। इतना विशेष है कि मोहनीय के हास्य-शोक के युगल में, रति -अरति के युगल में और तीनों वेदों में एक काल में, एक-एक ही प्रकृति का बन्ध होता है।

वहाँ अघातिकर्मों की प्रकृतियों में शुभयोग होनेपर, सातावेदनीयादि पुण्यप्रकृतियों का बन्ध होता है; अशुभयोग होनेपर, असातावेदनीयादि पापप्रकृतियों का बन्ध होता है; मिश्रयोग होनेपर, कितनी ही पुण्यप्रकृतियों का और कितनी ही पापप्रकृतियों का बन्ध होता है।

इस प्रकार योग के निमित्त से, कर्मों का आगमन होता है; इसलिए '**योग**' है, वह '**आस्त्रव**' है तथा उसके द्वारा ग्रहण हुए कर्मपरमाणुओं का नाम, '**प्रदेश**' है; उनका बन्ध हुआ और उनमें मूल -उत्तर प्रकृतियों का विभाग हुआ; इसलिए योगों द्वारा प्रदेशबन्ध व प्रकृतिबन्ध का होना जानना।

कषाय और उसके निमित्त से, स्थिति-अनुभाग बन्ध

वहाँ, मोह के उदय से, **मिथ्यात्व व क्रोधादि भाव होते हैं, उन सबका नाम सामान्यतः 'कषाय' है;** उससे उन कर्मप्रकृतियों की स्थिति बँधती है। वहाँ जितनी स्थिति बँधे, उसमें आबाधाकाल को छोड़कर, उसके पश्चात् जब तक बँधी स्थिति पूर्ण हो, तब तक प्रति समय उन प्रकृतियों का उदय आता ही रहता है। वहाँ देव-मनुष्य-तिर्यंचायु के बिना, अन्य सर्व घाति -अघाति प्रकृतियों का अल्प कषाय होनेपर, अल्प स्थिति बन्ध होता है; बहुत कषाय होनेपर, बहुत स्थितिबन्ध होता है; तथा इन तीन आयु का अल्प कषाय से, बहुत और बहुत कषाय से, अल्प स्थितिबन्ध जानना।

---

①-③ उपलब्ध मूल हस्तलिखित प्रति में प्रारम्भिक १०९ पृष्ठ, आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी के स्वयं के हाथ से लिखे हुए नहीं मिलते, वे प्रतिलिपिकार के द्वारा लिखे प्राप्त होते हैं; अतः उनकी भूलवश तीन स्थलों पर, 'योग' की जगह 'उपयोग' शब्द आया है, जबकि वहाँ ही अन्यत्र 'योग' ही आया है; अतः हमने पूर्ववर्ती सम्पादकों के सम्पादन का अनुसरण करके सर्वत्र 'योग' ही रखा है।

(तथा) उस कषाय द्वारा ही उन कर्मप्रकृतियों में अनुभागशक्ति का विशेष होता है; वहाँ जैसा अनुभागबन्ध हो, वैसा ही उदय काल में उन प्रकृतियों का बहुत या अल्प फल उत्पन्न होता है।

वहाँ घातिकर्मों की सर्व प्रकृतियों में और अघातिकर्मों की पापप्रकृतियों में तो अल्प कषाय होनेपर, अल्प अनुभाग बँधता है; बहुत कषाय होनेपर, बहुत अनुभाग बँधता है; तथा [अघातिकर्मों की] पुण्यप्रकृतियों में अल्प कषाय होनेपर, बहुत अनुभाग बँधता है; बहुत कषाय होनेपर, अल्प अनुभाग बँधता है।

इस प्रकार कषायों द्वारा, कर्मप्रकृतियों के स्थिति-अनुभाग का विशेष हुआ; इसलिए कषायों द्वारा स्थितिबन्ध व अनुभागबन्ध का होना जानना।

यहाँ जैसे—बहुत भी मदिरा है और उसमें थोड़े कालपर्यन्त, थोड़ी उन्मत्तता उत्पन्न करने की शक्ति है तो वह मदिरा, हीनपने को प्राप्त है तथा यदि थोड़ी भी मदिरा है और उसमें बहुत काल-पर्यन्त बहुत उन्मत्तता उत्पन्न करने की शक्ति है तो वह मदिरा, अधिकपने को प्राप्त है; उसी प्रकार बहुत भी कर्मप्रकृतियों के परमाणु हैं और उनमें थोड़े कालपर्यन्त, थोड़ा फल देने की शक्ति है तो वे कर्मप्रकृतियाँ हीनता को प्राप्त हैं तथा थोड़े भी कर्मप्रकृतियों के परमाणु हैं और उनमें बहुत कालपर्यन्त, बहुत फल देने की शक्ति है, तो वे कर्मप्रकृतियाँ अधिकपने को प्राप्त हैं।

इसलिए योगों द्वारा हुए प्रकृतिबन्ध-प्रदेशबन्ध बलवान नहीं हैं, कषायों द्वारा किये गये स्थितिबन्ध-अनुभागबन्ध ही बलवान हैं; **इसलिए मुख्यरूप से [मिथ्यात्व आदि] कषाय को ही बन्ध का कारण जानना; जिन्हें बन्ध नहीं करना हो, वे कषाय नहीं करें।**

ज्ञानहीन जड़-पुद्गलपरमाणुओं का यथायोग्य प्रकृतिरूप परिणमन

अब यहाँ कोई प्रश्न करे – पुद्गलपरमाणु तो जड़ हैं, उन्हें कुछ ज्ञान नहीं है तो वे यथायोग्य प्रकृतिरूप होकर, कैसे परिणमन करते हैं?

उसका समाधान – जैसे—भूख होनेपर, मुख-द्वार से ग्रहण किया हुआ भोजनरूप पुद्गल -पिण्ड माँस-शुक्र-शोणित आदि धातुरूप परिणमित होता है तथा उस भोजन के परमाणुओं में यथायोग्य किसी धातुरूप अल्प और किसी धातुरूप बहुत परमाणु होते हैं; उनमें अनेक परमाणुओं का सम्बन्ध बहुत काल रहता है, अनेक का अल्प काल रहता है तथा उन परमाणुओं में अनेक तो अपने कार्य को उत्पन्न करने की बहुत शक्ति रखते हैं, अनेक अल्प शक्ति रखते हैं। वहाँ ऐसा होने में किसी भोजनरूप पुद्गल पिण्ड को ज्ञान तो नहीं है कि 'मैं इस प्रकार परिणमन करूँ' तथा अन्य कोई परिणमन करानेवाला भी नहीं है – ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक भाव बन रहा है, उससे वैसा ही परिणमन पाया जाता है।

उसी प्रकार कषाय होनेपर, योगद्वार से ग्रहण किया हुआ कर्मवर्गणारूप पुद्गल-पिण्ड, ज्ञानावरणादि प्रकृतिरूप परिणमित होता है तथा उन कर्मपरमाणुओं में यथायोग्य किसी प्रकृतिरूप थोड़े और किसी प्रकृतिरूप बहुत परमाणु होते हैं; उनमें अनेक परमाणुओं का सम्बन्ध बहुत काल रहता है, अनेक का अल्प काल रहता है, तथा उन परमाणुओं में अनेक तो अपने कार्य को उत्पन्न करने की बहुत शक्ति रखते हैं, अनेक अल्प शक्ति रखते हैं। वहाँ ऐसा होने में किसी कर्मवर्गणारूप पुद्गल पिण्ड को ज्ञान तो है नहीं कि 'मैं इस प्रकार परिणमन करूँ' तथा और कोई परिणमन करानेवाला भी नहीं है – ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक भाव बन रहा है, उससे वैसा ही परिणमन पाया जाता है।

– ऐसे तो लोक में निमित्त-नैमित्तिक (सम्बन्ध) बहुत ही बन रहे हैं।

जैसे–मन्त्र निमित्त से, जलादि में रोगादि दूर करने की शक्ति होती है तथा कंकरी आदि में सर्पादि रोकने की शक्ति होती है; उसी प्रकार जीवभाव के निमित्त से, पुद्गलपरमाणुओं में ज्ञानावरणादिरूप शक्ति होती है। यहाँ विचारकर, अपने उद्यम से कार्य करे तो ज्ञान चाहिए, परन्तु वैसा निमित्त बननेपर, स्वयमेव वैसा परिणमन हो तो वहाँ ज्ञान का कुछ प्रयोजन नहीं है।

इस प्रकार 'नवीन बन्ध होने का विधान' जानना।

कर्मों की सत्तारूप अवस्था

अब जो परमाणु, कर्मरूप परिणमित हुए हैं, उनका जब तक उदय काल न आए, तब तक जीव के प्रदेशों से, एकक्षेत्रावगाहरूप बन्धान रहता है। वहाँ जीवभाव के निमित्त से, अनेक प्रकृतियों की अवस्था का पलटना भी हो जाता है। वहाँ अनेक अन्य प्रकृतियों के परमाणु थे, वे संक्रमणरूप होकर, अन्य प्रकृतियों के परमाणुरूप हो जाएँ तथा अनेक प्रकृतियों की स्थिति और अनुभाग बहुत थे, वे अपकर्षण होकर, अल्प हो जाएँ तथा अनेक प्रकृतियों की स्थिति एवं अनुभाग अल्प थे, वे उत्कर्षण होकर, बहुत हो जाएँ।

इस प्रकार पूर्व में बँधे हुए परमाणुओं की भी जीवभावों का निमित्त पाकर, अवस्था पलटती है और निमित्त न बने, तो नहीं पलटती; ज्यों की त्यों रहती है।

इस प्रकार सत्तारूप कर्म रहते हैं।

कर्मों की उदयरूप अवस्था

जब कर्मप्रकृतियों का उदय काल आए, तब स्वयमेव उन प्रकृतियों के अनुभाग के अनुसार, कार्य बनता है; कर्म, उन कार्यों को उत्पन्न नहीं करते। उनका उदय काल आनेपर, वे कार्य, स्वयं बनते हैं; इतना ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध जानना।

तथा जिस समय, फल उत्पन्न होता है, उसके अनन्तर समय में, उन कर्मरूप पुद्गलों में अनुभागशक्ति का अभाव होने से, कर्मत्व का अभाव होता है तथा वे पुद्गल, अन्य पर्यायरूप परिणमित होते हैं; इसका नाम **सविपाक निर्जरा** है।

इस प्रकार प्रति समय उदय में आकर, कर्म खिरते हैं। कर्मत्वपने की नास्ति होने के बाद वे परमाणु, उसी स्कन्ध में रहें या अलग हो जाएँ, कुछ प्रयोजन नहीं रहता।

यहाँ इतना जानना – इस जीव को प्रति समय अनन्त परमाणु बँधते हैं; वहाँ एक समय में बँधे हुए परमाणु, आबाधाकाल को छोड़कर, अपनी स्थिति के जितने समय हों, उनमें क्रम से उदय में आते हैं। तथा बहुत समयों में बँधे परमाणु, जो कि एक समय में उदय आनेयोग्य हैं, वे एकत्रित होकर, उदय में आते हैं। उन सब परमाणुओं का अनुभाग मिलकर, जितना अनुभाग हो जाता है, उतना फल, उस काल में उत्पन्न होता है। तथा अनेक समयों में बँधे परमाणु, बन्ध समय से लेकर, उदय समयपर्यन्त कर्मरूप अस्तित्व को धारण कर, जीव से सम्बन्धरूप रहते हैं।

इस प्रकार कर्मों की बन्ध-उदय-सत्तारूप अवस्था जानना।

वहाँ प्रति समय एक समय प्रबद्धमात्र परमाणु, बँधते हैं तथा एक समय प्रबद्धमात्र निर्जरित होते हैं। डेढ़-गुण-हानि से गुणित समय प्रबद्धमात्र, सदा काल सत्ता में रहते हैं।

– इन सबका विशेष, आगे 'कर्म-अधिकार' में लिखेंगे, वहाँ से जानना। ①

द्रव्यकर्म व भावकर्म का स्वरूप और प्रवृत्ति

– ऐसे यह कर्म है, वह परमाणुरूप अनन्त पुद्गलद्रव्यों से उत्पन्न किया हुआ कार्य है; इसलिए उसका नाम, **द्रव्यकर्म** है। तथा मोह के निमित्त से, मिथ्यात्व व क्रोधादिरूप जीव के परिणाम होते हैं, यह अशुद्धभाव से उत्पन्न किया हुआ कार्य है; इसलिए इसका नाम, **भावकर्म** है।

वहाँ **द्रव्यकर्म के निमित्त से, भावकर्म होता है और भावकर्म के निमित्त से, द्रव्यकर्म का बन्ध होता है; पुनः द्रव्यकर्म से भावकर्म और भावकर्म से द्रव्यकर्म** – ऐसे ही परस्पर कारण-कार्य (निमित्त-नैमित्तिक) भाव से संसारचक्र में परिभ्रमण होता है।

इतना विशेष जानना – तीव्र या मन्द बन्ध होने से या संक्रमणादि होने से या एक काल में बँधे का, अनेक काल में या अनेक काल में बँधे का, एक काल में उदय आने से, किसी काल में तीव्र उदय आता है, तब तीव्र-कषाय होती है, तब तीव्र ही नवीन बन्ध होता है और किसी काल में, मन्द-उदय आता है, तब मन्द-कषाय होती है, तब मन्द ही बन्ध होता है तथा उन तीव्र -मन्द [मिथ्यात्वादि-] कषायों ही के अनुसार, पूर्व में बँधे कर्मों के भी संक्रमणादि होते हों तो हों।

इस प्रकार अनादि से लगाकर, धाराप्रवाहरूप द्रव्यकर्म व भावकर्म की प्रवृत्ति जानना।

---

① यहाँ पण्डित टोडरमलजी ने आगे '**कर्म-अधिकार**' लिखने का भाव व्यक्त किया है, जो पूर्ण नहीं हो सका।

नोकर्म का स्वरूप और प्रवृत्ति

वहाँ नामकर्म के उदय से 'शरीर' होता है, वह द्रव्यकर्मवत् किंचित् सुख-दुःख का कारण है; इसलिए शरीर को **नोकर्म** कहते हैं। यहाँ 'नो' शब्द ईषत्[१] (अल्प) वाचक जानना। यह शरीर, पुद्गल परमाणुओं का पिण्ड है और द्रव्येन्द्रियाँ, द्रव्यमन, श्वासोच्छ्वास और वचन – ये भी शरीर ही के अंग हैं; इसलिए इन्हें भी पुद्गलपरमाणुओं के पिण्ड जानना।

इस प्रकार शरीर के और द्रव्यकर्म के सम्बन्धसहित जीव के एकक्षेत्रावगाहरूप बन्धान होता है; वहाँ इस शरीर का, जन्म समय से लेकर, जितनी आयु की स्थिति हो, उतने काल तक सम्बन्ध रहता है तथा आयु पूर्ण होनेपर, मरण होता है; तब उस शरीर का सम्बन्ध छूटता है, शरीर और आत्मा अलग-अलग हो जाते हैं तथा उसके अनन्तर समय में अथवा दूसरे, तीसरे, चौथे समय में जीव, कर्मोदय के निमित्त से, नवीन शरीर धारण करता है; वहाँ भी अपनी आयुपर्यन्त उसी प्रकार उसका सम्बन्ध रहता है, फिर मरण होता है, तब उससे सम्बन्ध छूटता है – **ऐसे पूर्व शरीर का छोड़ना और नवीन शरीर का ग्रहण करना, अनुक्रम से हुआ करता है।**

यह आत्मा, यद्यपि असंख्यातप्रदेशी है तथापि संकोच-विस्तार शक्ति से शरीरप्रमाण ही रहता है; विशेष इतना कि समुद्घात होनेपर, शरीर से बाहर भी आत्मा के प्रदेश फैलते हैं और अन्तराल समय में जो पूर्व शरीर छोड़ा था, उस प्रमाण रहते हैं।

इस शरीर के अंगभूत, द्रव्येन्द्रियाँ और मन, उनकी सहायता से जीव के जानपने की प्रवृत्ति होती है तथा शरीर की अवस्था के अनुसार, मोह के उदय से जीव, सुखी-दुःखी होता है। तथा कभी तो जीव की इच्छा के अनुसार, शरीर प्रवर्तता है और कभी शरीर की अवस्था के अनुसार, जीव प्रवर्तता है तथा कभी जीव, अन्यथा इच्छारूप प्रवर्तता है और कभी पुद्गल, अन्यथा अवस्थारूप प्रवर्तता है।

इस प्रकार इस नोकर्म की प्रवृत्ति जानना।

नित्य-निगोद और इतर-निगोद

वहाँ प्रथम तो अनादि से ही इस जीव के '**नित्य-निगोद**' रूप शरीर का सम्बन्ध पाया जाता है। वहाँ, नित्य-निगोद शरीर को धारण करके, आयु पूर्ण होनेपर मरकर, फिर नित्य-निगोद शरीर को धारण करता है, फिर आयु पूर्ण करके, मरकर नित्य-निगोद शरीर ही को धारण करता है। इसी प्रकार अनन्तानन्त प्रमाणसहित जीवराशि है, वह अनादि से वहाँ (नित्य-निगोद में) ही जन्म-मरण किया करती है।

---

[१] मूल हस्तलिखित प्रति (पृष्ठ ३६) में यहाँ 'नो ईषत कषाय वाचक' – ऐसा लिखा है, वह 'नोकषाय के समान, अल्प' जैसा समझाने के लिए लिखा प्रतीत होता है। अधिक स्पष्टता के लिए यह विषय, पृष्ठ ४०-४१ पर भी देखें।

वहाँ से छह महीना आठ समय में, छह सौ आठ जीव निकलते हैं, वे निकलकर अन्य पर्यायों को धारण करते हैं। वे पृथ्वी-जल-अग्नि-पवन-प्रत्येक वनस्पतिरूप एकेन्द्रिय पर्यायों में; दो-इन्द्रिय, तीन-इन्द्रिय, चार-इन्द्रियरूप (विकलेन्द्रिय) पर्यायों में अथवा नारक-तिर्यंच -मनुष्य-देवरूप पंचेन्द्रिय पर्यायों में भ्रमण करते हैं। वहाँ कितने ही काल तक भ्रमण कर, फिर निगोदपर्याय को प्राप्त करते हैं, उसका नाम '**इतर-निगोद**' है।

वहाँ कितने ही काल तक रहकर, वहाँ से निकलकर, अन्य पर्यायों में भ्रमण करते हैं; वहाँ परिभ्रमण करने का उत्कृष्ट काल, पृथ्वी आदि स्थावरों में असंख्यात कल्प मात्र है; द्वीन्द्रियादि पंचेन्द्रियपर्यन्त त्रसों में (उत्कृष्ट काल) साधिक दो हजार सागर है और इतर-निगोद में (उत्कृष्ट काल) ढ़ाई पुद्गल परावर्तन मात्र है, जो कि अनन्त काल है।

वहाँ इतर-निगोद से निकलकर, कोई स्थावरपर्याय प्राप्त कर करके, फिर निगोद में जाते हैं – ऐसे एकेन्द्रिय-पर्यायों में उत्कृष्ट परिभ्रमण काल असंख्यात पुद्गलपरावर्तन मात्र है तथा जघन्य काल तो सर्वत्र एक अन्तर्मुहूर्त है – **ऐसे अधिकांशतया तो एकेन्द्रिय-पर्यायों का ही धारण करना होता है; अन्य पर्यायों की प्राप्ति तो काकतालीयन्यायवत् जानना।**

इस प्रकार इस जीव को अनादि ही से कर्मबन्धनरूप रोग हुआ है। 'इति कर्म-बन्धन -निदान-वर्णनम्।' (इस प्रकार **कर्म-बन्ध-निदान का वर्णन,** पूर्ण हुआ।)

कर्मबन्धनरूप रोग के निमित्त से होनेवाली जीव की अवस्था

इस कर्मबन्धनरूप रोग के निमित्त से जीव की कैसी अवस्था हो रही है, उसे कहते हैं –

घातिकर्म के निमित्त से होनेवाली अवस्थाएँ

ज्ञानावरण-दर्शनावरण कर्म के उदय एवं क्षयोपशमजन्य अवस्था

प्रथम तो इस जीव का स्वभाव, '**चैतन्य**' है; वह सबके सामान्य-विशेष स्वरूप को प्रकाशित करनेवाला है। जैसा उनका स्वरूप हो, वैसा अपने को प्रतिभासित हो, उसी का नाम '**चैतन्य**' है। वहाँ सामान्यस्वरूप प्रतिभासित होने का नाम, '**दर्शन**' है; विशेषस्वरूप प्रतिभासित होने का नाम, '**ज्ञान**' है – ऐसे स्वभाव द्वारा त्रिकालवर्ती सर्व गुण-पर्यायसहित, सर्व पदार्थों को प्रत्यक्ष युगपत्, बिना किसी सहायता के देखे-जाने – ऐसी शक्ति आत्मा में सदा काल है परन्तु अनादि ही से, (इस संसारी जीव को) ज्ञानावरण-दर्शनावरण का सम्बन्ध है, उसके निमित्त से इस शक्ति का व्यक्तपना नहीं होता। इन कर्मों के क्षयोपशम से किंचित् मतिज्ञान-श्रुतज्ञान पाया जाता है और कदाचित् अवधिज्ञान भी पाया जाता है; तथा अचक्षुदर्शन पाया जाता है और कदाचित् चक्षुदर्शन व अवधिदर्शन भी पाया जाता है।

वहाँ इन (ज्ञान-दर्शन के भेदों) की भी प्रवृत्ति कैसी होती है? उसे दिखाते हैं –

मतिज्ञान की पराधीन प्रवृत्ति

वहाँ प्रथम तो **मतिज्ञान** है, वह शरीर के अंगभूत जो जीभ-नासिका-आँख-कान -स्पर्शन – ये द्रव्येन्द्रियाँ और हृदय स्थान में आठ पँखुड़ियों के फूले कमल के आकार का द्रव्यमन; इनकी सहायता से ही जानता है।

जिस प्रकार जिसकी दृष्टि मन्द हो, वह अपने नेत्र द्वारा ही देखता है परन्तु चश्मा लगाने पर ही देखता है, बिना चश्मे के नहीं देख सकता; उसी प्रकार (जिस) आत्मा का ज्ञान, मन्द है, वह (यद्यपि) अपने ज्ञान से ही जानता है परन्तु द्रव्येन्द्रिय तथा मन का सम्बन्ध होनेपर ही जानता है; उनके बिना, नहीं जान सकता।

जिस प्रकार नेत्र तो जैसे के तैसे हैं परन्तु चश्मे में कुछ दोष हुआ हो तो नहीं देख सकते अथवा थोड़ा दिखता है या और का और दिखता है; उसी प्रकार अपना क्षयोपशम तो जैसे का तैसा है परन्तु यदि द्रव्येन्द्रिय तथा मन के परमाणु, अन्यथा परिणमित हुए हों तो जान नहीं सकता अथवा थोड़ा जानता है अथवा और का और जानता है क्योंकि द्रव्येन्द्रिय तथा मनरूप परमाणुओं के परिणमन और मतिज्ञान को निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है; इसलिए **उनके परिणमन के अनुसार, ज्ञान का परिणमन होता है।**

उसका उदाहरण – जैसे–मनुष्यादि को बाल-वृद्ध अवस्था में, द्रव्येन्द्रिय तथा मन शिथिल हों, तब जानपना भी शिथिल होता है तथा जैसे-शीत वायु आदि के निमित्त से, स्पर्शनादि इन्द्रियों और मन के परमाणु अन्यथा हों, तब जानना नहीं होता अथवा थोड़ा जानना होता है।

इस (मति) ज्ञान को और बाह्यद्रव्यों को भी, निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध पाया जाता है।

उसका उदाहरण – जैसे–नेत्रइन्द्रिय को अन्धकार के परमाणु अथवा फूला (रोग) आदि के परमाणु या पाषाणादि के परमाणु आड़े आ जाएँ तो देख नहीं सकती तथा लाल काँच आड़ा आ जाए तो सब लाल दिखता है, हरित आड़ा आए तो हरित दिखता है; इस प्रकार अन्यथा जानना होता है। तथा दूरबीन, चश्मा इत्यादि आड़े आ जाएँ तो बहुत दिखने लग जाता है। प्रकाश, जल, हिलव्वी काँच इत्यादि के परमाणु आड़े आएँ तो भी जैसे का तैसा दिखता है।

इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों तथा मन के भी यथासम्भव जानना। मन्त्रादि के प्रयोग से अथवा मदिरा-पानादि से अथवा भूतादि के निमित्त से, नहीं जानना या थोड़ा जानना या अन्यथा जानना होता है।

– ऐसे यह ज्ञान, बाह्यद्रव्य के भी आधीन जानना।

इस ज्ञान द्वारा जो जानना होता है, वह अस्पष्ट जानना होता है; दूर से कैसा ही जानता है, समीप से कैसा ही जानता है; तत्काल कैसा ही जानता है, जानने में बहुत देर हो

जाए तो कैसा ही जानता है; किसी को संशयसहित जानता है, किसी को अन्यथा जानता है, किसी को किंचित् जानता है, इत्यादिरूप से निर्मल जानना नहीं हो सकता है।

इस प्रकार यह मतिज्ञान, पराधीनतासहित, इन्द्रिय-मन द्वार से प्रवर्तता है।

वहाँ इन्द्रियों द्वारा तो जितने क्षेत्र का विषय हो, उतने क्षेत्र में जो वर्तमान, स्थूल, अपने जाननेयोग्य, पुद्गलस्कन्ध हों, उन्हीं को जानता है; उनमें भी अलग-अलग **इन्द्रियों द्वारा**, अलग -अलग काल में, किसी स्कन्ध के **स्पर्शादि का जानना होता है।**

मन द्वारा अपने जाननेयोग्य, किंचित्मात्र त्रिकालसम्बन्धी दूर क्षेत्रवर्ती अथवा समीप क्षेत्रवर्ती, रूपी-अरूपी द्रव्यों और पर्यायों को अत्यन्त अस्पष्टरूप से जानता है; वह भी इन्द्रियों द्वारा जिसका ज्ञान हुआ हो अथवा जिसका अनुमानादि किया हो, उस ही को जान सकता है।

कदाचित् अपनी कल्पना ही से असत् को जानता है; जैसे—स्वप्न में अथवा जागते हुए भी, जो कदाचित् कहीं नहीं पाये जाते—ऐसे आकारादि का चिन्तवन करता है और 'जैसे वे नहीं हैं, वैसे मानता है।' — **ऐसे मन द्वारा जानना होता है।**

इस प्रकार यह इन्द्रियों व मनद्वार से जो ज्ञान होता है, उसका नाम 'मतिज्ञान' है।

वहाँ पृथ्वी-जल-अग्नि-पवन-वनस्पतिरूप एकेन्द्रिय (जीवों) को स्पर्श ही का ज्ञान है; लट-शंख आदि दो इन्द्रिय जीवों को स्पर्श-रस का ज्ञान है; कीड़ी-मकोड़ा आदि तीन इन्द्रिय जीवों को स्पर्श-रस-गन्ध का ज्ञान है; भ्रमर-मक्षिका-पतंग आदि चार इन्द्रिय जीवों को स्पर्श -रस-गन्ध-वर्ण का ज्ञान है; मच्छ-गाय-कबूतर इत्यादि तिर्यंच और मनुष्य-देव-नारकी—ये पंचेन्द्रिय हैं; उनको स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-शब्द का ज्ञान है तथा तिर्यंचों में अनेक संज्ञी हैं, अनेक असंज्ञी हैं; वहाँ संज्ञियों के मनजनित ज्ञान है, असंज्ञियों को नहीं है तथा मनुष्य-देव -नारकी, संज्ञी ही हैं, उन सबको मनजनित ज्ञान पाया जाता है।

— ऐसे मतिज्ञान की प्रवृत्ति जानना।

श्रुतज्ञान की पराधीन प्रवृत्ति

अब, मतिज्ञान द्वारा जिस अर्थ को जाना हो, उसके सम्बन्ध से, अन्य अर्थ को जिसके द्वारा जानता है, वह **श्रुतज्ञान** है। वह दो प्रकार का है — १. अक्षरात्मक, २. अनक्षरात्मक।

जैसे—'घट'— ये दो अक्षर सुने या देखे, वह तो मतिज्ञान हुआ; उनके सम्बन्ध से, घटपदार्थ का जानना हुआ, वह **श्रुतज्ञान** है — ऐसे अन्य भी जानना। सो यह तो **अक्षरात्मक श्रुतज्ञान** है।

तथा जैसे — स्पर्श द्वारा शीत का जानना हुआ, वह तो मतिज्ञान है; उसके सम्बन्ध से, 'यह हितकारी नहीं है; इसलिए भाग जाना' इत्यादिरूप ज्ञान हुआ, वह **श्रुतज्ञान** है — ऐसे अन्य भी जानना। यह **अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान** है।

वहाँ एकेन्द्रियादि असंज्ञी जीवों को तो अनक्षरात्मक ही श्रुतज्ञान है और संज्ञी पंचेन्द्रियों को दोनों हैं। यह श्रुतज्ञान है, वह अनेक प्रकार से पराधीन – ऐसे मतिज्ञान के भी आधीन है तथा अन्य अनेक कारणों के आधीन है; इसलिए इसे **महा-पराधीन** जानना।

अवधिज्ञान-मन:पर्ययज्ञान-केवलज्ञान की प्रवृत्ति

अब, अपनी मर्यादा के अनुसार, क्षेत्र-काल का प्रमाण लेकर, रूपीपदार्थों को स्पष्टरूप से जिसके द्वारा जाना जाता है, वह **अवधिज्ञान** है। वह, देव-नारिकयों में तो सबको पाया जाता है और संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच व मनुष्यों में भी किसी को पाया जाता है। असंज्ञीपर्यन्त जीवों के यह होता ही नहीं है **लेकिन यह भी, शरीरादि पुद्गलों के आधीन है।**

अवधि के तीन भेद हैं – १. देशावधि, २. परमावधि, ३. सर्वावधि।

वहाँ इनमें भी अल्प क्षेत्र व काल की मर्यादा लेकर, किंचित्मात्र रूपीपदार्थों को जाननेवाला **देशावधि** है, वह भी किसी-किसी जीव को होता है।

परमावधि, सर्वावधि और **मन:पर्यय** – ये ज्ञान, मोक्षमार्ग में ही प्रगट होते हैं। **केवलज्ञान,** मोक्षस्वरूप है; इसलिए इस अनादि संसार-अवस्था में इनका सद्भाव ही नहीं है।

इस प्रकार तो ज्ञान की प्रवृत्ति पायी जाती है।

चक्षुदर्शन-अचक्षुदर्शन-अवधिदर्शन-केवलदर्शन की प्रवृत्ति

अब, इन्द्रिय अथवा मन को स्पर्शादि विषयों का सम्बन्ध होनेपर, सर्व प्रथम काल में, मतिज्ञान से पूर्व जो सत्तामात्र अवलोकनरूप प्रतिभास होता है, उसका नाम, **चक्षुदर्शन** अथवा **अचक्षुदर्शन** है।

वहाँ नेत्रइन्द्रिय द्वारा दर्शन होने का नाम तो **चक्षुदर्शन** है; वह तो चौ-इन्द्रिय – पंचेन्द्रिय जीवों को ही होता है। स्पर्शन-रसना-घ्राण-श्रोत्र – इन चार इन्द्रियों और मन द्वारा जो दर्शन होता है, उसका नाम, **अचक्षुदर्शन** है; वह यथायोग्य एकेन्द्रियादि (सभी संसारी) जीवों को होता है।

अवधि के विषयों का सम्बन्ध होनेपर, अवधिज्ञान के पूर्व जो सत्तामात्र अवलोकनरूप प्रतिभास होता है, उसका नाम '**अवधिदर्शन**' है; यह (अवधिदर्शन), जिनके अवधिज्ञान होता है, उन्हीं को होता है।

ये चक्षु-अचक्षु-अवधिदर्शन हैं, वे मतिज्ञान व अवधिज्ञानवत् पराधीन जानना।

केवलदर्शन, मोक्षस्वरूप है, उसका यहाँ (अल्पज्ञ अवस्था में) सद्भाव ही नहीं है।

इस प्रकार दर्शन का सद्भाव पाया जाता है।

क्षायोपशमिक ज्ञान-दर्शन की सामान्य प्रवृत्ति

इस प्रकार ज्ञान-दर्शन का सद्भाव, ज्ञानावरण-दर्शनावरण के क्षयोपशम के अनुसार होता है। जब क्षयोपशम अल्प होता है, तब ज्ञान-दर्शन की शक्ति, अल्प होती है; जब बहुत होता है, तब बहुत होती है। तथा 'क्षयोपशम से शक्ति तो ऐसी बनी रहती है परन्तु परिणमन (उपयोग) द्वारा, एक जीव को एक काल में, एक विषय का ही देखना अथवा जानना होता है।'

इस परिणमन ही का नाम **उपयोग** है। वहाँ एक जीव को, एक काल में या तो **ज्ञानोपयोग** होता है या **दर्शनोपयोग** होता है। तथा एक उपयोग के भी, एक भेद की (ही) प्रवृत्ति होती है; जैसे—मतिज्ञान हो, तब अन्य ज्ञान नहीं होता। तथा एक भेद में भी, एक विषय में ही प्रवृत्ति होती है; जैसे—स्पर्श को जानता है, तब रसादि को नहीं जानता। तथा एक विषय में भी, उसके किसी एक अंग में ही प्रवृत्ति होती है; जैसे—उष्णस्पर्श को जानता है, तब रूक्षादि को नहीं जानता।

इस प्रकार एक जीव को, एक काल में, एक ज्ञेय अथवा दृश्य में, ज्ञान अथवा दर्शन का परिणमन जानना – ऐसा ही दिखायी देता है। जब सुनने में उपयोग लगा हो, तब नेत्र के समीप स्थित पदार्थ भी नहीं दिखता। इसी प्रकार अन्य प्रवृत्ति देखी जाती है।

यद्यपि परिणमन (उपयोग) में शीघ्रता बहुत है, इससे किसी काल में ऐसा मान लेते हैं कि युगपत् भी अनेक विषयों का जानना अथवा देखना होता है किन्तु युगपत् होता नहीं है, क्रम से ही होता है; संस्कार बल से उनका साधन रहता है; जैसे—कौए के नेत्र में दो गोलक हैं, पुतली एक है, वह फिरती शीघ्र है, उससे दोनों गोलकों का साधन करती है; उसी प्रकार इस जीव के द्वार तो अनेक हैं और उपयोग एक है, वह फिरता शीघ्र है, उससे सर्व द्वारों का साधन रहता है।

यहाँ प्रश्न – एक काल में एक विषय का जानना अथवा देखना होता है तो इतना ही क्षयोपशम हुआ कहो; बहुत क्यों कहते हो और तुम कहते हो कि **क्षयोपशम से शक्ति होती है तो शक्ति तो आत्मा में केवलज्ञान-केवलदर्शन की भी पायी जाती है ?**

उसका समाधान – जैसे—किसी पुरुष की, बहुत ग्रामों में गमन करने की शक्ति है, उसे किसी ने रोका और यह कहा—'पाँच ग्रामों में जाओ, परन्तु एक दिन में एक ग्राम जाओ।'

वहाँ उस पुरुष के बहुत ग्रामों में जाने की शक्ति तो द्रव्य अपेक्षा पायी जाती है, [अर्थात्] अन्य काल में सामर्थ्य हो, परन्तु वर्तमान सामर्थ्यरूप नहीं है क्योंकि वर्तमान में पाँच ग्रामों से अधिक ग्रामों में गमन नहीं कर सकता। इस प्रकार पाँच ग्रामों में जाने की पर्याय अपेक्षा, वर्तमान सामर्थ्यरूप शक्ति है क्योंकि उनमें गमन कर सकता है तथा व्यक्तता, एक दिन में, एक ग्राम को गमन करने ही की पायी जाती है।

उसी प्रकार इस जीव की सर्व को देखने-जानने की शक्ति है लेकिन उसे कर्म ने रोका (निमित्त हुआ) और इतना क्षयोपशम हुआ कि स्पर्शादि विषयों को देखो या जानो, परन्तु एक काल में एक ही को देखो या जानो। वहाँ इस जीव को सर्व को देखने-जानने की शक्ति तो द्रव्य -अपेक्षा पायी जाती है; अन्य काल में सामर्थ्य (व्यक्तता) होगी, परन्तु वर्तमान सामर्थ्यरूप नहीं है क्योंकि अपनेयोग्य विषयों से अधिक विषयों को देख-जान नहीं सकता, तथा अपनेयोग्य विषयों को देखने-जानने की पर्याय-अपेक्षा, वर्तमान सामर्थ्य (लब्धि) रूप शक्ति है क्योंकि उन्हें देख -जान सकता है परन्तु व्यक्तता, एक काल में, एक ही को देखने या जानने की पायी जाती है।

यहाँ फिर प्रश्न – ऐसे तो जाना, परन्तु क्षयोपशम तो पाया जाता है परन्तु बाह्य इन्द्रियादि का अन्यथा निमित्त होनेपर, देखना-जानना नहीं होता या थोड़ा होता है या अन्यथा होता है; अत: ऐसा होने में कर्म ही का निमित्त तो नहीं रहा?

उसका समाधान – जैसे–रोकनेवाले ने यह कहा कि पाँच ग्रामों में से एक ग्राम को, एक दिन में जाओ, परन्तु इन किंकरों (दास) को साथ लेकर जाओ; वहाँ वे किंकर अन्यथा परिणमित हों तो जाना न हो (या छोटा जाना हो) या अन्यथा जाना हो; उसी प्रकार कर्म का ऐसा ही क्षयोपशम हुआ है कि इतने विषयों में से एक विषय को एक काल में देखो या जानो, परन्तु इतने बाह्यद्रव्यों का निमित्त होनेपर, देखो-जानो। वहाँ वे बाह्यद्रव्य, अन्यथा परिणमित हों तो देखना-जानना न हो या थोड़ा हो या अन्यथा हो–ऐसा यह कर्म के क्षयोपशम ही का विशेष है; इसलिए कर्म ही का निमित्त जानना। जैसे–किसी को अन्धकार के परमाणु आड़े आनेपर, देखना नहीं हो; उल्लू, बिल्ली आदि को उनके आड़े आनेपर भी देखना होता है–ऐसा यह क्षयोपशम ही का विशेष है। जैसा-जैसा क्षयोपशम होता है, वैसा-वैसा ही देखना—जानना होता है।

इस प्रकार इस जीव के क्षयोपशमज्ञान (व दर्शन) की प्रवृत्ति पायी जाती है।

मोक्षमार्ग में **अवधि-मन:पर्यय ज्ञान** होते हैं, वे भी क्षयोपशमज्ञान ही हैं, उनको भी इसी प्रकार एक काल में, एक को प्रतिभासित (उपयोगरूप) करना, तथा परद्रव्य का आधीनपना जानना। तथा जो विशेष है, उसे विशेष जानना।

इस प्रकार ज्ञानावरण-दर्शनावरण के उदय के निमित्त से, ज्ञान-दर्शन के बहुत अंशों का तो अभाव है और उनके क्षयोपशम से अल्प अंशों का सद्भाव पाया जाता है।

मोहनीयकर्मोदयजन्य अवस्था

इस जीव को मोह के उदय से, **मिथ्यात्व और कषायभाव** होते हैं –

दर्शनमोहरूप जीव की अवस्था

वहाँ दर्शनमोह के उदय से तो **मिथ्यात्वभाव** होता है; उससे यह जीव, अन्यथा प्रतीतिरूप अतत्त्वश्रद्धान करता है अर्थात् **जैसा है, वैसा तो नहीं मानता और जैसा नहीं है, वैसा मानता है।**

''अमूर्तिक प्रदेशों का पुंज, प्रसिद्ध ज्ञानादि गुणों का धारी, अनादिनिधन, वस्तु 'आप' (स्व) है और मूर्तिक पुद्गलद्रव्यों का पिण्ड, प्रसिद्ध ज्ञानादि से रहित[१] (स्पर्शादि सहित), जिनका नवीन संयोग हुआ है — ऐसे शरीरादि पुद्गल 'पर' हैं।''

इनके संयोगरूप नाना प्रकार की मनुष्य-तिर्यंच आदि पर्यायें होती हैं, उन पर्यायों में (यह जीव), अहंबुद्धि धारण करता है; स्व-पर का भेद नहीं कर सकता; जो पर्याय प्राप्त करता है, उस ही को आप मानता है।

उस पर्याय में **ज्ञानादि** हैं, वे तो अपने **गुण** हैं और **रागादि** हैं, वे अपने को कर्मनिमित्त से हुए, **औपाधिकभाव** हैं तथा **वर्णादि** हैं, वे शरीरादि **पुद्गल के गुण** हैं और शरीरादि में वर्णादि तथा परमाणुओं का नाना प्रकार पलटना होता है, वह **पुद्गल की अवस्था** है, फिर भी इन सब ही को अपना स्वरूप जानता है; उसे **स्वभाव-परभाव का विवेक** नहीं हो सकता है।

यद्यपि उन मनुष्यादि पर्यायों में, कुटुम्ब-धनादि का सम्बन्ध होता है, वे प्रत्यक्ष अपने से भिन्न हैं और वे अपने आधीन परिणमित नहीं होते, तथापि उनमें ममकार करता है—'ये मेरे हैं।' 'वे किसी प्रकार भी अपने होते नहीं'—यह ही अपनी मान्यता से ही, अपने मानता है।

वहाँ मनुष्यादि पर्यायों में कदाचित् देवादि का या तत्त्वों का अन्यथा स्वरूप 'जो कल्पित किया', उसकी तो प्रतीति करता है परन्तु **'यथार्थस्वरूप जैसा है, वैसी प्रतीति नहीं करता।'**

इस प्रकार दर्शनमोह के उदय से, जीव को अतत्त्वश्रद्धानरूप मिथ्यात्वभाव होता है। जहाँ तीव्र उदय होता है, वहाँ सत्य श्रद्धान से, बहुत विपरीत श्रद्धान होता है; जब मन्द उदय होता है, तब सत्य श्रद्धान से, थोड़ा विपरीत श्रद्धान होता है।

चारित्रमोहरूप जीव की अवस्था

वहाँ चारित्रमोह के उदय से, इस जीव को **कषायभाव** होता है, तब यह देखते-जानते हुए भी, पर-पदार्थों में इष्ट-अनिष्टपना मानकर, क्रोधादि करता है।

क्रोध का उदय होनेपर, पदार्थों में अनिष्टपना मानकर, उनका बुरा चाहता है। कोई मन्दिरादि अचेतनपदार्थ बुरे लगें, तब तोड़ने-फोड़ने इत्यादिरूप से, उनका बुरा चाहता है तथा शत्रु आदि सचेतनपदार्थ बुरे लगें, तब उन्हें वध-बन्धनादि से या मारने से, दुःख उत्पन्न करके, उनका बुरा चाहता है। तथा आप अथवा अन्य सचेतन-अचेतन पदार्थ, किसी

---

[१] स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णादि गुणों से सहित

प्रकार परिणमित हुए, अपने को वह परिणमन बुरा लगा, तब उन्हें अन्यथा परिणमित कराके, उस परिणमन का बुरा चाहता है। **इस प्रकार क्रोध से बुरा चाहने की इच्छा तो होती है परन्तु बुरा होना, भवितव्य के आधीन है।**

मान का उदय होनेपर, किसी पदार्थ में अनिष्टपना मानकर, उसे नीचा करना चाहता है, स्वयं ऊँचा होना चाहता है; मल-धूल आदि अचेतनपदार्थों में घृणा तथा निरादर आदि से उनकी हीनता व अपनी उच्चता चाहता है। तथा पुरुषादि सचेतनपदार्थों को झुकाना, अपने आधीन करना, इत्यादिरूप से, 'उनकी हीनता व अपनी उच्चता' चाहता है। तथा स्वयं लोक में जैसे उच्च दिखे, वैसे शृंगारादि करना तथा धन खर्च करना इत्यादिरूप से, औरों को हीन दिखाकर, स्वयं उच्च होना चाहता है। तथा अन्य कोई अपने से उच्च कार्य करे, उसे किसी उपाय से नीचा दिखाता है और स्वयं नीचा कार्य करे, उसे उच्च दिखाता है। **इस प्रकार मान से, अपनी महन्तता की इच्छा तो होती है परन्तु महन्तता होना, भवितव्य के आधीन है।**

माया का उदय होनेपर, किसी पदार्थ को इष्ट मानकर, नाना प्रकार के छल द्वारा उसकी सिद्धि करना चाहता है। रत्न-सुवर्णादि अचेतनपदार्थों की तथा स्त्री-दासी-दास आदि सचेतन-पदार्थों की सिद्धि के लिए, अनेक छल करता है। ठगने के लिए अपनी अनेक अवस्थाएँ करता है तथा अन्य अचेतन-सचेतन पदार्थों की अवस्था, बदलता है इत्यादिरूप छल से अपना अभिप्राय सिद्ध करना चाहता है। **इस प्रकार माया से इष्ट-सिद्धि के अर्थ, छल तो करता है परन्तु इष्ट-सिद्धि होना; भवितव्य के आधीन है।**

लोभ का उदय होनेपर, पदार्थों को इष्ट मानकर, उनकी प्राप्ति करना चाहता है। वस्त्र -आभूषण, धन-धान्य आदि अचेतनपदार्थों की तृष्णा होती है तथा स्त्री-पुत्र आदि चेतनपदार्थों की तृष्णा होती है। तथा अपने को या अन्य सचेतन-अचेतन पदार्थों को, कोई परिणमन होना इष्ट मानकर, उन्हें उस परिणमनरूप परिणमित करना चाहता है। **इस प्रकार लोभ से इष्ट प्राप्ति की इच्छा तो होती है परन्तु इष्ट प्राप्ति होना, भवितव्य के आधीन है।**

— ऐसे क्रोधादि के उदय से आत्मा, परिणमित होता है।

वहाँ ये **कषाय,** चार प्रकार की हैं—अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन। वहाँ [जिनका उदय होनेपर आत्मा को सम्यक्त्व तथा स्वरूपाचरणचारित्र (सम्यक्त्वाचरणचारित्र) नहीं होता, वे **अनन्तानुबन्धीकषाय** हैं।] ® जिनका उदय होनेपर,

® यह पंक्ति मूल हस्तलिखित प्रति के प्रतिलिपिकार के पृष्ठों में नहीं है परन्तु प्रकरण के अनुसार जानकर, उसे कोष्ठक में रखा है।

देशचारित्र नहीं होता; इसलिए किंचित् त्याग भी नहीं हो सकता, वे **अप्रत्याख्यानावरणकषाय** हैं। जिनका उदय होनेपर, सकलचारित्र नहीं होता; इसलिए सर्व का त्याग नहीं हो सकता, वे **प्रत्याख्यानावरणकषाय** हैं। तथा जिनका उदय होनेपर, सकलचारित्र में दोष उत्पन्न होते रहते हैं; इसलिए यथाख्यातचारित्र नहीं हो सकता, वे **संज्वलनकषाय** हैं।

अनादि संसार–अवस्था में, इन चारों कषायों का ही निरन्तर उदय पाया जाता है। जहाँ परम कृष्णलेश्यारूप तीव्रकषाय हो, वहाँ भी, और जहाँ शुक्ललेश्यारूप मन्दकषाय हो, वहाँ भी; निरन्तर इन चारों का ही उदय रहता है क्योंकि तीव्र–मन्द की अपेक्षा, अनन्तानुबन्धी आदि भेद नहीं हैं; सम्यक्त्वादि का घात करने की अपेक्षा, ये भेद हैं। इन्हीं प्रकृतियों का तीव्र अनुभाग उदय होनेपर, तीव्र क्रोधादि होते हैं; मन्द अनुभाग उदय होनेपर, मन्द (क्रोधादि) होते हैं।

मोक्षमार्ग होनेपर, इन चारों में से (उत्तरोत्तर) तीन–दो–एक का उदय होता है, पश्चात् चारों का अभाव हो जाता है।

वहाँ क्रोधादि चारों कषायों में से, एक काल में एक ही का उदय होता है। इन कषायों का परस्पर कारण–कार्यपना है–क्रोध से मानादि हो जाते हैं, मान से क्रोधादि हो जाते हैं; इसलिए किसी काल में भिन्नता भासित होती है और किसी काल में भासित नहीं होती।

– ऐसे 'कषायरूप' परिणमन जानना।

तथा चारित्रमोह के ही उदय से, **नोकषाय** होती हैं; वहाँ **हास्य** के उदय से, कहीं इष्टपना मानकर, प्रफुल्लित होता है, हर्ष मानता है। **रति** के उदय से, किसी को इष्ट मानकर, प्रीति करता है, वहाँ आसक्त होता है। **अरति** के उदय से, किसी को अनिष्ट मानकर, अप्रीति करता है, वहाँ उद्वेगरूप होता है। **शोक** के उदय से, कहीं अनिष्टपना मानकर, दिलगीर होता है, विषाद मानता है। **भय** के उदय से, किसी को अनिष्ट मानकर, उससे डरता है, उसका संयोग नहीं चाहता। तथा **जुगुप्सा** के उदय से, किसी पदार्थ को अनिष्ट मानकर, उससे घृणा करता है, उसका वियोग चाहता है। **इस प्रकार ये हास्यादि छह (नोकषाय) जानना।**

इनमें **वेदों** के उदय से, कामपरिणाम होते हैं। वहाँ **स्त्रीवेद** के उदय से, पुरुष के साथ रमण करने की इच्छा होती है; **पुरुषवेद** के उदय से, स्त्री के साथ रमण करने की इच्छा होती है तथा **नपुंसकवेद** के उदय से, युगपत् दोनों के साथ रमण करने की इच्छा होती है।

– ऐसे ये नौ तो 'नोकषायें' हैं।

ये क्रोधादि के समान, बलवान नहीं हैं; इसलिए इन्हें 'ईषत् कषाय' कहते हैं। यहाँ 'नो' शब्द 'ईषत्' वाचक जानना; इनका उदय, उन क्रोधादि के साथ यथासम्भव होता है।

इस प्रकार मोह के उदय से, मिथ्यात्व और कषायभाव होते हैं।

– ये ही संसार के मूलकारण हैं; इन्हीं से वर्तमान काल में, जीव दु:खी है और ये ही आगामी कर्मबन्ध के भी कारण हैं तथा इन्हीं का नाम, **राग-द्वेष-मोह** है।

वहाँ **मिथ्यात्व** का नाम, '**मोह**' है क्योंकि यहाँ सावधानी का अभाव है। तथा माया -लोभ कषाय एवं हास्य-रति और तीन वेदों का नाम '**राग**' है क्योंकि वहाँ इष्टबुद्धि होने से, अनुराग पाया जाता है। तथा क्रोध-मान कषाय और अरति-शोक-भय-जुगुप्सा का नाम, '**द्वेष**' है क्योंकि वहाँ अनिष्टबुद्धि होने से, द्वेष पाया जाता है।

सामान्यत: सभी का नाम, 'मोह' है; इसलिए इनमें सर्वत्र असावधानी पायी जाती है।

अन्तरायकर्म के उदय एवं क्षयोपशमजन्य अवस्था

अन्तराय के उदय से जीव, 'जो चाहता है, वह नहीं होता'; दान देना चाहता है, वह नहीं दे सकता; वस्तु की प्राप्ति (लाभ) चाहता है, वह नहीं होती; भोग करना चाहता है, वह नहीं होता; उपभोग करना चाहता है, वह नहीं होता; अपनी ज्ञानादि शक्ति (वीर्य) को प्रगट करना चाहता है, वह प्रगट नहीं हो सकती।

इस प्रकार अन्तराय के **उदय** से, 'जो चाहता है, वह नहीं होता;'

वहाँ उसी के **क्षयोपशम** से चाहा हुआ भी किंचित्मात्र होता है। चाह तो बहुत है परन्तु किंचित्मात्र दान दे सकता है; लाभ होता है, (भोग होता है, उपभोग होता है), ज्ञानादि शक्ति प्रगट होती है; वहाँ भी अनेक बाह्यकारण चाहिए।

इस प्रकार घाति कर्मों के उदय (व क्षयोपशम आदि) से, जीव की अवस्था होती है।

अघातिकर्म के निमित्त से होनेवाली अवस्थाएँ

वेदनीयकर्मोदयजन्य अवस्था

अघातिकर्मों में वेदनीय के उदय से, शरीर में बाह्य सुख-दु:ख के कारण उत्पन्न होते हैं। शरीर में आरोग्यपना, शक्तिवानपना इत्यादि तथा क्षुधा-तृषा-रोग-खेद-पीड़ा इत्यादि, सुख -दु:ख के कारण होते हैं। बाह्य में सुहावने ऋतु-पवनादि, इष्ट स्त्री-पुत्रादि व मित्र, धनादि तथा असुहावने ऋतु-पवनादि, अनिष्ट स्त्री-पुत्रादि व शत्रु-दारिद्र्य-वध-बन्धनादि सुख-दु:ख के कारण होते हैं।

ये जो बाह्यकारण कहे हैं, उनमें कितने कारण तो ऐसे हैं, जिनके निमित्त से, शरीर की अवस्थाएँ, सुख-दु:ख को कारण होती हैं – ऐसे वे (बाह्यकारण) ही सुख-दु:ख के कारण होते हैं तथा कितने कारण ऐसे हैं, जो स्वयं ही सुख-दु:ख को कारण होते हैं – ऐसे कारणों का मिलना, वेदनीय के उदय से होता है। वहाँ सातावेदनीय से, सुख के कारण मिलते हैं और असातावेदनीय से, दु:ख के कारण मिलते हैं।

यहाँ ऐसा जानना – मात्र ये कारण ही सुख-दुःख को उत्पन्न नहीं करते; **आत्मा, मोहकर्म के उदय से, स्वयं सुख-दुःख मानता है।** वहाँ वेदनीयकर्म के उदय का और मोहकर्म के उदय का ऐसा ही सम्बन्ध है—जब सातावेदनीय से उत्पन्न बाह्यकारण मिलता है, तब तो सुख माननेरूप मोहकर्म का उदय होता है और जब असातावेदनीय से उत्पन्न बाह्यकारण मिलता है, तब दुःख माननेरूप मोहकर्म का उदय होता है।

वहाँ एक ही कारण किसी को सुख का, किसी को दुःख का कारण होता है।

जैसे—किसी को सातावेदनीय का उदय होनेपर, मिला हुआ जैसा वस्त्र सुख का कारण होता है; वैसा ही वस्त्र, किसी को असातावेदनीय का उदय होनेपर मिला, तो वह दुःख का कारण होता है; इसलिए बाह्यवस्तु, सुख-दुःख का निमित्तमात्र होती है। सुख-दुःख होता है, वह मोह के निमित्त से होता है।

यद्यपि निर्मोही मुनियों को अनेक ऋद्धि आदि तथा परीषहादि कारण मिलते हैं तथापि सुख-दुःख उत्पन्न नहीं होता। मोही जीव को, कारण मिलनेपर अथवा बिना कारण मिले भी, अपने संकल्प ही से, सुख-दुःख हुआ ही करता है। वहाँ भी तीव्रमोही को, जिस कारण के मिलनेपर, तीव्र सुख-दुःख होते हैं, वही कारण मिलनेपर, मन्दमोही को, मन्द सुख-दुःख होते हैं।

इसलिए सुख-दुःख का मूल बलवान कारण, मोह का उदय है।

अन्य (बाह्य) वस्तुएँ हैं, वे बलवान कारण नहीं हैं परन्तु अन्य वस्तुओं के और मोही जीव के परिणामों के, निमित्त-नैमित्तिक (सम्बन्ध) की मुख्यता पायी जाती है; उससे मोही जीव, अन्य वस्तुओं ही को सुख-दुःख का कारण मानता है।

इस प्रकार वेदनीय (कर्म के निमित्त) से, सुख-दुःख का कारण उत्पन्न होता है।

आयुकर्मोदयजन्य अवस्था

आयुकर्म के उदय से, **मनुष्यादि पर्यायों की स्थिति** रहती है। जब तक आयु का उदय रहता है, तब तक अनेक रोगादि कारण मिलनेपर भी, शरीर से सम्बन्ध नहीं छूटता। तथा जब आयु का उदय न हो, तब अनेक उपाय करनेपर भी, शरीर से सम्बन्ध नहीं रहता; उसी समय आत्मा और शरीर, पृथक् हो जाते हैं।

इस संसार में जन्म-जीवन-मरण का कारण, आयुकर्म ही है। जब नवीन आयु का उदय होता है, तब नवीन पर्याय में **जन्म** होता है; जब तक आयु का उदय रहे, तब तक उस पर्यायरूप प्राणों के धारण से, **जीवन** होता है तथा आयु का क्षय हो, तब उस पर्यायरूप प्राण छूटने से, **मरण** होता है—ऐसा आयुकर्म का निमित्त सहज ही है; दूसरा कोई उत्पन्न करनेवाला, क्षय करनेवाला या रक्षा करनेवाला है नहीं—ऐसा निश्चय जानना।

जैसे—कोई (मनुष्य), नवीन वस्त्र पहिनता है, कुछ काल तक पहिने रहता है, फिर उसको छोड़कर, अन्य वस्त्र पहिनता है; उसी प्रकार जीव, नवीन शरीर धारण करता है, कुछ काल तक धारण किये रहता है, फिर उसको छोड़कर, अन्य शरीर धारण करता है; इसलिए शरीर-सम्बन्ध की अपेक्षा, जन्मादि हैं। **जीव, जन्मादिरहित नित्य ही है** तथापि मोही जीव को अतीत -अनागत का विचार नहीं है; इसलिए प्राप्त पर्यायमात्र ही अपनी स्थिति मानकर, पर्यायसम्बन्धी कार्यों में ही तत्पर हो रहा है।

इस प्रकार आयु से पर्याय की स्थिति जानना।

नामकर्मोदयजन्य अवस्था

नामकर्म से यह जीव, मनुष्यादि गतियों को प्राप्त होता है; उस पर्यायरूप अपनी अवस्था होती है। वहाँ त्रस, स्थावरादि विशेष उत्पन्न होते हैं, वहाँ एकेन्द्रियादि जाति को धारण करता है - इस जातिकर्म के उदय को और मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम को, निमित्त-नैमित्तिकपना जानना; जैसा क्षयोपशम हो, वैसी जाति प्राप्त करता है।

जहाँ शरीरों का सम्बन्ध होता है, वहाँ शरीर के परमाणु और आत्मा के प्रदेशों का एक -बन्धान होता है तथा संकोच-विस्तारूप होकर, शरीर-प्रमाण आत्मा रहता है। नोकर्मरूप शरीर में अंगोपांगादि के योग्य स्थान, प्रमाणसहित होते हैं; इसी से स्पर्शन-रसना आदि द्रव्येन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं तथा हृदयस्थान में आठ पँखुड़ियों के फूले हुए कमल के आकार का द्रव्यमन होता है।

उस शरीर में ही आकारादि का विशेष होना, वर्णादि का विशेष होना, स्थूल-सूक्ष्मत्वादि का होना इत्यादि कार्य, उत्पन्न होते हैं; इस प्रकार ये शरीररूप परिणमित हुए परमाणु - ऐसे परिणमते हैं।

इसी से श्वासोच्छ्वास और स्वर उत्पन्न होते हैं, वे भी पुद्गल के पिण्ड हैं और शरीर से एक बन्धानरूप हैं, इनमें भी आत्मा के प्रदेश, व्याप्त हैं। वहाँ श्वासोच्छ्वास तो पवन है, वह जैसे—आहार का ग्रहण करे और निहार को निकाले, तभी जीना होता है; उसी प्रकार बाह्य पवन को ग्रहण करे और अभ्यन्तर पवन को निकाले, तभी जीवितव्य रहता है; इसलिए श्वासोच्छ्वास, जीवितव्य का कारण है। इस शरीर में जिस प्रकार हाड़-माँसादि हैं; उसी प्रकार पवन जानना।

जैसे—हस्तादि से कार्य करते हैं, वैसे ही पवन से कार्य करते हैं; मुँह में जो ग्रास रखा, उसे पवन से निगलते हैं और मलादि, पवन से ही बाहर निकालते हैं; वैसे ही अन्य जानना।

तथा नाड़ी, वायुरोग व वायगोला इत्यादि को भी, पवनरूप शरीर के अंग जानना।

वहाँ जो स्वर हैं, वे शब्द हैं; सो जैसे—वीणा की ताँत को हिलानेपर, भाषारूप होनेयोग्य, जो पुद्गलस्कन्ध हैं, वे साक्षर या अनक्षर शब्दरूप परिणमित होते हैं; उसी प्रकार तालु, ओंठ इत्यादि अंगों को हिलानेपर, जो भाषा पर्याप्ति में ग्रहण किये गये पुद्गलस्कन्ध हैं, वे साक्षर या अनक्षर शब्दरूप परिणमित होते हैं।

तथा शुभ-अशुभ गमनादि होते हैं; यहाँ ऐसा जानना—जैसे—दो पुरुषों को, एक दण्डी बेड़ी है। वहाँ एक पुरुष, गमनादि करना चाहे और दूसरा भी गमनादि करे तो गमनादि हो सकते हैं; दोनों में से एक बैठा रहे तो गमनादि नहीं हो सकते अथवा दोनों में एक बलवान हो तो दूसरे को भी घसीट ले जाए; उसी प्रकार आत्मा के और शरीरादिरूप एक पुद्गल के, एकक्षेत्रावगाहरूप बन्धान है; वहाँ आत्मा, हलन-चलनादि करना चाहे और पुद्गल, उस शक्ति से रहित हुआ हलन-चलन न करे अथवा पुद्गल में तो शक्ति पायी जाती है परन्तु आत्मा की इच्छा न हो तो हलन-चलनादि नहीं हो सकते। अथवा इनमें पुद्गल, बलवान होकर हलन-चलन करे तो उसके साथ बिना इच्छा के भी आत्मा, हलन-चलन करता है—ऐसे हलन-चलनादि क्रिया होती है।

तथा इसके अपयश आदि बाह्यनिमित्त बनते हैं—ऐसे ये कार्य उत्पन्न होते हैं, उनमें मोह के अनुसार, आत्मा सुखी-दुःखी भी होता है।

इस प्रकार नामकर्म के उदय से, स्वयमेव नाना प्रकार रचना होती है; अन्य कोई करनेवाला नहीं है तथा तीर्थंकरादि प्रकृतियाँ, यहाँ [अनादि से संसारी जीव को] हैं ही नहीं।

गोत्रकर्मोदयजन्य अवस्था

गोत्रकर्म से उच्च-नीच कुल में उत्पन्न होना होता है, वहाँ अपनी अधिकता-हीनता प्राप्त होती है; मोह के उदय से, आत्मा सुखी-दुःखी भी होता है।

— ऐसे अघातिकर्मों के निमित्त से अवस्था होती है।

इस प्रकार इस अनादि संसार में, घाति-अघाति कर्मों के उदय के अनुसार, आत्मा की अवस्थाएँ होती हैं।

अतः हे भव्य! अपने अन्तरंग में विचारकर देख — 'ऐसे ही है या नहीं'; वहाँ विचार करनेपर ऐसा ही प्रतिभासित होता है। यदि ऐसा है तो तू यह मान—'मेरे अनादि से संसार रोग पाया जाता है, उसके नाश का मुझे उपाय करना' —इस विचार से तेरा कल्याण होगा।

❁❁❁

- इति श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक नामक शास्त्र में
'संसार-अवस्था का निरूपक', द्वितीय अधिकार सम्पूर्ण हुआ॥ २॥

तीसरा अधिकार

संसार दुःख तथा मोक्ष सुख का निरूपण

॥ ॐ नमः ॥

दोहा - **सो जिनभाव सदा सुखद, अपनौं करौ प्रकाश।**
जो बहु विधि भव दुःखनि कौ, करि है सत्ता नाश॥

अब, इस संसार अवस्था में नाना प्रकार के दुःख हैं, उनका वर्णन करते हैं क्योंकि यदि संसार में भी सुख हो, तो संसार से मुक्त होने का उपाय किसलिए करें?

इस संसार में अनेक दुःख हैं; इसलिए संसार से मुक्त होने का उपाय करते हैं।

जैसे–वैद्य, रोग का निदान और उसकी अवस्था का वर्णन करके, रोगी को रोग का निश्चय कराकर, फिर उसका इलाज करने की रुचि कराता है।

उसी प्रकार यहाँ, संसार का निदान तथा उसकी अवस्था का वर्णन करके, संसारी को, संसार रोग का निश्चय कराकर, अब उसका उपाय करने की रुचि कराते हैं।

जैसे–रोगी, रोग से दुःखी हो रहा है परन्तु उसका मूलकारण नहीं जानता; सच्चा उपाय नहीं जानता और दुःख भी सहा नहीं जाता, तब जो उसे भासित हो, वही उपाय करता है; इसलिए दुःख दूर नहीं होता; तब तड़फ-तड़फकर परवश हुआ, उन दुःखों को सहता है; उसे वैद्य, दुःख का मूलकारण बतलायें, दुःख का स्वरूप बतलायें, उन उपायों को झूठा दिखलायें, तब सच्चे उपाय करने की रुचि होती है;

उसी प्रकार संसारी, संसार से दुःखी हो रहा है परन्तु उसका मूलकारण नहीं जानता; सच्चे उपाय नहीं जानता और दुःख भी सहा नहीं जाता, तब अपने को भासित हो, वही उपाय करता है; इसलिए दुःख दूर नहीं होता, तब तड़फ-तड़फकर परवश हुआ, उन दुःखों को सहता है; उसे यहाँ दुःख का मूलकारण बतलाते हैं, दुःख का स्वरूप बतलाते हैं और उन उपायों को झूठे दिखलाते हैं, तब सच्चे उपाय करने की रुचि होती है; इसलिए यह वर्णन यहाँ करते हैं।

संसार दुःख और उसका मूलकारण

वहाँ, सब दुःखों के मूलकारण—मिथ्यादर्शन-अज्ञान-असंयम हैं; उनमें दर्शनमोह के उदय से हुआ अतत्त्वश्रद्धान, **मिथ्यादर्शन** है, उससे वस्तुस्वरूप की यथार्थ प्रतीति नहीं हो सकती है; अन्यथा प्रतीति होती है। उस मिथ्यादर्शन ही के निमित्त से, क्षयोपशमरूप जो ज्ञान है, वह **अज्ञान** हो रहा है, उससे वस्तुस्वरूप का यथार्थ जानना नहीं होता है; अन्यथा जानना होता है। वहाँ चारित्रमोह के उदय से हुआ जो कषायभाव है, उसका नाम **असंयम** है; उससे जैसा वस्तुस्वरूप है, वैसा नहीं प्रवर्तता है; अन्यथा प्रवृत्ति होती है।

– ऐसे ये मिथ्यादर्शनादि कहे हैं, वे ही सर्व दुःखों के मूलकारण हैं।

कैसे ? वह दिखलाते हैं —

(क) कर्मों की अपेक्षा

मिथ्यादर्शनादि के कारण, जीव को स्व-पर विवेक नहीं हो सकता। **एक 'आप आत्मा' और अनन्त पुद्गलपरमाणुमय शरीर; इनके संयोगरूप मनुष्यादि पर्यायें उत्पन्न होती हैं, उस पर्याय ही में 'आपा' मानता है।** तथा आत्मा का ज्ञान-दर्शनादि स्वभाव है, उसके द्वारा किंचित् जानना-देखना होता है और कर्मोपाधि से हुए क्रोधादिभाव, उनरूप परिणाम पाये जाते हैं तथा शरीर का स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण स्वभाव है, वह प्रगट है और स्थूल-कृशादि होना, स्पर्शादि का पलटना, इत्यादि अनेक अवस्थाएँ होती हैं; इन सबको अपना स्वरूप जानता है।

ज्ञानावरण-दर्शनावरण के निमित्त से होनेवाले दुःख और उनसे निवृत्ति

वहाँ ज्ञान-दर्शन की प्रवृत्ति, इन्द्रिय-मन के द्वारा होती है; इसलिए यह मानता है कि 'ये त्वचा-जीभ-नासिका-नेत्र-कान और मन—ये मेरे अंग हैं; इनके द्वारा मैं देखता-जानता हूँ' – ऐसी मान्यता से इन्द्रियों में प्रीति पायी जाती है।

मोह के आवेश से, उन इन्द्रियों के द्वारा, विषय-ग्रहण करने की इच्छा होती है और उन विषयों का ग्रहण होनेपर, उस इच्छा के मिटने से निराकुल होता है, तब आनन्द मानता है।

जैसे – कुत्ता, हड्डी चबाता है, उससे [उसका] अपना खून निकलता है, उसका स्वाद लेकर ऐसा मानता है कि—'यह हड्डियों का स्वाद है'; उसी प्रकार यह जीव, विषयों को जानता है, उससे अपना ज्ञान प्रवर्तता है, उसका स्वाद लेकर ऐसा मानता है—'यह विषय का स्वाद है', लेकिन विषय में तो स्वाद है नहीं। आप (स्वयं) ही ने इच्छा की थी, उसे आप ही ने जानकर, आप ही ने आनन्द मान लिया, परन्तु **'मैं अनादि**

-अनन्त ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ'—ऐसा निःकेवल ज्ञान का तो अनुभवन है नहीं। जबकि 'मैंने नृत्य देखा, राग (संगीत) सुना, फूल सूँघे, [स्वाद लिया, स्पर्श किया], शास्त्र जाना, मुझे यह [मन से] जानना'—इस प्रकार ज्ञेयमिश्रित ज्ञान का अनुभवन होता है, उससे विषयों की ही प्रधानता भासित होती है।

— ऐसे इस जीव को, मोह के निमित्त से, विषयों की इच्छा पायी जाती है।

वहाँ इच्छा तो त्रिकालवर्ती सर्व विषयों को ग्रहण करने की है — 'मैं सर्व का स्पर्श करूँ, सर्व का स्वाद लूँ, सर्व को सूँघूँ, सर्व को देखूँ, सर्व को सुनूँ, सर्व को [मन से] जानूँ' — ऐसे इच्छा तो इतनी है परन्तु शक्ति इतनी ही है कि इन्द्रियों के सन्मुख आनेवाले वर्तमान स्पर्श -रस-गन्ध-वर्ण या शब्द, उनमें से किसी [एक] को किंचित्मात्र ग्रहण करे तथा स्मरणादि से मन द्वारा कुछ जाने, उसकी भी बाह्य अनेक कारण मिलनेपर, सिद्धि होती है; इसलिए इच्छा कभी पूर्ण नहीं होती—ऐसी इच्छा तो केवलज्ञान होनेपर ही सम्पूर्ण होती है।

क्षयोपशमरूप इन्द्रियों से तो इच्छा पूर्ण होती नहीं है; इसलिए मोह के निमित्त से इन्द्रियों को अपने-अपने विषय ग्रहण की निरन्तर इच्छा होती ही रहती है, उससे आकुलित होकर दुःखी हो रहा है। वहाँ ऐसा दुःखी हो रहा है कि किसी एक विषय के ग्रहण के लिए, अपने मरण को भी नहीं गिनता है।

जैसे — हाथी को कपट की हथिनी का शरीर स्पर्श करने की, मच्छ को बंसी में लगे हुए माँस का स्वाद लेने की, भ्रमर को कमल-सुगन्ध सूँघने की, पतंगे को दीपक का वर्ण देखने की, और हरिण को राग (संगीत) सुनने की, इच्छा ऐसी होती है कि तत्काल मरना भासित हो, तथापि मरण को नहीं गिनते और विषयों का ग्रहण करते हैं। वहाँ यद्यपि विषय-सेवन करनेपर मरण होता था, तथापि इन्द्रियों की पीड़ा अधिक भासित होती है।

इन इन्द्रियों की पीड़ा से पीड़ित सर्व जीव, निर्विचार होकर, जैसे—कोई दुःखी, पर्वत से गिर पड़े, वैसे ही विषयों में छलाँग लगाते हैं। नाना कष्ट से धन उत्पन्न करते हैं, उसे विषय के लिए खोते हैं तथा विषयों के लिए, जहाँ मरण होना जानते हैं, वहाँ भी जाते हैं। जो हिंसादि कार्य, नरकादि के कारण हैं, उन्हें करते हैं तथा क्रोधादि कषायों को उत्पन्न करते हैं।

तथापि वे करें क्या ?—इन्द्रियों की पीड़ा सही नहीं जाती; इसलिए अन्य कुछ विचार आता नहीं। इसी पीड़ा से पीड़ित हुए इन्द्रादि हैं, वे भी विषयों में अति आसक्त हो रहे हैं।

जैसे — खाजरोग से पीड़ित हुआ पुरुष, आसक्त होकर खुजाता है; पीड़ा न हो तो किसलिए खुजाए; उसी प्रकार इन्द्रियरोग से पीड़ित हुए इन्द्रादि, आसक्त होकर, विषय-सेवन करते हैं; पीड़ा न हो तो किसलिए विषय-सेवन करें ?

इस प्रकार ज्ञानावरण-दर्शनावरण के क्षयोपशम से हुआ इन्द्रियादिजनित ज्ञान है, वह मिथ्यादर्शनादि के निमित्त से, इच्छासहित होकर, दुःख का कारण होता है।

अब, इस दुःख के दूर होने का उपाय, यह जीव क्या करता है ? वह कहते हैं —

इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण होनेपर, 'मेरी इच्छा पूर्ण होगी'—ऐसा जानकर, प्रथम तो नाना प्रकार के भोजनादि से इन्द्रियों को प्रबल करता है और ऐसा ही जानता है कि इन्द्रियों के प्रबल रहने से, मेरे विषयग्रहण की शक्तिविशेष होती है तथा वहाँ अनेक बाह्य कारण चाहिए, उनका निमित्त मिलाता है।

वहाँ इन्द्रियाँ हैं, वे विषय सन्मुख होनेपर, उनको ग्रहण करती हैं; इसलिए (यह जीव) अनेक बाह्य उपायों द्वारा, विषयों का तथा इन्द्रियों का संयोग मिलाता है। नाना प्रकार के वस्त्रादि का, भोजनादि का, पुष्पादि का, मन्दिर-आभूषणादि का, तथा गान-वादित्रादि का संयोग मिलाने के लिए, बहुत ही खेद-खिन्न होता है।

जब तक इन इन्द्रियों के सन्मुख विषय (इन्द्रिय-विषय) रहता है, तब तक उस विषय का किंचित् स्पष्ट जानपना रहता है, पश्चात् मन द्वारा स्मरणमात्र रह जाता है। काल व्यतीत होनेपर, स्मरण भी मन्द होता जाता है; इसलिए उन विषयों को अपने आधीन रखने का उपाय करता है और शीघ्र-शीघ्र उनका ग्रहण किया करता है।

वहाँ इन्द्रियों के द्वारा तो एक काल में एक विषय का ही ग्रहण होता है किन्तु यह बहुत ग्रहण करना चाहता है; इसलिए अधीर होकर, शीघ्र-शीघ्र एक विषय को छोड़कर, अन्य को ग्रहण करता है तथा उसे छोड़कर, अन्य को ग्रहण करता है—ऐसे झपट्टे मारता है।

इस प्रकार जो उपाय इसे भासित होते हैं, वे करता है परन्तु वे झूठे हैं क्योंकि प्रथम तो इन सबका ऐसा ही होना, अपने आधीन नहीं है; महा-कठिन है तथा कदाचित् उदय-अनुसार ऐसी ही विधि मिल जाए, तो इन्द्रियों को प्रबल करने से, कहीं विषय-ग्रहण की शक्ति बढ़ती नहीं है; वह शक्ति तो, ज्ञान-दर्शन बढ़ने पर, बढ़ती है लेकिन यह कर्म के क्षयोपशम के आधीन है। किसी का शरीर पुष्ट है, उसके ऐसी शक्ति कम देखी जाती है; किसी का शरीर दुर्बल है, उसके अधिक देखी जाती है; इसलिए भोजनादि द्वारा इन्द्रियाँ पुष्ट करने से, कुछ सिद्धि है नहीं। कषायादि घटने से, कर्म का क्षयोपशम होनेपर, ज्ञान-दर्शन बढ़ें, तब विषय-ग्रहण की शक्ति बढ़ती है।

वहाँ विषयों का जो संयोग मिलाता है, वह बहुत काल तक रहता नहीं है अथवा सर्व विषयों का संयोग मिलता ही नहीं है; इसलिए यह आकुलता बनी ही रहती है तथा उन विषयों को अपने आधीन रखकर, शीघ्र-शीघ्र ग्रहण करता है किन्तु वे आधीन रहते नहीं हैं। वे भिन्न द्रव्य तो अपने आधीन परिणमित होते हैं या कर्मोदय के आधीन हैं परन्तु ऐसे कर्म का बन्ध, यथायोग्य शुभभाव होनेपर होता है, पश्चात् उदय आता है, वह प्रत्यक्ष देखते हैं। अनेक उपाय करनेपर भी, कर्म के निमित्त बिना, सामग्री नहीं मिलती।

वहाँ एक विषय को छोड़कर, अन्य का ग्रहण करता है—ऐसे झपट्टे मारता है, उससे क्या सिद्धि होती है ? जैसे—मण (४० सेर) की भूखवाले को कण मिले, तो क्या भूख मिटती है ? उसी प्रकार जिसे सर्व के ग्रहण की इच्छा है, उसे एक विषय का ग्रहण होनेपर, क्या इच्छा मिटती है ? इच्छा मिटे बिना, सुख नहीं होता; इसलिए यह उपाय झूठा है।

कोई पूछता है – इस उपाय से कोई जीव, सुखी होते देखे जाते हैं; सर्वथा झूठ कैसे कहते हो ?

उसका समाधान – सुखी तो नहीं होते हैं; भ्रम से सुख मानते हैं। यदि सुखी हुए हों, तो अन्य विषयों की इच्छा कैसे रही ? जैसे—रोग मिटनेपर, अन्य औषधि को क्यों चाहे ? उसी प्रकार दुःख मिटनेपर, अन्य विषयों को क्यों चाहे ? इसलिए विषय के ग्रहण द्वारा इच्छा रुक जाए तो हम सुख मानें, परन्तु जब तक जिस विषय का ग्रहण नहीं होता, तब तक तो उसकी इच्छा रहती है और जिस समय उसका ग्रहण हुआ, उसी समय, अन्य विषय ग्रहण की इच्छा होती देखी जाती है।

तो यह सुख मानना कैसे है ? जैसे—कोई महाक्षुधावान् रंक, उसको अन्न का एक कण मिला, उसका भक्षण करके, चैन माने; उसी प्रकार यह महातृष्णावान्, उसको एक विषय का निमित्त मिला, उसका ग्रहण करके, सुख मानता है; परमार्थ से सुख है नहीं।

कोई कहता है—जैसे—[कोई] कण-कण करके, अपनी भूख मिटाता है; उसी प्रकार एक-एक विषय का ग्रहण करके, अपनी इच्छा पूर्ण करता है, तो दोष क्या ?

उसका उत्तर—यदि वे कण, एकत्रित हों तो ऐसा ही मान लें, परन्तु जब दूसरा कण मिले, तब पहले कण का निर्गमन हो जाए, तो कैसे भूख मिटे ? उसी प्रकार जानने में विषयों का ग्रहण एकत्रित होता जाए, तो इच्छा पूर्ण हो जाए, परन्तु जब दूसरा विषय ग्रहण करता है, तब पूर्व में जो विषय ग्रहण किया था, उसका जानना नहीं रहता, तो कैसे इच्छा पूर्ण हो ? तथा इच्छा पूर्ण हुए बिना, आकुलता मिटती नहीं है और आकुलता मिटे बिना, सुख कैसे कहा जाए ?

वहाँ एक विषय का ग्रहण भी मिथ्यादर्शनादि के सद्भावपूर्वक करता है; इसलिए आगामी अनेक दुःखों के कारणभूत, कर्म बँधते हैं; इसलिए वर्तमान में यह सुख नहीं है और आगामी सुख का कारण भी नहीं है; इसलिए दुःख ही है। **वही प्रवचनसार में कहा है—**

सपरं बाधासहिदं, विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं।
जं इंदिएहिं लद्धं, तं सोक्खं दुक्खमेव तहा॥ ७६॥

इसका अर्थ — जो इन्द्रियों से प्राप्त किया सुख है, वह पराधीन है, बाधासहित है, विनाशीक है, बन्ध का कारण है, कठिन है; अत: ऐसा सुख, वास्तव में दु:ख ही है।

— ऐसे इस संसारी जीव द्वारा किये गये उपाय, झूठे जानना।

तो सच्चा उपाय क्या है ?— जब इच्छा तो दूर हो जाए और सर्व विषयों का युगपत् ग्रहण बना रहे, तब यह दु:ख मिटे। वह इच्छा तो मोह जानेपर मिटे और सबका युगपत् ग्रहण, केवलज्ञान होनेपर हो; अत: इनका उपाय, सम्यग्दर्शनादि है, वही सच्चा उपाय जानना।

इस प्रकार मोह के निमित्त से, ज्ञानावरण-दर्शनावरण का क्षयोपशम भी दु:खदायक है, उसका वर्णन किया।

यहाँ कोई कहे — ज्ञानावरण-दर्शनावरण के उदय से जानना नहीं हुआ; अत: उसे दु:ख का कारण कहो; क्षयोपशम को क्यों कहते हो ?

उसका समाधान — यदि जानना नहीं होना, दु:ख का कारण हो तो, पुद्गल के भी दु:ख ठहरे, परन्तु दु:ख का मूलकारण तो इच्छा है और इच्छा [ज्ञान का] क्षयोपशम होनेपर ही होती है; इसलिए क्षयोपशम को दु:ख का कारण कहा है। परमार्थ से क्षयोपशम भी दु:ख का कारण नहीं है; जो मोह से विषय-ग्रहण की इच्छा है, वही दु:ख का कारण जानना।

मोहनीयकर्म के उदय से होनेवाले दु:ख और उनसे निवृत्ति

वहाँ मोह का उदय है, वह दु:खरूप है ही। **कैसे ? वह कहते हैं —**

दर्शनमोहजनित दु:ख और उनसे निवृत्ति

प्रथम तो, **दर्शनमोह के उदय से, मिथ्यादर्शन होता है; उससे 'जैसा इसको श्रद्धान है, वैसा तो पदार्थ होता नहीं है तथा जैसा पदार्थ है, वैसा यह मानता नहीं है'**; इसलिए इसको आकुलता ही बनी रहती है।

जैसे—पागल को किसी ने वस्त्र पहिना दिया, वह पागल, उस वस्त्र को अपना अंग जानकर, अपने को और वस्त्र को एक मानता है; [जबकि] वह वस्त्र, पहिनानेवाले के आधीन है; अत: वह कभी उसे फाड़ता है, कभी जोड़ता है, कभी खोंसता है, कभी नया पहिनाता है, इत्यादि चरित्र करता है; [लेकिन] वह पागल, उसे अपने आधीन मानता है; जब उसकी पराधीन क्रिया होती है तो उससे वह महा खेद-खिन्न होता है।

उसी प्रकार इस जीव को कर्मोदय ने शरीर [का] सम्बन्ध कराया; यह जीव, उस शरीर को अपना अंग जानकर, अपने को और शरीर को एक मानता है। [जबकि] वह शरीर, कर्म के आधीन है, वह कभी कृश होता है, कभी स्थूल होता है, कभी नष्ट होता है, कभी नवीन

उत्पन्न होता है, इत्यादि चरित्र होते हैं; [लेकिन] यह जीव, उसे अपने आधीन मानता है; जब उसकी पराधीन क्रिया होती है तो उससे महा खेद-खिन्न होता है।

जैसे—जहाँ वह पागल ठहरा था, वहाँ मनुष्य-घोड़ा-धनादि कहीं से आकर उतरे, वह पागल, उन्हें अपना जानता है; [जबकि] वे तो उन ही के आधीन हैं – कोई आते हैं, कोई जाते हैं, कोई अनेक अवस्थारूप परिणमन करते हैं; [लेकिन] वह पागल, उन्हें अपने आधीन मानता है; जब उनकी पराधीन क्रिया होती है, तब खेद-खिन्न होता है।

उसी प्रकार यह जीव, जहाँ पर्याय धारण करता है, वहाँ स्वयमेव पुत्र, घोड़ा, धनादि कहीं से आकर प्राप्त हुए, यह जीव उन्हें, अपना जानता है। वे तो उन ही के आधीन हैं—कोई आते हैं, कोई जाते हैं, कोई अनेक अवस्थारूप परिणमन करते हैं; [लेकिन] यह जीव, उन्हें अपने आधीन मानता है; जब उनकी पराधीन क्रिया होती है, तब खेद-खिन्न होता है।

यहाँ कोई कहे—किसी काल में शरीर की तथा पुत्रादि की क्रिया, इस जीव के आधीन भी तो होती दिखायी देती है, तब तो यह सुखी होता है।

उसका समाधान—शरीरादि के भवितव्य की और जीव की इच्छा की विधि मिलनेपर, किसी एक प्रकार से, जैसे यह चाहता है, वैसे परिणमन होता है; इसलिए किसी काल में उसी का विचार होनेपर, सुख का-सा आभास होता है परन्तु सर्व ही तो सर्व प्रकार से, जैसे यह चाहता है, वैसे परिणमित नहीं होते; इसलिए अभिप्राय में तो अनेक आकुलताएँ सदा काल रहा ही करती हैं।

वहाँ किसी काल में, किसी प्रकार, इच्छानुसार परिणमन होते देखकर, कहीं यह जीव, शरीर-पुत्रादि में अहंकार-ममकार करता है तो इस बुद्धि से, उनको उत्पन्न करने की, बढ़ाने की, और रक्षा करने की चिन्ता से निरन्तर व्याकुल रहता है; नाना प्रकार से कष्ट सहकर भी, उनका भला करना चाहता है।

तथा जो विषयों की इच्छा होती है, कषाय होती है, बाह्य सामग्री में इष्ट-अनिष्टपना मानता है, अन्यथा उपाय करता है, सच्चे उपाय की श्रद्धा नहीं करता; अन्यथा कल्पना करता है—इन सबका मूलकारण एक [मात्र] **मिथ्यादर्शन** है। उसका नाश होनेपर, [इन] सबका नाश हो जाता है; इसलिए सब दुःखों का मूल, यह मिथ्यादर्शन है।

— इस मिथ्यादर्शन के नाश का उपाय भी नहीं करता; [क्योंकि] अन्यथा श्रद्धान को, सत्य श्रद्धान माने, तब उपाय किसलिए करे ?

संज्ञी पंचेन्द्रिय, कदाचित् तत्त्व निश्चय करने का उपाय विचारता है, वहाँ अभाग्य से कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र का निमित्त बन जाए, तो अतत्त्वश्रद्धान पुष्ट हो जाता है।

यह तो जानता है कि इनसे मेरा भला होगा, परन्तु वे ऐसा उपाय करते हैं, जिनसे यह अचेत हो जाता है। **यद्यपि यह वस्तुस्वरूप का विचार करने का उद्यमी हुआ था, तथापि विपरीत विचार में दृढ़ हो जाता है और तब विषय-कषाय की वासना बढ़ने से, अधिक दुःखी होता है।**

कदाचित् सुदेव-सुगुरु-सुशास्त्र का भी निमित्त बन जाए, तो वहाँ उनके निश्चय उपदेश का तो श्रद्धान नहीं करता; व्यवहार श्रद्धान से अतत्त्वश्रद्धानी ही रहता है। वहाँ मन्दकषाय हो या विषय इच्छा घटे तो थोड़ा दुःखी होता है, पीछे फिर जैसे का तैसा हो जाता है; इसलिए यह संसारी जो उपाय करता है, वे भी झूठे ही होते हैं।

इस संसारी के एक उपाय यह है कि आप स्वयं को जैसा श्रद्धान है, वैसा वह पदार्थों को परिणमित कराना चाहता है। यदि वे वैसे ही परिणमित हों तो इसका श्रद्धान सच्चा हो जाए, परन्तु '**अनादिनिधन वस्तुएँ, भिन्न-भिन्न, अपनी मर्यादासहित परिणमित होती हैं; कोई किसी के आधीन नहीं है; कोई किसी के परिणमित कराने से, परिणमित नहीं होती।**' उन्हें परिणमित कराना चाहता है, वह कोई उपाय नहीं है; वह तो मिथ्यादर्शन ही है।

तो सच्चा उपाय क्या है ?—जैसा पदार्थों का स्वरूप है, वैसा श्रद्धान हो जाए तो सर्व दुःख दूर हो जाएँ। जिस प्रकार कोई मोहित होकर, मुर्दे को जीवित माने या जिलाना चाहे, तो आप ही दुःखी होता है; अतः उसे मुर्दा मानना और 'यह जिलाने से जिएगा नहीं' - ऐसा मानना, वही उस दुःख के दूर होने का उपाय है।

उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि होकर, पदार्थों को अन्यथा माने, अन्यथा परिणमित करना चाहे तो आप ही दुःखी होता है; अतः उन्हें यथार्थ मानना और 'ये परिणमित कराने से, अन्यथा परिणमित नहीं होंगे' - ऐसा मानना, वही उस दुःख के दूर होने का उपाय है। **भ्रमजनित दुःख का उपाय, भ्रम दूर करना ही है; अतः भ्रम दूर होने से, सम्यक् श्रद्धान होता है, वही सत्य उपाय जानना।**

चारित्रमोहजनित दुःख और उनसे निवृत्ति

चारित्रमोह के उदय से, क्रोधादि कषायरूप तथा हास्यादि नोकषायरूप, जीव के भाव होते हैं; तब यह जीव, क्लेशवान होकर, दुःखी होता हुआ विह्वल होकर, नाना कुकार्यों में प्रवर्तता है। वही दिखाते हैं —

क्रोधकषायजन्य अवस्था—जब इसके **क्रोधकषाय** उत्पन्न होती है, तब दूसरे का बुरा करने की इच्छा होती है; उसके लिए, अनेक उपाय विचारता है, मर्मच्छेदी गाली प्रदानादिरूप वचन बोलता है, अपने अंगों से तथा शस्त्र पाषाणादि से घात करता है, अनेक कष्ट सहनकर तथा धनादि खर्च करके व मरणादि द्वारा अपना भी बुरा करके, अन्य का बुरा करने का उद्यम करता है अथवा औरों से बुरा होना जाने, तो औरों से बुरा कराता है; यदि स्वयं ही उसका बुरा होता हो तो अनुमोदन

करता है; उसका बुरा होने से अपना कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं हो, तो भी उसका बुरा करता है। तथा क्रोध होनेपर, कोई पूज्य या इष्टजन भी बीच में आयें तो उन्हें भी बुरा कहता है, मारने लग जाता है, कुछ विचार नहीं रहता। यदि अन्य का बुरा न हो तो अपने अन्तरंग में आप ही बहुत सन्तापवान होता है और अपने ही अंगों का घात करता है तथा विष आदि से मर जाता है—**ऐसी अवस्था, क्रोध होनेपर होती है।**

मानकषायजन्य अवस्था — जब इसके **मानकषाय** उत्पन्न होती है, तब औरों को नीचा व अपने को ऊँचा दिखाने की इच्छा होती है; उसके लिए, अनेक उपाय सोचता है; अन्य की निन्दा करता है, अपनी प्रशंसा करता है; अनेक प्रकार से औरों की महिमा मिटाता है, अपनी महिमा करता है; महाकष्ट से जो धनादि का संग्रह किया, उसे विवाहादि कार्यों में खर्च करता है तथा कर्ज लेकर भी खर्चता है। '**मरने के बाद हमारा यश रहेगा**' — ऐसा विचारकर, अपना मरण करके भी, अपनी महिमा बढ़ाता है; यदि कोई अपना सन्मानादि न करे तो उसे भयादि दिखाकर, दुःख उत्पन्न करके, अपना सन्मान कराता है। तथा मान होनेपर, कोई पूज्य या बड़े हों तो उनका भी सन्मान नहीं करता, कुछ विचार नहीं रहता। यदि 'अन्य नीचा और स्वयं ऊँचा' दिखायी न दे तो अपने अन्तरंग में आप बहुत सन्तापवान होता है और अपने अंगों का घात करता है तथा विष आदि से मर जाता है — **ऐसी अवस्था, मान होनेपर होती है।**

मायाकषायजन्य अवस्था — जब इसके **मायाकषाय** उत्पन्न होती है, तब छल द्वारा कार्य सिद्ध करने की इच्छा होती है; उसके लिए अनेक उपाय सोचता है, नाना प्रकार कपट के वचन कहता है, शरीर की कपटरूप अवस्था करता है, बाह्य वस्तुओं को अन्यथा बतलाता है, जिनमें अपना मरण जाने — ऐसे भी छल करता है; कपट प्रगट होनेपर, स्वयं का बहुत बुरा हो, मरणादि हों, उनको भी नहीं गिनता। तथा माया होनेपर, किसी पूज्य या इष्ट का भी सम्बन्ध बने तो उनसे भी छल करता है, कुछ विचार नहीं रहता। यदि छल द्वारा, कार्य-सिद्धि न हो तो स्वयं बहुत सन्तापवान होता है और अपने अंगों का घात करता है तथा विष आदि से मर जाता है — **ऐसी अवस्था, माया होनेपर होती है।**

लोभकषायजन्य अवस्था — जब इसके **लोभकषाय** उत्पन्न हो, तब इष्ट पदार्थ के लाभ की इच्छा होती है, उसके लिए अनेक उपाय सोचता है, उसके साधनरूप वचन बोलता है, शरीर की अनेक चेष्टाएँ करता है, बहुत कष्ट सहता है, सेवा करता है, विदेश गमन करता है; जिसमें मरण होता जाने, वह कार्य भी करता है; जिनमें बहुत दुःख उत्पन्न हो — ऐसे प्रारम्भ (कार्य) करता है। तथा लोभ होनेपर, पूज्य या इष्ट का भी कार्य हो, वहाँ भी अपना प्रयोजन साधता है, कुछ विचार नहीं रहता;

जिस इष्ट वस्तु की प्राप्ति हुई है, उसकी अनेक प्रकार से रक्षा करता है। यदि इष्ट वस्तु की प्राप्ति न हो या इष्ट का वियोग हो तो स्वयं बहुत सन्तापवान होता है और अपने अंगों का घात करता है तथा विष आदि से मर जाता है – **ऐसी अवस्था, लोभ होनेपर होती है।**

इस प्रकार कषायों से पीड़ित हुआ, इन अवस्थाओं में प्रवर्तता है।

नोकषायजन्य अवस्था – इन कषायों के साथ, **नोकषाय** होती हैं।

वहाँ जब, **हास्यकषाय** होती है, तब आप स्वयं विकसित होकर, प्रफुल्लित होता है, सो यह ऐसे जानना, जैसे–सन्निपात के रोगी का हँसना; नाना रोगों से स्वयं पीड़ित है तो भी कोई कल्पना करके, हँसने लग जाता है; इसी प्रकार यह जीव, अनेक पीड़ासहित है तथापि कोई झूठी कल्पना करके, अपने को सुहाता कार्य मानकर, हर्ष मानता है; परमार्थत: दु:खी होता है; सुखी तो कषाय-रोग मिटनेपर होगा।

जब, **रति** उत्पन्न होती है, तब इष्ट वस्तु में अति आसक्त होता है; जैसे–बिल्ली, चूहे को पकड़कर आसक्त होती है, कोई मारे तो भी नहीं छोड़ती, सो यहाँ कठिनता से प्राप्त होने के कारण तथा वियोग होने के अभिप्राय से, आसक्तता होती है; इसलिए दु:ख ही है।

जब, **अरति** उत्पन्न होती है, तब अनिष्ट वस्तु का संयोग पाकर, महाव्याकुल होता है; अनिष्ट का संयोग हुआ, वह स्वयं को सुहाता नहीं है, सो यह पीड़ा सही नहीं जाती; इसलिए उसका वियोग करने को तड़पता है; अत: यह दु:ख है ही।

जब, **शोक** उत्पन्न होता है, तब इष्ट का वियोग और अनिष्ट का संयोग होने से अति व्याकुल होकर, सन्ताप पैदा करता है, रोता है, पुकार करता है, असावधान हो जाता है, अपने अंग का घात करके मर जाता है; कुछ सिद्धि नहीं है तथापि स्वयं ही महादु:खी होता है।

जब, **भय** उत्पन्न होता है, तब किसी को इष्ट-वियोग व अनिष्ट-संयोग का कारण जानकर डरता है; अति विह्वल होता है, भागता है, छिपता है, शिथिल हो जाता है, कष्ट होने के स्थानपर, पहुँच जाता है व मर जाता है; अत: यह दु:खरूप ही है।

जब, **जुगुप्सा** उत्पन्न होती है, तब अनिष्ट वस्तु से घृणा करता है; उसका तो संयोग हुआ और यह स्वयं घृणा करके, भागना चाहता है या उसे दूर करना चाहता है और खेद-खिन्न होकर, महा दु:ख पाता है।

तथा तीन वेदों से जब काम उत्पन्न होता है, तब **पुरुषवेद** से स्त्री के साथ रमण करने की; **स्त्रीवेद** से पुरुष के साथ रमण करने की, और **नपुंसकवेद** से दोनों के साथ रमण

करने की इच्छा होती है; उससे अति व्याकुल होता है, आताप उत्पन्न होता है, निर्लज्ज होता है, धन खर्च करता है, अपयश को नहीं गिनता, परम्परा दुःख हो व दण्ड आदि हो, उसे नहीं गिनता। काम-पीड़ा से पागल हो जाता है, मर जाता है।

रसग्रन्थों में काम की दस दशाएँ कही हैं, वहाँ पागल होना व मरण होना भी लिखा है। वैद्यक शास्त्रों में ज्वर के भेदों में, 'कामज्वर' को मरण का कारण लिखा है; प्रत्यक्ष ही काम से मरण तक होते देखे जाते हैं, कामान्ध को कुछ विचार नहीं रहता; पिता-पुत्री तथा मनुष्य -तिर्यंचिनी इत्यादि से रमण करने लग जाते हैं—ऐसी काम की पीड़ा है, वह महा दुःखरूप है।

इस प्रकार कषायों और नोकषायों से अवस्थाएँ होती हैं।

यहाँ ऐसा विचार आता है—यदि इन अवस्थाओं में न प्रवर्तें तो क्रोधादि, पीड़ा उत्पन्न करते हैं और इन अवस्थाओं में प्रवर्तें, तो मरणपर्यन्त कष्ट होते हैं। वहाँ मरणपर्यन्त कष्ट तो स्वीकार करते हैं परन्तु क्रोधादि की पीड़ा सहना स्वीकार नहीं करते; इससे यह निश्चित हुआ कि कषायों की पीड़ा, मरणादि से भी अधिक है।

वहाँ जब इसके '**कषाय का उदय**' हो, तब कषाय किये बिना रहा नहीं जाता। बाह्य कषायों के कारण मिलें तो उनके आश्रय से कषाय करता है, यदि न मिलें तो स्वयं कारण बनाता है। जैसे—व्यापारादि, कषायों के कारण न हों तो जुआ खेलना व क्रोधादि के कारण अन्य अनेक खेल-खेलना, दुष्ट कथाएँ कहना-सुनना इत्यादि कारण बनाता है।

तथा जब काम-क्रोधादि पीड़ा करें और शरीर में उनरूप कार्य करने की शक्ति न हो तो औषधि बनाता है और अन्य अनेक उपाय करता है। तथा कोई कारण बने ही नहीं तो अपने उपयोग में कषायों के कारणभूत पदार्थों का चिन्तवन करके, आप स्वयं ही कषायोंरूप परिणमित होता है।

इस प्रकार यह जीव, कषायभावों से पीड़ित हुआ, महा दुःखी होता है।

तथा जिस प्रयोजन के लिए कषायभाव हुआ है, उस प्रयोजन की सिद्धि हो तो 'मेरा यह दुःख दूर हो और मुझे सुख हो'—ऐसा विचारकर, उस प्रयोजन की सिद्धि होने के लिए, अनेक उपाय करता है और उसे दुःख के दूर होने का उपाय मानता है।

अब, यहाँ कषायभावों से जो दुःख होता है, वह तो सच्चा ही है, प्रत्यक्ष स्वयं ही दुःखी होता है परन्तु यह जो उपाय करता है, वे झूठे हैं।

क्यों ? वह कहते हैं—क्रोध में तो अन्य का बुरा करना; मान में औरों को नीचा दिखाकर, स्वयं ऊँचा होना; माया में छल से कार्य सिद्धि करना; लोभ में इष्ट की प्राप्ति करना; हास्य में विकसित

(प्रफुल्लित) होने का कारण बना रहना; रति में इष्ट संयोग का बना रहना; अरति में अनिष्ट का दूर होना; शोक में शोक का कारण मिटना; भय में भय का कारण मिटना; जुगुप्सा में जुगुप्सा का कारण दूर होना; पुरुषवेद में स्त्री से रमण करना; स्त्रीवेद में पुरुष से रमण करना; नपुंसकवेद में दोनों के साथ रमण करना—ऐसे प्रयोजन पाये जाते हैं।

यदि इन [प्रयोजनों] की सिद्धि हो, तो कषाय का उपशमन होने से, दु:ख दूर हो जाए —सुखी हो, परन्तु इनकी सिद्धि इसके किए उपायों के आधीन नहीं है; भवितव्य के आधीन है क्योंकि इसे अनेक उपाय करते देखते हैं परन्तु सिद्धि नहीं होती। तथा उपाय होना भी इसके अपने आधीन नहीं है; भवितव्य के आधीन है क्योंकि यह अनेक उपाय करने का विचार करता है और एक भी उपाय होता नहीं देखते हैं।

यदि काकतालीय न्याय से, भवितव्य ऐसा ही हो — जैसा अपना प्रयोजन हो, वैसा ही उपाय होवे और उससे कार्य की सिद्धि भी हो जाए, तो उस कार्यसम्बन्धी किसी कषाय का उपशम हो, परन्तु वहाँ भी रुकाव नहीं होता। जब तक कार्य सिद्ध नहीं हुआ था, तब तक तो उस कार्यसम्बन्धी कषाय थी और जिस समय कार्य सिद्ध हुआ, उसी समय अन्य कार्यसम्बन्धी कषाय हो जाती है; एक समयमात्र भी निराकुल नहीं रहता।

जैसे—कोई क्रोध से किसी का बुरा सोचता था और उसका बुरा हो चुका, तब अन्य पर क्रोध करके, उसका बुरा चाहने लगा अथवा थोड़ी शक्ति थी, तब छोटों का बुरा चाहता था; बहुत शक्ति हुई, तब बड़ों का बुरा चाहने लगा; उसी प्रकार मान-माया-लोभादि द्वारा जो कार्य सोचता था, वह सिद्ध हो चुका, तब अन्य में मानादि उत्पन्न करके, उसकी सिद्धि करना चाहता है। थोड़ी शक्ति थी, तब छोटे कार्य की सिद्धि करना चाहता था; बहुत शक्ति हुई, तब बड़े कार्य की सिद्धि करने की अभिलाषा हुई। कषायों में कार्य का प्रमाण हो तो उस कार्य की सिद्धि होनेपर, सुखी हो जाए, परन्तु प्रमाण है नहीं; इच्छा बढ़ती ही जाती है।

यही आत्मानुशासन में कहा है—

आशागर्तः प्रतिप्राणी, यस्मिन् विश्वमणूपमम्।
कस्मिन्[१] किं कियदायाति, वृथा वो विषयैषिता॥ ३६॥

इसका अर्थ — आशारूपी गड्ढा, प्रत्येक प्राणी में पाया जाता है। अनन्तानन्त जीव हैं, उन सबके आशा पायी जाती है। **वह आशारूपी गड्ढा कैसा है ?**—जिस एक गड्ढे में समस्त लोक अणु समान है और लोक तो एक ही है; अत: अब यहाँ कहो - किसको, कितना हिस्से में आये ? इसलिए तुम्हें जो यह विषयों की इच्छा है, वह वृथा ही है।

---

[१] **कस्य** (पाठभेद)

इच्छा पूर्ण तो होती नहीं है; इसलिए कोई कार्य सिद्ध होनेपर भी दुःख दूर नहीं होता अथवा कोई कषाय मिटे, तो उसी समय अन्य कषाय हो जाती है।

जैसे—किसी को मारनेवाले बहुत हों, वहाँ जब उसे कोई एक नहीं मारता, तब अन्य मारने लग जाते हैं; उसी प्रकार जीव को दुःख देनेवाली अनेक कषाय हैं; वहाँ जब क्रोध नहीं होता, तब मानादि हो जाते हैं; जब मान न हो, तब क्रोधादि हो जाते हैं।

इस प्रकार कषाय का सद्भाव बना ही रहता है; कोई एक समय भी कषायरहित नहीं होता; इसलिए किसी कषाय का कोई कार्य सिद्ध होनेपर भी, दुःख कैसे दूर हो ? और इसका अभिप्राय तो सर्व कषायों का सर्व प्रयोजन सिद्ध करने का है, वह हो तो यह सुखी हो, परन्तु वह कदापि नहीं हो सकता; इसलिए अभिप्राय में सर्वदा दुःखी ही रहता है क्योंकि कषायों के प्रयोजन को साधकर, दुःख दूर करके सुखी होना चाहता है; अतः यह उपाय झूठा ही है।

तो सच्चा उपाय क्या है ?—सम्यग्दर्शन-ज्ञान से यथावत् श्रद्धान व जानना होता है, तब इष्ट-अनिष्ट बुद्धि मिटे तथा उन्हीं के बल से, चारित्रमोह का अनुभाग हीन हो—ऐसा होनेपर, कषायों का अभाव हो, तब उनकी पीड़ा दूर हो और तब प्रयोजन भी कुछ नहीं रहे; निराकुल होने से, महा सुखी हो जाए; अतः 'सम्यग्दर्शनादि ही इस दुःख को मेटने का सच्चा उपाय' हैं।

अन्तरायकर्म के निमित्त से होनेवाले दुःख और उनसे निवृत्ति

वहाँ जीव को मोह से दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्य शक्ति का उत्साह उत्पन्न होता है परन्तु अन्तराय के उदय से [पूर्ण] हो नहीं सकता, तब परम आकुलता होती है; अतः यह दुःखरूप है ही।

इसका उपाय यह करता है – जो विघ्न के बाह्यकारण सूझते हैं, उन्हें दूर करने का उद्यम करता है परन्तु वे उपाय, झूठे हैं क्योंकि उपाय करनेपर भी, अन्तराय का उदय होने से, विघ्न होता देखा जाता है और अन्तराय का क्षयोपशम होनेपर, बिना उपाय भी विघ्न नहीं होता; इसलिए विघ्नों का मूलकारण अन्तराय है।

जैसे—कुत्ते को पुरुष द्वारा मारी हुई लाठी लगी; वहाँ वह कुत्ता, लाठी से वृथा ही द्वेष करता है; उसी प्रकार जीव को अन्तराय से निमित्तभूत किये गये बाह्य चेतन-अचेतन द्रव्यों द्वारा विघ्न हुए, यह जीव उन बाह्यद्रव्यों से वृथा द्वेष करता है क्योंकि अन्य द्रव्य, इसे विघ्न करना चाहें और इसके न हो तथा अन्य द्रव्य, विघ्न करना न चाहें और इसके हो जाए;

इसलिए जाना जाता है कि अन्य द्रव्य का कुछ वश नहीं है। जिनका वश नहीं है, उनसे किसलिए लड़े ? इसलिए यह उपाय, झूठा है।

तो सच्चा उपाय क्या है ?—मिथ्यादर्शनादि से इच्छा द्वारा जो (मिथ्या) उत्साह उत्पन्न होता था, वह सम्यग्दर्शनादि से दूर होता है और इन सम्यग्दर्शनादि द्वारा ही अन्तराय का अनुभाग घटे,

तब इच्छा तो मिट जाए और शक्ति बढ़ जाए, तब वह दुःख दूर होकर, निराकुल सुख उत्पन्न होता है; इसलिए सम्यग्दर्शनादि ही सच्चा उपाय हैं।

वेदनीयकर्म के उदय से होनेवाले दुःख और उनसे निवृत्ति

वेदनीय के उदय से दुःख-सुख के कारणों का संयोग होता है। वहाँ अनेक तो शरीर की ही अवस्थाएँ होती हैं; अनेक शरीर की अवस्था को निमित्तभूत बाह्य संयोग होते हैं और अनेक बाह्य ही वस्तुओं के संयोग होते हैं।

वहाँ असाता के उदय से तो शरीर में क्षुधा-तृषा-उच्छ्वास-पीड़ा-रोग इत्यादि होते हैं तथा शरीर की अनिष्ट अवस्था को निमित्तभूत बाह्य अति शीत-उष्ण पवन, बन्धन आदि का संयोग होता है तथा बाह्य शत्रु, कुपुत्र आदि व कुवर्ण आदि सहित, स्कन्धों का संयोग होता है और मोह द्वारा इनमें अनिष्टबुद्धि होती है। जब इनका उदय होता है, तब मोह का उदय ऐसा ही आता है, जिससे परिणामों में महा व्याकुल होता है; इन्हें दूर करना चाहता है और जब तक वे दूर न हों, तब तक दुःखी रहता है—ऐसे इनके होनेपर तो सभी दुःख मानते हैं।

तथा साता के उदय से, शरीर में आरोग्यवानपना, बलवानपना इत्यादि होते हैं और शरीर की इष्ट अवस्था को निमित्तभूत, बाह्य खान-पान आदि तथा सुहावने पवन आदि का संयोग होता है तथा बाह्य मित्र-सुपुत्र-स्त्री-किंकर-हाथी-घोड़ा-धन-धान्य-मकान-वस्त्र आदि का संयोग होता है और मोह द्वारा इनमें इष्टबुद्धि होती है। जब इनका उदय होता है, तब मोह का उदय ऐसा ही आता है, जिससे परिणामों में चैन (सुख) मानता है, उनकी रक्षा चाहता है और जब तक वे रहें, तब तक सुख मानता है। वहाँ यह सुख मानना ऐसा है; जैसे—कोई अनेक रोगों से बहुत पीड़ित हो रहा था, उसको किसी उपचार से, किसी एक रोग की, कुछ काल के लिए, कुछ उपशान्तता हुई, तब वह पूर्व अवस्था की अपेक्षा, अपने को सुखी कहता है; परमार्थ से सुख है नहीं; उसी प्रकार यह जीव, अनेक दुःखों से बहुत पीड़ित हो रहा था, उसके किसी प्रकार से, किसी एक दुःख की, कुछ काल के लिए, कुछ उपशान्तता हुई, तब वह पूर्व अवस्था की अपेक्षा, अपने को सुखी कहता है; परमार्थ से सुख है नहीं।

वहाँ इसके असाता का उदय होनेपर जो होता है, उससे तो दुःख भासित होता है; इसलिए उसे दूर करने का उपाय करता है और साता का उदय होनेपर जो होता है, उससे सुख भासित होता है; इसलिए उसे रखने का उपाय करता है परन्तु ये उपाय, झूठे हैं।

प्रथम तो उसका उपाय इसके आधीन नहीं है, वेदनीयकर्म के उदय के आधीन है। वहाँ असाता को मिटाने और साता को प्राप्त करने के लिए तो सभी का यत्न रहता है परन्तु किसी को

थोड़ा यत्न करनेपर भी अथवा न करनेपर भी सिद्धि हो जाए; किसी को बहुत यत्न करनेपर भी सिद्धि नहीं हो; इसलिए जाना जाता है कि उसका उपाय, इसके आधीन नहीं है।

कदाचित् यह उपाय भी करे और वैसा ही उदय आए तो थोड़े काल तक, किंचित् किसी प्रकार की असाता का कारण मिटे और साता का कारण होवे, लेकिन वहाँ भी मोह के सद्भाव से उनको भोगने की इच्छा से आकुलित होता है। **एक भोग्य वस्तु को भोगने की इच्छा हो; जब तक वह नहीं मिलती, तब तक तो उसकी इच्छा से आकुलित होता है और जब वह मिल जाती है तो उसी समय अन्य को भोगने की इच्छा हो जाती है, तब उससे आकुलित हो जाता है।**

जैसे—किसी को स्वाद लेने की इच्छा हुई थी, उसका आस्वाद जिस समय हुआ, उसी समय अन्य वस्तु का स्वाद लेने की अथवा स्पर्शनादि की इच्छा उत्पन्न हो जाती है।

अथवा एक ही वस्तु को पहले अन्य प्रकार से भोगने की इच्छा हो, जब तक वह नहीं मिले, तब तक उसकी आकुलता रहे और उसका भोग हुआ, उसी समय अन्य प्रकार से भोगने की इच्छा हो जाती है। जैसे—स्त्री को देखना चाहता था, जिस समय अवलोकन हुआ, उसी समय रमण करने की इच्छा होती है तथा ऐसे भोग-भोगते हुए ही, उनके [अन्य] उपाय करने की आकुलता होती है तो उन्हें छोड़कर, उन उपायों को करने लग जाता है, वहाँ अनेक प्रकार की आकुलता होती है।

देखो! एक धन का उपाय करने में, व्यापार आदि करते हुए तथा उसकी रक्षा करने में, सावधानी करते हुए कितनी आकुलता होती है तथा क्षुधा-तृषा-शीत-उष्ण-मल-श्लेष्मादि असाता का उदय आता ही रहता है, उसका निराकरण करके सुख मानते हैं तो वह किस बात का सुख है ?—यह तो रोग का प्रतिकार है। जब तक क्षुधादि रहते हैं, तब तक उनको मिटाने की इच्छा से आकुलता होती है; जब वह मिटे, तब कोई अन्य इच्छा उत्पन्न हो जाए तो उसकी आकुलता होती है; फिर जब पुनः क्षुधादि हों, तब उनकी आकुलता हो जाती है।

इस प्रकार इसके उपाय करते हुए, कदाचित् असाता मिटकर साता हो, वहाँ भी आकुलता बनी ही रहती है; इसलिए दुःख ही रहता है।

पुनश्च, ऐसे भी रहना तो होता नहीं है, आप स्वयं उपाय करते-करते ही कोई असाता का उदय ऐसा आए कि उसका कुछ उपाय बन नहीं सके और उसकी पीड़ा बहुत हो, वह सही न जाए, तब उसकी आकुलता से विह्वल हो जाए; वहाँ महा दुःखी होता है।

अतः इस संसार में साता का उदय तो किसी पुण्य के उदय से, किसी के कदाचित् ही पाया जाता है; बहुत जीवों को बहुत काल तक, असाता ही का उदय रहता है; **इसलिए जो उपाय करता है, वे झूठे हैं।**

अथवा बाह्य सामग्री से सुख-दुःख मानते हैं, वही भ्रम है। सुख-दुःख तो साता -असाता का उदय होनेपर, मोह के निमित्त से होता है—ऐसा प्रत्यक्ष देखने में आता है।

यदि लाख धन के धनी को, हजार धन का व्यय हुआ, तब वह तो दुःखी होता है और यदि शत धन के धनी को, हजार धन का लाभ हुआ, तब वह सुख मानता है; [जबकि] बाह्य सामग्री तो उसके पास इससे निन्यानवें गुनी (अधिक) है। अथवा लाख धन के धनी को, अधिक धन की इच्छा है तो वह दुःखी है और शत धन के धनी को, सन्तोष है तो वह सुखी है।

तथा समान वस्तु मिलनेपर कोई सुख मानता है, कोई दुःख मानता है। जैसे—किसी को मोटे वस्त्र का मिलना दुःखकारी होता है, किसी को सुखकारी होता है। तथा शरीर में क्षुधा आदि पीड़ा व बाह्य 'इष्ट का वियोग—अनिष्ट का संयोग' होनेपर, किसी को बहुत दुःख होता है, किसी को थोड़ा होता है, किसी को नहीं होता; इसलिए सामग्री के आधीन, सुख-दुःख नहीं हैं; साता-असाता का उदय होनेपर, मोहरूप परिणमन के निमित्त से ही [ज्ञानी] सुख-दुःख मानते हैं।

यहाँ प्रश्न है – बाह्य सामग्री का तो जैसा तुम कहते हो, वैसा ही है परन्तु शरीर में तो पीड़ा होनेपर दुःख ही होता है और पीड़ा न होनेपर सुख ही होता है; अतः यह तो शरीर की अवस्था ही के आधीन सुख-दुःख भासित होते हैं ?

उसका समाधान – आत्मा का तो ज्ञान, इन्द्रियाधीन है और इन्द्रियाँ, शरीर के अंग हैं; इसलिए इस [इन्द्रिय] में जैसी अवस्था होती है, उसके [निमित्त से] जाननेरूप ज्ञान परिणमित होता है, उसके साथ ही मोहभाव होता है; उससे शरीर की अवस्था के माध्यम से, सुख-दुःख विशेष जाना जाता है। तथा पुत्र-धनादि से अधिक मोह हो तो अपने शरीर का कष्ट सहता है, उसका थोड़ा दुःख मानता है और उनको दुःख होनेपर अथवा उनका संयोग मिटनेपर, बहुत दुःख मानता है परन्तु **मुनि हैं, वे शरीर को पीड़ा होनेपर भी, कुछ दुःख नहीं मानते;** इसलिए सुख-दुःख का मानना तो मोह ही के आधीन है। मोह के और वेदनीय के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है; इसलिए साता-असाता के उदय से, 'सुख-दुःख का होना' भासित होता है।

वहाँ मुख्यतः कितनी ही सामग्री, साता के उदय से होती हैं, कितनी ही असाता के उदय से होती हैं; इसलिए सामग्रियों से सुख-दुःख भासित होते हैं परन्तु निर्धार करनेपर, मोह ही से सुख-दुःख का मानना होता है; औरों के द्वारा सुख-दुःख होने का नियम नहीं है।

केवली को साता-असाता का उदय भी है और सुख-दुःख में कारणभूत सामग्री का संयोग भी है परन्तु मोह के अभाव से, किंचित्मात्र भी सुख-दुःख नहीं होता; इसलिए सुख -दुःख को मोहजनित ही मानना; इसलिए [हे जीव!] तू सामग्री को दूर करने का या होने का उपाय करके 'दुःख मिटाना' चाहता है और 'सुखी होना' चाहता है परन्तु यह उपाय झूठा है।

तो सच्चा उपाय क्या है ?—सम्यग्दर्शनादि से भ्रम दूर होनेपर, सामग्री से सुख-दुःख भासित नहीं होता; अपने परिणाम ही से भासित होता है। तथा यथार्थ विचार के अभ्यास से, अपने परिणाम, जैसे—सामग्री के निमित्त से सुखी-दुःखी न हों, वैसे साधन करना चाहिए।

सम्यग्दर्शनादि की भावना ही से मोह मन्द हो जाए, तब ऐसी दशा हो जाए कि अनेक कारण मिलनेपर भी, अपने को सुख-दुःख नहीं होता, तब एक शान्तदशारूप निराकुल होकर, सच्चे सुख को अनुभवता है, तब सर्व दुःख मिटनेपर, सुखी होता है - यह सच्चा उपाय है।

आयुकर्म के उदय से होनेवाले दुःख और उनसे निवृत्ति

आयुकर्म के निमित्त से पर्याय का धारण करना, वह **जीवितव्य** है और पर्याय का छूटना, वह **मरण** है। वहाँ यह जीव, मिथ्यादर्शनादि से पर्याय ही को अपनेरूप अनुभव करता है; इसलिए जीवितव्य रहनेपर 'अपना अस्तित्व' मानता है और मरण होनेपर, 'अपना अभाव' होना मानता है। इसी कारण से इसे, सदा काल मरण का भय रहता है, उस भय से सदा आकुलता रहती है। जिनको मरण का कारण जानता है, उनसे बहुत डरता है; कदाचित् उनका संयोग बने तो महाविह्वल हो जाता है; इस प्रकार महा दुःखी रहता है।

उसका उपाय यह करता है कि, मरण के कारणों को दूर रखता है अथवा आप [स्वयं] उनसे भागता है, औषधादि साधन करता है, किला-कोट आदि बनाता है, इत्यादि उपाय करता है परन्तु ये उपाय, झूठे हैं क्योंकि आयु पूर्ण होनेपर तो अनेक उपाय करे, अनेक सहायक हों, तथापि मरण हो ही जाता है; एक समयमात्र भी जीवित नहीं रहता और जब तक आयु पूर्ण न हो, तब तक अनेक कारण मिलें, तो भी मरण सर्वथा नहीं होता; इसलिए उपाय करने से मरण मिटता नहीं है तथा आयु की स्थिति पूर्ण होती ही है; इसलिए मरण भी होता ही है; इसका उपाय करना झूठा ही है।

तो सच्चा उपाय क्या है ?—सम्यग्दर्शनादि से पर्याय में अहंबुद्धि छूट जाए, आप अनादि-निधन चैतन्यद्रव्य है, उसमें अहंबुद्धि आए; पर्याय को स्वांग समान जाने, तब मरण का भय नहीं रहता तथा सम्यग्दर्शनादि से ही सिद्धपद प्राप्त करे, तब मरण का अभाव ही होता है; इसलिए सम्यग्दर्शनादि ही सच्चे उपाय हैं।

नामकर्म के उदय से होनेवाले दुःख और उनसे निवृत्ति

नामकर्म के उदय से गति-जाति-शरीरादि उत्पन्न होते हैं, उनमें से जो पुण्य के उदय से होते हैं, वे तो [इन्द्रिय] सुख के कारण होते हैं और जो पाप के उदय से होते हैं, वे दुःख के कारण होते हैं परन्तु यहाँ [वास्तविक] सुख मानना, भ्रम है। तथा यह दुःख के कारण मिटाने का और सुख के कारण

होने का उपाय करता है, वह झूठा है।

[**तो सच्चा उपाय क्या है ?**] — **सच्चा उपाय, सम्यग्दर्शनादि हैं;** वहाँ जैसा निरूपण, वेदनीय का कथन करते हुए किया, वैसा यहाँ भी जानना। वेदनीय और नाम में, सुख-दुःख के कारणपने की समानता से, निरूपण की समानता जानना।

गोत्रकर्म के उदय से होनेवाले दुःख और उनसे निवृत्ति

गोत्रकर्म के उदय से उच्च-नीच कुल में उत्पन्न होता है। वहाँ उच्चकुल में उत्पन्न होनेपर, अपने को ऊँचा मानता है और नीचकुल में उत्पन्न होनेपर, अपने को नीचा मानता है। वहाँ कुल पलटने का उपाय तो इसको भासित नहीं होता; इसलिए जैसा कुल प्राप्त किया, उसी में अपनापन मानता है परन्तु कुल की अपेक्षा, ऊँचा-नीचा मानना, भ्रम है। कोई उच्चकुलवाला, निंद्य -कार्य करे तो वह नीचा हो जाता है और नीचकुल में रहकर, कोई प्रशंसनीय कार्य करे तो वह ऊँचा हो जाता है। तथा लोभादि से उच्चकुलवाले, नीचकुलवाले की सेवा करने लग जाते हैं।

तथा [प्राप्त] कुल कितने काल रहता है ? — पर्याय छूटनेपर, कुल की बदली हो जाती है; इसलिए उच्च-नीच कुल से, अपने को ऊँचा-नीचा माननेपर, उच्चकुलवाले को, नीचा होने के भय का और नीचकुलवाले को प्राप्त किये हुए नीचपने का दुःख ही है।

[**तो सच्चा उपाय क्या है ?**] — इसका सच्चा उपाय यही है कि **सम्यग्दर्शनादि द्वारा, उच्च-नीच कुल में हर्ष-विषाद नहीं मानना तथा उन्हीं से जिसकी फिर बदली नहीं होती—ऐसा सबसे ऊँचा सिद्धपद प्राप्त करता है,** तब सब दुःख मिट जाते हैं और [परम] सुखी होता है।

इस प्रकार कर्मोदय की अपेक्षा, **मिथ्यादर्शनादि के निमित्त से, संसार में दुःख ही दुःख पाया जाता है,** उसका वर्णन किया गया।

(ख) पर्याय की अपेक्षा

अब, इसी दुःख का वर्णन, पर्यायों की अपेक्षा से करते हैं —

एकेन्द्रिय जीवों के दुःख

इस संसार में बहुत काल तो एकेन्द्रियपर्याय ही में बीतता है; इसलिए अनादि ही से तो **नित्यनिगोद** में रहना होता है, फिर वहाँ से निकलना ऐसा है, जैसे—भाड़ में भुँजते हुए, चने का उचट जाना। इस प्रकार वहाँ से निकलकर, अन्य पर्याय धारण करे तो त्रस में तो बहुत थोड़े ही काल रहता है; एकेन्द्रिय ही में बहुत काल व्यतीत करता है।

वहाँ इतरनिगोद में बहुत काल रहना होता है तथा कितने काल तक, पृथ्वी-जल -अग्नि-वायु और प्रत्येक वनस्पति में रहना होता है।

नित्यनिगोद से निकलकर, बाद में त्रस में रहने का उत्कृष्ट काल तो साधिक दो हजार सागर ही है तथा एकेन्द्रिय में रहने का उत्कृष्ट काल, असंख्यात

पुद्गलपरावर्तनमात्र है और पुद्गलपरावर्तन का काल ऐसा है, जिसके अनन्तवें भाग में भी, अनन्त सागर होते हैं; इसलिए इस संसारी जीव का काल, मुख्यतः एकेन्द्रियपर्याय में ही व्यतीत होता है।

वहाँ एकेन्द्रिय के ज्ञान-दर्शन की शक्ति तो किंचित्मात्र ही रहती है। एक स्पर्शनइन्द्रिय के निमित्त से हुआ मतिज्ञान और उसके निमित्त से हुआ श्रुतज्ञान तथा स्पर्शनइन्द्रियजनित अचक्षुदर्शन, जिनके द्वारा शीत-उष्णादि को किंचित् जानते-देखते हैं।

ज्ञानावरण-दर्शनावरण के तीव्र उदय से, इससे अधिक ज्ञान-दर्शन नहीं पाये जाते और विषयों की इच्छा पायी जाती है, जिससे महा दुःखी हैं।

दर्शनमोह के उदय से, मिथ्यादर्शन होता है, उससे पर्याय का ही अपनेरूप श्रद्धान करते हैं; अन्य विचार करने की शक्ति ही नहीं है तथा **चारित्रमोह के उदय से,** तीव्र क्रोधादि-कषायरूप परिणमित होते हैं क्योंकि केवली भगवान ने उनके कृष्ण-नील-कापोत - ये तीन अशुभलेश्याएँ ही कही हैं और वे, तीव्रकषाय होनेपर ही होती हैं। वहाँ कषाय तो बहुत है और शक्ति सर्व प्रकार से महाहीन है; इसलिए बहुत दुःखी हो रहे हैं, कुछ उपाय नहीं कर सकते।

यहाँ कोई कहे — उनके ज्ञान तो किंचित्मात्र ही रहा है, फिर वे कषाय कैसे करते हैं ?

उसका समाधान — ऐसा कोई नियम तो है नहीं कि जितना ज्ञान हो, उतनी ही कषाय हो; ज्ञान तो जितना क्षयोपशम हो, उतना होता है।

जैसे—किसी अन्धे-बहरे पुरुष को ज्ञान थोड़ा होनेपर भी, बहुत कषाय होती दिखायी देती है; उसी प्रकार एकेन्द्रिय को ज्ञान थोड़ा होनेपर भी, बहुत कषाय होना माना गया है।

तथा बाह्य कषाय तब प्रगट होती है, जब कषाय के अनुसार, कुछ उपाय करे, परन्तु वे शक्तिहीन हैं; इसलिए उपाय कुछ कर नहीं सकते, इससे उनकी कषाय, प्रगट नहीं होती।

जैसे—कोई पुरुष, शक्तिहीन है, उसको किसी कारण से तीव्रकषाय हो, परन्तु कुछ कर नहीं सकता; इसलिए उसकी कषाय, बाह्य में प्रगट नहीं होती है; अतः वह ही अति दुःखी होता है; उसी प्रकार एकेन्द्रिय जीव, शक्तिहीन हैं, उनको किसी कारण से कषाय होती है परन्तु कुछ कर नहीं सकते; इसलिए उनकी कषाय बाह्य में प्रगट नहीं होती; अतः वे स्वयं ही दुःखी होते हैं।

वहाँ ऐसा जानना—जहाँ कषाय बहुत हो और शक्तिहीन हो, वहाँ बहुत दुःख होता है और ज्यों-ज्यों कषाय कम होती जाए तथा शक्ति बढ़ती जाए, त्यों-त्यों दुःख कम होता जाता है; इसी प्रकार एकेन्द्रियों के कषाय बहुत और शक्तिहीन है; इसलिए एकेन्द्रियजीव महादुःखी हैं; उनके दुःख वे ही भोगते हैं और केवली जानते हैं।

जैसे—सन्निपात के रोगी का ज्ञान, कम हो जाए और बाह्य शक्ति की हीनता से, अपना दु:ख प्रगट भी न कर सके, परन्तु वह महा दु:खी है; उसी प्रकार एकेन्द्रिय का ज्ञान तो थोड़ा है और बाह्य शक्तिहीनता के कारण, अपना दु:ख प्रगट भी नहीं कर सकता, परन्तु महा दु:खी है।

तथा **अन्तराय के तीव्र उदय** से, बहुत चाहा हुआ नहीं होता; इसलिए भी दु:खी ही होते हैं।

तथा [**एकेन्द्रियजीवों के**] **अघातिकर्मों** में विशेषरूप से **पाप-प्रकृतियों का उदय** है।

वहाँ **असातावेदनीय का उदय होनेपर,** उसके निमित्त से महा दु:खी होते हैं। जैसे – वनस्पति है, वह पवन से टूटती है, शीत-उष्णता से सूख जाती है, जल न मिलने से सूख जाती है, अग्नि से जल जाती है; उसको कोई छेदता है, भेदता है, मसलता है, खाता है, तोड़ता है इत्यादि अवस्थाएँ होती हैं; उसी प्रकार यथासम्भव पृथ्वी आदि में अवस्थाएँ होती हैं, उन अवस्थाओं के होने से, वे महा दु:खी होते हैं।

जैसे—मनुष्य के शरीर में ऐसी अवस्था होनेपर दु:ख होता है; उसी प्रकार उनके होता है क्योंकि इनका जानपना स्पर्शनइन्द्रिय से होता है और इनके स्पर्शनइन्द्रिय ही है, उसके द्वारा उन विषयों को जानकर, मोह के वश से, महा व्याकुल होते हैं परन्तु भागने की या लड़ने की या पुकारने की शक्ति नहीं है; इसलिए अज्ञानी लोग, उनके दु:ख को नहीं जानते।

कदाचित्-किंचित् साता का उदय होता है परन्तु वह बलवान नहीं होता।

आयुकर्म से इन एकेन्द्रियजीवों में जो अपर्याप्त (लब्ध्यपर्याप्त) हैं, उनके तो पर्याय की स्थिति उच्छ्वास के अठारहवें भागमात्र ही है और पर्याप्तों की अन्तर्मुहूर्त आदि कितने ही वर्षपर्यन्त है, वहाँ आयु थोड़ी होने से, जन्म-मरण होते ही रहते हैं, उससे दु:खी होते हैं।

नामकर्म में तिर्यंचगति आदि पापप्रकृतियों का ही उदय, विशेषरूप से पाया जाता है। किसी हीन पुण्यप्रकृति का उदय हो, उसका बलवानपना नहीं होता; इसलिए उनसे भी मोह के वश से, दु:खी होते हैं।

तथा **गोत्रकर्म** में नीचगोत्र ही का उदय है; इसलिए महंतता नहीं होती; इसलिए भी दु:खी ही हैं।

इस प्रकार एकेन्द्रियजीव महा दु:खी हैं।

वहाँ इस संसार में, जैसे-पाषाण, आधार (पृथ्वी) पर तो बहुत काल रहता है; निराधार आकाश में तो कदाचित्-किंचित्मात्र काल रहता है; उसी प्रकार यह जीव, एकेन्द्रियपर्याय में बहुत काल रहता है; अन्य पर्यायों में तो कदाचित्-किंचित्मात्र काल रहता है; इसलिए **यह जीव, संसार में महा दु:खी है।**

विकलत्रय व असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के दुःख

यह जीव, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रियपर्यायों को धारण करता है, वहाँ भी एकेन्द्रियवत् दुःख जानना।

विशेष इतना – यहाँ क्रम से एक-एक इन्द्रियजनित ज्ञान-दर्शन की और कुछ शक्ति की अधिकता हुई है और बोलने-चालने की शक्ति हुई है। वहाँ भी जो अपर्याप्त हैं या पर्याप्त भी, हीनशक्ति के धारक छोटे जीव हैं, उनकी शक्ति प्रगट नहीं होती है। तथा कितने ही पर्याप्त, बहुत शक्ति के धारक बड़े जीव हैं, उनकी शक्ति प्रगट होती है; इसलिए वे जीव, विषयों का उपाय करते हैं, दुःख दूर होने का उपाय करते हैं; क्रोधादि से काटना, मारना, लड़ना, छल करना, अन्नादि का संग्रह करना, भागना इत्यादि कार्य करते हैं; दुःख से तड़फड़ाना, पुकारना इत्यादि क्रिया करते हैं; इसलिए उनका दुःख कुछ प्रगट भी होता है।

– ऐसे लट, कीड़ी आदि जीव, शीत-उष्ण, छेदन-भेदनादि से या भूख-प्यासादि से, परम दुःखी दिखते हैं, जो प्रत्यक्ष दिखायी देता है; उसका विचार कर लेना। यहाँ विशेष क्या लिखें ?

इस प्रकार द्वीन्द्रियादि जीवों को महा दुःखी ही जानना।

संज्ञी पंचेन्द्रियजीवों के दुःख

नरकगति के दुःख

संज्ञी पंचेन्द्रिय में, नारकी जीव हैं, वे तो सर्व प्रकार से बहुत दुःखी हैं। यद्यपि उनमें **ज्ञानादि की शक्ति** कुछ है परन्तु विषयों की इच्छा बहुत है और इष्ट विषयों की सामग्री किंचित् भी नहीं मिलती; इसलिए उस शक्ति के होनेपर भी, बहुत दुःखी होते हैं।

वहाँ उनके **क्रोधादि कषाय की अति-तीव्रता** पायी जाती है क्योंकि उनके कृष्णादि अशुभलेश्या ही है तथा क्रोध-मान से परस्पर दुःख देने का कार्य निरन्तर पाया जाता है।

यदि परस्पर मित्रता करें तो दुःख मिट जाए और अन्य को दुःख देने से, उनका कुछ कार्य भी नहीं होता, परन्तु **क्रोध-मान की अति तीव्रता** पायी जाती है, उससे परस्पर दुःख देने ही की बुद्धि रहती है। विक्रिया द्वारा, अन्य को दुःखदायक शरीर के अंग बनाते हैं या शस्त्रादि बनाते हैं; उनके द्वारा दूसरों को स्वयं पीड़ा देते हैं और स्वयं को कोई और पीड़ा देता है; कभी भी उनकी कषाय उपशान्त नहीं होती।

माया-लोभ की भी अति तीव्रता होती है परन्तु कोई इष्टसामग्री वहाँ दिखायी नहीं देती; इसलिए उन कषायों का कार्य वे प्रगट नहीं कर सकते; उनसे अन्तरंग में महा दुःखी होते हैं तथा कदाचित्-किंचित् कोई प्रयोजन पाकर, उनका भी कार्य [प्रगट] होता है।

तथा [नोकषायों में] **हास्य व रतिकषाय** भी हैं परन्तु बाह्यनिमित्त नहीं हैं; इसलिए वे प्रगट नहीं होती है; कदाचित्-किंचित् किसी कारण से, होती भी है। **अरति-शोक-भय-जगुप्सा** के बाह्यकारण बन रहे हैं; इसलिए ये कषायें, तीव्र प्रगट होती हैं। तथा वेदों में **नपुंसक-वेद** है; अतः इच्छा तो बहुत है परन्तु स्त्री-पुरुषों से रमण करने का निमित्त नहीं है; इसलिए महा पीड़ित हैं। **इस प्रकार वे कषायों [-नोकषायों] द्वारा अति दुःखी हैं।**

वहाँ **वेदनीय में असाता ही का उदय है,** उससे वहाँ अनेक वेदनाओं के निमित्त हैं। शरीर में कुष्ठ, कास (खाँसी), श्वासादि अनेक रोग, युगपत् पाये जाते हैं और **क्षुधा-तृषा** ऐसी है कि सर्व का भक्षण-पान करना चाहते हैं लेकिन वहाँ की मिट्टी ही का भोजन मिलता है। वह **मिट्टी** भी ऐसी है कि यदि यहाँ आ जाए तो उसकी दुर्गन्ध से अनेक कोसों के मनुष्य मर जाएँ। वहाँ की **शीत-उष्णता** ऐसी है कि यदि लाख योजन का लोहे का गोला हो तो वह भी उनसे भस्म हो जाए—कहीं शीत है व कहीं उष्णता है।

वहाँ **पृथ्वी,** शस्त्रों से भी महा तीक्ष्ण कंटकोंसहित है; उस पृथ्वी में जो वन हैं, वे शस्त्र की धारसमान, पत्रादि सहित हैं। **नदी,** ऐसे जलयुक्त है कि जिसका स्पर्श होनेपर, शरीर के खण्ड-खण्ड हो जाएँ। **पवन,** ऐसा प्रचण्ड है कि उससे शरीर, दग्ध हो जाता है।

नारकी, एक-दूसरे को अनेक प्रकार से पीड़ा देते हैं, घानी में पेलते हैं, खण्ड-खण्ड कर डालते हैं, हांडी में राँधते हैं, कोड़े मारते हैं, तप्त लौहादि का स्पर्श कराते हैं इत्यादि वेदना उत्पन्न करते हैं। तीसरी पृथ्वी तक, **असुरकुमार देव** जाते हैं, वे स्वयं उन्हें पीड़ा देते हैं और परस्पर लड़ाते हैं। ऐसी वेदना होनेपर भी, शरीर छूटता नहीं है; पारे की भाँति खण्ड-खण्ड हो जानेपर भी, मिल जाता है—ऐसी महापीड़ा होती है।

वहाँ **साता का निमित्त तो कुछ है नहीं,** लेकिन किसी अंश में कदाचित् किसी को अपनी मान्यता से, किसी कारण अपेक्षा, साता का उदय होता है परन्तु वह बलवान नहीं होता।

आयु, वहाँ बहुत है—जघन्य आयु, दस हजार वर्ष तथा उत्कृष्ट आयु, तेतीस सागर है। इतने काल तक वहाँ ऐसे दुःख भोगने पड़ते हैं। वहाँ **नामकर्म** की सर्व पापप्रकृतियों का ही उदय है; एक भी पुण्यप्रकृति का उदय नहीं है; उनसे महा दुःखी हैं। तथा **गोत्र** में नीच-गोत्र का ही उदय है, उससे महंतता नहीं होती; इसलिए दुःखी ही हैं।

इस प्रकार नरकगति में महा दुःख जानना।

तिर्यंचगति के दुःख

तिर्यंचगति में बहुत जीव, लब्धि अपर्याप्त हैं, उनकी तो उच्छ्वास के अठारहवें-भागमात्र आयु है। तथा कितने ही छोटे जीव, पर्याप्त भी हैं परन्तु उनकी (ज्ञान-दर्शन-वीर्य की) शक्ति प्रगट भासित नहीं होती; अतः उनके दुःख एकेन्द्रियवत् जानना; उनमें जो ज्ञानादि का विशेष है, उसे विशेष जानना। तथा बड़े जीव,

पर्याप्त हैं, उनमें कितने ही सम्मूर्च्छन हैं, कितने ही गर्भज हैं; उनमें ज्ञानादि प्रगट होते हैं परन्तु वे विषयों की इच्छा से आकुलित हैं; उनमें बहुतों को तो इष्टविषय की प्राप्ति नहीं है; किसी को कदाचित्-किंचित् होती है।

वहाँ **मिथ्यात्वभाव** से, अतत्त्वश्रद्धानी ही हो रहे हैं और **कषाय,** मुख्यतः तीव्र ही पायी जाती है; **क्रोध-मान** से परस्पर लड़ते हैं, भक्षण करते हैं, दुःख देते हैं; **माया-लोभ** से छल करते हैं, वस्तुओं को चाहते हैं; **हास्यादि** होनेपर, उन कषायों के कार्यों में प्रवर्तते हैं तथा किसी के कदाचित् मन्दकषाय होती है परन्तु वह थोड़े जीवों के होती है; इसलिए उसकी मुख्यता नहीं है।

वेदनीय में मुख्यतः असाता का उदय है; उससे रोग-पीड़ा, क्षुधा-तृषा, छेदन-भेदन, बहुत-भार वहन, शीत-उष्ण, अंग-भंग आदि अवस्थाएँ होती हैं; उनसे दुःखी होते प्रत्यक्ष देखे जाते हैं; इसलिए बहुत नहीं कहा है। किसी के **कदाचित्-किंचित् साता का भी उदय** होता है परन्तु थोड़े ही जीवों को होता है; मुख्यता नहीं है।

उनकी **आयु,** अन्तर्मुहूर्त से लेकर, कोटि वर्ष पर्यन्त है। वहाँ बहुत जीव, अल्प आयु के धारक होते हैं, इसलिए जन्म-मरण का दुःख पाते हैं; जबकि भोगभूमियों की बड़ी आयु है और उनके साता का भी उदय है परन्तु वे जीव, थोड़े हैं।

वहाँ मुख्यतः तो **नामकर्म** की तिर्यंचगति आदि पापप्रकृतियों का ही उदय है। किसी को कदाचित् किन्हीं पुण्यप्रकृतियों का भी उदय होता है परन्तु थोड़े जीवों को, थोड़ा ही होता है; उसकी मुख्यता नहीं है। तथा **गोत्र** में नीचगोत्र का ही उदय है; इसलिए हीन हो रहे हैं।

इस प्रकार तिर्यंचगति में महा दुःख जानना।

मनुष्यगति के दुःख

वहाँ मनुष्यगति में असंख्यात जीव तो लब्धि-अपर्याप्त हैं, वे सम्मूर्च्छन ही हैं, उनकी आयु तो उच्छ्वास के अठारहवें भागमात्र है तथा कितने ही जीव, गर्भ में आकर थोड़े ही काल में मरण पाते हैं, उनकी तो [ज्ञानादि की] शक्ति प्रगट भासित नहीं होती, उनके दुःख एकेन्द्रियवत् जानना तथा जो विशेष है, उसे विशेष जानना।

तथा गर्भजों में कुछ काल, गर्भ में रहने के बाद, बाहर निकलना होता है; उनके दुःख का कर्म-अपेक्षा, पहले वर्णन किया है, वैसे जानना। वह सर्व वर्णन, गर्भज मनुष्यों को सम्भव होता है अथवा जैसा तिर्यंचों का वर्णन किया है, उस प्रकार जानना।

विशेष यह है – यहाँ कोई शक्तिविशेष पायी जाती है अथवा राजादि को विशेष **साता का उदय** होता है तथा **क्षत्रियादि को उच्चगोत्र का भी उदय** होता है तथा धन-कुटुम्बादि का निमित्त विशेष पाया जाता है, इत्यादि विशेष जानना।

अथवा गर्भ आदि अवस्थाओं के दु:ख, प्रत्यक्ष ही भासित होते हैं। जिस प्रकार विष्टा में लट उत्पन्न होती है; उसी प्रकार गर्भ में शुक्र-शोणित के बिन्दु को अपने शरीररूप करके, जीव उत्पन्न होता है; बाद में वहाँ क्रमश: ज्ञानादि की तथा शरीर की वृद्धि होती है। गर्भ का दु:ख बहुत है; संकुचितरूप से औंधे मुँह, क्षुधा-तृषादिसहित वहाँ काल पूर्ण करता है। जब बाहर निकलता है, तब बाल्यावस्था में महा दु:ख होता है।

कोई कहते हैं—बाल्यावस्था में दु:ख थोड़ा है लेकिन ऐसा नहीं है बल्कि शक्ति थोड़ी होने से, व्यक्त नहीं हो सकता। पश्चात् [युवावस्था में] व्यापारादि व विषयेच्छा आदि दु:खों की प्रगटता होती है। इष्ट-अनिष्ट जनित आकुलता बनी ही रहती है। पश्चात् जब वृद्ध हो तो शक्तिहीन हो जाता है, तब परम दु:खी होता है—**ऐसे ये दु:ख, प्रत्यक्ष होते देखे जाते हैं।**

हम बहुत क्या कहें?—प्रत्यक्ष जिसे भासित नहीं होते, वह कहे हुए को भी कैसे सुनेगा? किसी के कदाचित् किंचित् साता का उदय होता है, वह भी आकुलतामय है और तीर्थंकरादि पद, मोक्षमार्ग प्राप्त किये बिना, होते नहीं हैं। **इस प्रकार मनुष्यपर्याय में दु:ख ही हैं।**

[वहाँ] एक, मनुष्यपर्याय में कोई अपना भला होने का उपाय करे, तो हो सकता है।

जैसे—काने गन्ने की जड़ व उसका ऊपरी फीका भाग, तो चूसनेयोग्य ही नहीं है और बीच की पोरें कानी होने से, वे भी नहीं चूसी जातीं; कोई स्वाद का लोभी, उन्हें बिगाड़े तो बिगाड़ो और यदि उन्हें बो दें तो उनसे बहुत से गन्ने हों और उनका स्वाद बहुत मीठा आए।

उसी प्रकार मनुष्यपर्याय का बालक-वृद्धपना तो सुखयोग्य नहीं है और बीच की अवस्था, रोग-क्लेशादि से युक्त है, वहाँ सुख हो नहीं सकता; कोई विषयसुख का लोभी, उसे बिगाड़े तो बिगाड़ो, परन्तु यदि उसे धर्मसाधन में लगायें तो बहुत उच्चपद को पाए, वहाँ बहुत निराकुल सुख पाया जाता है।

इसलिए यहाँ अपना हित साधना, सुख होने के भ्रम से, वृथा नहीं खोना।

देवगति के दु:ख

वहाँ देवपर्याय में **ज्ञानादि की शक्ति**, अन्य से कुछ विशेष है परन्तु वे **मिथ्यात्व** से अतत्त्वश्रद्धानी हो रहे हैं तथा उनकी **कषाय**, कुछ मन्द है।

वहाँ भवनवासी-व्यन्तर-ज्योतिष्कों को कषाय बहुत मन्द नहीं है, उनका उपयोग भी चंचल बहुत है तथा कुछ शक्ति भी है; अत: कषाय के कार्यों में प्रवर्तते हैं, कौतूहल विषयादि कार्यों में लगे रहते हैं, उस आकुलता से दु:खी ही हैं, तथा वैमानिकों को ऊपर-ऊपर विशेष मन्दकषाय है और शक्ति विशेष है; इसलिए आकुलता घटने से, दु:ख भी घटता जाता है।

यहाँ देवों को **क्रोध-मान कषाय** हैं परन्तु कारण थोड़े हैं; इसलिए उनके कार्यों की गौणता है। किसी का बुरा करना, किसी को हीन करना इत्यादि कार्य निकृष्ट देवों में तो कौतूहल आदि से होते हैं परन्तु उत्कृष्ट देवों में, थोड़े होते हैं; मुख्यता नहीं है।

तथा **माया-लोभ कषायों** के कारण, पाये जाते हैं; इसलिए उनके कार्यों की मुख्यता है; इसलिए छल करना, विषय सामग्री की चाह करना इत्यादि कार्य विशेष होते हैं। वे भी ऊँचे-ऊँचे देवों के कम होते जाते हैं।

वहाँ **हास्य-रति कषाय** के कारण, बहुत पाये जाते हैं; इसलिए इनके कार्यों की मुख्यता है तथा **अरति-शोक-भय-जुगुप्सा** के कारण, थोड़े हैं; इसलिए इनके कार्यों की गौणता है, तथा **स्त्रीवेद-पुरुषवेद** का उदय है और रमण करने का भी निमित्त है; इसलिए काम-सेवन करते हैं - यह कषाय भी ऊपर-ऊपर मन्द है। अहमिन्द्रों के वेदों की मन्दता के कारण, काम-सेवन का अभाव है।

इस प्रकार देवों को कषायभाव है और कषाय से ही दुःख है तथा इनको कषाय, जितनी थोड़ी है, उतना दुःख भी थोड़ा है; इसलिए औरों की अपेक्षा, इन्हें सुखी कहते हैं। परमार्थ से कषायभाव जीवित है, उससे वे दुःखी ही हैं।

वेदनीय में साता का उदय बहुत है। वहाँ भवनत्रिक को तो थोड़ा है, वैमानिकों को ऊपर ऊपर विशेष है; इष्ट शरीर की अवस्था; स्त्री, महल आदि सामग्री का संयोग पाया जाता है तथा **कदाचित्-किंचित् असाता का भी उदय** किसी कारण से होता है, वह निकृष्ट देवों को कुछ प्रगट भी है परन्तु उत्कृष्ट देवों को, विशेष प्रगट नहीं है।

तथा **आयु** बड़ी है; जघन्य आयु, दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट इकतीस सागर है; इससे अधिक आयु का धारी, मोक्षमार्ग प्राप्त किये बिना नहीं होता; इसलिए इतने काल तक, विषय-सुख में मग्न रहते हैं।

नामकर्म की देवगति आदि सर्व पुण्यप्रकृतियों का ही उदय है; इसलिए सुख का कारण है तथा **गोत्र** में उच्चगोत्र का ही उदय है; इसलिए महंतपद को प्राप्त हैं।

—ऐसे इनको पुण्य उदय की विशेषता से, इष्ट सामग्री मिलती है और कषायों से इच्छा पायी जाती है; इसलिए उनको भोगने में आसक्त हो रहते हैं परन्तु इच्छा अधिक ही रहती है; इसलिए सुखी नहीं होते। यद्यपि ऊँचे देवों को, उत्कृष्ट पुण्य उदय है; कषाय बहुत मन्द है तथापि उनके भी इच्छा का अभाव नहीं होता; इसलिए परमार्थ से, दुःखी ही हैं।

इस प्रकार संसार में सर्वत्र दुःख ही दुःख पाया जाता है। इस प्रकार पर्याय अपेक्षा, दुःखों का वर्णन किया।

(ग) दु:ख का सामान्यस्वरूप

अब, इन सर्व दु:खों का सामान्यस्वरूप कहते हैं। दु:ख का लक्षण, आकुलता है; वह आकुलता, इच्छा होनेपर ही होती है।

चार प्रकार की इच्छाएँ

इस संसारी जीव को अनेक प्रकार की इच्छाएँ पायी जाती हैं —

१. एक इच्छा तो विषयग्रहण की है, उससे यह देखना-जानना चाहता है।

जैसे-वर्ण देखने की, राग सुनने की, अव्यक्त को जानने की, इत्यादि इच्छाएँ होती हैं। वहाँ अन्य किसी ने पीड़ित नहीं किया है परन्तु जब तक [उस विषय को] देखता-जानता नहीं है, तब तक महा व्याकुल होता है। **इस इच्छा का नाम 'विषय' है।**

२. एक इच्छा, कषायभावों के अनुसार, कार्य करने की है, जिससे वह कार्य करना चाहता है।

जैसे—बुरा करने की, हीन करने की, इत्यादि इच्छाएँ होती हैं। यहाँ भी अन्य कोई पीड़ा नहीं है परन्तु जब तक कार्य न हो, तब तक महा व्याकुल होता है। **इस इच्छा का नाम 'कषाय' है।**

३. एक इच्छा, पाप के उदय से जो शरीर में बाह्य अनिष्ट कारण मिलते हैं, उनको दूर करने की होती है।

जैसे—रोग, पीड़ा, क्षुधा आदि का संयोग होनेपर, उन्हें दूर करने की इच्छा होती है; इसलिए यहाँ इसे ही पीड़ा मानता है; जब तक वह दूर न हो, तब तक महा व्याकुल रहता है। **इस इच्छा का नाम 'पाप का उदय' है।**

— ऐसे इन **तीन प्रकार की इच्छाएँ** होनेपर, सभी दु:ख मानते हैं, वह दु:ख ही है। वहाँ एक इच्छा बाह्यनिमित्त से बनती है अर्थात् इन तीन प्रकार की इच्छाओं के अनुसार प्रवर्तने की इच्छा होती है। इन तीन प्रकार की इच्छाओं में एक-एक प्रकार की इच्छा के अनेक प्रकार हैं।

४. वहाँ कितने ही प्रकार की इच्छाएँ पूर्ण होने के कारण, पुण्योदय से मिलते हैं परन्तु उनका साधन एक साथ नहीं हो सकता; इसलिए एक [इच्छा] को छोड़कर, अन्य में लगता है, फिर उसे भी छोड़कर, अन्य में लगता है।

जैसे—किसी को अनेक सामग्री मिली है, वहाँ वह किसी को देखता है, फिर उसे छोड़कर, राग सुनता है, फिर उसे भी छोड़कर, किसी का बुरा करने लग जाता है, फिर उसे छोड़कर, भोजन करता है अथवा देखने में ही एक को देखकर, अन्य को देखता है। इसी प्रकार अनेक कार्यों की प्रवृत्ति में इच्छा होती है; वहाँ **इस इच्छा का नाम 'पुण्य का उदय' है।**

इस इच्छा को जगत्, सुख मानता है परन्तु यह सुख है नहीं; दुःख ही है क्योंकि प्रथम तो सर्व प्रकार की इच्छा पूर्ण होने के कारण, किसी को भी नहीं बनते और किसी प्रकार इच्छा पूर्ण होने के कारण बनें, तो युगपत् उनका साधन नहीं होता; इसलिए एक का साधन जब तक न हो, तब तक उसकी आकुलता रहती है और उसका साधन होनेपर, उसी समय अन्य को साधने की इच्छा होती है, तब उसकी आकुलता होती है; एक समय भी निराकुल नहीं रहता; इसलिए दुःख ही है।

अथवा तीन प्रकार की इच्छारूपी रोग को मिटाने का किंचित् उपाय करता है; इसलिए किंचित् दुःख कम होता है; सर्व दुःख का तो नाश नहीं होता, इसलिए दुःख ही है।

— ऐसे, संसारी जीवों को सर्व प्रकार से दुःख ही है।

यहाँ इतना जानना — तीन प्रकार की इच्छा से सर्व जगत् पीड़ित ही है और चौथी इच्छा तो पुण्य का उदय आनेपर होती है—ऐसा पुण्य का बन्ध, धर्मानुराग से होता है परन्तु धर्मानुराग में जीव, कम लगता है; अधिक समय तो जीव, पाप क्रियाओं में ही प्रवर्तता है; इसलिए चौथी इच्छा, किसी जीव के किसी काल में ही होती है।

पुनः इतना जानना—समान इच्छावान जीवों की अपेक्षा तो चौथी इच्छावाले को, किंचित् तीन प्रकार की इच्छा के घटने से, सुख कहते हैं लेकिन चौथी इच्छावाले की अपेक्षा, महान [कार्यों की] इच्छावाला, चौथी इच्छा होनेपर भी, दुःखी होता है।

किसी के पास बहुत विभूति है और उसको इच्छा बहुत है तो बहुत आकुलतावान है तथा जिसके पास थोड़ी विभूति है और उसको इच्छा भी थोड़ी है तो वह, थोड़ा आकुलतावान है।

अथवा किसी को अनिष्टसामग्री मिली है परन्तु उसे उसको दूर करने की इच्छा थोड़ी है तो वह थोड़ा आकुलतावान है तथा किसी को इष्टसामग्री मिली है परन्तु उसे उसको भोगने की तथा अन्य सामग्री की इच्छा बहुत है तो वह जीव, बहुत आकुलतावान है।

अतः सुखी-दुःखी होना, इच्छा के अनुसार जानना; बाह्यकारण के आधीन नहीं है।

'नारकी दुःखी और देव सुखी' कहे जाते हैं, वह भी इच्छा ही की अपेक्षा कहते हैं क्योंकि नारकियों को तीव्रकषाय होने से, इच्छा बहुत है और देवों को मन्दकषाय होने से, इच्छा थोड़ी है तथा मनुष्य-तिर्यंचों को भी सुखी-दुःखी इच्छा ही की अपेक्षा जानना।

तीव्रकषाय से जिसको इच्छा बहुत है, उसे दुःखी कहते हैं; मन्दकषाय से जिसको इच्छा थोड़ी है, उसे सुखी कहते हैं। परमार्थ से उनके दुःख ही बहुत या थोड़ा है; सुख नहीं है। देवादि को भी सुखी मानते हैं, वह भ्रम ही है; उनको चौथी इच्छा की मुख्यता है; इसलिए आकुलित हैं।

इस प्रकार जो इच्छा होती है, वह मिथ्यात्व-अज्ञान-असंयम से होती है तथा इच्छा है, वह आकुलतामय है और आकुलता है, वह दुःख है - ऐसे सर्व संसारी जीव, नाना दुःखों से पीड़ित ही हो रहे हैं।

मोक्ष सुख और उसकी प्राप्ति का उपाय

अब, जिन जीवों को दुःख से छूटना हो, वे इच्छा दूर करने का उपाय करें। इच्छा दूर तब ही होती है, जब मिथ्यात्व-अज्ञान-असंयम का अभाव हो और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति हो; इसलिए इसी कार्य का उद्यम करना, योग्य है। ऐसा साधन करनेपर, जितनी -जितनी इच्छा मिटे, उतना-उतना दुःख दूर होता जाता है और जब **मोह के सर्वथा अभाव** से, सर्व इच्छा का अभाव हो, तब सर्व दुःख मिटता है; सच्चा सुख प्रगट होता है।

वहाँ **ज्ञानावरण-दर्शनावरण और अन्तराय का अभाव** हो, तब इच्छा के कारणभूत क्षायोपशमिक ज्ञान-दर्शन का तथा **शक्तिहीनपने का भी अभाव** होता है और अनन्त ज्ञान -दर्शन-वीर्य की प्राप्ति होती है तथा कितने ही काल पश्चात्, **अघातिकर्मों का भी अभाव** हो, तब इच्छा के बाह्य कारणों का भी अभाव होता है क्योंकि मोह चले जाने के बाद, वे एक समय भी कोई इच्छा उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होते; मोह के होनेपर, वे कारण होते हैं; इसलिए कारण कहे हैं; अतः जब उनका भी अभाव होता है, तब सिद्धपद को प्राप्त होते हैं।

वहाँ दुःख का तथा दुःख के कारणों का सर्वथा अभाव होने से, सदा काल अनुपम -अखण्डित-सर्वोत्कृष्ट आनन्दसहित, अनन्त काल विराजमान रहते हैं।

वही दिखलाते हैं—ज्ञानावरण-दर्शनावरण का क्षयोपशम होनेपर या उदय होनेपर, मोह से एक-एक विषय को देखने-जानने की इच्छा से, महा व्याकुल होता था; अतः अब मोह का अभाव होने से, इच्छा का भी अभाव हुआ; इसलिए दुःख का अभाव हुआ है।

तथा **ज्ञानावरण-दर्शनावरण का क्षय** होने से, सर्व इन्द्रियों के सर्व विषयों का युगपत् ग्रहण हुआ; इसलिए दुःख का कारण भी दूर हुआ है।

वही दिखलाते हैं—जैसे—नेत्र द्वारा, एक-एक विषय को देखना चाहता था, अब त्रिकालवर्ती त्रिलोक के सर्व वर्णों को युगपत् देखता है; कोई बिन देखा रहा नहीं, जिसे देखने की इच्छा उत्पन्न हो। इसी प्रकार स्पर्शनादि द्वारा, एक-एक विषय का ग्रहण करना चाहता था, अब त्रिकालवर्ती त्रिलोक के सर्व स्पर्श-रस-गन्ध-शब्दों का युगपत् ग्रहण करता है; कोई बिना ग्रहण किया रहा नहीं, जिसका ग्रहण करने की इच्छा उत्पन्न हो।

यहाँ **कोई कहे**—शरीरादि बिना, ग्रहण कैसे हो ?

उसका समाधान—इन्द्रियज्ञान होनेपर तो द्रव्येन्द्रियादि के बिना ग्रहण नहीं होता था, अब ऐसा स्वभाव प्रगट हुआ कि बिना इन्द्रियों के ही ग्रहण होता है।

यहाँ कोई कहे—जैसे—मन द्वारा स्पर्शादि को जानते हैं; उसी प्रकार जानना होता होगा; त्वचा-जिह्वा आदि से ग्रहण होता है, वैसे नहीं होता होगा ?

[**उसका समाधान**]—ऐसा नहीं है; मन द्वारा तो स्मरणादि होनेपर, कुछ अस्पष्ट जानना होता है। यहाँ तो जिस प्रकार स्पर्श-रसादि का, त्वचा-जिह्वा इत्यादि से, स्पर्श करनेपर, स्वाद लेनेपर, सूँघनेपर, देखनेपर, सुननेपर, जैसा स्पष्ट जानना होता है, उससे भी अनन्त गुना स्पष्ट जानना उनके होता है।

विशेष इतना हुआ है—वहाँ इन्द्रियविषय का संयोग होनेपर ही जानना होता था, यहाँ दूर रहकर भी वैसा ही जानना होता है—यह शक्ति की महिमा है; तथा मन द्वारा कुछ अतीत -अनागत को व अव्यक्त को जानना चाहता था, अब सर्व ही अनादि से अनन्त कालपर्यन्त, सर्व पदार्थों के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को युगपत् जानता है; कोई बिना जाने नहीं रहा, जिसको जानने की इच्छा उत्पन्न हो।

— ऐसे इन दुःखों और दुःखों के कारणों का अभाव जानना।

वहाँ **मोह के उदय से,** मिथ्यात्व और कषायभाव होते थे, उनका सर्वथा अभाव हुआ; इसलिए दुःखों का अभाव हुआ तथा इनके कारणों का अभाव हुआ; इसलिए दुःख के कारणों का भी अभाव हुआ है; उन कारणों का अभाव यहाँ दिखलाते हैं—

सर्व तत्त्व यथार्थ प्रतिभासित होनेपर, अतत्त्वश्रद्धानरूप **मिथ्यात्व** कैसे हो? कोई अनिष्ट नहीं रहा, निन्दक स्वयमेव अनिष्ट को प्राप्त होता ही है; आप **क्रोध** किसपर करें? सिद्धों से ऊँचा कोई है नहीं, इन्द्रादि स्वयमेव नमन करते हैं और इष्ट को पाते हैं; किससे **मान** करें? **सर्व भवितव्य भासित हो गया,** कार्य रहा नहीं, [किस कारण, माया करें] किसी से प्रयोजन रहा नहीं है; किससे **लोभ** करें? कोई अन्य इष्ट रहा नहीं; किस कारण से **हास्य** हो? कोई अन्य इष्ट, प्रीति करनेयोग्य है नहीं; फिर कहाँ **रति** करें? कोई दुःखदायक संयोग रहा नहीं है, कहाँ **अरति** करें? कोई इष्ट-अनिष्ट संयोग-वियोग होता नहीं है; किसका **शोक** करें? कोई अनिष्ट करनेवाला कारण रहा नहीं है; किसका **भय** करें? सर्व वस्तुएँ अपने स्वभावसहित भासित होती हैं, अपने को अनिष्ट नहीं हैं; कहाँ **जुगुप्सा** करें? कामपीड़ा दूर होने से, स्त्री-पुरुष या दोनों से रमण करने का कुछ प्रयोजन रहा नहीं; किसलिए **पुरुष-स्त्री** या **नपुंसक वेदरूप** भाव हों?

— ऐसे मोह उत्पन्न होने के कारणों का अभाव जानना।

वहाँ **अन्तराय के उदय से,** शक्तिहीनपने के कारण, पूर्णता नहीं होती थी, अब उसका अभाव हुआ; इसलिए दुःख का अभाव हुआ, **अनन्त शक्ति प्रगट हुई;** इसलिए दुःख के कारण का भी अभाव हुआ।

यहाँ कोई कहे—[वे सिद्ध भगवान], दान-लाभ-भोग-उपभोग तो करते नहीं हैं; इनकी शक्ति कैसे प्रगट हुई?

उसका समाधान—ये कार्य, रोग के उपचार थे; जब रोग ही नहीं है, तब उपचार क्यों करें? इसलिए इन कार्यों का सद्भाव तो है नहीं और इन्हें रोकनेवाले कर्मों का अभाव हुआ; इसलिए शक्ति प्रगट हुई कहते हैं।

जैसे—कोई गमन करना चाहता था, उसे किसी ने रोका था, तब दुःखी था और जब उसकी रोक दूर हुई, तब जिस कार्य के अर्थ जाना चाहता था, वह कार्य नहीं रहा; इसलिए गमन भी नहीं किया। वहाँ उसके गमन न करनेपर भी, शक्ति प्रगट हुई कही जाती है; उसी प्रकार यहाँ भी जानना।

इस प्रकार ज्ञानादि की शक्तिरूप 'अनन्त वीर्य' उनके प्रगट पाया जाता है।

अघातिकर्मों में मोह से, पापप्रकृतियों का उदय होनेपर, दुःख मान रहा था, पुण्य-प्रकृतियों का उदय होनेपर, सुख मान रहा था; परमार्थ से आकुलता के कारण, सब दुःख ही था। अब, मोह के नाश से, सर्व आकुलता दूर होनेपर, सर्व दुःखों का नाश हुआ।

वहाँ जिन कारणों से दुःख मान रहा था, वे कारण तो सर्व नष्ट हुए और जिनसे किंचित् दुःख दूर होने से, सुख मान रहा था, सो अब मूल ही में दुःख नहीं रहा; इसलिए उन दुःख के उपचारों का कुछ प्रयोजन नहीं रहा, जो उनसे कार्य की सिद्धि करना चाहे; उसकी सिद्धि स्वयमेव ही हो रही है।

इसी का विशेष दिखलाते हैं—

वहाँ **वेदनीय में असाता के उदय से**, दुःख के कारण, शरीर में रोग-क्षुधादि होते थे। अब शरीर ही नहीं, तब [रोगादि] कहाँ हो? तथा शरीर की अनिष्ट अवस्था को कारण, आताप आदि थे परन्तु अब शरीर बिना किसको कारण हों? तथा बाह्य अनिष्ट निमित्त बनते थे परन्तु अब इनके अनिष्ट रहा ही नहीं—ऐसे दुःख के कारणों का तो अभाव हुआ।

तथा **साता के उदय से**, किंचित् दुःख मिटाने के कारण, औषधि भोजनादि थे, उनका प्रयोजन नहीं रहा है और इष्ट कार्य, पराधीन नहीं रहे हैं; इसलिए बाह्य में भी मित्रादि को इष्ट मानने का प्रयोजन नहीं रहा; इनके द्वारा दुःख मिटाना चाहता था और इष्ट करना चाहता था परन्तु अब तो सम्पूर्ण दुःख नष्ट हुआ और सम्पूर्ण इष्ट प्राप्त हुआ।

वहाँ **आयु के निमित्त से**, जीवन-मरण था; वहाँ मरण से दुःख मानता था परन्तु अब अविनाशीपद प्राप्त कर लिया; इसलिए दुःख का कारण नहीं रहा। तथा द्रव्यप्राणों को धारण करके, कितने ही काल तक जीने-मरने से सुख मानता था, वहाँ भी नरक पर्याय में दुःख की विशेषता से, वहाँ नहीं जीना चाहता था परन्तु अब इस सिद्धपर्याय में द्रव्यप्राण के बिना ही, अपने चैतन्यप्राण से, सदा काल जीता है और वहाँ दुःख का लवलेश भी नहीं रहा है।

वहाँ **नामकर्म से,** अशुभ गति-जाति आदि होनेपर, दुःख मानता था परन्तु अब उन सबका अभाव हुआ, दुःख कहाँ से हो ? तथा शुभ गति-जाति आदि होनेपर, किंचित् दुःख दूर होने से, सुख मानता था परन्तु अब उनके बिना ही सर्व दुःख का नाश और सर्व सुख का प्रकाश पाया जाता है; इसलिए उनका भी कुछ प्रयोजन नहीं रहा।

तथा **गोत्र के निमित्त से,** नीचकुल प्राप्त होनेपर, दुःख मानता था, अब उसका अभाव होने से, दुःख का कारण रहा नहीं तथा उच्चकुल प्राप्त होनेपर, सुख मानता था परन्तु अब उच्चकुल के बिना ही, त्रैलोक्य पूज्य उच्चपद को प्राप्त हैं।

इस प्रकार सिद्धों के सर्व कर्मों का नाश होने से, सर्व दुःख का नाश हुआ है।

दुःख का लक्षण तो आकुलता है और आकुलता तभी होती है, जब इच्छा होती है परन्तु [मुक्त जीवों के] इच्छा का तथा इच्छा के कारणों का सर्वथा अभाव हुआ; इसलिए वे निराकुल होकर, सर्व दुःखरहित, अनन्त सुख का अनुभव करते हैं क्योंकि **निराकुलता ही सुख का लक्षण है।** संसार में भी किसी प्रकार निराकुल होनेपर, सभी सुख मानते हैं; जहाँ सर्वथा निराकुल हुआ, वहाँ सम्पूर्ण सुख कैसे नहीं माना जाए ?

इस प्रकार सम्यग्दर्शनादि साधन से, सिद्धपद प्राप्त होनेपर, सर्व दुःख का अभाव होता है; सर्व सुख प्रगट होता है।

अब, यहाँ उपदेश देते हैं —

हे भव्य! हे भाई!! तुझे संसार के दुःख दिखाए, वे तुझ पर बीते हैं या नहीं, वह विचार! और तू जो उपाय करता है, उन्हें झूठा दिखाया, वे ऐसे हैं या नहीं, वह विचार !! तथा सिद्धपद प्राप्त होनेपर, सुख होता है या नहीं, उसका विचार कर !!! यदि तुझे जैसा कहा है, वैसी ही प्रतीति आती हो तो तू संसार से छूटकर, सिद्धपद प्राप्त करने का हम जो उपाय कहते हैं, वह कर! विलम्ब मत कर!! यह उपाय करने से, तेरा कल्याण होगा!!!

❁ ❁ ❁

- इति 'श्री मोक्षमार्गप्रकाशक' नामक शास्त्र में
'संसार दुःख तथा मोक्ष सुख का निरूपक'
तृतीय अधिकार पूर्ण हुआ ॥ ३ ॥

चौथा अधिकार

मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र का निरूपण

॥ ॐ नमः ॥

दोहा - **इस भव के सब दुःखनि के, कारण मिथ्याभाव।**
तिनि की सत्ता नाश करि, प्रगटै मोक्ष उपाव॥

अब, यहाँ संसार दुःखों के बीजभूत—जो मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्र हैं, उनके स्वरूप का विशेष निरूपण करते हैं। जैसे—वैद्य है, वह रोग के कारणों का विशेष कहता है तो रोगी, कुपथ्य सेवन नहीं करता, तब वह रोगरहित होता है; उसी प्रकार यहाँ संसार के कारणों का विशेष निरूपण करते हैं, जिससे संसारी, मिथ्यात्वादि का सेवन नहीं करे, तब संसाररहित हो; इसलिए मिथ्यादर्शनादि का विशेष निरूपण करते हैं —

मिथ्यादर्शन का स्वरूप

यह जीव, अनादि से कर्मसम्बन्धसहित है; इसको दर्शनमोह के उदय से हुआ जो 'अतत्त्व-श्रद्धान' है, उसका नाम '**मिथ्यादर्शन**' है क्योंकि 'तद्भाव, वही तत्त्व' अर्थात् जो श्रद्धान करनेयोग्य अर्थ है, उसका जो भाव या स्वरूप है, उसका नाम 'तत्त्व' है। तत्त्व नहीं, उसका नाम 'अतत्त्व' है; इसलिए अतत्त्व है, वह असत्य है; अतः इसी का नाम 'मिथ्या' है। तथा 'ऐसे ही यह है' – ऐसा प्रतीतिभाव, उसका नाम 'श्रद्धान' है।

यहाँ 'श्रद्धान' ही का नाम 'दर्शन' है। यद्यपि दर्शन का शब्दार्थ 'सामान्य अवलोकन' है तथापि यहाँ प्रकरणवश इसी धातु का अर्थ 'श्रद्धान' जानना—ऐसा ही सर्वार्थसिद्धि नामक सूत्र की टीका में कहा है क्योंकि 'सामान्य अवलोकन', संसार-मोक्ष का कारण नहीं होता; 'श्रद्धान' ही संसार-मोक्ष का कारण है; इसलिए संसार-मोक्ष के कारण में 'दर्शन' का अर्थ, 'श्रद्धान' ही जानना।

तथा मिथ्यारूप जो दर्शन अर्थात् श्रद्धान, उसका नाम '**मिथ्यादर्शन**' है। '**जैसा वस्तु का स्वरूप नहीं है, वैसा मानना; जैसा है, वैसा नहीं मानना**' — **ऐसा विपरीताभिनिवेश अर्थात् विपरीत अभिप्राय, उससेसहित 'मिथ्यादर्शन' होता है।**

यहाँ प्रश्न—केवलज्ञान के बिना, सर्व पदार्थ यथार्थ भासित नहीं होते और यथार्थ भासित हुए बिना, यथार्थ श्रद्धान नहीं होता, तो फिर मिथ्यादर्शन का त्याग कैसे बने?

उसका समाधान—पदार्थों का जानना, न जानना या अन्यथा जानना तो ज्ञानावरण के अनुसार होता है तथा जो प्रतीति होती है, वह जाननेपर ही होती है; बिना जाने, प्रतीति कैसे आये? - यह तो सत्य है परन्तु जैसे—[कोई] पुरुष है, वह जिनसे प्रयोजन नहीं है, उन्हें 'अन्यथा जाने या यथार्थ जाने' तथा 'जैसा जाने, वैसा ही माने' तो भी उससे उसका कुछ बिगाड़-सुधार नहीं है; उससे वह 'पागल' या 'चतुर' नाम नहीं पाता, लेकिन जिनसे प्रयोजन पाया जाता है, उन्हें यदि अन्यथा जाने और वैसा ही माने तो बिगाड़ होता है; इसलिए उसे 'पागल' कहते हैं तथा उनको यदि 'यथार्थ जाने और वैसा ही माने' तो सुधार होता है; इसलिए उसे 'चतुर' कहते हैं।

उसी प्रकार 'जीव' है, वह जिनसे प्रयोजन नहीं है, उन्हें 'अन्यथा जाने या यथार्थ जाने' तथा 'जैसा जाने, वैसा श्रद्धान करे' तो भी इसका कुछ बिगाड़-सुधार नहीं है; उससे वह 'मिथ्यादृष्टि' या 'सम्यग्दृष्टि' नाम नहीं पाता, लेकिन जिनसे प्रयोजन पाया जाता है, उन्हें यदि 'अन्यथा जाने और वैसा ही श्रद्धान करे' तो बिगाड़ होता है; इसलिए उसे 'मिथ्यादृष्टि' कहते हैं तथा यदि उन्हें 'यथार्थ जाने और वैसा ही श्रद्धान करे' तो सुधार होता है; इसलिए उसे 'सम्यग्दृष्टि' कहते हैं।

यहाँ इतना जानना—अप्रयोजनभूत अथवा प्रयोजनभूत पदार्थों का न जानना हो या यथार्थ-अयथार्थ जानना हो, उसमें 'ज्ञान की हीनाधिकता होना', इतना जीव का बिगाड़-सुधार है और उसका निमित्त, ज्ञानावरणकर्म है परन्तु प्रयोजनभूत पदार्थों का अन्यथा या यथार्थ श्रद्धान करने से, जीव का कुछ और भी बिगाड़-सुधार होता है; इसलिए उसका निमित्त, 'दर्शनमोह' नामक कर्म है।

यहाँ कोई कहे—जैसा जानता है, वैसा श्रद्धान करता है; अतः ज्ञानावरण ही के अनुसार श्रद्धान भासित होता है; यहाँ दर्शनमोह का विशेष निमित्त कैसे भासित होता है?

उसका समाधान—प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान करनेयोग्य ज्ञानावरण का क्षयोपशम, तो सर्व संज्ञी पंचेन्द्रियों के हुआ है परन्तु द्रव्यलिंगी मुनि, ग्यारह अंग तक पढ़ते हैं तथा ग्रैवेयक के देव, अवधिज्ञानादि युक्त हैं, उनके ज्ञानावरण का क्षयोपशम, बहुत होनेपर भी, प्रयोजनभूत जीवादि का श्रद्धान नहीं होता और तिर्यंचादि को ज्ञानावरण का क्षयोपशम, थोड़ा होनेपर भी, प्रयोजनभूत जीवादि का श्रद्धान होता है; इसलिए जाना जाता है कि ज्ञानावरण ही के अनुसार, श्रद्धान नहीं होता; कोई अन्य कर्म है, वह 'दर्शनमोह' है; उसके उदय से, जीव के 'मिथ्यादर्शन' होता है, तब प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वों का अन्यथा श्रद्धान करता है।

प्रयोजनभूत-अप्रयोजनभूत पदार्थ

यहाँ कोई पूछे—प्रयोजनभूत और अप्रयोजनभूत पदार्थ कौन हैं ?

उसका समाधान—इस जीव को प्रयोजन तो एक यह ही है कि 'दुःख न हो और सुख हो'; अन्य कुछ भी प्रयोजन किसी जीव का नहीं है। तथा 'दुःख का न होना, सुख का होना' - एक ही है क्योंकि 'दुःख का अभाव, वही सुख है'; वहाँ इस प्रयोजन की सिद्धि, जीवादि का सत्य श्रद्धान करने से होती है।

कैसे ? वह कहते हैं—प्रथम तो दुःख दूर करने में **आपा-पर का ज्ञान** अवश्य होना चाहिए। यदि **आपा-पर का ज्ञान** नहीं हो तो 'आप को पहिचाने बिना, अपना दुःख कैसे दूर करे ?' अथवा आपा-पर को एक जानकर, अपना दुःख दूर करने के लिए, पर का उपचार करे तो, अपना दुःख दूर कैसे हो ? अथवा आप से, पर भिन्न हैं परन्तु यह पर में अहंकार-ममकार करे, उससे दुःख ही होता है; इसलिए **आपा-पर का ज्ञान** होनेपर ही, दुःख दूर होता है तथा **आपा-पर का ज्ञान,** जीव-अजीव का ज्ञान होनेपर ही होता है क्योंकि आप स्वयं जीव है, शरीरादि अजीव हैं।

यदि लक्षणादि द्वारा **जीव-अजीव की पहिचान** हो, तो आपा-पर की भिन्नता भासित हो; इसलिए **जीव-अजीव को जानना।** अथवा जीव-अजीव का ज्ञान होनेपर, जिन पदार्थों के अन्यथा श्रद्धान से दुःख होता था, उनका यथार्थ ज्ञान होने से, दुःख दूर होता है; इसलिए **जीव-अजीव को जानना।**

यहाँ दुःख का कारण तो कर्मबन्धन है और उसका कारण, मिथ्यात्वादि **आस्त्रव** हैं। यदि इनको न पहिचाने और इनको दुःख का मूलकारण न जाने तो इनका अभाव कैसे करे ? और इनका अभाव नहीं करे, तो कर्मबन्ध कैसे नहीं हो ? इसलिए दुःख ही होता है, अथवा मिथ्यात्वादि भाव हैं, सो ये दुःखमय हैं—ऐसा यदि उन्हें ज्यों का त्यों नहीं जाने तो इनका अभाव नहीं करे, तब दुःखी ही रहे; इसलिए **आस्त्रव को जानना।**

समस्त दुःख का कारण, **कर्मबन्धन** है; यदि उसे न जाने तो उससे मुक्त होने का उपाय नहीं करे, तब उसके निमित्त से दुःखी होवे; इसलिए **बन्ध को जानना।**

आस्त्रव का अभाव करना, वह **संवर** है; उसका स्वरूप न जाने तो उसमें प्रवर्तन नहीं करे, तब आस्त्रव ही रहे; उससे वर्तमान तथा आगामी दुःख ही होता है; इसलिए **संवर को जानना।**

कथंचित्-किंचित् कर्मबन्ध का अभाव करना, उसका नाम **निर्जरा** है; यदि उसे न जाने तो उसकी प्रवृत्ति का उद्यमी नहीं होवे, तब सर्वथा बन्ध ही रहे, जिससे दुःख ही हो; इसलिए **निर्जरा को जानना।**

तथा सर्वथा सर्व कर्मबन्ध का अभाव होना, उसका नाम **मोक्ष** है; यदि इसे नहीं पहिचाने, तो इसका उपाय नहीं करे, तब संसार में कर्मबन्ध से उत्पन्न दु:खों को ही सहे; इसलिए **मोक्ष को जानना**।—ऐसे **जीवादि सात तत्त्वों को जानना**।

यदि शास्त्रादि द्वारा कदाचित् उन्हें जाने, परन्तु 'ऐसे ही हैं'—ऐसी प्रतीति न आए, तो जानने से क्या लाभ है ? इसलिए उनका श्रद्धान करना कार्यकारी है—ऐसे जीवादि तत्त्वों का सत्य श्रद्धान करनेपर ही, दु:ख न होने के—'अभावरूप प्रयोजन' की सिद्धि होती है; ①

इसलिए जीवादि पदार्थ हैं, उन्हें ही प्रयोजनभूत जानना तथा इनके विशेष, पुण्य -पापादिरूप भेद हैं, उनका भी श्रद्धान प्रयोजनभूत है क्योंकि **सामान्य से, विशेष बलवान होता है**।

— ऐसे ये पदार्थ तो 'प्रयोजनभूत' हैं; इसलिए इनका यथार्थ श्रद्धान करनेपर तो दु:ख नहीं होता; सुख होता है और इनका यथार्थ श्रद्धान किये बिना, दु:ख होता है; सुख नहीं होता। तथा इनके अतिरिक्त अन्य पदार्थ हैं, वे 'अप्रयोजनभूत' हैं क्योंकि उनका यथार्थ श्रद्धान करो या मत करो, उनका श्रद्धान कुछ सुख-दु:ख का कारण नहीं है।

यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है—जो पहले जीव-अजीव पदार्थ कहे, उनमें तो सभी पदार्थ आ गए; उनके सिवा, अन्य पदार्थ कौन रहे, जिन्हें 'अप्रयोजनभूत' कहा है ?

उसका समाधान—पदार्थ तो सब जीव-अजीव में गर्भित हैं परन्तु उन जीव-अजीवों के विशेष बहुत हैं; उनमें से जिन विशेषों से सहित जीव-अजीव का यथार्थ श्रद्धान करने से, स्व-पर का श्रद्धान हो, रागादि दूर करने का श्रद्धान हो; इसलिए सुख उत्पन्न हो तथा उनका अयथार्थ श्रद्धान करने से, स्व-पर का श्रद्धान नहीं हो, रागादि दूर करने का श्रद्धान नहीं हो; इसलिए दु:ख उत्पन्न हो, उन विशेषों से सहित, जीव-अजीव पदार्थ तो 'प्रयोजनभूत' जानना।

वहाँ जिन विशेषोंसहित जीव-अजीव का यथार्थ श्रद्धान करने या न करने से, स्व-पर का श्रद्धान हो या न हो तथा रागादि दूर करने का श्रद्धान हो या न हो - कोई नियम नहीं; उन विशेषोंसहित जीव-अजीव पदार्थ 'अप्रयोजनभूत' जानना।

जैसे—जीव और शरीर का चैतन्य, मूर्त्तत्वादि विशेषों के माध्यम से श्रद्धान करना तो 'प्रयोजनभूत' है परन्तु मनुष्यादि पर्यायों का और घट-पटादि अवस्थाओं का, आकारादि विशेषों के माध्यम से श्रद्धान करना 'अप्रयोजनभूत' है—ऐसे ही अन्य जानना।

इस प्रकार कहे गये जो प्रयोजनभूत जीवादितत्त्व, उनके अयथार्थ श्रद्धान का नाम, 'मिथ्यादर्शन' जानना।

---

① मूल हस्तलिखित प्रति, पृष्ठ ४५, पंक्ति ११ पर लिखा है - **दु:ख न होने का अभावरूप प्रयोजन की सिद्धि हो है।**

मिथ्यादर्शन की प्रवृत्ति

अब, संसारी जीवों के **मिथ्यादर्शन की प्रवृत्ति** कैसे पायी जाती है ?—वह कहते हैं।

यहाँ वर्णन तो श्रद्धान का करना है परन्तु पहले जाने, तब श्रद्धान करे; इसलिए जानने की मुख्यता से वर्णन करते हैं —

जीव-अजीवतत्त्व सम्बन्धी अयथार्थ श्रद्धान

अनादिकाल से जीव है, वह कर्म के निमित्त से अनेक पर्यायें धारण करता है। वहाँ पूर्व पर्याय को छोड़ता है, नवीन पर्याय धारण करता है; **वह पर्याय - एक तो आप (स्वयं) आत्मा और अनन्त पुद्गल परमाणुमय शरीर; उनके एक पिण्ड बन्धानरूप है। वहाँ जीव को उस पर्याय (असमानजातीय द्रव्यपर्याय) में, 'यह मैं हूँ'—ऐसी अहंबुद्धि होती है।**

तथा 'आप, **जीव** है, उसके स्वभाव तो ज्ञानादि हैं और विभाव, क्रोधादि हैं तथा **पुद्गलपरमाणुओं** के वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श आदि स्वभाव हैं'; उन सबको अपना स्वरूप मानता है, और '**ये मेरे हैं'—ऐसी ममबुद्धि होती है।**

वहाँ 'आप, **जीव** है, उसके ज्ञानादि की और क्रोधादि की अधिकता-हीनतारूप अवस्था होती है तथा पुद्गलपरमाणुओं की वर्णादि पलटनेरूप अवस्था होती है, उन सबको अपनी अवस्था मानता है', उनमें '**यह मेरी अवस्था है'—ऐसी ममबुद्धि करता है।**

वहाँ जीव और शरीर के **निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध** है; इसलिए जो क्रिया होती है, उसे अपनी मानता है। अपना दर्शन-ज्ञान स्वभाव है, उसकी प्रवृत्ति को निमित्तमात्र, शरीर के अंगरूप स्पर्शनादि द्रव्येन्द्रियाँ हैं, यह उन्हें एक मानकर, ऐसा मानता है कि 'मैंने हाथ आदि से स्पर्श किया, जीभ से स्वाद लिया, नासिका से सूँघा, नेत्र से देखा, कान से सुना।'

तथा मनोवर्गणारूप आठ पंखुड़ियों के फूले कमल के आकार का, हृदय-स्थान में द्रव्यमन है; वह यद्यपि दृष्टिगम्य नहीं है तथापि शरीर का अंग है; उसका निमित्त होनेपर, स्मरणादिरूप ज्ञान की प्रवृत्ति होती है। यह द्रव्यमन को और ज्ञान को एक मानकर ऐसा मानता है कि 'मैंने मन से जाना।'

जब अपने को बोलने की इच्छा होती है, तब अपने प्रदेशों को जिस प्रकार बोलना बने, उस प्रकार हिलाता है; तब एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध के कारण, शरीर के अंग भी हिलते हैं, उनके निमित्त से भाषावर्गणारूप पुद्गल, वचनरूप परिणमित होते हैं; यह सबको एक मानकर, ऐसा मानता है कि 'मैं बोलता हूँ।'

जब अपने को गमनादि क्रिया की या वस्तु-ग्रहणादि की इच्छा होती है, तब अपने प्रदेशों को जैसे कार्य बने, वैसे हिलाता है। तब एकक्षेत्रावगाह [सम्बन्ध] के कारण, शरीर के अंग

हिलते हैं, तब वह कार्य बनता है अथवा अपनी इच्छा के बिना, शरीर हिलता है, तब अपने प्रदेश भी हिलते हैं; यह सबको एक मानकर, ऐसा मानता है कि 'मैं गमनादि कार्य करता हूँ, बाह्यवस्तु को ग्रहण करता हूँ, उसे मैंने किया है', इत्यादिरूप मानता है।

जब जीव के कषायभाव हो, तब शरीर की चेष्टा, उसके अनुसार हो जाती है। जैसे —क्रोधादि होनेपर, नेत्रादि लाल हो जाते हैं; हास्यादि होनेपर, मुखादि प्रफुल्लित हो जाते हैं; पुरुष-वेदादि होनेपर, लिंग काठिन्यादि हो जाते हैं, यह सबको एक मानकर, ऐसा मानता है कि 'ये सब कार्य मैं करता हूँ।' तथा शरीर में शीत-उष्ण, क्षुधा-तृषा, रोग इत्यादि अवस्थाएँ होती हैं, उनके निमित्त से मोहभाव के द्वारा, स्वयं सुख-दुःख मानता है; इन सबको एक जानकर, शीतादि तथा सुख-दुःख अपने को ही हुए मानता है।

इसी प्रकार शरीर के परमाणुओं का मिलना-बिछुड़ना आदि होने से अथवा उनकी अवस्था पलटने से या शरीर स्कन्ध के खण्ड आदि होने से, स्थूल-कृशादि, बाल-वृद्धादि अथवा अंग-हीनादि होते हैं और उनके अनुसार, अपने प्रदेशों का संकोच-विस्तार होता है; यह सबको एक मानकर, 'मैं स्थूल हूँ, मैं कृश हूँ, मैं बालक हूँ, मैं वृद्ध हूँ, मेरे इन अंगों का भंग हुआ है', इत्यादिरूप मानता है।

शरीर की अपेक्षा, गति-कुलादि होते हैं, उन्हें अपना मानकर, 'मैं मनुष्य हूँ, मैं तिर्यंच हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, मैं वैश्य हूँ', इत्यादिरूप मानता है।

शरीर का संयोग होने और छूटने की अपेक्षा जन्म-मरण होता है, उसे अपना जन्म -मरण मानकर, 'मैं उत्पन्न हुआ, मैं मरूँगा' - ऐसा मानता है।

तथा शरीर ही की अपेक्षा, अन्य वस्तुओं से नाता मानता है; जिनके द्वारा शरीर की उत्पत्ति हुई, उन्हें अपने माता-पिता मानता है; जो शरीर को रमण कराये, उसे अपनी रमणी मानता है; जो शरीर से उत्पन्न हुआ, उसे अपना पुत्र मानता है; जो शरीर को उपकारी हो, उसे मित्र मानता है; जो शरीर का बुरा करे, उसे शत्रु मानता है, इत्यादिरूप मानना होता है।

अधिक क्या कहें ?—जिस-तिस प्रकार से आप और शरीर को एक ही मानता है।

इन्द्रियादि के नाम तो यहाँ कहे हैं परन्तु इसे तो कुछ गम्य नहीं है। अचेत होकर, 'पर्याय में अहंबुद्धि' धारण करता है; उसका कारण क्या है ? वह बतलाते हैं —

इस आत्मा को अनादि से इन्द्रियज्ञान है; उससे, आप [स्वयं] अमूर्तिक है, वह तो भासित नहीं होता परन्तु शरीर, मूर्तिक है, वही भासित होता है और आत्मा, किसी को आपरूप जानकर, अहंबुद्धि धारण करे ही करे, अतः जब आप पृथक् भासित नहीं हुआ, तब उनके समुदायरूप पर्याय में, अहंबुद्धि धारण करता है।

वहाँ आप (आत्मा) के और शरीर के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध घने हैं; इसलिए भिन्नता भासित नहीं होती तथा जिस विचार से, भिन्नता भासित होती है, वह मिथ्यादर्शन के जोर से हो नहीं सकता; इसलिए पर्याय (असमानजातीय द्रव्यपर्याय) में ही अहंबुद्धि पायी जाती है।

मिथ्यादर्शन से यह जीव, कदाचित् बाह्यसामग्री का संयोग होनेपर, उसे भी अपनी मानता है। पुत्र-स्त्री, धन-धान्य, हाथी-घोड़े, महल-किंकर आदि प्रत्यक्षत: अपने से भिन्न और सदा काल अपने आधीन नहीं—ऐसे स्वयं को भासित होते हैं तथापि उनमें ममकार करता है।

पुत्रादि में, 'ये हैं, सो मैं ही हूँ'—ऐसी भी कदाचित् **भ्रमबुद्धि** होती है परन्तु मिथ्यादर्शन से शरीरादि का स्वरूप अन्यथा ही भासित होता है—'अनित्य को, नित्य मानता है; भिन्न को, अभिन्न मानता है; दु:ख के कारण को, सुख का कारण मानता है; दु:ख को, सुख मानता है', इत्यादि विपरीत भासित होता है।

— ऐसे जीव-अजीवतत्त्वों का अयथार्थ ज्ञान होनेपर, अयथार्थ श्रद्धान होता है।

आस्रवतत्त्व सम्बन्धी अयथार्थ श्रद्धान

इस जीव को मोह के उदय से, मिथ्यात्व-कषायादि [आस्रव] भाव होते हैं, उनको अपना स्वभाव मानता है; कर्मोपाधि से हुए नहीं जानता। दर्शन-ज्ञान उपयोग और ये आस्रवभाव, उनको एक मानता हैं क्योंकि इनका आधारभूत तो एक आत्मा है और इनका परिणमन, एक ही काल में होता है; इसलिए इसे भिन्नपना भासित नहीं होता तथा **भिन्नपना भासित होने का कारण जो विचार है, वह मिथ्यादर्शन के बल से हो नहीं सकता।**

वहाँ ये मिथ्यात्व-कषायभाव, आकुलतासहित हैं; इसलिए वर्तमान दु:खमय हैं और कर्मबन्ध के कारण हैं; इसलिए आगामी काल में दु:ख उत्पन्न करेंगे—ऐसा उन्हें नहीं मानता और इन्हें स्वयं भला जानकर, इन भावोंरूप होकर प्रवर्तता है। तथा वह दु:खी तो अपने इन मिथ्यात्व-कषायभावों से होता है और वृथा ही औरों को दु:ख उत्पन्न करनेवाले मानता है।

जैसे—दु:खी तो मिथ्याश्रद्धान से होता है परन्तु अपने श्रद्धान के अनुसार जो पदार्थ न प्रवर्ते, उसे दु:खदायक मानता है। दु:खी तो क्रोध से होता है परन्तु जिससे क्रोध किया हो, उसे दु:खदायक मानता है। तथा दु:खी तो लोभ से होता है परन्तु इष्टवस्तु की अप्राप्ति को दु:खदायक मानता है—ऐसे ही अन्यत्र जानना।

वहाँ इन भावों का जैसा फल लगता है, वैसा भासित नहीं होता। इनकी तीव्रता से नरकादि होते हैं तथा मन्दता से स्वर्गादि होते हैं, वहाँ अधिक-कम आकुलता होती है—ऐसा भासित नहीं होता है; इसलिए बुरे नहीं लगते हैं। इसका कारण यह है कि—जो अपने किये भासित होते हैं; इसलिए उनको बुरे कैसे माने ?

— ऐसे आस्रवतत्त्व का अयथार्थ ज्ञान होनेपर, अयथार्थ श्रद्धान होता है।

बन्धतत्त्व सम्बन्धी अयथार्थ श्रद्धान

इन्हीं आस्रवभावों से ज्ञानावरणादि कर्मों का **बन्ध** होता है; उनका उदय होनेपर, ज्ञान -दर्शन की हीनता होना, मिथ्यात्व-कषायरूप परिणमन होना, चाहा हुआ न होना, सुख -दु:ख का कारण मिलना, शरीर-संयोग रहना, गति-जाति-शरीरादि का उत्पन्न होना, नीच -उच्च कुल का पाना होता है।

इनके होने में मूलकारण कर्म है, उसको तो पहिचानता नहीं, क्योंकि वे सूक्ष्म हैं; इसको दिखायी नहीं देते और वे (कर्म) स्वयं को इन कार्यों का कर्ता हुआ दिखाई नहीं देता; इसलिए इनके होने में या तो अपने को कर्ता मानता है या किसी और को कर्ता मानता है। तथा जब अपना या अन्य का कर्तापना भासित नहीं होता तो मूढ़ (गहल) होकर, भवितव्य को मानता है।

— ऐसे बन्धतत्त्व का अयथार्थ ज्ञान होनेपर, अयथार्थ श्रद्धान होता है।

संवरतत्त्व सम्बन्धी अयथार्थ श्रद्धान

आस्रव का अभाव होना, वह **संवर** है। जो आस्रव को यथार्थ नहीं पहिचाने, उसे संवर का यथार्थ श्रद्धान कैसे हो ? जैसे—किसी का अहितरूप आचरण है; उसे वह अहितरूप भासित नहीं होता, तो वह उसके अभाव को, हितरूप कैसे मानें ? उसी प्रकार जीव को आस्रव की प्रवृत्ति है, इसे वह अहितरूप भासित न हो, तो उसके अभावरूप संवर को, हितरूप कैसे माने ?

अनादि से इस जीव को आस्रव भाव ही हुआ है, संवर कभी नहीं हुआ; इसलिए 'संवर का होना', भासित नहीं होता; संवर होनेपर सुख होता है, वह भासित नहीं होता; संवर से आगामी काल में दु:ख नहीं होगा, वह भी भासित नहीं होता; इसलिए आस्रव का तो संवर करता नहीं है और उन अन्य पदार्थों को दु:खदायक मानता है; अत: उन्हीं के न होने का उपाय किया करता है परन्तु वे अपने आधीन नहीं हैं; वृथा ही खेद-खिन्न होता है।

— ऐसे संवरतत्त्व का अयथार्थ ज्ञान होनेपर, अयथार्थ श्रद्धान होता है।

निर्जरातत्त्व सम्बन्धी अयथार्थ श्रद्धान

बन्ध का एकदेश अभाव होना, वह **निर्जरा** है। जो बन्ध को यथार्थ नहीं पहिचाने, उसे निर्जरा का यथार्थ श्रद्धान कैसे हो ? जैसे—भक्षण किये हुए विष आदि से दु:ख का होना न जाने, तो उसे उखाड़ने के उपाय को कैसे भला जाने ? उसी प्रकार बन्धनरूप किये कर्मों से, दु:ख होना न जाने, तो उनकी निर्जरा के उपाय को कैसे भला जाने ?

इस जीव को इन्द्रियों के माध्यम से सूक्ष्मरूप कर्मों का तो, ज्ञान होता नहीं है और उनमें दु:ख का निमित्त होने की शक्ति है, उसका भी ज्ञान नहीं है; इसलिए अन्य पदार्थों के ही

निमित्त को दु:खदायक जानकर, उनका ही अभाव करने का उपाय करता है परन्तु वे अपने आधीन नहीं हैं तथा कदाचित् दु:ख दूर करने में निमित्तभूत कोई इष्ट संयोगादि कार्य बनता है लेकिन वह भी कर्म के अनुसार बनता है; इसलिए उनका उपाय करके, वृथा ही खेद करता है।

— ऐसे निर्जरातत्त्व का अयथार्थ ज्ञान होनेपर, अयथार्थ श्रद्धान होता है।

मोक्षतत्त्व सम्बन्धी अयथार्थ श्रद्धान

सर्व कर्मबन्ध के अभाव का नाम, **मोक्ष** है। जो बन्ध को तथा बन्धजनित सर्व दु:खों को नहीं पहिचाने, उसको मोक्ष का यथार्थ श्रद्धान कैसे हो ? जैसे—किसी को रोग है, वह उस रोग को और रोगजनित दु:ख को न जाने तो सर्वथा रोग के अभाव को कैसे भला जाने ? उसी प्रकार इसके कर्मबन्धन है, यह उस बन्धन को और बन्धजनित दु:ख को न जाने तो सर्वथा बन्ध के अभाव को कैसे भला जाने ?

इस जीव को कर्मों का और उनकी शक्ति का तो ज्ञान है नहीं; इसलिए बाह्यपदार्थों को दु:ख का कारण जानकर, उनके सर्वथा अभाव करने का उपाय करता है। तथा यह तो जानता है कि सर्वथा दु:ख दूर होने के कारणभूत इष्ट सामग्रियों को मिलाकर, सर्वथा सुखी होऊँगा, परन्तु ऐसा कदापि नहीं हो सकता; यह वृथा ही खेद करता है।

— ऐसे मिथ्यादर्शन से मोक्षतत्त्व का अयथार्थ ज्ञान होनेपर, अयथार्थ श्रद्धान होता है।

इस प्रकार यह जीव, मिथ्यादर्शन के कारण, प्रयोजनभूत जीवादि सात तत्त्वों का अयथार्थ श्रद्धान करता है।

पुण्य-पाप सम्बन्धी अयथार्थ श्रद्धान

यद्यपि जो पुण्य-पाप हैं, वे इन्हीं (आस्रवादि) के विशेष हैं, इन पुण्य-पाप की एक जाति है तथापि **मिथ्यादर्शन से पुण्य को भला जानता है; पाप को बुरा जानता है।** पुण्य से अपनी इच्छानुसार किंचित् कार्य बने, उसको भला जानता है; पाप से इच्छानुसार कार्य नहीं बने, उसको बुरा जानता है परन्तु वे दोनों ही आकुलता के कारण हैं; इसलिए बुरे ही हैं।

तथा यह अपनी मान्यता से वहाँ सुख-दु:ख मानता है; परमार्थ से जहाँ आकुलता है, वहाँ दु:ख ही है; इसलिए पुण्य-पाप के उदय को भला-बुरा जानना, भ्रम ही है।

वहाँ कितने ही जीव, कदाचित् पुण्य-पाप के कारण जो शुभ-अशुभभाव हैं, उन्हें भला-बुरा जानते हैं, वह भी भ्रम ही है क्योंकि दोनों ही कर्मबन्धन के कारण हैं।

— ऐसे पुण्य-पाप का अयथार्थ ज्ञान होनेपर, अयथार्थ श्रद्धान होता है।

इस प्रकार अतत्त्व श्रद्धानरूप **मिथ्यादर्शन का स्वरूप** कहा; यह असत्यरूप है; इसलिए इसी का नाम, **मिथ्यात्व** है और यह सत्य श्रद्धान से रहित है; इसलिए इसी का नाम, **अदर्शन** है।

मिथ्याज्ञान का स्वरूप

अब, **मिथ्याज्ञान का स्वरूप** कहते हैं—प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वों को अयथार्थ जानने का नाम, '**मिथ्याज्ञान**' है; उसके द्वारा उनको जानने में संशय-विपर्यय-अनध्यवसाय होता है।

वहाँ 'ऐसे है कि ऐसे है ?'—ऐसा परस्पर विरुद्धतासहित, दो रूप ज्ञान, उसका नाम, **संशय** है; जैसे—'मैं आत्मा हूँ कि शरीर हूँ ?' - ऐसा जानना। 'ऐसा ही है'—ऐसा वस्तुस्वरूप से विरुद्धतासहित एकरूप ज्ञान, उसका नाम **विपर्यय** है; जैसे—'मैं शरीर हूँ' - ऐसा जानना। तथा 'कुछ है' - ऐसा निर्धाररहित विचार, उसका नाम **अनध्यवसाय** है; जैसे—'मैं कोई हूँ' - ऐसा जानना। इस प्रकार प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वों में, संशय-विपर्यय-अनध्यवसायरूप जो जानना होता है, उसका नाम **मिथ्याज्ञान** है।

अप्रयोजनभूत पदार्थों को यथार्थ जानो या अयथार्थ जानो, उसकी अपेक्षा, **मिथ्याज्ञान -सम्यग्ज्ञान** नाम नहीं है। **जिस प्रकार मिथ्यादृष्टि, रस्सी को रस्सी जाने तो सम्यग्ज्ञान नाम नहीं होता और सम्यग्दृष्टि, रस्सी को साँप जाने तो मिथ्याज्ञान नाम नहीं होता।**

यहाँ प्रश्न—प्रत्यक्ष सच्चे-झूठे ज्ञान को **सम्यग्ज्ञान-मिथ्याज्ञान** कैसे न कहें ?

उसका समाधान—जहाँ जानने ही को सच्चा-झूठा निर्धार करने का प्रयोजन हो, वहाँ तो कोई पदार्थ है, उसको सच्चा-झूठा जानने की अपेक्षा ही **सम्यग्ज्ञान-मिथ्याज्ञान** नाम होता है। जैसे—प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रमाण के वर्णन में कोई पदार्थ है, उसके सच्चे जाननेरूप **सम्यग्ज्ञान** का ग्रहण किया है और संशयादिरूप जानने को, अप्रमाणरूप **मिथ्याज्ञान** कहा है।

लेकिन यहाँ संसार-मोक्ष के कारणभूत सच्चा-झूठा जानने का निर्धार करना है; वहाँ रस्सी-सर्पादि का यथार्थ या अयथार्थ ज्ञान, संसार-मोक्ष का कारण नहीं है; इसलिए उनकी अपेक्षा, यहाँ **सम्यग्ज्ञान-मिथ्याज्ञान** नहीं कहा है।

यहाँ तो प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वों के ही जानने की अपेक्षा, **सम्यग्ज्ञान-मिथ्याज्ञान** कहा है। इसी अभिप्राय से **सिद्धान्त में, मिथ्यादृष्टि के तो सर्व जानने को, मिथ्याज्ञान ही कहा और सम्यग्दृष्टि के सर्व जानने को, सम्यग्ज्ञान ही कहा है।**

यहाँ प्रश्न—मिथ्यादृष्टि को जीवादि तत्त्वों का अयथार्थ जानना है, उसको मिथ्याज्ञान कहो परन्तु रस्सी-सर्पादि के यथार्थ जानने को तो सम्यग्ज्ञान कहो ?

उसका समाधान—मिथ्यादृष्टि जानता है, वहाँ उसको सत्ता-असत्ता का विशेष [ज्ञान] नहीं है; इसलिए वह कारण-विपर्यय, स्वरूप-विपर्यय व भेदाभेद-विपर्यय को उत्पन्न करता है। वहाँ जिसको जानता है, उसके मूलकारण को नहीं पहिचानता; अन्यथा कारण मानता है; वह तो **कारण-विपर्यय** है। तथा जिसको जानता है, उसके मूलवस्तुतत्त्वरूप-स्वरूप को नहीं पहिचानता;

अन्यथा स्वरूप मानता है; वह **स्वरूप-विपर्यय** है। तथा जिसको जानता है, उसे 'यह इनसे भिन्न है, इनसे अभिन्न है'—ऐसा नहीं पहिचानता; अन्यथा भिन्न-अभिन्नपना मानता है; वह **भेदाभेद-विपर्यय** है—ऐसे मिथ्यादृष्टि के जानने में विपरीतता पायी जाती है।

जैसे—मतवाला, माता को पत्नी मानता है, पत्नी को माता मानता है; उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि को अन्यथा जानना होता है। तथा जैसे—किसी काल में मतवाला, माता को माता और पत्नी को पत्नी भी जानता है, तो भी उसको निश्चयरूप निर्धारपूर्वक श्रद्धानसहित जानना नहीं होता; इसलिए उसको यथार्थज्ञान नहीं कहा जाता; उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि किसी काल में किसी पदार्थ को सत्य भी जानता है, तो भी उसको निश्चयरूप निर्धारपूर्वक श्रद्धानसहित जानना नहीं होता, अथवा सत्य भी जानता है परन्तु उनसे अपना प्रयोजन अयथार्थ ही साधता है; इसलिए उसको सम्यग्ज्ञान नहीं कहते हैं।

इस प्रकार मिथ्यादृष्टि के ज्ञान को, मिथ्याज्ञान कहते हैं।

यहाँ प्रश्न—इस मिथ्याज्ञान का कारण कौन है ?

उसका समाधान—मोह के उदय से, जो मिथ्यात्वभाव होता है, सम्यक्त्व नहीं होता, वह इस मिथ्याज्ञान का कारण है। जैसे—विष के संयोग से, भोजन को भी विषरूप कहते हैं; वैसे मिथ्यात्व के सम्बन्ध से ज्ञान है, वह 'मिथ्याज्ञान' नाम पाता है।

यहाँ कोई कहे—ज्ञानावरण को निमित्त क्यों नहीं कहते ?

उसका समाधान—ज्ञानावरण के उदय से तो, ज्ञान के अभावरूप अज्ञानभाव होता है तथा उसके क्षयोपशम से, किंचित् ज्ञानरूप मति आदि ज्ञान होते हैं। यदि इनमें से किसी को मिथ्याज्ञान, किसी को सम्यग्ज्ञान कहें तो ये दोनों ही भाव, मिथ्यादृष्टि तथा सम्यग्दृष्टि के पाये जाते हैं; इसलिए उन दोनों के मिथ्याज्ञान तथा सम्यग्ज्ञान का सद्भाव हो जाएगा लेकिन वह सिद्धान्त से विरुद्ध होगा; इसलिए ज्ञानावरण का निमित्त नहीं बनता।

यहाँ फिर पूछता है—रस्सी-सर्पादि के अयथार्थज्ञान का कारण कौन है ? उस ही को जीवादि तत्त्वों के अयथार्थ-यथार्थ ज्ञान का कारण कहो ?

उसका उत्तर—जानने में जितना अयथार्थपना होता है, उतना तो ज्ञानावरण के उदय से होता है और [जितना] यथार्थपना होता है, उतना ज्ञानावरण के क्षयोपशम से होता है।

जैसे—रस्सी को सर्प जाना, वहाँ यथार्थ जानने की शक्ति के बाधककारण का उदय है; इसलिए अयथार्थ जानता है और रस्सी को रस्सी नहीं जानता।① तथा यथार्थ जानने की शक्ति का कारण, क्षयोपशम है; इसलिए यथार्थ जानता है; उसी प्रकार जीवादि तत्त्वों को यथार्थ जानने की शक्ति होने या न होने में तो ज्ञानावरण ही का निमित्त है।

लेकिन जैसे—किसी पुरुष को क्षयोपशम से दु:ख के तथा सुख के कारणभूत

---

① **बहुरि जेवरी कों, जेवरी जानी नही।** (हस्तलिखित, पृष्ठ ९९/अन्तिम पंक्ति)

पदार्थों को यथार्थ जानने की शक्ति हो, वहाँ जिसको असातावेदनीय का उदय हो, वह दुःख के कारणभूत जो [पदार्थ] हों, उन्हीं का वेदन करता है; सुख के कारणभूत पदार्थों का वेदन नहीं करता क्योंकि यदि सुख के कारणभूत पदार्थों का वेदन करे तो सुखी हो जाए, परन्तु असाता का उदय होने से, हो नहीं सकता; इसलिए यहाँ दुःख के कारणभूत और सुख के कारणभूत पदार्थों के वेदन में ज्ञानावरण का निमित्त नहीं है; असाता-साता का उदय ही कारणभूत है।

उसी प्रकार जीव में प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वों तथा अप्रयोजनभूत अन्य को यथार्थ जानने की शक्ति होती है; वहाँ जिसको मिथ्यात्व का उदय होता है, वह जो अप्रयोजनभूत होते हैं, उन्हीं का वेदन करता है, जानता है; प्रयोजनभूत को नहीं जानता क्योंकि यदि प्रयोजनभूत को जाने तो सम्यग्दर्शन हो जाए, परन्तु वह मिथ्यात्व का उदय होनेपर, हो नहीं सकता; इसलिए यहाँ प्रयोजनभूत और अप्रयोजनभूत पदार्थों को जानने में, ज्ञानावरण का निमित्त नहीं है; मिथ्यात्व का उदय-अनुदय ही कारणभूत है।

यहाँ ऐसा जानना—जहाँ एकेन्द्रियादि में जीवादि तत्त्वों को यथार्थ जानने की शक्ति ही न हो, वहाँ तो ज्ञानावरण के उदय [जनित अज्ञान] और मिथ्यात्व के उदय से हुआ मिथ्यादर्शन – इन दोनों का निमित्त है। तथा जहाँ संज्ञी मनुष्यादि में क्षयोपशमादि लब्धि होने से, शक्ति होती है परन्तु जानते नहीं; वहाँ मिथ्यात्व के उदय का ही निमित्त जानना।

इसी कारण मिथ्याज्ञान का मुख्य कारण, ज्ञानावरण को नहीं कहा; मोह के उदय से हुआ भाव, वही कारण कहा है।

यहाँ फिर प्रश्न—ज्ञान होनेपर, श्रद्धान होता है; इसलिए पहले मिथ्याज्ञान कहो, बाद में मिथ्यादर्शन कहो ?

उसका समाधान—है तो ऐसा ही; जाने बिना, श्रद्धान कैसे हो ? परन्तु मिथ्या और सम्यक् –ऐसी संज्ञा, ज्ञान को मिथ्यादर्शन और सम्यग्दर्शन के निमित्त से होती है। जैसे—मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि, सुवर्णादि पदार्थों को जानते तो समान हैं [परन्तु] वही जानना, मिथ्यादृष्टि को मिथ्याज्ञान नाम पाता है और सम्यग्दृष्टि को, सम्यग्ज्ञान नाम पाता है। **इसी प्रकार सर्व मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञान को [क्रमशः] मिथ्यादर्शन और सम्यग्दर्शन, कारण जानना।**

इसलिए जहाँ सामान्यतया ज्ञान-श्रद्धान का निरूपण होता है, वहाँ तो ज्ञान, कारणभूत है, उसे प्रथम कहना और श्रद्धान कार्यभूत है, उसे बाद में कहना; लेकिन जहाँ मिथ्या-सम्यक् ज्ञान-श्रद्धान का निरूपण हो, वहाँ श्रद्धान, कारणभूत है, उसे पहले कहना और ज्ञान, कार्यभूत है, उसे बाद में कहना।

फिर प्रश्न—ज्ञान-श्रद्धान तो युगपत् होते हैं, उनमें कारण-कार्यपना कैसे कहते हो ?

उसका समाधान–'यह होता है तो वह होता है' - इस अपेक्षा, कारण-कार्यपना होता है। जैसे–दीपक और प्रकाश युगपत् होते हैं तथापि दीपक हो तो प्रकाश हो; इसलिए दीपक, कारण है और प्रकाश, कार्य है; उसी प्रकार ज्ञान-श्रद्धान के [कारण-कार्यपना] है अथवा मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान के या सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान के, कारण-कार्यपना जानना।

फिर प्रश्न–मिथ्यादर्शन के संयोग से ही, मिथ्याज्ञान नाम पाता है तो एक मिथ्यादर्शन को ही संसार का कारण कहना था; मिथ्याज्ञान को अलग से किसलिए कहा?

उसका समाधान–ज्ञान ही की अपेक्षा तो मिथ्यादृष्टि या सम्यग्दृष्टि के क्षयोपशम से उत्पन्न हुए यथार्थ ज्ञान में कुछ विशेष नहीं है तथा यही ज्ञान, केवलज्ञान में भी जा मिलता है।

जैसे–नदी, समुद्र में मिलती है; इसलिए ज्ञान में कुछ दोष नहीं है परन्तु क्षयोपशम-ज्ञान जहाँ लगता है, वहाँ एक ज्ञेय में लगता है और इस मिथ्यादर्शन के निमित्त से वह ज्ञान, अन्य ज्ञेयों में तो लगता है परन्तु प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वों का यथार्थ निर्णय करने में नहीं लगता; अत: यह **ज्ञान में दोष** हुआ, इसे '**मिथ्याज्ञान**' कहा है तथा जीवादि तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान नहीं होता; अत: यह **श्रद्धान में दोष** हुआ, इसे '**मिथ्यादर्शन**' कहा है–ऐसे लक्षण-भेद से, मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान को अलग कहा है।

इस प्रकार **मिथ्याज्ञान का स्वरूप** कहा, इसी को तत्त्वज्ञान के अभाव से, **अज्ञान** कहते हैं और अपना प्रयोजन नहीं साधता; इसलिए इसी को **कुज्ञान** कहते हैं।

मिथ्याचारित्र का स्वरूप

अब, **मिथ्याचारित्र का स्वरूप** कहते हैं–चारित्रमोह के उदय से जो कषायभाव होता है, उसका नाम, **मिथ्याचारित्र** है। यहाँ अपने स्वभावरूप प्रवृत्ति नहीं है, झूठी पर-स्वभावरूप प्रवृत्ति करना चाहता है, वह बनती नहीं है; इसलिए इसका नाम, **मिथ्याचारित्र** है।

वही दिखलाते है–अपना स्वभाव तो दृष्टा-ज्ञाता है परन्तु वह स्वयं केवल देखनेवाला -जाननेवाला तो रहता नहीं है; जिन पदार्थों को देखता-जानता है, उनमें इष्ट-अनिष्टपना मानता है; इसलिए रागी-द्वेषी होकर, किसी का सद्भाव चाहता है, किसी का अभाव चाहता है परन्तु उनका सद्भाव या अभाव, इसका किया होता नहीं, **क्योंकि कोई द्रव्य, किसी द्रव्य का कर्ता-हर्ता है नहीं; सर्व द्रव्य, अपने-अपने स्वभावरूप परिणमित होते हैं; यह वृथा ही कषायभाव से आकुलित होता है।**

यदि कदाचित् जैसा आप [स्वयं] चाहे, वैसा ही पदार्थ परिणमित हो तो भी वह अपने परिणमाने से तो परिणमित हुआ नहीं है। जैसे–गाड़ी चलती है और बालक उसे धक्का देकर ऐसा माने कि 'मैं इसे चला रहा हूँ' तो वह असत्य मानता है; यदि उसके चलाने से चलती हो तो जब

वह नहीं चलती, तब क्यों नहीं चलाता ? उसी प्रकार पदार्थ परिणमित होते हैं और यह जीव, उनका अनुसरण करके ऐसा मानता है कि 'मैं इनको ऐसे परिणमाता हूँ' परन्तु यह असत्य मानता है; यदि उसके परिणमाने से परिणमित होते हैं तो वे जब वैसे परिणमित नहीं होते, तब क्यों नहीं परिणमाता ?

वहाँ जैसा आप चाहता है, वैसा तो पदार्थ का परिणमन, कदाचित् ऐसे ही बनाव बन जाए, तब होता है; बहुत परिणमन तो जिन्हें आप नहीं चाहता, वैसे ही होते देखे जाते हैं; इसलिए **यह निश्चय है कि अपने करने से किसी का सद्भाव या अभाव होता नहीं।**

यदि अपने करने से सद्भाव या अभाव होता ही नहीं तो कषायभाव करने से क्या (लाभ) है ? केवल आप ही दु:खी होता है।

जैसे–किसी विवाहादि कार्यों में जिसका कुछ भी कहा नहीं होता और यदि वह आप कर्ता होकर, कषाय करे तो आप ही दु:खी होता है; उस प्रकार जानना।

अत: कषायभाव करना, ऐसे है, जैसे–जल का बिलोना कुछ भी कार्यकारी नहीं है; इसलिए इन कषायों की प्रवृत्ति को **मिथ्याचारित्र** कहते हैं।

इष्ट-अनिष्ट की मिथ्या कल्पना

वहाँ कषायभाव होते हैं, वे पदार्थों को इष्ट-अनिष्ट माननेपर होते हैं परन्तु उन्हें इष्ट -अनिष्ट मानना भी मिथ्या है क्योंकि कोई पदार्थ, इष्ट-अनिष्ट है नहीं।

कैसे ? वह कहते हैं–जो अपने को सुखदायक-उपकारी हो, उसे **इष्ट** कहते हैं और जो अपने को दु:खदायक-अनुपकारी हो, उसे **अनिष्ट** कहते हैं।

लोक में सर्व पदार्थ, अपने-अपने स्वभाव के ही कर्ता हैं; कोई किसी को सुख -दु:खदायक या उपकारी-अनुपकारी है नहीं। यह जीव ही अपने परिणामों में उन्हें सुखदायक -उपकारी मानकर, इष्ट जानता है अथवा दु:खदायक-अनुपकारी जानकर, अनिष्ट मानता है क्योंकि एक ही पदार्थ किसी को इष्ट लगता है, किसी को अनिष्ट लगता है।

जैसे–जिसे वस्त्र नहीं मिलता हो, उसे मोटा वस्त्र ही इष्ट लगता है और जिसे महीन वस्त्र मिलता है, उसे वह **अनिष्ट** लगता है; सूकरादि को विष्टा इष्ट लगती है, देवादि को अनिष्ट लगती है; किसी को मेघवर्षा इष्ट लगती है, किसी को अनिष्ट लगती है–ऐसे ही अन्य जानना।

इसी प्रकार एक जीव को भी एक ही पदार्थ, किसी काल में इष्ट लगता है, किसी काल में अनिष्ट लगता है। वहाँ यह जीव, जिसे मुख्यरूप से इष्ट मानता है, वह भी अनिष्ट होता देखा जाता है, इत्यादि जानना। जैसे–शरीर इष्ट है परन्तु रोगादिसहित हो जाए, तब अनिष्ट हो जाता है; पुत्रादि इष्ट हैं परन्तु कारण मिलनेपर, अनिष्ट होते देखे जाते हैं, इत्यादि जानना।

वहाँ यह जीव, जिसे मुख्यरूप से अनिष्ट मानता है, वह भी इष्ट होता दिखाई देता है। जैसे–गाली, अनिष्ट लगती है परन्तु ससुराल में इष्ट लगती है, इत्यादि जानना।

इस प्रकार पदार्थ में इष्ट-अनिष्टपना है नहीं। यदि पदार्थ में इष्ट-अनिष्टपना होता तो जो पदार्थ इष्ट होता, वह सभी को इष्ट ही होता और जो अनिष्ट होता, वह अनिष्ट ही होता परन्तु ऐसा है नहीं; यह जीव, कल्पना द्वारा उन्हें इष्ट-अनिष्ट मानता है; अतः यह कल्पना, झूठी है।

जो पदार्थ, सुखदायक-उपकारी या दुःखदायक-अनुपकारी होता है, वह अपने आप ही नहीं होता, परन्तु पुण्य-पाप के उदयानुसार होता है। जिसको पुण्य का उदय होता है, उसको पदार्थों का संयोग, सुखदायक-उपकारी होता है और जिसको पाप का उदय होता है, उसको पदार्थों का संयोग, दुःखदायक-अनुपकारी होता है–ऐसा प्रत्यक्ष देखते हैं।

किसी को स्त्री-पुत्रादि सुखदायक हैं, किसी को दुःखदायक हैं; किसी को व्यापार करने से लाभ है, किसी को नुकसान है; किसी के शत्रु भी दास हो जाते हैं, किसी के पुत्र भी अहितकारी होते हैं; इसलिए जाना जाता है कि पदार्थ, अपने आप ही इष्ट-अनिष्ट नहीं होते, परन्तु कर्मोदय के अनुसार, [वैसे] प्रवर्तते हैं।

जैसे–किसी के नौकर, अपने स्वामी के कहे अनुसार, किसी पुरुष को इष्ट-अनिष्ट उत्पन्न करें तो वह कुछ नौकरों का कर्तव्य नहीं है, उनके स्वामी का कर्तव्य है; यदि कोई नौकरों को ही इष्ट-अनिष्ट माने तो वह झूठ है; उसी प्रकार कर्म के उदय से प्राप्त हुए पदार्थ, कर्म के अनुसार, जीव को इष्ट-अनिष्ट उत्पन्न करें, तो वह कोई पदार्थों का कर्तव्य नहीं है, कर्म का कर्तव्य है; यदि पदार्थों को ही इष्ट-अनिष्ट माने, वह झूठ है; इसलिए यह बात सिद्ध हुई कि **पदार्थों को इष्ट-अनिष्ट मानकर, उनमें राग-द्वेष करना, मिथ्या है।**

यहाँ कोई कहता है–बाह्यवस्तुओं का संयोग, कर्म निमित्त से बनता है; अतः कर्मों से तो राग-द्वेष करना [योग्य है]?

उसका समाधान–कर्म तो जड़ हैं, उनमें कुछ सुख-दुःख देने की इच्छा नहीं है तथा वे स्वयमेव तो कर्मरूप परिणमित होते नहीं हैं; इसके भावों के निमित्त से, कर्मरूप होते हैं।

जैसे–कोई अपने हाथ से पत्थर लेकर, अपना सिर फोड़ ले तो पत्थर का क्या दोष है? उसी प्रकार जीव अपने रागादि भावों से, पुद्गल को कर्मरूप परिणमित करके, अपना बुरा करे तो कर्म का क्या दोष है? इसलिए **कर्मों से भी राग-द्वेष करना, मिथ्या है।**

इस प्रकार परद्रव्यों को इष्ट-अनिष्ट मानकर, राग-द्वेष करना, मिथ्या है।

यदि परद्रव्य इष्ट-अनिष्ट होते और वहाँ राग-द्वेष करता तो 'मिथ्या' नाम न पाता; परन्तु वे तो इष्ट-अनिष्ट हैं नहीं और यह इष्ट-अनिष्ट मानकर, राग-द्वेष करता है; इसलिए इस

परिणमन को मिथ्या कहा है। मिथ्यारूप जो परिणमन, उसका नाम **मिथ्याचारित्र** है।

राग-द्वेष का विधान व विस्तार

अब, इस जीव को **राग-द्वेष** होते हैं, उनका विधान और विस्तार दिखलाते हैं —

प्रथम तो, इस जीव को पर्याय में अहंबुद्धि है; इसलिए अपने को और शरीर को एक जानकर प्रवर्तता है। तथा इस शरीर में अपने को सुहाए—ऐसी इष्ट अवस्था होती है, उसमें **राग** करता है; अपने को न सुहाए—ऐसी अनिष्ट अवस्था होती है, उसमें **द्वेष** करता है।

तथा शरीर की इष्ट अवस्था के कारणभूत बाह्य पदार्थों में तो **राग** करता है और उसके घातकों में, **द्वेष** करता है तथा शरीर की अनिष्ट अवस्था के कारणभूत बाह्य पदार्थों में तो **द्वेष** करता है और उसके घातकों में, **राग** करता है।

वहाँ इनमें जिन बाह्य पदार्थों से **राग** करता है, उनके कारणभूत अन्य पदार्थों में, **राग** करता है और उनके घातकों में, **द्वेष** करता है तथा जिन बाह्य पदार्थों से **द्वेष** करता है, उनके कारणभूत अन्य पदार्थों में, **द्वेष** करता है और उनके घातकों में, **राग** करता है।

तथा इनमें भी जिनसे **राग** करता है, उनके कारण व घातक अन्य पदार्थों में, **राग व द्वेष** करता है तथा जिनसे **द्वेष** करता है, उनके कारण व घातक अन्य पदार्थों में, **द्वेष व राग** करता है—ऐसे ही **राग-द्वेष की परम्परा** प्रवर्तती है।

वहाँ कितने ही बाह्य पदार्थ, शरीर की अवस्था को कारण नहीं हैं, उनमें भी **राग-द्वेष** करता है। जैसे—गाय आदि को, पुत्रादि से शरीर का कुछ इष्ट नहीं होता तथापि वहाँ **राग** करते हैं और कुत्ते आदि को, बिल्ली आदि से शरीर का कुछ अनिष्ट नहीं होता तथापि वहाँ **द्वेष** करते हैं।

तथा कितने ही वर्ण-गन्ध-शब्दादि के अवलोकन आदि से शरीर को इष्ट नहीं होता तथापि उनमें **राग** करता है; कितने ही वर्णादि के अवलोकन आदि से शरीर को अनिष्ट नहीं होता तथापि उनमें **द्वेष** करता है—**ऐसे भिन्न बाह्य पदार्थों में राग-द्वेष होता है।**

वहाँ इनमें भी जिनसे राग करता है, उनके कारण व घातक अन्य पदार्थों में, **राग व द्वेष** करता है और जिनसे द्वेष करता है, उनके कारण व घातक अन्य पदार्थों में, **द्वेष व राग** करता है—**ऐसे ही यहाँ भी राग-द्वेष की परम्परा प्रवर्तती है।**

यहाँ प्रश्न—अन्य पदार्थों में तो राग-द्वेष करने का प्रयोजन जाना, परन्तु प्रथम ही मूलभूत शरीर की अवस्था में एवं जो शरीर की अवस्था को कारण नहीं हैं, उन पदार्थों में इष्ट -अनिष्ट मानने का प्रयोजन क्या है ?

उसका समाधान—जो प्रथम मूलभूत शरीर की अवस्था आदि हैं, उनमें भी प्रयोजन विचारकर, राग-द्वेष करे तो **मिथ्याचारित्र** नाम क्यों पाये ? उनमें बिना ही प्रयोजन, राग-द्वेष

करता है और उन्हीं के लिए, अन्य से **राग-द्वेष** करता है; इसलिए सर्व राग-द्वेष परिणति का नाम, **मिथ्याचारित्र** कहा है।

यहाँ प्रश्न–शरीर की अवस्था एवं बाह्य पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट मानने का प्रयोजन तो भासित नहीं होता और इष्ट-अनिष्ट माने बिना रहा भी नहीं जाता, उसका कारण क्या है ?

उसका समाधान–इस जीव को चारित्रमोह के उदय से, **राग-द्वेष** भाव होते हैं और वे भाव, किसी पदार्थ के आश्रय बिना हो नहीं सकते। जैसे–**राग** हो तो किसी पदार्थ में होता है; **द्वेष** हो तो किसी पदार्थ में होता है–ऐसे उन पदार्थों का और **राग-द्वेष** का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। वहाँ विशेष इतना है कि कितने ही पदार्थ तो मुख्यरूप से **राग** के कारण हैं, कितने ही पदार्थ, मुख्यरूप से **द्वेष** के कारण हैं तथा कितने ही पदार्थ, किसी को किसी काल में, **राग** के कारण होते हैं और किसी को किसी काल में, **द्वेष** के कारण होते हैं।

यहाँ इतना जानना–एक कार्य होने में, अनेक कारण चाहिए; इसलिए रागादि होने में अन्तरंगकारण, मोह का उदय है, वह तो बलवान है और बाह्य कारण, पदार्थ है, वह बलवान नहीं है। महा-मुनियों को, मोह मन्द होने से, बाह्य पदार्थों का निमित्त होनेपर भी, **राग-द्वेष** उत्पन्न नहीं होते। पापी जीवों को, मोह तीव्र होने से, बाह्य कारण न होनेपर भी, उनके संकल्प ही से **राग-द्वेष** होते हैं; इसलिए मोह का उदय होने से, **रागादि** होते हैं।

वहाँ जिस बाह्य पदार्थ के आश्रय से, **रागभाव** होना हो, उसमें बिना ही प्रयोजन अथवा कुछ प्रयोजनसहित इष्टबुद्धि होती है तथा जिस पदार्थ के आश्रय से, **द्वेषभाव** होना हो, उसमें बिना ही प्रयोजन अथवा कुछ प्रयोजनसहित, अनिष्टबुद्धि होती है; इसलिए मोह के उदय से, पदार्थों को इष्ट-अनिष्ट माने बिना रहा नहीं जाता।

– ऐसे पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट बुद्धि होनेपर, जो **राग-द्वेषरूप परिणमन** होता है, उसका नाम, **मिथ्याचारित्र** जानना।

वहाँ इन **राग-द्वेष ही के विशेष**–क्रोध-मान-माया-लोभ-हास्य-रति-अरति-शोक-भय-जुगुप्सा-स्त्रीवेद-पुरुषवेद-नपुंसकवेदरूप, कषायभाव हैं; वे सब इस **मिथ्याचारित्र** ही के भेद जानना। इनका वर्णन पहले किया ही है।[१]

तथा इस **मिथ्याचारित्र** में '**स्वरूपाचरणचारित्र का अभाव**' है; इसलिए इसका नाम, '**अचारित्र**' भी कहते हैं; तथा यहाँ वे परिणाम (राग-द्वेष) मिटते नहीं हैं अथवा विरक्त नहीं हैं; इसलिए इसी का नाम, '**असंयम**' कहते हैं या '**अविरति**' कहते हैं क्योंकि पाँच इन्द्रियाँ और मन के विषयों में तथा पंच स्थावर और त्रस की हिंसा में स्वच्छन्दपना होता है तथा उनके

---

[१] देखें, पृष्ठ ३८, ५२

त्यागरूप भाव नहीं होते; अत: इसे ही बारह प्रकार का **असंयम** या **अविरति** कहा है क्योंकि कषायभाव होनेपर ऐसे कार्य होते हैं; इसलिए मिथ्याचारित्र का नाम, **असंयम** या **अविरति** जानना। तथा इसी का नाम, **अव्रत** जानना क्योंकि हिंसा-अनृत-स्तेय-अब्रह्म-परिग्रह—इन पापकार्यों में प्रवृत्ति का नाम, **अव्रत** है। वहाँ इनका मूलकारण **प्रमत्तयोग** कहा है। प्रमत्तयोग है, वह कषायमय है; इसलिए मिथ्याचारित्र का नाम, '**अव्रत**' भी कहा जाता है।

– ऐसे मिथ्याचारित्र का स्वरूप कहा है। ❁

इस प्रकार संसारी जीव को मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्ररूप परिणमन अनादि से पाया जाता है। वहाँ ऐसा परिणमन, एकेन्द्रिय आदि असंज्ञी [पंचेन्द्रिय] पर्यन्त तो सर्व जीवों के पाया जाता है तथा संज्ञी पंचेन्द्रियों में सम्यग्दृष्टियों को छोड़कर, अन्य सर्व जीवों के ऐसा ही परिणमन पाया जाता है। इस परिणमन में जैसा जहाँ सम्भव हो, वैसा वहाँ जानना।

जैसे—एकेन्द्रियादि में, इन्द्रियादि की हीनता-अधिकता पायी जाती है तथा धन-पुत्रादि का सम्बन्ध, मनुष्यादि में ही पाया जाता है; अत: इन्हीं के निमित्त से मिथ्यादर्शनादि का वर्णन किया है, उसमें जैसा विशेष सम्भव हो, वैसा जानना।

यद्यपि एकेन्द्रियादि जीव, इन्द्रिय-शरीरादि का नाम नहीं जानते, तथापि उस नाम के अर्थरूप जो भाव हैं, उसमें पूर्वोक्त प्रकार से परिणमन पाया जाता है। जैसे—'मैं स्पर्शन से स्पर्श करता हूँ।' तथा 'शरीर मेरा है'—ऐसा नाम नहीं जानते हैं तथापि उसके अर्थरूप जो भाव हैं, उसरूप परिणमित होते हैं। तथा कितने ही मनुष्यादि उनके नाम भी जानते हैं और उनके भावरूप परिणमन भी करते हैं, इत्यादि (अनेक) विशेष सम्भव हैं, उन्हें जान लेना।

—ऐसे ये मिथ्यादर्शनादि भाव, जीव के अनादि से पाये जाते हैं; नवीन ग्रहण नहीं किये हैं।

मोह की महिमा

देखो! इस [मोह] की महिमा!! जो पर्याय धारण करता है, वहाँ बिना ही सिखाए, मोह के उदय से स्वयमेव ऐसा ही परिणमन होता है तथा मनुष्यादि को सत्य विचार होने के कारण मिलनेपर भी, सम्यक् परिणमन नहीं होता।

तथा श्रीगुरु के उपदेश का निमित्त बने, वे बारम्बार समझाएँ परन्तु यह कुछ विचार नहीं करता तथा स्वयं को भी प्रत्यक्ष भासित हो, वह तो नहीं मानता; अन्यथा ही मानता है।

किस प्रकार? वह कहते हैं—इसका मरण होनेपर, शरीर-आत्मा प्रत्यक्ष भिन्न होते हैं। एक शरीर को छोड़कर आत्मा, अन्य शरीर धारण करता है। वहाँ व्यन्तरादि अपने पूर्वभव का सम्बन्ध, प्रगट करते देखे जाते हैं परन्तु इसको शरीर से भिन्न बुद्धि नहीं हो सकती है।

स्त्री-पुत्रादि अपने स्वार्थ के सगे प्रत्यक्ष देखे जाते हैं; जब उनका प्रयोजन सिद्ध न हो, तब ही विपरीत होते दिखायी देते हैं; यह उनमें ममत्व

करता है और उनके अर्थ, नरकादि में गमन के कारणभूत, नाना प्रकार के पाप उत्पन्न करता है।

धनादि सामग्री, किसी की किसी के होती देखी जाती है परन्तु यह उन्हें अपनी मानता है तथा शरीर की अवस्था और बाह्य सामग्री, स्वयमेव उत्पन्न होती व विनष्ट होती दिखायी देती है–यह वृथा आप (स्वयं) कर्ता होता है। वहाँ जो कार्य, अपने मनोरथ के अनुसार होता है, उसे तो कहता है–'मैंने किया'; और यदि अन्यथा होता है, तो कहता है–'मैं क्या करूँ? –ऐसा ही होना था' अथवा 'ऐसा क्यों हुआ?'–ऐसा मानता है; अत: **या तो सर्व का कर्ता ही होना था या अकर्ता रहना था परन्तु ऐसा विचार नहीं होता है।**

तथा 'मरण अवश्य होगा'–ऐसा जानता है परन्तु मरण का निश्चय करके, कुछ कर्तव्य नहीं करता; इस पर्यायसम्बन्धी ही यत्न करता है तथा मरण का निश्चय करके, कभी तो कहता है–'मैं मरूँगा और शरीर को जला देंगे'; कभी कहता है–'मुझे जला देंगे'; कभी कहता है–'यश रहा तो हम जीवित ही हैं।'; कभी कहता है–'पुत्रादि रहेंगे तो मैं ही जीऊँगा।'

–ऐसे पागल की भाँति, बकता है; कुछ सावधानी नहीं है।

वहाँ आप को परलोक में जाना है–यह प्रत्यक्ष जानता है; उसके लिए तो इष्ट-अनिष्ट का कुछ भी उपाय नहीं करता और यहाँ पुत्र-पौत्र आदि मेरे साथ में बहुत काल तक इष्ट बने रहें; अनिष्ट न हों–ऐसे अनेक उपाय करता है। किसी के परलोक जाने के बाद, इस लोक की सामग्री द्वारा उसका उपकार हुआ देखा नहीं है परन्तु इसको परलोक होने का निश्चय होनेपर भी, इस लोक की सामग्री का ही पालन रहता है।

यद्यपि विषय-कषायों की परिणति से तथा हिंसादि कार्यों द्वारा, स्वयं दु:खी होता है, खेद-खिन्न होता है, दूसरों का शत्रु होता है, इस लोक में निन्द्य होता है, परलोक में बुरा होता है–ऐसा आप प्रत्यक्ष जानता है तथापि उन्हीं में प्रवर्तता है, इत्यादि अनेक प्रकार से, प्रत्यक्ष भासित हो; उसका भी अन्यथा श्रद्धान करता है, जानता है, आचरण करता है।

– यह मोह का माहात्म्य है।[१]

इस प्रकार यह जीव, अनादि से मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमित हो रहा है। इसी परिणमन से संसार में अनेक प्रकार का दु:ख उत्पन्न करनेवाले कर्मों का सम्बन्ध पाया जाता है। यही भाव, दु:खों के बीज हैं; अन्य कोई नहीं।

अत: हे भव्य! यदि दु:खों से मुक्त होना चाहते हो तो, इन मिथ्यादर्शनादि विभावभावों का अभाव करना–यह ही कार्य है; इस कार्य को करने से, तेरा परम-कल्याण होगा। ❁❁❁

– इति श्री मोक्षमार्गप्रकाशक नामक शास्त्र में

'मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र के निरूपणरूप' चौथा अधिकार समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

---

[१] मूल हस्तलिखित प्रति में शुरू से यहाँ (पृष्ठ क्रमांक 1-109) तक प्रतिलिपिकार के द्वारा लिखे गये हैं लेकिन इसके बाद के पृष्ठ स्वयं पण्डित श्री टोडरमलजी के हाथों से लिखे हुए ही उपलब्ध होते हैं।

पाँचवाँ अधिकार

अन्यमत निरूपण

॥ ॐ नमः ॥

दोहा - **बहुविधि मिथ्या गहन करि, मलिन भयो निजभाव।**
ताको होत अभाव है, सहजरूप दरसाव॥

अथ, यह जीव, पूर्वोक्त प्रकार से, अनादि ही से मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमित हो रहा है; उससे संसार में दु:ख सहता हुआ, कदाचित् मनुष्यादि पर्यायों में विशेष श्रद्धानादि करने की शक्ति को पाता है। वहाँ यदि इन विशेष श्रद्धानादि कारणों से, उन मिथ्याश्रद्धान आदि का पोषण करे, तो उस जीव का दु:ख से मुक्त होना, अति दुर्लभ होता है।

जैसे—कोई पुरुष, रोगी है, वह कुछ सावधानी को पाकर, कुपथ्य सेवन करे तो उस रोगी का सुलझना कठिन ही होता है; उसी प्रकार यह जीव, मिथ्यात्वादि सहित है, वह कुछ ज्ञानादि शक्ति को पाकर, विशेष विपरीत श्रद्धानादि के कारणों का सेवन करे, तो इस जीव का मुक्त होना कठिन ही होता है।

इसलिए जिस प्रकार वैद्य, कुपथ्यों के विशेष दिखलाकर, उनके सेवन का निषेध करता है; उसी प्रकार यहाँ **विशेष मिथ्याश्रद्धानादि** के कारणों का विशेष दिखलाकर, उनका निषेध करते हैं —

यहाँ अनादि से जो मिथ्यात्वादिभाव पाये जाते हैं, उन्हें तो **अगृहीत मिथ्यात्वादि** जानना क्योंकि वे नवीन ग्रहण नहीं किये हैं तथा उनको पुष्ट करने के कारणों से, विशेष मिथ्यात्वादिभाव होते हैं, उन्हें **गृहीत मिथ्यात्वादि** जानना।

वहाँ अगृहीत मिथ्यात्वादि का वर्णन तो पहले किया है, उसे ही जानना और अब गृहीत मिथ्यात्वादि का निरूपण करते हैं, उसे जानना।

---

① मूल हस्तलिखित प्रति (पृष्ठ २०४) में इस अधिकार के समापनपर, इसका नाम '**अन्य मत निरूपण**' आया है।

कुदेव-कुगुरु-कुधर्म और कल्पित तत्त्वों का श्रद्धान तो **(गृहीत) मिथ्यादर्शन** है तथा जिनमें विपरीत निरूपण द्वारा, रागादि का पोषण किया हो—ऐसे कुशास्त्रों का श्रद्धानपूर्वक अभ्यास, वह **(गृहीत) मिथ्याज्ञान** है तथा जिस आचरण में, कषायों का सेवन हो और उसे धर्मरूप अंगीकार करे, वह **(गृहीत) मिथ्याचारित्र** है।

अब, इन्हीं का विशेष दिखलाते हैं —

इन्द्र, लोकपाल इत्यादि तथा अद्वैत ब्रह्म, राम, कृष्ण, महादेव, बुद्ध, खुदा, पीर, पैगम्बर इत्यादि तथा हनुमान, भैरों, क्षेत्रपाल, देवी, दहाड़ी, सती इत्यादि तथा शीतला, चौथ, साँझी, गनगौर, होली इत्यादि तथा सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, औत, पितृ, व्यन्तर इत्यादि तथा गाय, सर्प इत्यादि तथा अग्नि, जल, वृक्ष इत्यादि तथा शस्त्र, दवात, बर्तन इत्यादि अनेक हैं, उनका अन्यथा श्रद्धान करके, उनको पूजते हैं और उनसे अपना कार्य सिद्ध करना चाहते हैं परन्तु वे (उक्त सब), कार्य सिद्धि के कारण नहीं हैं; इसलिए ऐसे श्रद्धान को **गृहीतमिथ्यात्व** कहते हैं।

वहाँ उनका अन्यथा श्रद्धान कैसे होता है, वह कहते हैं —

सर्वव्यापी अद्वैत ब्रह्म मीमांसा

अद्वैत ब्रह्म[१] को, सर्वव्यापी सर्व का कर्ता मानते हैं लेकिन वह कोई है नहीं।

प्रथम, उसे सर्वव्यापी मानते हैं परन्तु सर्व पदार्थ तो न्यारे-न्यारे प्रत्यक्ष हैं तथा उनके स्वभाव न्यारे-न्यारे देखे जाते हैं, उन्हें 'एक' कैसे माना जाए?

'एक' मानना तो इन प्रकारों से होता है —

एक प्रकार तो यह है—सर्व न्यारे-न्यारे हैं, उनके समुदाय की कल्पना करके, उसका कुछ नाम रख लें। जैसे—घोड़ा, हाथी आदि भिन्न-भिन्न हैं, उनके समुदाय का नाम 'सेना' है; 'सेना', उनसे भिन्न कोई वस्तु नहीं है; उसी प्रकार से यदि 'सर्व पदार्थ', जिनका नाम 'ब्रह्म' है, वह 'ब्रह्म' कोई भिन्न वस्तु तो सिद्ध नहीं हुआ। [कल्पनामात्र ही सिद्ध हुआ।]

एक प्रकार यह है—[सर्व पदार्थ] व्यक्ति अपेक्षा तो न्यारे-न्यारे हैं, उन्हें जाति अपेक्षा, 'एक' कहा जाता है। जैसे—सौ घोड़े हैं, वे व्यक्ति अपेक्षा तो भिन्न-भिन्न सौ ही हैं, उनके आकारादि की समानता देखकर, एक जाति कहते हैं परन्तु वह जाति, उनसे कोई

---

[१] 'सर्वं वैखल्विदं ब्रह्म' (- छान्दोग्योपनिषद् प्र. खं. १४, मं. १)
'नेह नानास्ति किंचन' (- कठोपनिषद् अ. २, व. ४१, मं. ११)
ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्, ब्रह्मदक्षिणतपश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं स प्रसृतं, ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥ (- मुण्डकोपनिषद्, खं. ३, मं. ११)

भिन्न ही तो है नहीं; उसी प्रकार से यदि सबही को किसी एक जाति अपेक्षा, एक 'ब्रह्म' माना जाए तो 'ब्रह्म', कोई भिन्न तो सिद्ध नहीं हुआ।

एक प्रकार यह है—पदार्थ न्यारे-न्यारे हैं, उनके मिलाप से, एक स्कन्ध होता है तो उसे 'एक' कहते हैं। जैसे—जल के परमाणु, न्यारे-न्यारे हैं, उनका मिलाप होनेपर 'समुद्र' आदि कहते हैं तथा जैसे—पृथ्वी के परमाणुओं का मिलाप होनेपर, 'घट' आदि कहते हैं परन्तु यहाँ समुद्रादि व घटादि हैं, वे उन परमाणुओं से भिन्न कोई अलग वस्तु तो नहीं है; अतः इस प्रकार से तो सर्व पदार्थ, न्यारे-न्यारे हैं परन्तु कदाचित् मिलकर 'एक' हो जाते हैं, वह 'ब्रह्म' है—ऐसा माना जाए तो इनसे अलग तो कोई 'ब्रह्म' सिद्ध नहीं हुआ।

एक प्रकार यह है—अंग तो न्यारे-न्यारे हैं और जिसके अंग हैं, वह अंगी 'एक' है। जैसे—नेत्र-हस्त-पाद आदि भिन्न-भिन्न हैं और जिसके ये हैं, वह मनुष्य, 'एक' है; अतः इस प्रकार से ये सर्व पदार्थ तो अंग हैं और जिसके ये हैं, वह अंगी, 'ब्रह्म' है। यह सर्व लोक, विराटस्वरूप ब्रह्म का अंग है—ऐसा मानते हैं लेकिन मनुष्य के हस्त-पाद आदि अंगों में परस्पर अन्तराल होनेपर तो एकत्व नहीं रहता; जुड़े रहनेपर ही एक 'शरीर' नाम पाते हैं, जबकि लोक में तो पदार्थों के परस्पर अन्तराल भासित होता है, फिर इसका एकत्वपना कैसे माना जाए? यदि अन्तराल होनेपर भी, एकत्व मानें तो भिन्नपना कहाँ मानेंगे?

यहाँ कोई कहता है—[समस्त पदार्थों के] मध्य में सूक्ष्मरूप ब्रह्म के अंग हैं, उनके द्वारा सब जुड़े रहते हैं।

उससे कहते हैं—जो अंग, जिस अंग से जुड़ा है, वह उसी से जुड़ा रहता है या टूट-टूटकर, अन्य-अन्य अंगों से जुड़ता रहता है?

यदि **प्रथम पक्ष** ग्रहण करोगे तो सूर्यादि गमन करते हैं, उनके साथ जिन सूक्ष्म अंगों से वह जुड़ता है, वे भी गमन करेंगे तथा उनके गमन करने से, वे सूक्ष्म अंग जिन अन्य स्थूल अंगों से जुड़े हैं, वे भी गमन करेंगे; इस प्रकार सर्व लोक अस्थिर हो जाएगा। जैसे—शरीर का एक अंग खींचने पर, सर्व अंग खिंच जाते हैं; उसी प्रकार एक पदार्थ के गमनादि करने से, सर्व पदार्थों के गमनादि होंगे, लेकिन ऐसा भासित नहीं होता।

यदि **द्वितीय पक्ष** ग्रहण करोगे तो अंग टूटने से, भिन्नपना हो ही जाएगा, तब एकत्वपना कैसे रहा? इसलिए सर्व लोक के एकत्व को 'ब्रह्म' मानना कैसे सम्भव हो सकता है?

एक प्रकार यह है—पहले एक था फिर अनेक हुआ, पुनः एक हो जाता है; इसलिए 'एक' है। जैसे—जल, एक था, वह बर्तनों में अलग-अलग हुआ, पुनः मिलता है तो

एक हो जाता है अथवा जैसे—सोने का एक डला था, वह कंगन-कुण्डलादिरूप हुआ, वह पुनः मिलकर सोने का डला हो जाता है; उसी प्रकार 'ब्रह्म' एक था फिर अनेकरूप हुआ और पुनः एक होगा; इसलिए 'एक' ही है।

इस प्रकार यदि एकत्व मानता है तो जब अनेकरूप हुआ, तब जुड़ा रहा या भिन्न हुआ? यदि जुड़ा रहा कहोगे तो पूर्वोक्त दोष आएगा। भिन्न हुआ कहोगे तो उस काल तो एकत्व नहीं रहा।

वहाँ, जल-सुवर्ण आदि को भिन्न होनेपर भी, एक कहते हैं, वह तो जाति अपेक्षा से एक कहते हैं परन्तु यहाँ सर्व पदार्थों की एक जाति भासित नहीं होती। कोई चेतन है, कोई अचेतन है, इत्यादि अनेकरूप हैं; उनकी एक जाति कैसे कह सकते हैं?

तथा पहले एक था फिर भिन्न हुआ मानते हैं तो जैसे—एक पाषाण फूटकर, टुकड़े हो जाता है; उसी प्रकार ब्रह्म के खण्ड हो गये, फिर उनका इकट्ठा होना मानता है तो वहाँ उनका स्वरूप भिन्न रहता है या एक हो जाता है? यदि भिन्न रहता है तो वहाँ वे अपने-अपने स्वरूप से भिन्न ही हैं और एक हो जाते हैं तो जड़ भी, चेतन हो जाएगा व चेतन, जड़ हो जाएगा।

वहाँ अनेक वस्तुओं की एक वस्तु हुई, तब किसी काल में अनेक वस्तु, किसी काल में एक वस्तु—ऐसा कहना बनेगा; 'अनादि-अनन्त एक ब्रह्म है'—ऐसा कहना नहीं बनेगा।

यदि कहोगे—लोक-रचना होनेपर या न होनेपर, 'ब्रह्म' जैसा का तैसा ही रहता है; इसलिए 'ब्रह्म, अनादि-अनन्त है'।

तो हम पूछते हैं—लोक में पृथ्वी-जलादि देखे जाते हैं, वे अलग नवीन उत्पन्न हुए हैं या ब्रह्म ही इन स्वरूप हुआ है? यदि अलग नवीन उत्पन्न हुए हैं तो वे न्यारे हुए व ब्रह्म न्यारा रहा, सर्वव्यापी अद्वैत ब्रह्म नहीं ठहरा। तथा यदि ब्रह्म ही इन स्वरूप हुआ तो कदाचित् लोक हुआ, कदाचित् ब्रह्म हुआ, फिर जैसे का तैसा कैसे रहा?

फिर वह कहता है—सर्वही ब्रह्म तो लोकस्वरूप नहीं होता, उसका कोई अंश होता है।

उससे कहते हैं—जैसे—समुद्र का एक बिन्दु, विषरूप हुआ, वहाँ स्थूलदृष्टि से तो गम्य नहीं है परन्तु सूक्ष्मदृष्टि से विचार करनेपर तो बिन्दु अपेक्षा, समुद्र के अन्यथापना हुआ; उसी प्रकार 'ब्रह्म' का एक अंश भिन्न होकर, लोकरूप हुआ, वहाँ स्थूल विचार से तो कुछ गम्य नहीं है परन्तु सूक्ष्म विचार करनेपर यदि अंश में घटित हुआ तो एक अंश अपेक्षा, 'ब्रह्म' के अन्यथापना हुआ; यह अन्यथापना और तो किसी के हुआ नहीं है।

इस प्रकार सर्वरूप ब्रह्म को मानना, भ्रम ही है।

एक प्रकार यह है—जैसे—आकाश सर्वव्यापी है; उसी प्रकार 'ब्रह्म' सर्वव्यापी एक है। यदि इस प्रकार मानता है तो 'ब्रह्म' को आकाशवत् बड़ा मान और जहाँ घट-पटादि

हैं, वहाँ जिस प्रकार लोक में आकाश है, उसी प्रकार ब्रह्म भी है—ऐसा भी मान, परन्तु जिस प्रकार घट -पटादि को और आकाश को एक ही कहें तो कैसे बनेगा? उसी प्रकार लोक को और ब्रह्म को एक मानना कैसे सम्भव है? तथा आकाश का तो लक्षण सर्वत्र भासित है; इसलिए उसका तो सर्वत्र सद्भाव मानते हैं परन्तु ब्रह्म का तो लक्षण सर्वत्र भासित नहीं होता; इसलिए उसका सर्वत्र सद्भाव कैसे मानते हो?—**ऐसे इस प्रकार से भी सर्वरूप ब्रह्म नहीं है।**

ऐसा विचार करनेपर, किसी भी प्रकार से एक ब्रह्म सम्भवित नहीं है। सर्व पदार्थ भिन्न-भिन्न ही भासित होते हैं।

यहाँ प्रतिवादी कहता है—सर्व एक ही है परन्तु तुम्हें भ्रम है; इसलिए तुम्हें एक भासित नहीं होता। तथा तुमने युक्ति कही, परन्तु ब्रह्म का स्वरूप युक्तिगम्य नहीं है, वचन अगोचर है; एक भी है, अनेक भी है; अलग भी है, मिला भी है। उसकी महिमा ऐसी ही है।

उससे कहते हैं—जो **प्रत्यक्ष** तुझको व हमको व सबको भासित होता है, उसे तो तू भ्रम कहता है; **युक्ति** से अनुमान करें तो तू कहता है कि सच्चा स्वरूप युक्तिगम्य है ही नहीं।

तथा तुम कहते हो—सच्चा स्वरूप वचन अगोचर है तो वचन बिना, कैसे निर्णय करें?

वहाँ कहता है—एक भी है, अनेक भी है; अलग भी है, मिला भी है परन्तु उनकी अपेक्षा नहीं बतलाता; बावले की भाँति ऐसे भी है, ऐसे भी है—ऐसा कहकर, इसकी महिमा बतलाता है। जब न्याय होता है, वहाँ भी झूठे ऐसे ही वाचालपना करते हैं तो करो, परन्तु न्याय तो 'जैसे सत्य है, वैसे ही होगा।'

सृष्टिकर्तावाद का निराकरण

अब, उस ब्रह्म को '**लोक का कर्ता**' मानता है, उसे मिथ्या दिखलाते हैं —

प्रथम तो ऐसा मानता है—ब्रह्म को ऐसी इच्छा हुई कि '**एकोऽहं बहुस्यां**' अर्थात् 'मैं एक हूँ, अब बहुत हो जाऊँ।'

वहाँ पूछते हैं—पूर्व अवस्था में दुःखी हो, तब अन्य अवस्था को चाहे; वहाँ ब्रह्म ने एकरूप अवस्था से, बहुरूप होने की इच्छा की तो उस एकरूप अवस्था में क्या दुःख था?

तब वह कहता है—दुःख तो नहीं था, वैसे ही कौतूहल उत्पन्न हुआ।

उसे कहते हैं—यदि पहले थोड़ा सुखी हो और कौतूहल करने से, बहुत सुखी हो तो कौतूहल करने का विचार करे परन्तु ब्रह्म को एक अवस्था से बहुत अवस्थारूप होनेपर, बहुत सुख होना कैसे सम्भव है? और यदि पहले ही सम्पूर्ण सुखी हो तो अवस्था किसलिए पलटे? प्रयोजन बिना तो कोई, कुछ कर्तव्य करता नहीं है।

---

① यहाँ मूल हस्तलिखित प्रति (पृष्ठ ११०) में 'सो न्याय होय है, तहां झूठे ऐसे ही वाचालपना करै है, सो करो'—ऐसा पाठ है।

तथा पहले भी सुखी होगा, इच्छानुसार कार्य होनेपर भी सुखी होगा, परन्तु इच्छा हुई, उस काल में तो दु:खी हुआ।

तब वह कहता है—ब्रह्म को जिस काल में इच्छा होती है, उसी काल में ही कार्य होता है; इसलिए दु:खी नहीं होता।

वहाँ कहते हैं—स्थूलकाल की अपेक्षा तो ऐसा मानो, परन्तु सूक्ष्मकाल की अपेक्षा तो इच्छा का और कार्य का होना, युगपत् सम्भव नहीं है। इच्छा तो तभी होती है, जब कार्य न हो; कार्य हो, तब इच्छा नहीं रहती; इसलिए सूक्ष्मकालमात्र इच्छा रही, तब तो दु:खी हुआ होगा क्योंकि इच्छा है, वही दु:ख है और कोई दु:ख का स्वरूप है नहीं; इसलिए ब्रह्म के इच्छा कैसे बने ?

फिर वे कहते हैं—इच्छा होनेपर, ब्रह्म की माया प्रगट हुई।

—**ऐसे** ब्रह्म को माया हुई, तब ब्रह्म भी मायावी हुआ; शुद्धस्वरूप कैसे रहा ? तथा ब्रह्म को और माया को दण्डी-दण्डवत् संयोगसम्बन्ध है कि अग्नि-उष्णवत् समवायसम्बन्ध है ?

यदि **संयोगसम्बन्ध** है तो ब्रह्म भिन्न है, माया भिन्न है; अद्वैत ब्रह्म कैसे रहा ? वहाँ जैसे—दण्डी, दण्ड को उपकारी जानकर, ग्रहण करता है; वैसे ब्रह्म, माया को उपकारी जानता है तो ग्रहण करता है; नहीं तो क्यों ग्रहण करे ? जिस माया को ब्रह्म ग्रहण करे, उसका निषेध करना कैसे सम्भव है ? वह तो उपादेय हुई।

यदि **समवायसम्बन्ध** है तो जैसे—अग्नि का उष्णत्व स्वभाव है, वैसे ब्रह्म का, माया स्वभाव ही हुआ। जो ब्रह्म का स्वभाव है, उसका निषेध करना कैसे सम्भव है ?—यह तो उत्तम हुई।

फिर वे कहते हैं—ब्रह्म तो चैतन्य है; माया, जड़ है।

लेकिन समवायसम्बन्ध में ऐसे दो स्वभाव, सम्भावित नहीं होते। जैसे—प्रकाश और अन्धकार, एकत्र कैसे सम्भव हैं ?

फिर वह कहता है—माया से ब्रह्म आप (स्वयं) तो भ्रमरूप होता नहीं है, उसकी माया से जीव, भ्रमरूप होता है।

उससे कहते हैं—जिस प्रकार कपटी अपने कपट को आप जानता है; इसलिए आप भ्रमरूप नहीं होता; उसके कपट से अन्य भ्रमरूप हो जाता है। वहाँ कपटी तो उसी को कहते हैं, जिसने कपट किया; उसके कपट से अन्य भ्रमरूप हुए, उन्हें तो कपटी नहीं कहते।

उसी प्रकार ब्रह्म, अपनी माया को आप जानता है; अत: आप तो भ्रमरूप नहीं होता, परन्तु उसकी माया से अन्य जीव, भ्रमरूप होते हैं। वहाँ मायावी तो ब्रह्म ही को कहा जाएगा; उसकी माया से, अन्य जीव भ्रमरूप हुए, उन्हें मायावी किसलिए कहते हैं ?

फिर पूछते हैं—वे जीव, ब्रह्म से एक हैं या न्यारे हैं ? यदि एक हैं तो जैसे—कोई आप ही अपने अंगों को पीड़ा उत्पन्न करे तो उसे 'बावला' कहते हैं; उसी प्रकार ब्रह्म, आप ही जो अपने से भिन्न नहीं हैं—ऐसे अन्य जीवों को, माया से दु:खी करता है, वह कैसे बनेगा ?

तथा यदि न्यारे हैं तो जैसे—कोई भूत, बिना ही प्रयोजन, अन्य जीवों को भ्रम उत्पन्न करके, पीड़ा उत्पन्न करता है; उसी प्रकार ब्रह्म, बिना ही प्रयोजन, अन्य जीवों को माया उत्पन्न करके, पीड़ा उत्पन्न करे, वह भी बनता नहीं है।

— ऐसे माया, ब्रह्म की कहते हैं, वह कैसे सम्भव है ?

फिर वे कहते हैं—माया होनेपर, लोक उत्पन्न हुआ; वहाँ जीवों के जो चेतना है, वह तो ब्रह्मस्वरूप है; शरीरादि माया है। वहाँ जिस प्रकार भिन्न-भिन्न बहुत से पात्रों में जल भरा होता है, उन सबमें चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब अलग-अलग पड़ता है, चन्द्रमा एक है; उसी प्रकार अलग-अलग बहुत से शरीरों में ब्रह्म का चैतन्य प्रकाश, अलग-अलग पाया जाता है, ब्रह्म एक है; इसलिए जीवों के चेतना है, वह ब्रह्म की है।

— ऐसा कहना भी भ्रम ही है क्योंकि शरीर, जड़ है, इसमें ब्रह्म के प्रतिबिम्ब से, चेतना हुई तो घट-पटादि भी जड़ हैं, उनमें ब्रह्म का प्रतिबिम्ब क्यों नहीं पड़ा और चेतना क्यों नहीं हुई ?

वह कहता है—शरीर को तो चेतन नहीं करता; जीव को करता है।

तब उससे पूछते हैं—जीव का स्वरूप, चेतन है या अचेतन ? यदि चेतन है तो चेतन को, चेतन क्या करेगा ? यदि अचेतन है तो शरीर की, घटादि की व जीव की एक जाति हुई।

तथा उससे पूछते हैं—ब्रह्म की और जीवों की चेतना, एक है या भिन्न है ? यदि एक है तो ज्ञान का अधिक-हीनपना कैसे देखा जाता है ? तथा ये जीव, परस्पर 'वह उसके जाने हुए को, नहीं जानता और वह उसके जाने हुए को, नहीं जानता', उसका क्या कारण है ?

यदि तू कहेगा—यह घट, उपाधि भेद है तो घट उपाधि होने से तो चेतना भिन्न-भिन्न ठहरी। घट-उपाधि मिटने पर, इसकी चेतना, ब्रह्म में मिलेगी या नाश हो जाएगी ? यदि नाश हो जाएगी तो यह जीव तो अचेतन रह जाएगा।

फिर तू कहेगा—जीव ही ब्रह्म में मिल जाता है।

तो वहाँ ब्रह्म में मिलनेपर, इसका अस्तित्व रहता है या नहीं रहता ? यदि अस्तित्व रहता है तो यह भी रहा, इसकी चेतना भी इसके साथ रही - ब्रह्म में कौन मिला ? और यदि अस्तित्व नहीं रहता है तो उसका नाश ही हुआ - ब्रह्म में क्या मिला ?

यदि तू कहेगा—ब्रह्म की और जीवों की चेतना भिन्न है तो ब्रह्म और सर्व जीव, आप ही भिन्न-भिन्न ठहरे।

इस प्रकार जीवों की चेतना है, वह ब्रह्म की है—ऐसा भी नहीं बनता।

वहाँ शरीरादि, माया के कहते हो तो माया ही हाड़-माँसादिरूप होती है या माया के निमित्त से और कोई उनरूप होता है। यदि माया ही होती है तो माया के वर्ण-गन्धादि पहले

ही थे या नवीन हुए हैं?—यदि पहले ही थे तो पहले तो माया, ब्रह्म की थी; [यदि] ब्रह्म, अमूर्तिक है, वहाँ वर्णादि कैसे सम्भव हैं? और यदि नवीन हुए तो अमूर्तिक से मूर्तिक हुआ, तब अमूर्तिक स्वभाव, शाश्वत नहीं ठहरा।

यदि कहेगा—माया के निमित्त से, और कोई होता है।

तब [कहते हैं]—और पदार्थ तो तू ठहराता ही नहीं, फिर हुआ कौन?

यदि तू कहेगा—नवीन पदार्थ उत्पन्न होता है।

तो [कहते हैं]—वह माया से भिन्न उत्पन्न होता है या अभिन्न उत्पन्न होता है? माया से भिन्न उत्पन्न हो तो मायामयी शरीरादि किसलिए कहता है? वे तो उन पदार्थमय हुए और अभिन्न उत्पन्न हुए तो माया ही तद्रूप हुई; नवीन पदार्थ उत्पन्न किसलिए कहता है?

इस प्रकार शरीरादि मायास्वरूप हैं—ऐसा कहना भ्रम है।

वहाँ वे कहते हैं—माया से तीन गुण उत्पन्न हुए—राजस, तामस और सात्त्विक।

परन्तु यह भी कहना कैसे बनेगा? क्योंकि मानादि कषायरूप भाव को 'राजस' कहते हैं; क्रोधादि कषायरूप भाव को 'तामस' कहते हैं; मन्दकषायरूप भाव को 'सात्त्विक' कहते हैं; सो ये भाव तो चेतनामय प्रत्यक्ष देखे जाते हैं और माया का स्वरूप, जड़ कहते हो, वहाँ जड़ से ये भाव कैसे उत्पन्न होंगे?

यदि जड़ के भी हों तो पाषाणादि के भी होंगे, परन्तु चेतनास्वरूप जीवों ही के ये भाव दिखते हैं; इसलिए ये भाव, माया से उत्पन्न नहीं हैं। यदि माया को चेतन ठहराये तो यह मानें, परन्तु माया को चेतन ठहरानेपर शरीरादि, माया से उत्पन्न कहेगा तो नहीं मानेंगे; इसलिए निर्धारकर, भ्रमरूप मानने से क्या लाभ है?

वहाँ वे कहते हैं—उन गुणों से ब्रह्मा-विष्णु-महेश—ये तीन देव, प्रगट हुए।

सो कैसे सम्भव है? क्योंकि गुणी से तो गुण होता है; गुण से गुणी कैसे उत्पन्न हो? पुरुष से तो क्रोध हो; क्रोध से, पुरुष कैसे उत्पन्न हो? वहाँ इन गुणों की तो निन्दा करते हैं, इनसे उत्पन्न हुए ब्रह्मादि को पूज्य कैसे मानते हैं? तथा गुण तो मायामयी हैं और इन्हें ब्रह्म के अवतार कहा जाता है लेकिन ये तो माया के अवतार हुए; इनको ब्रह्म का अवतार① कैसे कहते

---

① ब्रह्मा, विष्णु और शिव, ये तीनों ब्रह्मा की प्रधान शक्तियाँ हैं। (विष्णु-पुराण, अ. २२-५८)

कलिकाल के प्रारम्भ में परंब्रह्म परमात्मा ने रजोगुण से उत्पन्न होकर, ब्रह्मा बनकर, प्रजा की रचना की। प्रलय के समय तमोगुण से उत्पन्न हो, काल (शिव) बनकर, सृष्टि को ग्रस लिया। उस परमात्मा ने सत्त्वगुण से उत्पन्न हो, नारायण बनकर, समुद्र में शयन किया। (वायुपुराण, अ. ७-६८, ६९)

हैं ? तथा ये गुण जिनके थोड़े भी पाये जाते हैं, उन्हें तो छुड़ाने का उपदेश देते हैं और जो इन्हीं की मूर्ति, उन्हें पूज्य मानें—यह कैसा भ्रम है ?

तथा उनका कर्तव्य भी इनमय भासित होता है। कौतूहल आदि, स्त्री सेवन आदि व युद्ध आदि कार्य करते हैं, सो उन राजस आदि गुणों से ही ये क्रियाएँ होती हैं; इसलिए उनके राजस आदि पाये जाते हैं—ऐसा कहो; इन्हें पूज्य कहना, परमेश्वर कहना तो नहीं बनता। जैसे—अन्य संसारी हैं, वैसे ये भी हैं।

यदि कदाचित् तू कहेगा—संसारी तो माया के आधीन हैं; अत: बिना जाने, उन कार्यों को करते हैं। माया, ब्रह्मादि के आधीन है; इसलिए वे जानते हुए ही इन कार्यों को करते हैं।

यह भी भ्रम ही है क्योंकि माया के आधीन होने से ही तो काम-क्रोधादि उत्पन्न होते हैं।

और क्या होता है ?—इन ब्रह्मादि को तो काम-क्रोधादि की तीव्रता पायी जाती है; काम की तीव्रता से स्त्रियों के वशीभूत होकर, नृत्य-गानादि करने लगे, विह्वल होने लगे, नाना प्रकार की कुचेष्टा करने लगे; क्रोध के वशीभूत होकर, अनेक युद्धादि करने लगे; मान के वशीभूत होकर, अपनी उच्चता प्रगट करने के लिए, अनेक उपाय करने लगे; माया के वशीभूत होकर, अनेक छल करने लगे; लोभ के वशीभूत होकर, परिग्रह का संग्रह करने लगे, इत्यादि।

अधिक क्या कहें ?—इनके वशीभूत होकर, चीर-हरण आदि निर्लज्जों की क्रिया, दधि-लूटना आदि चोरों की क्रिया, रुण्डमाला धारण आदि बावलों की क्रिया, बहुरूप धारण आदि ① भूतों की क्रिया, गायें-चराना आदि नीच कुलवालों की क्रिया, इत्यादि जो निंद्य क्रियाएँ, उनको तक करने लगे; इससे अधिक माया के वशीभूत होनेपर, और क्या क्रियाएँ होती हैं ? वह समझ में नहीं आता है।

जैसे—कोई मेघपटलसहित अमावस्या की रात्रि को अन्धकाररहित मानता है; उसी प्रकार बाह्य कुचेष्टासहित तीव्र काम-क्रोधादि के धारी ब्रह्मा आदि को मायारहित मानना है।

फिर वह कहता है—इनको काम-क्रोधादि व्याप्त नहीं होते, यह भी परमेश्वर की लीला है।

उससे कहते हैं—ऐसे कार्य करता है, वे इच्छा से करता है या बिना इच्छा के करता है ? यदि इच्छा से करता है तो स्त्रीसेवन की इच्छा ही का नाम, 'काम' है; युद्ध करने की इच्छा ही का नाम, 'क्रोध' है, इत्यादि ऐसे ही जानना और यदि बिना इच्छा के करता है तो आप जिसे न चाहे—ऐसे कार्य तो परवश होनेपर ही होते हैं, वहाँ परवशपना कैसे सम्भव है ?

तथा तू लीला बतलाता है—यदि परमेश्वर, अवतार धारण करके, इन कार्यों की लीला करता

---

① नानारूपाय मुण्डाय, वरुथ-पृथु-दण्डिने।
नमः कपालहस्ताय, दिवग्वासाय शिखण्डिने॥ (मत्स्यपुराण, अ. २५०, श्लोक २)

है तो अन्य जीवों को इन कार्यों से छुड़ाकर, मुक्त होने का उपदेश किसलिए देते हैं ? क्षमा -सन्तोष-शील-संयम आदि का उपदेश, सर्व झूठा हुआ।

फिर वह कहता है—परमेश्वर को तो कुछ प्रयोजन नहीं है, वह लोकरीति की प्रवृत्ति के लिए व भक्तों की रक्षा व दुष्टों का निग्रह करने के लिए, अवतार धारण ① करता है।

इसको पूछते हैं—प्रयोजन बिना, चींटी भी कार्य नहीं करती; परमेश्वर किसलिए करेगा ?

तूने प्रयोजन यह कहा—लोकरीति की प्रवृत्ति के लिए करता है। वहाँ जैसे—कोई पुरुष, आप कुचेष्टा करके अपने पुत्रों को सिखाये और वे चेष्टारूप प्रवर्तें, तब उनको मारे तो ऐसे पिता को भला कैसे कहते हो ? उसी प्रकार ब्रह्मा आदि आप काम-क्रोधरूप चेष्टा से अपने उत्पन्न किये लोगों को प्रवृत्ति कराये और वे लोग उस प्रकार प्रवृत्ति करें, तब उन्हें नरकादि में डाले तो इन्हीं भावों का फल, शास्त्र में नरकादि लिखा है; अतः ऐसे प्रभु को भला कैसे मानें ?

फिर तूने यह भी प्रयोजन कहा—भक्तों की रक्षा व दुष्टों का निग्रह करना। वहाँ भक्तों को दुःखदायक जो दुष्ट हुए, वे परमेश्वर की इच्छा से हुए या बिना इच्छा के हुए ? यदि इच्छा से हुए तो जैसे—कोई अपने सेवक को आप ही किसी से कहकर मार लगवाये और फिर उस मारनेवाले को आप मारे, तो ऐसे स्वामी को भला कैसे कहेंगे ? उसी प्रकार जो अपने भक्त को आप ही इच्छा करके, दुष्टों द्वारा पीड़ित कराये और फिर उन दुष्टों को आप अवतार धारण करके मारे, तो ऐसे ईश्वर को भला कैसे माना जाए ?

फिर यदि तू कहेगा—वे [जीव, ईश्वर की] बिना इच्छा दुष्ट हुए।

तो फिर—या तो परमेश्वर को ऐसा आगामी ज्ञान नहीं होगा कि 'ये दुष्ट, मेरे भक्तों को दुःख देंगे' या पहले ऐसी शक्ति नहीं होगी कि 'इनको ऐसा न होने दे।'

फिर उससे पूछते हैं—यदि ऐसे कार्य के लिए अवतार धारण किया; वहाँ बिना अवतार धारण किये, शक्ति थी या नहीं ? यदि थी तो अवतार क्यों धारण किया ? और नहीं थी तो बाद में सामर्थ्य होने का कारण क्या हुआ ?

तब वह कहता है—ऐसा किये बिना, परमेश्वर की महिमा प्रगट कैसे होती ?

उससे पूछते हैं—अपनी महिमा के लिए, अपने अनुचरों का पालन करे व प्रतिपक्षियों का निग्रह करे; वही राग-द्वेष है—ऐसा राग-द्वेष तो संसारी जीव का लक्षण है। यदि परमेश्वर के भी राग-द्वेष पाये जाते हैं तो अन्य जीवों को राग-द्वेष छोड़कर, समताभाव करने का उपदेश किसलिए देते हैं ? तथा राग-द्वेष के अनुसार कार्य करने का विचार किया, वहाँ कार्य थोड़ा या बहुत

---

① परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥ ८ ॥ (- गीता ४-८)

काल लगे बिना, होता नहीं है तो उतने काल तक आकुलता भी परमेश्वर को होती होगी।

जैसे—जिस कार्य को छोटा आदमी ही कर सकता हो, उस कार्य को, राजा आप आकर करे तो कुछ राजा की महिमा नहीं होती; निन्दा ही होती है; उसी प्रकार जिस कार्य को राजा या व्यन्तर देवादि कर सकें, उस कार्य को परमेश्वर आप अवतार धारण करके करता है —ऐसा मानने से तो कुछ परमेश्वर की महिमा नहीं होती; निन्दा ही है। महिमा तो कोई और [व्यक्ति] हो, उसे दिखलाते हैं; तू तो अद्वैत ब्रह्म मानता है, महिमा किसको दिखाता है तथा महिमा दिखलाने का फल तो स्तुति कराना है, वहाँ किससे स्तुति कराना चाहता है ?

पुनः तू तो कहता है—सर्व जीव, परमेश्वर की इच्छानुसार प्रवर्तते हैं और आप को स्तुति कराने की इच्छा है तो सबको अपनी स्तुतिरूप प्रवर्तित करो; किसलिए अन्य कार्य करना पड़ता है ? इसलिए महिमा के लिए भी कार्य करना नहीं बनता।

फिर वह कहता है—परमेश्वर इन कार्यों को करते हुए ही अकर्ता है, उसका निर्धार नहीं होता।

इससे कहते हैं—तू कहेगा कि 'यह, मेरी माता भी है और बाँझ भी है' तो तेरा कहा कैसे मानें ? जो कार्य करे, उसे अकर्ता कैसे मानें ?

तथा तू कहता है—निर्धार नहीं होता; सो निर्धार बिना, मान लेना ठहरा, तो आकाश के फूल व गधे के सींग भी मानो—ऐसा असम्भव कहना, युक्त नहीं है।

— ऐसे ब्रह्मा-विष्णु-महेश का होना कहते हैं, उसे मिथ्या जानना।

फिर वे कहते हैं—ब्रह्मा तो सृष्टि को उत्पन्न करते हैं, विष्णु रक्षा करते हैं, महेश संहार करते हैं—**परन्तु ऐसा कहना भी सम्भव नहीं है** क्योंकि इन कार्यों को करते हुए, कोई कुछ करना चाहे, कोई कुछ करना चाहे, तब परस्पर विरोध होगा।

यदि तू कहेगा—यह तो एक परमेश्वर का ही स्वरूप है; विरोध किसलिए होगा ?

तो [कहते हैं]—आप ही उत्पन्न करे और आप ही नष्ट करे—ऐसे कार्य में कौन फल है ? यदि सृष्टि, अपने को अनिष्ट है तो किसलिए उत्पन्न की और इष्ट है तो किसलिए नष्ट की ? और यदि पहले इष्ट लगी, तब उत्पन्न की; फिर अनिष्ट लगी, तब नष्ट कर दी—ऐसा है तो परमेश्वर का स्वभाव अन्यथा हुआ या सृष्टि का स्वरूप अन्यथा हुआ। यदि **प्रथम पक्ष** ग्रहण करेगा तो परमेश्वर का एक-स्वभाव नहीं ठहरा, वहाँ एक-स्वभाव न रहने का कारण क्या है, वह बतला ? बिना कारण, स्वभाव का पलटना किसलिए होगा ? और **द्वितीय पक्ष** ग्रहण करेगा तो सृष्टि तो परमेश्वर के आधीन थी, उसे ऐसी क्यों होने दिया कि अपने को अनिष्ट लगे ?

यहाँ हम पूछते हैं — ब्रह्मा, सृष्टि उत्पन्न करते हैं; उसे कैसे उत्पन्न करते हैं ?

एक प्रकार तो यह है—जैसे—मन्दिर बनानेवाला, चूना-पत्थर आदि सामग्री एकत्रित करके, आकारादि बनाता है; उसी प्रकार ब्रह्मा, सामग्री एकत्रित करके, सृष्टि की रचना करता है तो वह सामग्री जहाँ से लाकर एकत्रित की, वह ठिकाना बतला और एक ब्रह्मा ने ही इतनी रचना बनायी, उसे पहले-बाद में बनायी होगी या अपने शरीर के हस्तादि बहुत किए होंगे, सो कैसे है ? वह बतला। वहाँ जो बतलाएगा, उसी का विचार करनेपर, विरुद्ध भासित होगा।

एक प्रकार यह है—जिस प्रकार राजा, आज्ञा करे, तदनुसार कार्य होता है; उसी प्रकार ब्रह्मा की आज्ञा से, सृष्टि उत्पन्न होती है तो [उसने] आज्ञा किनको दी ? और जिन्हें आज्ञा दी, वे कहाँ से सामग्री लाकर, कैसे रचना करते हैं ? वह बतला।

तथा एक प्रकार यह है—जिस प्रकार ऋद्धिधारी इच्छा करें, तदनुसार कार्य स्वयमेव बनता है; उसी प्रकार ब्रह्मा इच्छा करे, तदनुसार सृष्टि उत्पन्न होती है; तब ब्रह्मा तो इच्छा ही का कर्ता हुआ; लोक तो स्वयमेव ही उत्पन्न हुआ तथा इच्छा तो परमब्रह्म ने की ही थी, ब्रह्मा का कर्तव्य क्या हुआ, जिससे ब्रह्मा को सृष्टि को उत्पन्न करनेवाला कहा।

तब तू कहेगा—परमब्रह्म ने भी इच्छा की और ब्रह्मा ने भी इच्छा की, तब लोक उत्पन्न हुआ तो मालूम होता है कि केवल परमब्रह्म की इच्छा कार्यकारी नहीं है; वहाँ शक्तिहीनपना आया।

पुनः हम पूछते हैं—यदि लोक, केवल बनाने से बनता है, तब बनानेवाला तो सुख के लिए बनाएगा; अतः इष्ट ही रचना करेगा। इस लोक में तो इष्टपदार्थ थोड़े देखे जाते हैं; अनिष्ट बहुत देखे जाते हैं।

[संसारी] जीवों में देवादि बनाए, वे तो रमने के लिए व भक्ति कराने के लिए इष्ट बनाए परन्तु लट, कीड़ी, कुत्ता, सुअर, सिंहादि बनाए, वे किस अर्थ बनाए ? वे तो रमणीक नहीं हैं, भक्ति नहीं करते; सर्व प्रकार अनिष्ट ही हैं। तथा दरिद्री, दुःखी, नारकियों को देखकर, स्वयं को जुगुप्सा (ग्लानि) आदि दुःख उत्पन्न होता है—ऐसे अनिष्ट किसलिए बनाए ?

वह कहता है—जीव, अपने पाप से लट, कीड़ी, दरिद्री, नारकी आदि पर्याय भुगतते हैं।

अतः पूछते हैं—तो फिर पाप ही के फल से ये पर्यायें हुईं कहो, पहले लोक रचना करते ही उनको बनाया तो किसके लिए बनाए ? तथा बाद में जीव, पापरूप परिणमित हुए, सो कैसे परिणमित हुए ? यदि आप ही परिणमित हुए कहोगे तो मालूम होता

है कि ब्रह्मा ने पहले तो उत्पन्न किए, बाद में वे इसके आधीन नहीं रहे, इस कारण से ब्रह्मा को दु:ख ही हुआ।

वहाँ यदि कहोगे—ब्रह्मा के परिणमित कराने से, परिणमित होते हैं।

तो [कहते हैं]—उन्हें पापरूप किसलिए परिणमित किया? जीव तो आपने स्वयं उत्पन्न किये थे, उनका बुरा किसके लिए किया? इसलिए ऐसा भी नहीं बनता।

तथा अजीवों में सुवर्ण, सुगन्धादि सहित वस्तुएँ बनायीं, वे तो रमने के लिए बनायीं; कुवर्ण-दुर्गन्धादि सहित, दु:खदायक वस्तुएँ बनायीं, वे किसके लिए बनायीं? इनके दर्शनादि से ब्रह्मा को कुछ सुख तो नहीं उत्पन्न होता होगा।

वहाँ तू कहेगा—पापी जीवों को दु:ख देने के लिए बनायीं।

तो [कहते हैं]—आप ही के उत्पन्न किये जीवों के प्रति ऐसा क्यों किया? जो उनके लिए दु:खदायक सामग्री पहले ही बनायी? तथा धूल-पर्वतादि कुछ वस्तुएँ ऐसी भी हैं, जो रमणीय भी नहीं हैं और दु:खदायक भी नहीं हैं; उन्हें किसके लिए बनाया? स्वयमेव तो जैसे-तैसे होती हैं परन्तु बनानेवाला तो जो बनाए, वह प्रयोजनसहित बनाता है।

— इस कारण ब्रह्मा को सृष्टि का कर्ता कैसे कहते हैं?

तथा विष्णु को लोक का रक्षक कहते हैं। जो रक्षक हो, वह तो दो ही कार्य करता है—एक तो दु:ख उत्पत्ति के कारण, नहीं होने देता और एक विनष्ट होने के कारण, नहीं होने देता।

वहाँ लोक में तो दु:ख ही की उत्पत्ति के कारण जहाँ-तहाँ देखे जाते हैं और उनसे जीवों को दु:ख ही देखा जाता है; क्षुधा-तृषादि लग रहे हैं, शीत-उष्णादि से दु:ख होता है, जीव परस्पर दु:ख उत्पन्न करते हैं, शस्त्रादि दु:ख के कारण बन रहे हैं।

तथा विनष्ट होने के अनेक कारण बन रहे हैं; जीवों को रोगादि व अग्नि-विष-शस्त्रादि के द्वारा [मनुष्यादि] पर्याय के नाश के कारण देखे जाते हैं तथा अजीवों के भी परस्पर विनष्ट होने के कारण देखे जाते हैं।

— ऐसे दोनों प्रकार से ही रक्षा नहीं की तो विष्णु ने रक्षक होकर क्या किया?

वह कहता है—विष्णु रक्षक ही है; देखो! क्षुधा-तृषादि के लिए अन्न-जलादि बनाये हैं; कीड़ी को कण और हाथी को मन, पहुँचाते है; संकट में सहायता करते हैं; मृत्यु के कारण उपस्थित होनेपर भी, टिटहरी की भाँति ① उबारते हैं, इत्यादि प्रकार से विष्णु रक्षा करते हैं।

उससे कहते हैं—ऐसा है तो जहाँ जीवों को क्षुधा-तृषादि बहुत पीड़ित करते हैं, वहाँ उन्हें अन्न-जलादि नहीं मिलते, संकट पड़नेपर सहायता नहीं होती; किंचित् कारण पाकर, मरण हो जाता है, वहाँ [उसकी] शक्ति हीन हुई या उसको ज्ञान ही न हुआ?

लोक में बहुत तो ऐसे ही दु:खी होते हैं, मरण पाते हैं; विष्णु ने रक्षा क्यों नहीं की?

---

① एक प्रकार का पक्षी, जो एक समुद्र के किनारे रहता था। समुद्र, उसके अण्डे बहा ले जाता था। उसने दु:खी होकर, गरुड़ पक्षी द्वारा विष्णु से प्रार्थना की, तो उन्होंने समुद्र से अण्डे दिलवा दिये - ऐसी पुराणों में कथा है।

तब वह कहता है—यह तो जीवों के अपने कर्तव्य का फल है।

उससे कहते हैं—जैसे—शक्तिहीन लोभी झूठा वैद्य किसी का कुछ भला हो तो कहता है—'मेरा किया हुआ है' और जहाँ बुरा हो, मरण हो, तब कहता है—'इसकी ऐसी ही होनहार थी'; उसी प्रकार तू कहता है—'भला हुआ, वहाँ तो विष्णु का किया हुआ और बुरा हुआ, वह इसके कर्तव्य का फल हुआ।'—ऐसी [मिथ्या] कल्पना किसलिए करते हो? बुरा व भला, दोनों या तो 'विष्णु के किए' कहो या 'अपने कर्तव्य का फल' कहो। यदि विष्णु का किया हुआ तो बहुत जीव, दुःखी और शीघ्र मरते देखे जाते हैं, वहाँ जो ऐसा कार्य करे, उसे रक्षक कैसे कहें? तथा अपने कर्तव्य का फल है तो 'करेगा सो पायेगा', विष्णु क्या रक्षा करेगा?

तब वह कहता है—जो विष्णु के भक्त हैं, उनकी रक्षा करता है।

उससे कहते हैं—कीड़ी, कुंजर आदि तो भक्त नहीं हैं, उनको अन्नादि पहुँचाने में व संकट में सहायक होने में व मरण न होने देने आदि में, विष्णु का कर्तव्य मानकर, सर्व का रक्षक किसलिए मानता है; भक्तों ही का रक्षक मान। वहाँ भक्तों का भी रक्षक नहीं दीखता, क्योंकि अभक्त भी भक्त पुरुषों को पीड़ा उत्पन्न करते देखे जाते हैं।

तब वह कहता है—अनेक जगहों पर, प्रह्लाद आदि की सहायता की है।

उससे कहते हैं—जहाँ सहाय की, वहाँ तो तू वैसा ही मानता है परन्तु हम तो प्रत्यक्ष म्लेच्छ, मुसलमान आदि अभक्त पुरुषों द्वारा, भक्त पुरुषों को पीड़ित होते देख व मन्दिरादि को विघ्न करते देखकर पूछते हैं कि 'यहाँ सहायता नहीं करता है तो शक्ति ही नहीं है या खबर ही नहीं है।' यदि शक्ति नहीं है तो इनसे भी हीनशक्ति का धारक हुआ अथवा खबर नहीं है तो जिसे इतनी भी खबर नहीं है, उसे अज्ञान हुआ।

अब, यदि तू कहेगा—शक्ति भी है और जानता भी है परन्तु इच्छा ऐसी ही हुई, तो फिर भक्त-वत्सल किसलिए कहता है?

— ऐसे विष्णु को लोक का रक्षक मानना नहीं बनता। ❁

फिर वे कहते हैं—महेश संहार करता है।

वहाँ उससे पूछते हैं—प्रथम तो महेश, सदा संहार करता है या महाप्रलय होती है, तभी करता है। यदि सदा करता है तो जिस प्रकार विष्णु की रक्षा करने से स्तुति की; उसी प्रकार उसकी संहार करने से, निन्दा करो, क्योंकि रक्षा और संहार, प्रतिपक्षी हैं।

तथा यह संहार कैसे करता है?—जैसे—पुरुष, हस्तादि से किसी को मारता है या कहकर मरवाए; उसी प्रकार महेश, अपने अंगों से संहार करता है या आज्ञा से मरवाता है? वहाँ क्षण-क्षण में संहार तो बहुत जीवों का, सर्व लोक में होता है, यह कैसे-कैसे अंगों से व किस-किस को आज्ञा देकर युगपत् (एक साथ) कैसे संहार करता है? तथा महेश तो इच्छा ही करता

है, उसकी इच्छा से स्वयमेव उनका संहार होता है तो उसके सदा काल मारनेरूप दुष्टपरिणाम ही रहा करते होंगे और अनेक जीवों को एक साथ मारने की इच्छा कैसे होती होगी ? तथा यदि महाप्रलय होनेपर, संहार करता है तो परमब्रह्म की इच्छा होनेपर करता है या उसकी बिना इच्छा ही करता है ? यदि इच्छा होनेपर करता है तो, परमब्रह्म को ऐसा क्रोध कैसे हुआ कि सर्व का प्रलय करने की इच्छा हुई क्योंकि किसी कारण बिना, नाश करने की इच्छा नहीं होती और नाश करने की जो इच्छा, उसी का नाम 'क्रोध' है; उसका कारण बताओ ?

यदि तू कहेगा—परमब्रह्म ने यह खेल बनाया था, फिर दूर कर दिया; कारण कुछ भी नहीं है ?

तो [कहते हैं]—खेल बनानेवाले को भी खेल इष्ट लगता है, तब बनाता है; अनिष्ट लगता है, तब दूर करता है। इसे यह लोक, इष्ट-अनिष्ट लगता है तो उसे लोक से राग-द्वेष तो हुआ; ब्रह्म का स्वरूप, साक्षीभूत किसलिए कहते हो ? साक्षीभूत तो उसका नाम है, जो स्वयमेव जैसे हो, उसी प्रकार देखता-जानता रहे। यदि इष्ट-अनिष्ट मानकर उत्पन्न करे, नष्ट करे तो उसे साक्षीभूत कैसे कहें ? क्योंकि साक्षीभूत रहना और कर्ता-हर्ता होना—ये दोनों परस्पर विरोधी हैं; एक को दोनों सम्भव नहीं हैं।

परमब्रह्म के पहले तो यह इच्छा हुई थी कि 'मैं एक हूँ, अब बहुत हो जाऊँ', तब बहुत हुआ; अब ऐसी इच्छा हुई होगी कि 'मैं बहुत हूँ, अब एक हो जाऊँ'। वहाँ जैसे—कोई भोलेपन से कार्य करके, फिर उस कार्य को दूर करना चाहता है; उसी प्रकार परमब्रह्म ने भी बहुत होकर, एक होने की इच्छा की; अत: मालूम होता है कि 'जो बहुत होने का कार्य किया होगा, वह भोलेपन ही से किया होगा'; आगामी ज्ञान से किया होता तो किसलिए उसे दूर करने की इच्छा होती ?

तथा यदि परमब्रह्म की इच्छा बिना ही, महेश संहार करता है तो यह परमब्रह्म का व ब्रह्मा का विरोधी हुआ।

फिर पूछते हैं—यह महेश, लोक का संहार कैसे करता है ? यदि अपने अंगों से संहार करता है तो सबका एक साथ संहार कैसे करता है ? तथा यदि इसकी इच्छा होनेपर स्वयमेव संहार होता है तो इच्छा तो परमब्रह्म ने की ही थी; इसने संहार क्या किया ?

फिर हम पूछते हैं—संहार होनेपर सर्व लोक में जो जीव-अजीव थे, वे कहाँ गये ?

तब वह कहता है—जीवों में भक्त तो ब्रह्म में मिल गये; अन्य माया में मिल गये।

अब इससे पूछते हैं—माया, ब्रह्म से अलग रहती है या बाद में एक हो जाती है ? यदि अलग रहती है तो ब्रह्मवत् माया भी नित्य हुई, तब अद्वैत ब्रह्म नहीं रहा और यदि माया, ब्रह्म में एक हो जाती है तो जो जीव, माया में मिले थे, वे भी माया के साथ, ब्रह्म में मिल गये

तो महा-प्रलय होनेपर, सर्व का परमब्रह्म में मिलना ठहरा ही, तब मोक्ष का उपाय किसलिए करें ?

वहाँ जो जीव, माया में मिले; पुनः लोकरचना होनेपर वे ही जीव, लोक में आएँगे या वे ब्रह्म में मिल गये थे; इसलिए नये उत्पन्न होंगे ? यदि वे ही आयेंगे तो मालूम होता है कि अलग-अलग रहते हैं, मिले क्यों कहते हो ? और नये उत्पन्न होंगे तो, जीव का अस्तित्व, थोड़े कालपर्यन्त ही रहता है, फिर किसलिए मुक्त होने का उपाय करें ?

वह कहता है—पृथ्वी आदि कहे हैं, वे माया में मिलते हैं; वह माया, अमूर्तिक सचेतन है या मूर्तिक अचेतन है ? यदि अमूर्तिक सचेतन है तो अमूर्तिक में मूर्तिक अचेतन कैसे मिलेगा ? और यदि मूर्तिक अचेतन है तो यह ब्रह्म में मिलती है या नहीं ? यदि मिलती है तो इसके मिलने से, ब्रह्म भी मूर्तिक अचेतन से मिश्रित हुआ और नहीं मिलती है तो अद्वैतता नहीं रही।

यदि तू कहेगा—ये सर्व, अमूर्तिक चेतन हो जाते हैं।

तो [कहते हैं]—इससे आत्मा और शरीरादि की एकता हुई और यह संसारी, एकता मानता ही है, फिर इसे अज्ञानी क्यों कहते हो ?

फिर पूछते हैं—लोक का प्रलय होनेपर, महेश का प्रलय होता है या नहीं होता ? यदि होता है तो एक साथ होता है या आगे-पीछे होता है ? यदि एक साथ होता है तो आप नष्ट होता हुआ, लोक को नष्ट कैसे करेगा ? और आगे-पीछे होता है तो महेश, लोक को नष्ट करके, आप कहाँ रहा, आप भी तो सृष्टि में ही था ?

— ऐसे महेश को सृष्टि का संहारकर्ता मानते हैं, वह असम्भव है। ❁

इस प्रकार व अन्य अनेक प्रकार से, ब्रह्मा-विष्णु-महेश को सृष्टि का उत्पन्न करनेवाला - रक्षा करनेवाला-संहार करनेवाला मानना नहीं बनता; **इसलिए लोक को अनादिनिधन मानना।**

लोक के अनादिनिधनपने की पुष्टि

इस लोक में जो जीवादि पदार्थ हैं, वे न्यारे-न्यारे अनादिनिधन हैं तथा उनकी अवस्था का परिवर्तन होता रहता है, उस अपेक्षा से, उत्पन्न-विनष्ट होते कहे जाते हैं तथा जो स्वर्ग -नरक-द्वीपादि हैं, वे अनादि से ऐसे ही हैं और सदा काल ऐसे ही रहेंगे।

कदाचित् तू कहेगा—बिना बनाये, ऐसे आकारादि कैसे हुए ? यदि हुए हैं तो बनानेपर ही होते हैं।

[तो कहते हैं]—अनादि से ही पाये जाते हैं, वहाँ तर्क कैसा ? जिस प्रकार तू परमब्रह्म का स्वरूप अनादिनिधन मानता है; उसी प्रकार जीवादि व स्वर्गादि को अनादिनिधन मानते हैं।

तू कहेगा—जीवादि व स्वर्गादि कैसे हुए ? **हम कहेंगे**—परमब्रह्म कैसे हुआ ?

तू कहेगा—इनकी रचना ऐसी किसने की ? **हम कहेंगे**—परमब्रह्म को ऐसा किसने बनाया ?

तू कहेगा—परमब्रह्म, स्वयंसिद्ध है। **हम कहेंगे**—जीवादि व स्वर्गादि, स्वयंसिद्ध हैं।

तू कहेगा—इनकी और परमब्रह्म की समानता कैसे सम्भव है ?

तो [हम कहते हैं]—इनकी सम्भावना में दूषण बताओ। लोक को नवीन उत्पन्न करना, उसका नाश करना, उसमें तो हमने अनेक दोष दिखाए। लोक को अनादिनिधन मानने में, क्या दोष लगता है ?—उसे तू बताओ।

यदि तू परमब्रह्म मानता है तो वह [लोक से] अलग कोई है ही नहीं; इस संसार में जीव हैं, वे ही यथार्थ ज्ञान से—मोक्षमार्ग साधन से, सर्वज्ञ-वीतराग होते हैं।

यहाँ [उसका] प्रश्न—तुम न्यारे-न्यारे जीवों को अनादिनिधन कहते हो; मुक्त होने के पश्चात् तो निराकार होते हैं; वहाँ न्यारे-न्यारे कैसे सम्भव हैं ?

उसका समाधान—मुक्त होने के पश्चात्, वे सर्वज्ञ को दिखते हैं या नहीं दिखते ? यदि दिखते हैं तो कुछ आकार दिखता ही होगा, बिना आकार देखे, क्या देखा ? और नहीं दिखते तो या तो वस्तु ही नहीं है या सर्वज्ञ नहीं हैं।

यद्यपि (मुक्त जीवों का) इन्द्रियज्ञानगम्य आकार नहीं है, उस अपेक्षा, निराकार हैं परन्तु सर्वज्ञ ज्ञानगम्य हैं; इसलिए आकारवान हैं। जब आकारवान ठहरे, तब अलग-अलग हों तो क्या दोष लगेगा ? और यदि तू जाति-अपेक्षा एक कहे तो हम भी मानते हैं। जैसे-गेहूँ भिन्न-भिन्न हैं, उनकी जाति एक है; इस प्रकार एक मानें तो कुछ दोष नहीं है।

इस प्रकार यथार्थ श्रद्धान से, लोक में सर्व पदार्थ, अकृत्रिम भिन्न-भिन्न अनादिनिधन मानना। यदि वृथा ही भ्रम से, सच-झूठ का निर्णय न करे तो तू जाने; अपने श्रद्धान का फल तू पायेगा।

ब्रह्मा से कुलप्रवृत्ति आदि का निषेध

वे ही ब्रह्मा से पुत्र-पौत्रादि उत्पन्न होकर, कुलप्रवृत्ति कहते हैं तथा कुलों में राक्षस-मनुष्य-देव-तिर्यंचों के 'परस्पर प्रसूति' हुई—ऐसा बतलाते हैं। वहाँ देव से मनुष्य, मनुष्य से देव, व तिर्यंच से मनुष्य, इत्यादि किसी माता—किसी पिता से, किसी पुत्र-पुत्री का उत्पन्न होना बतलाते हैं, वह कैसे सम्भव है ? तथा मन ही से या पवनादि से या वीर्य सूँघने आदि से, प्रसूति का होना बतलाते हैं, वह प्रत्यक्ष विरुद्ध भासित होता है।

— ऐसा होने से, पुत्र-पौत्रादि का नियम कैसे रहा ? तथा बड़े-बड़े महन्तों को अन्य-अन्य माता-पिता से हुआ कहते हैं परन्तु महन्त पुरुष, कुशीलवान माता-पिता के कैसे उत्पन्न होंगे ?—यह तो लोक में गाली है, फिर ऐसा कहकर उनकी महंतता किसलिए कहते हैं ?

वहाँ गणेश आदि की मैल आदि से उत्पत्ति बतलाते हैं और किसी के अंग, किसी से जुड़े बतलाते हैं, इत्यादि अनेक प्रत्यक्ष-विरुद्ध कहते हैं।

अवतार मीमांसा

वे **चौबीस अवतार**① हुए कहते हैं; वहाँ कितने ही अवतारों को **पूर्णावतार** कहते हैं, कितनों को **अंशावतार** कहते हैं। जब पूर्णावतार हुए, तब ब्रह्म, अन्यत्र व्यापक रहा या नहीं रहा? यदि [व्यापक] रहा तो इन अवतारों को पूर्णावतार किसलिए कहते हो? यदि नहीं रहा तो इतने-मात्र ही ब्रह्म रहा। तथा अंशावतार हुए तो ब्रह्म का अंश तो सर्वत्र कहते हो, इनमें क्या अधिकता हुई? वहाँ कार्य तो तुच्छ था, उसके लिए आप, ब्रह्म ने अवतार धारण किया, कहते हैं; अतः मालूम होता है कि बिना अवतार धारण किये, ब्रह्म की शक्ति उस कार्य को करने की नहीं थी क्योंकि जो कार्य अल्प उद्यम से हो, वहाँ बहुत उद्यम किसलिए करें?

अवतारों में मच्छ-कच्छादि अवतार हुए, वहाँ किंचित् कार्य करने के लिए, हीन तिर्यंच पर्यायरूप हुए, वह कैसे सम्भव है? तथा प्रह्लाद के लिए, नरसिंह अवतार हुआ, वहाँ हरिणांकुश को ऐसा क्यों होने दिया और कितने ही काल तक अपने भक्त को किसलिए दुःख दिलाया? तथा ऐसा रूप किसलिए धारण किया?

नाभिराजा को वृषभावतार हुआ बतलाते हैं, वहाँ नाभि को पुत्रपने का सुख उपजाने को अवतार धारण किया तो घोर तपश्चरण किसलिए किया? उनको तो कुछ साध्य था ही नहीं।

यदि कहेगा—जगत् को दिखलाने के लिए किया, तब कोई अवतार में तो तपश्चरण दिखाए और कोई अवतार में भोगादि दिखाए, वहाँ जगत् किसको भला जानेगा?

फिर कहता है—एक अरहन्त नाम का राजा② हुआ, उसने वृषभावतार का मत अंगीकार करके, जैनमत प्रगट किया, परन्तु जैन में कोई एक अरहन्त नहीं हुआ; **जो सर्वज्ञपद पाकर, पूजनेयोग्य होता है, उसी का नाम 'अर्हत्' है।**

तथा राम-कृष्ण—इन दो अवतारों को मुख्य कहते हैं, वहाँ रामावतार ने क्या किया? सीता के लिए विलाप करके, रावण से लड़कर, उसे मारकर राज्य किया और कृष्णावतार ने पहले ग्वाला होकर, पर स्त्रियों - गोपियों के लिए, नाना विपरीत निन्द्य③ चेष्टाएँ करके, फिर जरासिंधु आदि को मारकर, राज्य किया; अतः ऐसे कार्य करने में क्या सिद्धि हुई?

---

① १. सनत्कुमार, २. शूकरावतार, ३. देवर्षि नारद, ४. नर-नारायण, ५. कपिल, ६. दत्तात्रय, ७. यज्ञपुरुष, ८. ऋषभावतार, ९. पृथु अवतार, १०. मत्स्य, ११. कच्छप, १२. धन्वन्तरि, १३. मोहिनी, १४. नृसिंहावतार, १५. वामन, १६. परशुराम, १७. व्यास, १८. हंस, १९. रामावतार, २०. कृष्णावतार, २१. हयग्रीव, २२. हरि, २३. बुद्ध, २४. कल्कि - ये २४ अवतार माने जाते हैं।

② भागवत स्कन्ध ५, अध्याय ६, ७, ११

③ विष्णुपुराण, अध्याय १३, श्लोक ४५ से ६० पर्यंत; ब्रह्मपुराण, अध्याय १८९; भागवत-स्कंध १०, अध्याय ३०, ४८

वहाँ राम-कृष्णादि का एक स्वरूप कहते हैं परन्तु वे बीच में इतने काल कहाँ रहे ? यदि ब्रह्म में रहे तो अलग रहे या एक रहे ? यदि अलग रहे तो मालूम होता है, वे ब्रह्म से अलग हैं और यदि एक रहे तो राम ही कृष्ण हुए, सीता ही रुक्मिणी हुई, इत्यादि कैसे कहते हैं ?

तथा रामावतार में तो सीता को मुख्य करते हैं और कृष्णावतार में सीता को 'रुक्मिणी हुई' कहते हैं, फिर भी उसे तो प्रधान नहीं कहते; राधिका कुमारी (राधा) को मुख्य करते हैं।

जब पूछें, तब कहते हैं—राधिका, भक्त थी; वहाँ निज स्त्री को छोड़कर, दासी को मुख्य करना कैसे बनता है ? तथा कृष्ण के तो राधिकासहित परस्त्री सेवन के सर्व विधान हुए परन्तु यह भक्ति कैसी की ?—ऐसे कार्य तो महा निन्द्य हैं तथा रुक्मिणी को छोड़कर, राधा को मुख्य किया—यह परस्त्री सेवन को भला जानकर किया होगा ? तथा एक राधा में ही आसक्त नहीं हुए, अन्य गोपिकाएँ व कुब्जा① आदि अनेक पर-स्त्रियों में भी आसक्त हुए—ऐसे यह अवतार, इसी प्रकार के कार्यों का अधिकारी हुआ।

फिर कहते हैं—लक्ष्मी, उसकी स्त्री है और धनादि को लक्ष्मी कहते हैं परन्तु यह तो पृथ्वी आदि में जिस प्रकार पाषाण, धूल हैं; उसी प्रकार रत्न-सुवर्णादि, धन दिखते हैं; यह अलग लक्ष्मी कौन है, जिसका भर्तार नारायण है। सीता आदि को माया का स्वरूप कहते हैं; अतः इनमें आसक्त हुए, तब माया में आसक्त कैसे न हुए ?

कहाँ तक कहें—जो निरूपण करते हैं, वह विरुद्ध करते हैं परन्तु जीवों को भोगादि की कथा अच्छी लगती है; इसलिए उनका कहना प्रिय लगता है।

ऐसे अवतार कहे हैं, इन्हें ब्रह्मस्वरूप कहते हैं तथा औरों को भी ब्रह्मस्वरूप कहते हैं —

एक तो 'महादेव' को ब्रह्मस्वरूप मानते हैं, उसे 'योगी' कहते हैं, वहाँ योग किसलिए ग्रहण किया ? तथा वे मृगछाला व भस्म, धारण करते हैं, वह किस अर्थ धारण की है ? रुण्ड-माला पहिनते हैं परन्तु हड्डी को छूना भी निन्द्य है, उसे गले में किसलिए धारण करते हैं ? सर्पादि सहित हैं परन्तु इसमें कौन बड़ाई है ? आक (आक का पौधा) व धतूरा खाते हैं तो इसमें कौन भलाई है ? त्रिशूलादि रखते हैं तो किसका भय है ? पार्वती को संग लिए हैं परन्तु योगी होकर, स्त्री रखते हैं—ऐसी विपरीतता किसलिए की ? यदि कामासक्त थे तो घर ही में रहते तथा उनने नाना प्रकार विपरीत चेष्टाएँ कीं, उसका प्रयोजन तो कुछ भासित नहीं होता, बावले जैसा कर्तव्य भासित होता है परन्तु उसे ब्रह्मस्वरूप कहते हैं।

तथा कभी कृष्ण को इसका सेवक कहते हैं, कभी इसको कृष्ण का सेवक कहते हैं, कभी दोनों को एक ही कहते हैं; कुछ ठिकाना नहीं है।

---

① भागवत स्कन्ध १०, अध्याय ४८, १-११

वहाँ 'सूर्यादि' को, ब्रह्म का स्वरूप कहते हैं तथा ऐसा कहते हैं कि विष्णु ने कहा है—धातुओं में सुवर्ण, वृक्षों में कल्पवृक्ष, जुए में झूठ, इत्यादि 'मैं ही हूँ'; वहाँ पूर्वापर कुछ विचार नहीं करते। किसी एक अंग से, कितने ही लोग जिसे महन्त मानते हैं, उसी को ब्रह्म का स्वरूप कहते हैं परन्तु 'ब्रह्म, सर्वव्यापी है' तो ऐसा विशेष किसलिए किया? और सूर्यादि में व सुवर्णादि में ही ब्रह्म है तो जैसे—सूर्य उजाला करता है, सुवर्ण धन है, इत्यादि गुणों से ब्रह्म माना परन्तु दीपादि भी सूर्यवत् उजाला करते हैं; चाँदी-लोहादि भी, सुवर्णवत् धन हैं, इत्यादि गुण अन्य पदार्थों में भी हैं, उन्हें भी ब्रह्म मानो; उन्हें छोटा-बड़ा मानते हो परन्तु जाति तो एक हुई—**ऐसे झूठी महन्तता ठहराने के लिए, अनेक प्रकार की युक्ति बनाते हैं।**

ऐसे ही ज्वालामालिनी आदि अनेक देवियों को, माया का स्वरूप कहकर, हिंसादि पाप उत्पन्न करके, उन्हें पूजना ठहराते हैं परन्तु माया तो निन्द्य है, उसका पूजना कैसे सम्भव है और हिंसादि करना कैसे भला होगा? तथा गाय, सर्प आदि पशु, अभक्ष्य-भक्षणादि सहित हैं, उन्हें पूज्य कहते हैं; अग्नि-पवन-जल आदि को देव ठहराकर, पूज्य कहते हैं; वृक्षादि को युक्ति बनाकर, पूज्य कहते हैं।

बहुत क्या कहें?—जो पुरुषलिंगी नामसहित हों, उनमें 'ब्रह्म की कल्पना' करते हैं और जो स्त्रीलिंगी नामसहित हों, उनमें माया की कल्पना करके, अनेक वस्तुओं का पूजन ठहराते हैं लेकिन इनके पूजने से क्या होगा? उसका कुछ विचार नहीं है। झूठे लौकिक प्रयोजन के कारण ठहराकर, जगत् को भ्रमाते हैं।

वहाँ वे कहते हैं—विधाता, शरीर को गढ़ता है और यम, मारता है; मरते समय, यम के दूत लेने आते हैं; मरने के पश्चात्, मार्ग में बहुत काल लगता है, वहाँ पुण्य-पाप का लेखा करते हैं और दण्डादि देते हैं।

— **यह कल्पित झूठी युक्ति है;** जीव तो प्रतिसमय अनन्त उपजते-मरते हैं, उनका ऐसा युगपत् होना कैसे सम्भव है?—ऐसा मानने का कोई कारण भी भासित नहीं होता।

वे मरने के पश्चात् श्राद्ध आदि करके, उसका भला होना कहते हैं, वहाँ जीवितदशा में तो किसी के पुण्य-पाप द्वारा, अन्य कोई सुखी-दुखी होता दिखायी नहीं देता; मरने के बाद में कैसे होगा?—यह युक्ति मनुष्यों को भ्रमित करके, अपना लोभ साधने के लिए बनायी है।

कीड़ी, पतंगा, सिंह आदि जीव भी तो उपजते-मरते हैं, उनको प्रलय के जीव ठहराते हैं परन्तु जिस प्रकार मनुष्य आदि के जन्म-मरण होते देखे जाते हैं; उसी प्रकार उनके होते देखे जाते हैं; झूठी कल्पना करने से क्या सिद्धि है?

तथा वे शास्त्रों में कथादि का निरूपण करते हैं, वहाँ विचार करनेपर विरुद्ध भासित होता है।

यज्ञादि करने को धर्म ठहराते हैं—वहाँ बड़े जीवों का होम करते हैं; अग्नि आदि का महा आरम्भ करते हैं, वहाँ जीवघात होता है। देखो, उन्हीं के शास्त्रों में व लोक में, हिंसा का निषेध है परन्तु ऐसे निर्दय हैं कि कुछ गिनते नहीं हैं और वे कहते हैं—'**यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः**' अर्थात् इस यज्ञ ही के लिए, पशु बनाए हैं; वहाँ घात करने का दोष नहीं है।

वहाँ मेघादि का होना, शत्रु आदि का विनष्ट होना, इत्यादि फल बतलाकर, अपने लोभ के लिए, राजादि को भ्रमित करते हैं; जैसे—कोई विष से जीवित होना कहे तो प्रत्यक्ष विरुद्ध है; उसी प्रकार हिंसा करने से, धर्म और कार्य सिद्धि कहना, प्रत्यक्ष विरुद्ध है। जिनकी हिंसा करना कहा, उनकी तो कुछ शक्ति नहीं है, किसी को उनकी पीड़ा नहीं है। यदि किसी शक्तिवान् व इष्ट का होम करना ठहराया होता तो समझ में आता। तथा पाप का भय नहीं है; इसलिए पापी, दुर्बल का घात करके, अपने लोभ के लिए, अपना व अन्य का बुरा करने में तत्पर हुए हैं।

योग मीमांसा

वहाँ मोक्षमार्ग को ज्ञानयोग और भक्तियोग① द्वारा, दो प्रकार से प्ररूपित करते हैं—

ज्ञानयोग मीमांसा

अब [अन्यमत प्ररूपित] ज्ञानयोग से, मोक्षमार्ग का स्वरूप बतलाते हैं —

एक तो अद्वैत सर्वव्यापी परब्रह्म को जानना, उसे **ज्ञान** कहते हैं परन्तु उसका मिथ्यापना तो पहले कहा ही है। तथा आप (स्वयं) को सर्वथा शुद्ध ब्रह्मस्वरूप मानना, काम-क्रोधादि व शरीरादि को भ्रम जानना, उसे **ज्ञान** कहते हैं परन्तु यह भ्रम है।

'आप शुद्ध है' तो मोक्ष का उपाय किसलिए करता है? 'आप शुद्धब्रह्म ठहरा', तब कर्तव्य क्या रहा?

आपको प्रत्यक्ष काम-क्रोधादि होते देखे जाते हैं और शरीरादि का संयोग देखा जाता है; अतः जब इनका अभाव होगा, तब होगा; वर्तमान में इनका सद्भाव मानना, भ्रम कैसे हुआ?

फिर वे कहते हैं—मोक्ष का उपाय करना भी भ्रम है। जैसे—रस्सी तो रस्सी ही है, उसे सर्प जान रहा था, वह भ्रम था; भ्रम मिटनेपर, रस्सी ही है; उसी प्रकार आप तो ब्रह्म ही है; अपने को अशुद्ध जान रहा था, वह भ्रम था; भ्रम मिटनेपर आप स्वयं ब्रह्म ही है।

---

① पण्डित टोडरमलजी द्वारा लिखित मूल हस्तलिखित प्रति में ज्ञानयोग को पहले और भक्तियोग को बाद में लिखने के अनेक बार संकेत प्राप्त होते हैं, वे पृष्ठ १३७ पर ऊपर लिखते हैं - '**पहली आगें ज्ञानयोग का निरूपण करैहैं।**' इसी पृष्ठ पर इसी स्थल पर दो प्रकार से मोक्षमार्ग की प्ररूपणा करते हुए, **भक्तियोग**[२] और **ज्ञानयोग**[१] - ऐसा लिखकर यही प्रदर्शित किया है। इसी प्रकार पृष्ठ १४२ पर ज्ञानयोग का निरूपण करने के पहले लिखा है - '**याकों पहले लिखनां**'; अतः यहाँ उनके अनुसार 'ज्ञानयोग मीमांसा' को पहले और 'भक्तियोग मीमांसा' को बाद में रखा गया है। पूर्व प्रकाशित प्रतियों में पहले भक्तियोग और बाद में ज्ञानयोग है।

– ऐसा कहना मिथ्या है; यदि आप शुद्ध हो और उसे अशुद्ध जाने तो भ्रम है परन्तु आप, काम-क्रोधादि सहित अशुद्ध हो रहा है, उसे अशुद्ध जाने तो भ्रम कैसे होगा ? उसे शुद्ध जाननेपर, भ्रम होगा; अत: झूठे भ्रम से आपको शुद्धब्रह्म मानने से क्या सिद्धि है ?

वहाँ तू कहेगा—ये काम-क्रोधादि तो मन के धर्म हैं, ब्रह्म न्यारा है।

तो तुझसे पूछते हैं—मन तेरा स्वरूप है या नहीं ? यदि है तो काम-क्रोधादि भी तेरे ही हुए और नहीं है तो तू ज्ञानस्वभाव है या जड़ है ? यदि ज्ञानस्वरूप है तो, तुझे तो ज्ञान, मन व इन्द्रिय द्वारा ही होता दिखायी देता है। इनके बिना, कोई ज्ञान बतलाए तो उसे तेरा अलग स्वरूप मानें, वह भासित नहीं होता। तथा 'मन् ज्ञाने' धातु से मन शब्द बनता है, वह मन तो ज्ञानस्वरूप है; वहाँ यह ज्ञान किसका है ? उसे बतला, परन्तु अलग कोई भासित नहीं होता। तथा यदि तू जड़ है तो ज्ञान बिना, अपने स्वरूप का विचार कैसे करता है ? यह तो बनता नहीं है।

तब तू कहता है—ब्रह्म न्यारा है।

तो [पूछते हैं]—वह न्यारा ब्रह्म तू ही है या और है ? यदि तू ही है तो तुझे 'मैं ब्रह्म हूँ' —ऐसा माननेवाला जो ज्ञान है; वह तो मनस्वरूप ही है; मन से अलग नहीं है और अपनत्व मानना तो अपने ही में होता है; जिसे न्यारा जाने, उसमें अपनत्व नहीं माना जाता; अत: मन से न्यारा ब्रह्म है तो मनरूप ज्ञान, ब्रह्म में अपनत्व किसलिए मानता है ? तथा यदि ब्रह्म और ही है तो तू ब्रह्म में अपनत्व किसलिए मानता है ? इसलिए भ्रम छोड़कर, ऐसा जान कि जिस प्रकार स्पर्शनादि इन्द्रियाँ तो शरीर का स्वरूप हैं, वे जड़ हैं; उसके द्वारा जो जानपना होता है, वह आत्मा का स्वरूप है; उसी प्रकार मन भी सूक्ष्म परमाणुओं का पुंज है, वह शरीर ही का अंग है; उसके द्वारा जो जानपना होता है व काम-क्रोधादि भाव होते हैं, वह सब आत्मा का स्वरूप है।

विशेष इतना—जानपना तो निजस्वभाव है; काम-क्रोधादि औपाधिकभाव हैं, उनसे आत्मा, अशुद्ध है। काल पाकर जब काम-क्रोधादि मिटेंगे और जानपने में मन-इन्द्रिय की आधीनता मिटेगी, तब केवलज्ञानस्वरूप आत्मा, शुद्ध होगा।

इसी प्रकार बुद्धि-अहंकारादि भी जान लेना क्योंकि मन और बुद्धि आदि एकार्थ हैं और अहंकारादि हैं, वे काम-क्रोधादिवत् औपाधिकभाव हैं; इनको अपने से भिन्न जानना, भ्रम है। इनको अपना जानकर, औपाधिकभावों का अभाव करने का उद्यम करना, योग्य है तथा जिनसे इनका अभाव न हो सके और अपनी महन्तता चाहें, वे जीव, इन्हें अपने न ठहराकर, स्वछन्द प्रवर्तते हैं; काम-क्रोधादि भावों को बढ़ाकर, विषय-सामग्रियों में व हिंसादि कार्यों में तत्पर होते हैं।

वहाँ अहंकारादि के त्याग को भी वे अन्यथा मानते हैं; सर्व को परमब्रह्म मानना, कहीं अपनत्व न मानना, उसे 'अहंकार का त्याग' बतलाते हैं परन्तु यह मिथ्या है क्योंकि कोई आप (स्वयं) है या

नहीं ? यदि है, तो आप में अपनत्व कैसे न मानें ? यदि आप नहीं है, तो सर्व को ब्रह्म कौन मानता है ? इसलिए शरीरादि पर में, अहंबुद्धि नहीं करना, वहाँ कर्ता नहीं होना, वह अहंकार का त्याग है। आप में अहंबुद्धि करने का दोष नहीं है।

वहाँ सर्व को समान जानना, किसी में भेद नहीं करना, उसको राग-द्वेष का त्याग बतलाते हैं, वह भी मिथ्या है क्योंकि सर्व पदार्थ, समान नहीं हैं। कोई चेतन है, कोई अचेतन है; कोई कैसा है, कोई कैसा है; उन्हें समान कैसे मानें ? इसलिए परद्रव्यों को इष्ट-अनिष्ट नहीं मानना, वह 'राग-द्वेष का त्याग' है। पदार्थों का विशेष जानने में तो कुछ दोष नहीं है।

इसी प्रकार अन्य मोक्षमार्गरूप भावों की अन्यथा कल्पना करते हैं; वहाँ ऐसी कल्पना से कुशील-सेवन करते हैं, अभक्ष्य-भक्षण करते हैं, वर्णादि भेद नहीं करते हैं, हीनक्रिया आचरते हैं, इत्यादि विपरीततारूप प्रवर्तते हैं।

जब कोई पूछे, तब कहते हैं—यह तो शरीर का धर्म है अथवा जैसा भाग्य है, वैसा होता है अथवा जैसी ईश्वर की इच्छा होती है, वैसा होता है; हमको विकल्प नहीं करना।

वहाँ देखो झूठ ! आप जान-जानकर प्रवर्तता है, उसे तो शरीर का धर्म बतलाता है; स्वयं उद्यमी होकर कार्य करता है, उसे भाग्य कहता है और आप इच्छा से सेवन करता है, उसे ईश्वर की इच्छा बतलाता है। विकल्प करता है और कहता है—'हमको तो विकल्प नहीं करना'; उसे धर्म का आश्रय लेकर, विषय-कषाय सेवन करना है; इसलिए ऐसी झूठी युक्ति बनाता है।

यदि अपने परिणाम किंचित् भी न मिलाए तो हम इसका कर्तव्य न मानें। जैसे—आप स्वयं ध्यान धरे बैठा हो और कोई अपने ऊपर वस्त्र डाल गया, वहाँ यदि आप किंचित् सुखी नहीं हुआ; वहाँ तो उसका कर्तव्य नहीं है, यह सच है और यदि आप वस्त्र को अंगीकार करके पहनकर, अपनी शीतादि वेदना मिटाकर, सुखी हो; वहाँ यदि अपना कर्तव्य नहीं मानें तो कैसे सम्भव है ?—**वहाँ कुशील-सेवन करना, अभक्ष्य-भक्षण करना, इत्यादि कार्य तो परिणाम मिले बिना होते ही नहीं; वहाँ अपना कर्तव्य कैसे नहीं मानें ?**

इसलिए यदि काम-क्रोधादि का अभाव ही हुआ हो तो वहाँ किसी क्रिया में प्रवृत्ति सम्भव ही नहीं है और यदि काम-क्रोधादि पाये जाते हैं तो जिस प्रकार ये भाव, कम हों, तदनुसार प्रवृत्ति करना; स्वच्छन्द होकर इनको बढ़ाना, युक्त नहीं है।

साथ ही अनेक जीव, पवनादि की साधना करके, अपने को ज्ञानी मानते हैं; वहाँ इड़ा, पिंगला, सुषुम्णारूप नासिका द्वार से पवन निकलती है, वहाँ वर्णादि भेदों से, पवन ही की पृथ्वी -तत्त्वादिरूप कल्पना करते हैं; उसका विज्ञान करके, कुछ साधना से निमित्त का ज्ञान होता है; इसलिए जगत् को इष्ट-अनिष्ट बतलाते हैं और आप महंत कहलाते हैं परन्तु यह तो लौकिक कार्य है;

कहीं मोक्षमार्ग नहीं है और **जीवों को इष्ट-अनिष्ट बतलाकर, उनके राग-द्वेष बढ़ाना और अपने मान-लोभादि उत्पन्न करना, इसमें क्या सिद्धि है ?**

तथा प्राणायामादि की साधना करता है, पवन को चढ़ाकर, 'समाधि लगाई' कहता है परन्तु यह तो जिस प्रकार नट साधना से हस्तादि के द्वारा क्रिया करता है; उसी प्रकार यहाँ भी साधना से, पवन के द्वारा क्रिया की। हस्तादि और पवन—ये तो शरीर ही के अंग हैं; इनको साधने से आत्महित कैसे सधेगा ?

तब तू कहेगा—वहाँ मन का विकल्प मिटता है, सुख उत्पन्न होता है, यम के वशीभूतपना नहीं होता, लेकिन यह मिथ्या है। जिस प्रकार निद्रा में चेतना की प्रवृत्ति मिटती है; उसी प्रकार पवन साधने से, यहाँ चेतना की प्रवृत्ति मिटती है। वहाँ मन को रोक रखा है, कुछ वासना तो मिटी नहीं है; इसलिए मन का विकल्प मिटा नहीं कहते और चेतना बिना, सुख कौन भोगता है ? इसलिए 'सुख उत्पन्न हुआ' नहीं कहते। तथा इस साधनावाले तो इस क्षेत्र में हुए हैं, उनमें कोई अमर दिखायी नहीं देता; अग्नि लगाने से उसका भी मरण होता दिखायी देता है; इसलिए **'वे यम के वशीभूत नहीं हैं'—यह झूठी कल्पना है।**

जहाँ साधना में किंचित् चेतना रहे और वहाँ साधना से शब्द सुने, उसे **'अनहद नाद' बतलाता है** परन्तु जैसे—वीणादि के शब्द सुनने से, सुख मानना है; वैसे उसके सुनने से, सुख मानना है—ऐसे यहाँ तो विषयपोषण हुआ; परमार्थ तो कुछ नहीं है।

तथा पवन के निकलने-प्रवेश करने में **'सोऽहं'**—ऐसे शब्द की कल्पना करके, उसे **'अजपा जाप'** कहते हैं परन्तु जैसे—तीतर के शब्द में 'तू ही' शब्द की कल्पना करते हैं लेकिन तीतर कहीं अर्थ का अवधारणकर, ऐसा शब्द नहीं कहता; वैसे यहाँ **'सोऽहं'** शब्द की कल्पना है; पवन कुछ अर्थ का अवधारण करके, ऐसे शब्द नहीं कहते तथा **शब्द के जपने -सुनने ही से तो कुछ फल प्राप्ति नहीं है; अर्थ का अवधारण करने से, फल प्राप्ति होती है।**

वहाँ 'सोऽहं' शब्द का तो अर्थ यह है—'वह मैं हूँ।' यहाँ ऐसी अपेक्षा चाहिए कि 'वह कौन ?' तब उसका निर्णय करना चाहिए क्योंकि 'तत्' शब्द और 'यत्' शब्द में नित्यसम्बन्ध है; इसलिए वस्तु का निर्णय करके, उसमें अहंबुद्धि धारण करनेपर **'सोऽहं'** शब्द बनता है।

वहाँ भी आप को आप अनुभव करे, वहाँ तो **'सोऽहं'** शब्द सम्भव ही नहीं है; पर को अपनेरूप बतलाने में **'सोऽहं'** शब्द सम्भव है। जैसे—पुरुष, आप को आप जाने, वहाँ 'सो मैं हूँ'—ऐसा किसलिए विचारेगा ? कोई अन्य जीव, जो अपने को न पहिचानता हो परन्तु कोई अपना लक्षण पहिचानता हो ®, तब उसको कहते हैं—'जो ऐसा है, वह मैं हूँ'; उसी प्रकार यहाँ जानना।

® मूल हस्तलिखित प्रति में पृष्ठ १४६ में नीचे से तृतीय पंक्ति में **'अर कोई अपना लक्षण पहिचानता हो'** - ऐसा लिखा है।

तथा कोई ललाट, भौंह और नासिका के अग्र को देखने के साधन द्वारा, त्रिकुटी आदि का ध्यान हुआ कहकर, परमार्थ मानता है। वहाँ नेत्र की पुतली फिरने से मूर्तिक वस्तु देखी, उसमें क्या सिद्धि है ? तथा ऐसे साधन से किंचित् अतीत-अनागत आदि का ज्ञान हो व वचन सिद्धि हो व पृथ्वी-आकाश आदि में गमनादि की शक्ति हो व शरीर में आरोग्यता आदि हो तो ये तो सर्व लौकिक कार्य हैं; देवादि को स्वयमेव ही ऐसी शक्ति पायी जाती है परन्तु इनसे कुछ हमारा भला तो होता नहीं है; भला तो विषय-कषाय की वासना मिटनेपर होता है परन्तु ये तो विषय-कषाय का पोषण करने के उपाय हैं; इसलिए ये सर्व साधन, किंचित् भी हितकारी नहीं हैं; इनमें मरणादिपर्यन्त बहुत कष्ट होता है और हित सधता नहीं है; इसलिए ज्ञानी, ऐसा वृथा खेद नहीं करते; कषायीजीव ही ऐसे साधन में लगते हैं।

तथा किसी को बहुत तपश्चरणादि द्वारा, मोक्ष का साधन कठिन बतलाते हैं, किसी को सुगमता से ही मोक्ष हुआ कहते हैं। उद्धवादि को परम भक्त कहकर, उन्हें तो तप का उपदेश दिया कहते हैं और वेश्यादि को, बिना परिणाम, (केवल) नामादि ही से तरना बतलाते हैं; कोई ठिकाना ही नहीं है।

भक्तियोग मीमांसा

अब [अन्य मत प्ररूपित] भक्तियोग द्वारा मोक्षमार्ग कहते हैं, उसका स्वरूप कहा जाता है; वहाँ भक्ति, **निर्गुण-सगुण** के भेद से, दो प्रकार की कहते हैं —

निर्गुणभक्ति —वहाँ अद्वैत परब्रह्म की भक्ति करना, वह **निर्गुणभक्ति** है; उसे इस प्रकार करते हैं —'तुम निराकार हो, निरंजन हो, मन-वचन से अगोचर हो, अपार हो, सर्वव्यापी हो, एक हो, सर्व के प्रतिपालक हो, अधम-उधारक हो, सर्व के कर्ता-हर्ता हो', इत्यादि विशेषणों से गुण गाते हैं; वहाँ इनमें कितने ही तो निराकारादि विशेषण हैं, वे अभावरूप हैं; उनको सर्वथा मानने से, अभाव ही भासित होता है क्योंकि आकारादि बिना, वस्तु कैसे होगी ? तथा कितने ही सर्वव्यापी आदि विशेषण असम्भवी हैं, वहाँ उनका असम्भवपना पहले दिखाया ही है।

फिर ऐसा कहते हैं—जीवबुद्धि से 'मैं तुम्हारा दास हूँ', शास्त्रदृष्टि से 'मैं तुम्हारा अंश हूँ', तत्त्वबुद्धि से 'तू ही मैं हूँ'—ये तीनों ही भ्रम हैं।

[**उनसे पूछते हैं**]—यह भक्ति करनेवाला, चेतन है या जड़ है ? यदि चेतन है तो वह चेतना, ब्रह्म की है या इसी की है ? यदि ब्रह्म की है तो 'मैं दास हूँ'—ऐसा मानना तो चेतना ही में होता है; अतः चेतना, ब्रह्म का स्वभाव ठहरा और स्वभाव-स्वभावी में, तादात्म्यसम्बन्ध होता है, वहाँ दास और स्वामी का सम्बन्ध कैसे बनता है ? दास और स्वामी का सम्बन्ध तो भिन्न पदार्थ हो, तभी बनता है। तथा यदि यह चेतना, इसी की है तो यह अपनी चेतना का स्वामी, भिन्न पदार्थ ठहरा; तब 'मैं अंश हूँ' व 'जो तू है, वह मैं हूँ'

—ऐसा कहना झूठा हुआ।

तथा यदि भक्ति करनेवाला, जड़ है तो जड़ में बुद्धि का होना, असम्भव है—ऐसी बुद्धि कैसे हुई? इसलिए 'मैं दास हूँ'—ऐसा कहना तो तभी बनता है, जब अलग-अलग पदार्थ हों और 'मैं तेरा अंश हूँ'—ऐसा कहना तो बनता ही नहीं, क्योंकि 'तू' और 'मैं'—ऐसा तो भिन्न हो, तभी बनता है परन्तु अंश-अंशी भिन्न कैसे होंगे? अंशी तो कोई भिन्न वस्तु है नहीं; अंशों का समुदाय, वही अंशी है और 'तू है, वह मैं हूँ'—ऐसा वचन ही विरुद्ध है; एक पदार्थ में, अपनत्व भी माने और उसे पर भी माने तो कैसे सम्भव है? इसलिए भ्रम छोड़कर, निर्णय करना।

कितने नाम ही जपते हैं, वहाँ जिसका नाम जपते हैं, उसका स्वरूप पहिचाने बिना, केवल नाम ही का जपना कैसे कार्यकारी होता है? **यदि तू कहेगा**—नाम ही का अतिशय है तो जो नाम ईश्वर का है, वही नाम किसी पापीपुरुष का रखा, वहाँ दोनों के नाम उच्चारण में फल की समानता होगी, वह कैसे बनेगा? इसलिए स्वरूप का निर्णय करके, पश्चात् जो भक्ति करनेयोग्य हो, उसकी भक्ति करना—**ऐसे निर्गुणभक्ति का स्वरूप बतलाया।**

सगुणभक्ति—जहाँ काम-क्रोधादि से उत्पन्न हुए कार्यों का वर्णन करके, स्तुति आदि करें, उसे **सगुणभक्ति** कहते हैं।

वहाँ 'सगुणभक्ति' में लौकिक शृंगार वर्णन, जैसा—नायक-नायिका का करते हैं, वैसा ठाकुर-ठकुरानी का वर्णन करते हैं। स्वकीया-परकीया स्त्रीसम्बन्धी संयोग-वियोगरूप सर्व व्यवहार, वहाँ निरूपित करते हैं। तथा स्नान करती स्त्रियों के वस्त्र चुराना, दधि लूटना, स्त्रियों के पैर पड़ना, स्त्रियों के आगे नाचना, इत्यादि जिन कार्यों को करते हुए संसारी भी लज्जित हों, उन कार्यों का करना ठहराते हैं; अतः ऐसे कार्य अति कामपीड़ित होनेपर ही बनते हैं।

वहाँ 'युद्धादि किये' कहते हैं परन्तु ये 'क्रोध के कार्य' हैं। 'अपनी महिमा दिखाने के लिए, उपाय किये' कहते हैं परन्तु ये 'मान के कार्य' हैं। 'अनेक छल किये' कहते हैं परन्तु ये 'माया के कार्य' है। 'वस्तु व विषयसामग्री की प्राप्ति के लिए यत्न किये' कहते हैं परन्तु ये 'लोभ के कार्य' हैं। 'कौतूहलादि किये' कहते हैं परन्तु ये 'हास्यादि के कार्य' हैं—ऐसे ये कार्य, क्रोधादि से युक्त होनेपर ही बनते हैं।

इस प्रकार काम-क्रोधादि से उत्पन्न कार्यों को प्रगट करके कहते हैं कि 'हम स्तुति करते हैं' परन्तु यदि काम-क्रोधादि के कार्य ही स्तुति करनेयोग्य हुए तो निन्द्य कौन ठहरेंगे? जिनकी लोक में व शास्त्र में अत्यन्त निन्दा पायी जाती है, उन कार्यों का वर्णन करके, स्तुति करना तो हस्तचुगल (स्वयं की निन्दा करने) जैसा कार्य हुआ।

हम पूछते हैं—कोई किसी का नाम तो न कहे और ऐसे कार्यों ही का निरूपण करके कहे कि 'किसी ने ऐसे कार्य किये हैं', तब तुम उसे भला जानोगे या बुरा जानोगे ? यदि भला जानोगे तो पापी, भले हुए; बुरा कौन रहा ? बुरा जानोगे तो ऐसे कार्य कोई भी करे, वही बुरा हुआ; पक्षपातरहित न्याय करो।

यदि पक्षपात से कहोगे—ठाकुर का ऐसा वर्णन करना भी स्तुति है तो ठाकुर ने ऐसे कार्य किसलिए किये ?—ऐसे निन्द्यकार्य करने से क्या सिद्धि हुई ?

यदि कहोगे—प्रवृत्ति चलाने के लिए किये तो परस्त्री सेवन आदि निन्द्य कार्यों की प्रवृत्ति चलाने में आपको व अन्य को क्या लाभ हुआ ? इसलिए ठाकुर के द्वारा ऐसा कार्य करना सम्भव नहीं है। यदि ठाकुर ने ये कार्य नहीं किये, तुम ही कहते हो, तो जिसमें दोष नहीं था, उसे दोष लगाया; इसलिए ऐसा वर्णन करना तो निन्दा है; स्तुति नहीं है।

स्तुति करते हुए, जिन गुणों का वर्णन करते हैं, उसरूप ही परिणाम होते हैं व उन्ही में अनुराग आता है; अत: काम-क्रोधादि कार्यों का वर्णन करते हुए, आप भी काम-क्रोधादिरूप होता है अथवा काम-क्रोधादि में अनुरागी होता है परन्तु ऐसे भाव तो भले नहीं हैं।

यदि कहोगे—ऐसे भाव, भक्त नहीं करते, तो परिणाम हुए बिना, वर्णन कैसे किया ? उनका अनुराग हुए बिना, भक्ति कैसे की ? यदि ये भाव ही भले हों तो ब्रह्मचर्य को व क्षमादि को भला किसलिए कहते हैं ? इनमें तो परस्पर प्रतिपक्षीपना है।

सगुणभक्ति करने के लिए, राम-कृष्णादि की मूर्ति भी शृंगारादि करके, वक्रत्वादि-सहित, स्त्री आदि के संग बनाते हैं, जिसे देखते ही काम-क्रोधादिभाव प्रगट हो आएँ।

महादेव के लिंग ही का आकार बनाते हैं। देखो, विडम्बना! जिसका नाम लेने से लाज आती है, जगत् जिसे ढ़ँककर रखता है, उसके आकार की पूजा कराते हैं। क्या उसके अन्य अंग नहीं थे ? परन्तु महाविडम्बना, ऐसा ही करने से प्रगट होती है।

तथा सगुणभक्ति के लिए, नाना प्रकार की विषयसामग्री एकत्रित करते हैं। वहाँ नाम तो ठाकुर का करते हैं और आप उसका उपभोग करते हैं। [स्वयं] भोजनादि बनाते हैं और 'ठाकुर को भोग लगाया' कहते हैं, फिर आप ही प्रसाद की कल्पना करके, उसका भक्षणादि करते हैं।

अत: यहाँ पूछते हैं—प्रथम तो ठाकुर को क्षुधा-तृषा की पीड़ा होती होगी ? यदि नहीं होती हो तो ऐसी कल्पना कैसे सम्भव है ? और यदि वह क्षुधादि से पीड़ित होता है तो व्याकुल होकर, ईश्वर [स्वयं] दु:खी हुआ; वह औरों का दु:ख दूर कैसे करे ? तथा भोजनादि सामग्री आपने तो उनके लिए अर्पण की तो की परन्तु प्रसाद तो ठाकुर दे, तब होता है; आप ही का [आप को] किया तो नहीं होता। जैसे-कोई राजा को भेंट करे, फिर राजा उसे इनाम दे तो उसे ग्रहण करना योग्य है परन्तु आप राजा को भेंट करे,

वहाँ राजा तो कुछ कहे नहीं और आप ही 'राजा ने मुझे इनाम दिया'—ऐसा कहकर, उसे अंगीकार करे तो 'यह खेल हुआ'; उसी प्रकार यहाँ भी ऐसा करने से भक्ति तो हुई नहीं; हास्य करना हुआ।

फिर ठाकुर और तुम - दो हो या एक हो ? दो हो तो तुमने ठाकुर को भेंट की, पश्चात् ठाकुर इनाम दे तो ग्रहण करना चाहिए; अपने आप ग्रहण किसलिए करते हो ? यदि तू कहेगा कि 'ठाकुर की तो मूर्ति है', इसलिए मैं ही कल्पना करता हूँ तो ठाकुर के करने का कार्य, तूने ही किया, तब 'तू ही ठाकुर हुआ' और यदि एक हो तो भेंट करना, प्रसाद कहना झूठा हुआ। एक होनेपर यह व्यवहार, सम्भव नहीं होता; इसलिए भोजनासक्त पुरुषों द्वारा ही ऐसी कल्पना की जाती है।

तथा ठाकुरजी के लिए नृत्य-गानादि कराना; शीत-ग्रीष्म-वसन्तादि ऋतुओं में संसारियों के होनेयोग्य ऐसी विषय-सामग्री एकत्रित करना, इत्यादि कार्य करते हैं। वहाँ नाम तो ठाकुर का लेना और इन्द्रियों के विषय, अपने पोषना; सो विषयासक्त जीवों द्वारा ऐसा उपाय किया जाता है। वहाँ जन्म-विवाह आदि व सोने-जागने इत्यादि की कल्पना करते हैं, सो जैसे—लड़कियाँ, गुड्डा-गुड़ियों का खेल बनाकर कौतूहल करती हैं; वैसे यह भी कौतूहल करना है; कुछ परमार्थरूप गुण नहीं है। तथा लड़के, ठाकुर का स्वांग बनाकर चेष्टाएँ दिखाते हैं, उससे अपने विषयों का पोषण करते हैं और कहते हैं—'यह भी भक्ति है', इत्यादि क्या -क्या कहें ?—**ऐसी-ऐसी अनेक विपरीतताएँ सगुणभक्ति में पायी जाती हैं।**

—ऐसे दोनों प्रकार की भक्ति से मोक्षमार्ग कहते हैं, उसे मिथ्या दिखाया।

इस प्रकार मोक्षमार्ग को, अन्यथा प्ररूपित करते हैं।

अन्यमत कल्पित मोक्ष की मीमांसा

मोक्षस्वरूप को भी अन्यथा प्ररूपित करते हैं; वहाँ मोक्ष, अनेक प्रकार का बतलाते हैं—

एक तो मोक्ष ऐसा कहते हैं—वैकुण्ठधाम में ठाकुर, ठकुरानीसहित नाना भोग-विलास करते हैं, वहाँ पहुँच जाएँ और उनकी सेवा करते रहें, वह **मोक्ष** है परन्तु यह तो विरुद्ध है।

प्रथम तो ठाकुर ही संसारीवत् विषयासक्त हो रहे हैं, सो जैसे राजादि हैं, वैसे ही ठाकुर हुए। तथा दूसरों से सेवा करानी पड़े, तब ठाकुर को पराधीनपना हुआ। तथा यदि यह मोक्ष प्राप्त करके, वहाँ सेवा करता रहे तो जैसे—राजा की चाकरी करते हैं, वैसे यह भी चाकरी हुई; वहाँ पराधीन होनेपर सुख कैसे होगा ? इसलिए यह भी नहीं बनता।

एक मोक्ष ऐसा कहते हैं—ईश्वर के समान आप हो जाता है, वह भी मिथ्या है। यदि उसके समान और भी अलग-अलग होते हैं तो बहुत ईश्वर हुए, लोक का कर्ता-हर्ता कौन ठहरेगा ? यदि सभी ठहरें तो भिन्न इच्छा होनेपर, परस्पर विरोध होगा और यदि एक ही है तो समानता नहीं हुई; यदि न्यून है तो उसे नीचेपन के कारण, उच्च होने की आकुलता रही, तब सुखी कैसे होगा ? जैसे—'छोटा राजा-बड़ा राजा', संसार में होता है; वैसे 'छोटा-बड़ा ईश्वर', मुक्ति में भी हुआ, परन्तु वह नहीं बनता।

एक मोक्ष ऐसा कहते हैं—वैकुण्ठ में दीपक जैसी एक ज्योति है, वहाँ ज्योति में ज्योति मिल जाती है परन्तु यह भी मिथ्या है। दीपक की ज्योति तो मूर्तिक अचेतन है—ऐसी ज्योति वहाँ कैसे सम्भव है ? तथा ज्योति में ज्योति मिलनेपर, यह ज्योति रहती है या विनष्ट हो जाती है ? यदि रहती है तो ज्योति बढ़ती जाएगी, तब ज्योति में हीनाधिकपना होगा और यदि विनष्ट हो जाती है तो अपनी सत्ता नष्ट हो—ऐसा कार्य, उपादेय कैसे मानें ? इसलिए ऐसा भी बनता नहीं है।

एक मोक्ष ऐसा कहते हैं—आत्मा, ब्रह्म ही है; माया का आवरण मिटनेपर, वह मुक्त ही है परन्तु यह भी मिथ्या है। यह माया के आवरणसहित था, तब ब्रह्म से एक था या अलग था ? यदि एक था तो ब्रह्म ही मायारूप हुआ और अलग था तो माया दूर होनेपर, ब्रह्म में मिलता है, तब इसका अस्तित्व रहता है या नहीं ? यदि रहता है तो सर्वज्ञ को तो इसका अस्तित्व अलग भासित होगा, तब संयोग होने से मिले कहो, परन्तु परमार्थ से तो मिले नहीं हैं। तथा अस्तित्व नहीं रहता है तो अपना अभाव होना कौन चाहेगा ? इसलिए यह भी नहीं बनता।

एक प्रकार से मोक्ष को ऐसा भी कितने ही कहते हैं—① बुद्धि आदि का नाश होनेपर, मोक्ष होता है, सो शरीर के अंगभूत मन-इन्द्रियों के आधीन, ज्ञान नहीं रहा; काम-क्रोधादि दूर होनेपर ऐसा कहना तो बनता है परन्तु वहाँ चेतना का भी अभाव हुआ मानें तो पाषाणादि के समान, जड़-अवस्था को कैसे भला मानें ? तथा भला साधन करने से तो जानपना बढ़ता है, फिर बहुत भला साधन करनेपर, जानपने का अभाव कैसे मानें ? तथा लोक में ज्ञान की महन्तता है, जड़पने की तो महन्तता नहीं है; इसलिए यह नहीं बनता।

इसी प्रकार अनेक प्रकार कल्पना द्वारा मोक्ष को बतलाते हैं, वहाँ कुछ यथार्थ तो जानते नहीं हैं; संसार अवस्था की मुक्ति अवस्था में कल्पना करके, अपनी इच्छानुसार बकते हैं।

इस प्रकार वेदान्तादि मतों में अन्यथा निरूपण करते हैं।

मुस्लिममत सम्बन्धी विचार

इसी प्रकार मुसलमानों के मत में, अन्यथा निरूपण करते हैं—जैसे—वे (वेदान्ती), ब्रह्म को सर्व व्यापी, एक, निरंजन, सर्व का कर्ता-हर्ता मानते हैं; वैसे ये 'खुदा' को मानते हैं।

जैसे—वे, 'अवतार' हुए मानते हैं; वैसे ही ये, 'पैगम्बर' हुए मानते हैं।

जैसे—वे, पुण्य-पाप का लेखा लेना, यथायोग्य दण्डादि देना ठहराते हैं; वैसे ये, 'खुदा' को ठहराते हैं।

जैसे—वे, गाय आदि को पूज्य कहते हैं; वैसे ये, सुअर आदि को कहते हैं; सब तिर्यंचादि हैं।

जैसे—वे, 'ईश्वर की भक्ति' से मुक्ति कहते हैं; वैसे ये, 'खुदा की भक्ति' से कहते हैं।

---

① मूल हस्तलिखित प्रति (पृष्ठ १४८) में यहाँ '**चेतनता करि आकुलता है, चेतनता दूरि भए**' – इतनी पंक्ति कटी है।

जैसे–वे, 'कहीं दया का पोषण, कहीं हिंसा का पोषण' करते हैं; वैसे ये भी कहीं 'मेहर (दया) करने का, कहीं कत्ल करने का पोषण' करते हैं।

जैसे–वे, 'कहीं तपश्चरण करने का, कहीं विषय-सेवन का पोषण' करते हैं; वैसे ये भी पोषण करते हैं।

जैसे–वे, 'कहीं माँस-मदिरा-शिकार आदि का निषेध' करते हैं, 'कहीं उत्तम पुरुषों द्वारा उनका अंगीकार करना' बतलाते हैं; वैसे ये भी 'उनका निषेध व अंगीकार करना' बतलाते हैं।

– ऐसे अनेक प्रकार से समानता पायी जाती है।

यद्यपि नामादि अन्य-अन्य हैं तथापि प्रयोजनभूत अर्थ की एकता पायी जाती है। ईश्वर, खुदा आदि के मूल श्रद्धान की तो एकता है परन्तु उत्तर श्रद्धान में बहुत से विशेष हैं; वहाँ उनसे भी ये विपरीतरूप, विषय-कषाय के पोषक, हिंसादि पाप के पोषक, प्रत्यक्षादि प्रमाण से विरुद्ध निरूपण करते हैं; **इसलिए मुसलमानों का मत, महाविपरीतरूप जानना।** ❁❁❁

– ऐसे इस क्षेत्र-काल में जिन-जिन मतों की प्रचुर प्रवृत्ति है, उनका मिथ्यापना प्रगट किया।

यहाँ कोई कहे–ये मत मिथ्या हैं तो बड़े राजादि व बड़े विद्यावान, इन मतों में कैसे प्रवर्तते हैं?

उसका समाधान–जीवों के मिथ्यावासना अनादि से है, सो इन (मतों) में मिथ्यात्व ही का पोषण है तथा जीवों को विषय-कषायरूप कार्यों की चाह वर्तती है, सो इनमें विषय-कषायरूप कार्यों ही का पोषण है। वहाँ राजादि का व विद्यावानों का, ऐसे धर्म में विषय-कषायरूप प्रयोजन सिद्ध होता है तथा जीव तो लोकनिन्द्यपने को भी लाँघकर, पाप भी जानकर, जिन कार्यों को करना चाहते हैं, उन कार्यों को करते हुए, धर्म बतलाएँ तो ऐसे धर्म में कौन नहीं लगेगा? इसलिए इन धर्मों की विशेष प्रवृत्ति है।

कदाचित् तू कहेगा–इन धर्मों में विरागता, दया इत्यादि भी तो कहते हैं?

[**उसका समाधान**]–जैसे–झोल (नकली आवरण) बिना, खोटा द्रव्य नहीं चलता; वैसे सच को मिलाए बिना, झूठ नहीं चलता परन्तु सभी ने हित या प्रयोजन में विषय-कषाय का ही पोषण किया है। जैसे–गीता में उपदेश देकर, युद्ध कराने का प्रयोजन प्रगट किया; वेदान्त में, शुद्धनिरूपण करके, स्वच्छन्द होने का प्रयोजन दिखाया–ऐसे ही अन्य जानना।

तथा यह काल तो निकृष्ट है; अतः इसमें तो निकृष्ट धर्म ही की प्रवृत्ति विशेष होती है।

देखो! इस काल में मुसलमान बहुत प्रधान हो गए, हिन्दू घट गए; हिन्दुओं में और तो बढ़ गए, जैनी घट गए; इसलिए यह 'काल का दोष' है।

– ऐसे इस क्षेत्र में, इस काल में, 'मिथ्याधर्म की प्रवृत्ति' बहुत पायी जाती है।

अन्यमत निरूपित तत्त्व-विचार

अब, पण्डितपने के बल से, कल्पित युक्तियों द्वारा नाना मत स्थापित हुए हैं, उनमें जो तत्त्वादि माने जाते हैं, उनका निरूपण करते हैं —

सांख्यमत

वहाँ सांख्यमत में '**पच्चीस तत्त्व**' मानते हैं[१]। **सत्त्व-रज-तम**—ये 'तीन गुण' कहते हैं। वहाँ **सत्त्व** के द्वारा, प्रसाद (प्रसन्नता) होता है; **रज** के द्वारा, चित्त की चंचलता होती है; **तम** के द्वारा, मूढ़ता होती है, इत्यादि लक्षण कहते हैं।

इनरूप अवस्था का नाम, **प्रकृति** है तथा उससे **बुद्धि** उत्पन्न होती है, उसी का नाम, **महत्तत्त्व** है; उससे **अहंकार** उत्पन्न होता है, उससे **सोलह मात्राएँ** होती हैं; वहाँ पाँच तो **ज्ञान-इन्द्रियाँ** होती हैं—**स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र** तथा एक **मन** होता है। पाँच कर्म-इन्द्रियाँ होती हैं—**वचन, चरण, हस्त, लिंग, गुदा**। पाँच तन्मात्राएँ होती हैं—**रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द**। वहाँ रूप से **अग्नि**; रस से **जल**; गन्ध से **पृथ्वी**; स्पर्श से **पवन**; शब्द से **आकाश**, हुए कहते हैं।

— ऐसे चौबीस तत्त्व तो प्रकृतिस्वरूप हैं; इनसे भिन्न निर्गुण कर्ता-भोक्ता एक 'पुरुष' है।

इस तरह **पच्चीस तत्त्व** कहते हैं परन्तु 'ये कल्पित हैं' क्योंकि राजसादि गुण, बिना आश्रय के कैसे होंगे? इनका आश्रय तो चेतनद्रव्य ही सम्भव है। वे 'इनसे बुद्धि हुई' कहते हैं, परन्तु 'बुद्धि' नाम तो ज्ञान का है और वे ज्ञानगुणधारी पदार्थ में ही होते देखे जाते हैं; इसलिए इनसे ज्ञान हुआ कैसे मानें? **कोई कहे**—बुद्धि अलग है, ज्ञान अलग है? तब मन तो पहले सोलह मात्राओं में कहा और ज्ञान, अलग कहोगे तो बुद्धि किसका नाम ठहरेगा? तथा उससे अहंकार हुआ कहा, वहाँ 'परवस्तु में मैं करता हूँ'—ऐसा मानने का नाम 'अहंकार' है परन्तु साक्षीभूत जानने से तो अहंकार होता नहीं है तो उसे ज्ञान से उत्पन्न कैसे कहा जाता है?

अहंकार द्वारा **सोलह मात्राएँ** कहते हैं; उनमें पाँच '**ज्ञान-इन्द्रियाँ**' कहते हैं, उनमें शरीर में नेत्रादि के आकाररूप '**द्रव्येन्द्रियाँ**' हैं, वे तो पृथ्वी आदिवत् जड़ देखी जाती हैं और वर्णादि के जाननेरूप '**भावेन्द्रियाँ**' हैं, वे ज्ञानरूप हैं; अहंकार का क्या प्रयोजन है? क्या किसी को बुद्धिरहित अहंकार देखने में आता है तो वहाँ अहंकार द्वारा उत्पन्न होना कैसे सम्भव है? तथा मन कहा, वह इन्द्रियवत् ही है क्योंकि द्रव्यमन, शरीररूप है और भावमन, ज्ञानरूप है।

पाँच '**कर्म-इन्द्रियाँ**' कहते हैं परन्तु ये तो शरीर के अंग हैं, मूर्तिक हैं। अमूर्तिक अहंकार से इनका उत्पन्न होना कैसे मानें? तथा 'कर्म-इन्द्रियाँ' पाँच ही तो नहीं हैं; शरीर के सर्व अंग

---

[१] प्रकृतिमहांस्ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात्, पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि॥ (– सांख्य का० १२)

कार्यकारी हैं। तथा वर्णन तो सर्व जीवाश्रित है, मनुष्याश्रित ही तो नहीं है; इसलिए सूँड, पूँछ इत्यादि अंग भी 'कर्म इन्द्रियाँ' हैं, पाँच ही की संख्या किसलिए कहते हैं?

स्पर्शादि पाँच **तन्मात्राएँ** कहीं, परन्तु रूपादि कुछ अलग वस्तु नहीं हैं, वे तो परमाणुओं से तन्मय 'गुण' हैं; वे अलग कैसे उत्पन्न हुए? तथा अहंकार तो अमूर्तिक जीव का परिणाम है; इसलिए ये मूर्तिकगुण, उससे कैसे उत्पन्न हुए मानें?

इन पाँचों (तन्मात्राओं) से **अग्नि आदि** का उत्पन्न होना कहते हैं, वह प्रत्यक्ष झूठ है। रूप आदि और अग्नि आदि के सहभावी गुण-गुणी सम्बन्ध है, कथनमात्र भिन्न हैं; वस्तु भेद नहीं है। किसी प्रकार कोई भिन्न होते भासित नहीं होते, कथनमात्र से भेद उत्पन्न करते हैं; इसलिए रूपादि से अग्नि आदि उत्पन्न हुए कैसे कहें? तथा कथन में भी 'गुणी में गुण होते हैं', गुण से गुणी उत्पन्न हुआ कैसे मानें?

इन [प्रकृति आदि २४ तत्त्वों] से भिन्न, एक '**पुरुष**' कहते हैं परन्तु उसका स्वरूप अवक्तव्य कहकर, प्रत्युत्तर नहीं करते तो क्या समझते नहीं?—वह कैसा है? कहाँ है? कैसे कर्ता-हर्ता है? उसे बतला। जो बतलाएगा, उसी में विचार करने से, अन्यथापना भासित होगा।

– ऐसे सांख्यमत द्वारा कल्पित तत्त्व, मिथ्या जानना।

वहाँ, पुरुष को प्रकृति से भिन्न जानने का नाम, 'मोक्षमार्ग' कहते हैं। वहाँ प्रथम तो प्रकृति और पुरुष कोई है ही नहीं तथा मात्र जानने ही से तो सिद्धि होती नहीं है; जानकर, रागादि मिटानेपर सिद्धि होती है, ऐसे जाननेमात्र से कुछ रागादि नहीं घटते।

यदि प्रकृति का कर्तव्य माने, आप अकर्ता रहे तो किसलिए आप रागादि कम करेगा? **इसलिए यह 'मोक्षमार्ग' नहीं है।**

वहाँ प्रकृति-पुरुष का भिन्न होना, उसे '**मोक्ष**' कहते हैं। तथा पच्चीस तत्त्वों में चौबीस तत्त्व तो 'प्रकृति' सम्बन्धी कहे; एक 'पुरुष' भिन्न कहा; अतः वे तो भिन्न है ही और कोई जीवपदार्थ, पच्चीस तत्त्वों में कहा ही नहीं। वहाँ पुरुष ही को प्रकृति का संयोग होनेपर, 'जीव' संज्ञा होती है तो पुरुष, न्यारे-न्यारे प्रकृतिसहित हैं, पश्चात् साधन द्वारा कोई पुरुष, प्रकृतिरहित होता है—ऐसा सिद्ध हुआ, एक पुरुष नहीं ठहरा।

वहाँ प्रकृति, पुरुष की भूल है या किसी व्यन्तरीवत् भिन्न ही है, जो जीव को आ लगती है? यदि उसकी भूल है तो प्रकृति से, इन्द्रियादि व स्पर्शादि तत्त्व उत्पन्न हुए कैसे मानें? और यदि अलग है तो वह भी [स्वयंसिद्ध] एक वस्तु है; सर्व कर्तव्य उसका ठहरा; पुरुष का कुछ कर्तव्य ही नहीं रहा तो किसलिए उपदेश देते हैं?

– ऐसे यह 'मोक्ष' मानना, मिथ्या है।

वहाँ प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम–ये तीन प्रमाण कहते हैं परन्तु उनके सत्य-असत्य का निर्णय, **जैनों के न्याय ग्रन्थों** से जानना।

इस सांख्यमत में कितने तो ईश्वर को नहीं मानते हैं; कितने ही एक पुरुष को ईश्वर मानते हैं; कितने ही शिव को और कितने ही नारायण को, देव मानते हैं; अपनी इच्छानुसार कल्पना करते हैं; कुछ निश्चय नहीं है। तथा इस मत में कितने ही जटा धारण करते हैं, कितने ही चोटी रखते हैं, कितने ही मुण्डन करते हैं, कितने ही कत्थई वस्त्र पहिनते हैं, इत्यादि अनेक प्रकार से भेष धारण करके, तत्त्वज्ञान के आश्रय से महन्त कहलाते हैं।

इस प्रकार सांख्यमत का निरूपण किया।

शिवमत

वहाँ, '**शिवमत**' के दो भेद हैं–**नैयायिक** और **वैशेषिक**।

नैयायिकमत

वहाँ, 'नैयायिकमत' में '**सोलह तत्त्व**' कहते हैं–**प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति व निग्रहस्थान।**

उनमें **प्रमाण** के चार प्रकार कहते हैं–**प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द** और **उपमा; आत्मा, देह, अर्थ, बुद्धि** इत्यादि को **प्रमेय** कहते हैं; 'यह क्या है ?'–इसका नाम **संशय** है; जिसके लिए प्रवृत्ति हो, वह **प्रयोजन** है; जिसे वादी-प्रतिवादी मानें, वह **दृष्टान्त** है; दृष्टान्त द्वारा जिसे सिद्ध करें, वह **सिद्धान्त** है; **अनुमान** के प्रतिज्ञा आदि पाँच अंग, वे **अवयव** हैं; संशय दूर होनेपर जिस विचार से निर्णय हो, वह **तर्क** है; पश्चात् प्रतीतिरूप जानना, वह **निर्णय** है; आचार्य -शिष्य में, पक्ष-प्रतिपक्ष द्वारा अभ्यास, वह **वाद** है; जानने की इच्छारूप कथा में जो छल, जाति आदि दूषण हो, वह **जल्प** है; प्रतिपक्षरहित वाद, वह **वितण्डा** है; जो सच्चे हेतु नहीं हैं –ऐसे असिद्ध आदि भेदसहित **हेत्वाभास** हैं; छलसहित वचन, वह **छल** है; जो सच्चे दूषण नहीं हैं –ऐसे दूषणाभास, वे **जाति** हैं तथा जिससे प्रतिवादी का निग्रह हो, वह **निग्रहस्थान** है।

इस प्रकार संशयादि तत्त्व कहे हैं परन्तु ये कोई वस्तुस्वरूप तो तत्त्व हैं नहीं। ज्ञान का निर्णय करने को व वाद द्वारा पाण्डित्य प्रगट करने को कारणभूत, विचाररूप तत्त्व कहे हैं किन्तु इनसे परमार्थ कार्य क्या होगा ? काम-क्रोधादि भाव को मिटाकर निराकुल होना, वह कार्य है–ऐसा प्रयोजन तो यहाँ कुछ दिखाया नहीं है; पण्डिताई की नाना युक्तियाँ बनायीं, परन्तु यह भी एक चातुर्य है; इसलिए ये तत्त्वभूत नहीं हैं।

फिर कहोगे–इनको जाने बिना, प्रयोजनभूत तत्त्वों का निर्णय नहीं कर सकते; इसलिए ये तत्त्व कहे हैं ? परन्तु ऐसी परम्परा तो व्याकरणवाले भी कहते हैं–

व्याकरण पढ़ने से, अर्थ-निर्णय होता है व भोजनादि के अधिकारी भी कहते हैं - भोजन करने से, शरीर की स्थिरता होनेपर, तत्त्व निर्णय करने में समर्थ होते हैं; अत: ऐसी युक्ति कार्यकारी नहीं है।

तब यदि कहोगे–व्याकरण, भोजनादि तो अवश्य तत्त्वज्ञान होने में कारण नहीं हैं, लौकिककार्य साधने में ही कारण हैं ? **सो** जैसे ये हैं; उसी प्रकार तुम्हारे कहे तत्त्व भी लौकिक (कार्य) साधने में कारण होते हैं। जैसे-इन्द्रियादि से जानने को प्रत्यक्षादि प्रमाण कहा है तथा स्थाणु-पुरुषादि में, संशयादि का निरूपण किया है; **इसलिए जिनको जाननेपर, अवश्य काम -क्रोधादि दूर हों, निराकुलता उत्पन्न हो; वे ही तत्त्व, कार्यकारी हैं।**

फिर कहोगे–प्रमेयतत्त्व में आत्मादि का निर्णय होता है; अत: वह कार्यकारी है ?

सो [कहते हैं]–प्रमेय तो सर्व ही वस्तु हैं; जो प्रमिति का विषय नहीं है–ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है; इसलिए प्रमेय को तत्त्व किसलिए कहा ? **आत्मा आदि को तत्त्व कहना था।**

वहाँ आत्मादि का भी स्वरूप, अन्यथा प्ररूपित किया है–ऐसा पक्षपातरहित विचार करनेपर भासित होता है। जैसे–आत्मा के दो भेद कहते हैं–परमात्मा और जीवात्मा। वहाँ परमात्मा को सर्व का कर्ता बतलाते हैं। वहाँ ऐसा अनुमान करते हैं–यह जगत्, कर्ता द्वारा उत्पन्न हुआ है क्योंकि यह कार्य है; जो कार्य है, वह कर्ता द्वारा उत्पन्न है; जैसे-घटादि, परन्तु यह अनुमानाभास है क्योंकि ऐसा भी अनुमान सम्भव है–यह सर्व जगत्, कर्ता द्वारा उत्पन्न नहीं है क्योंकि इसमें अकार्यरूप भी पदार्थ हैं। जो अकार्य हैं, वह कर्ता द्वारा उत्पन्न नहीं हैं; जैसे–सूर्य-बिम्बादि। अनेक पदार्थों के समुदायरूप जगत् में कोई पदार्थ, कृत्रिम हैं, वे मनुष्यादि द्वारा किये होते हैं तथा कोई अकृत्रिम हैं, सो उनका कोई कर्ता नहीं है; यह प्रत्यक्षादि प्रमाण से गोचर है; इसलिए ईश्वर को कर्ता मानना, मिथ्या है।

तथा जीवात्मा को प्रति शरीर, भिन्न कहते हैं, सो यह सत्य है परन्तु मुक्त होने के बाद भी भिन्न ही मानना, योग्य है। विशेष तो पहले कहा ही है।

– **ऐसे ही अन्य तत्त्वों को मिथ्या प्ररूपित करते हैं।** तथा प्रमाणादि के स्वरूप की भी अन्यथा कल्पना करते हैं, वह जैनग्रन्थों से परीक्षा करनेपर भासित होता है।

इस प्रकार नैयायिकमत में कथित तत्त्व, कल्पित जानना।

वैशेषिकमत

वैशेषिकमत में '**छह तत्त्व**' कहे हैं–**द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष** व **समवाय।**

वहाँ [वे कहते हैं –] '**द्रव्य**', नौ प्रकार के हैं–**पृथ्वी, जल, अग्नि, पवन, आकाश, काल, दिशा, आत्मा** व **मन**। इनमें पृथ्वी, जल, अग्नि और पवन के परमाणु भिन्न-भिन्न हैं, वे परमाणु नित्य हैं; उनसे कार्यरूप पृथ्वी आदि होते हैं, वे अनित्य हैं **परन्तु ऐसा कहना प्रत्यक्षादि से विरुद्ध है**–ईंधनरूप पृथ्वी के परमाणु, अग्निरूप होते देखे जाते हैं; अग्नि के परमाणु, राखरूप पृथ्वी होते देखे जाते हैं; जल के परमाणु, मुक्ताफल (मोती) रूप पृथ्वी होते देखे जाते हैं।

फिर यदि तू कहेगा–वे परमाणु चले जाते हैं, दूसरे ही परमाणु उनरूप होते हैं।

– ऐसे प्रत्यक्ष को असत्य ठहराता है; यदि कोई प्रबल युक्ति कहे तो इसी प्रकार मानें, परन्तु केवल कहने से ही ऐसा ठहरता नहीं है; इसलिए सब परमाणुओं की एक पुद्गलरूप मूर्तिक जाति है, वह पृथ्वी आदि अनेक अवस्थारूप परिणमित होती है।

तथा इन पृथ्वी आदि का कहीं पृथक् शरीर ठहराते हैं।

वह मिथ्या ही है क्योंकि उसका कोई प्रमाण नहीं है और पृथ्वी आदि तो परमाणुपिण्ड हैं; इनका 'शरीर अन्यत्र, यह अन्यत्र'–ऐसा सम्भव नहीं है; इसलिए यह मिथ्या है।

जहाँ पदार्थ अटके नहीं–ऐसी जो पोल (शून्य स्थान), उसे 'आकाश' कहते हैं; क्षण, पल आदि को 'काल' कहते हैं–ऐसे ये दोनों ही अवस्तु हैं; ये सत्तारूप पदार्थ नहीं हैं। पदार्थों के क्षेत्र-परिणमनादि का पूर्वापर विचार करने के लिए, इनकी कल्पना करते हैं तथा 'दिशा' कुछ है ही नहीं; आकाश में खण्ड कल्पना द्वारा, दिशा मानते हैं।

वहाँ, 'आत्मा' को दो प्रकार से कहते हैं, उसका पहले निरूपण किया ही है।

तथा 'मन' कोई पृथक् पदार्थ नहीं है। भावमन तो ज्ञानरूप है, वह आत्मा का स्वरूप है; द्रव्यमन, परमाणुओं का पिण्ड है, वह शरीर का अंग है–**ऐसे ये 'द्रव्य' कल्पित जानना।**

वहाँ वे '**चौबीस गुण**' कहते हैं–**स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द, संख्या, विभाग, संयोग, परिमाण, पृथक्त्व, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, धर्म, अधर्म, प्रयत्न, संस्कार, द्वेष, स्नेह, गुरुत्व** व **द्रव्यत्व।**

सो इनमें 'स्पर्शादि गुण' तो परमाणुओं में पाये जाते हैं परन्तु पृथ्वी को गन्धवती ही कहना, जल को शीत स्पर्शवान् कहना, इत्यादि मिथ्या हैं क्योंकि किसी पृथ्वी में गन्ध की मुख्यता भासित नहीं होती; कोई जल, उष्ण देखा जाता है, इत्यादि प्रत्यक्षादि से विरुद्ध हैं।

'शब्द' को आकाश का गुण कहते हैं, वह मिथ्या है क्योंकि शब्द तो दीवार आदि से रुकता है; इसलिए मूर्तिक है और आकाश, अमूर्तिक सर्वव्यापी है। दीवार में आकाश रहे और शब्दगुण, प्रवेश न कर सके–यह कैसे बनेगा?

'संख्यादि' हैं, वे वस्तु में तो कुछ हैं नहीं; अन्य पदार्थ की अपेक्षा, अन्य पदार्थ की हीनाधिकता जानने के लिए अपने ज्ञान में, संख्यादि की कल्पना द्वारा, विचार करते हैं।

'बुद्धि' आदि है, वह आत्मा का परिणमन है; वहाँ बुद्धि नाम ज्ञान का है तो आत्मा

का गुण है ही। यदि मन का नाम [बुद्धि] है तो मन तो द्रव्यों में कहा था, यहाँ गुण किसलिए कहा ? तथा सुखादि हैं, वे आत्मा में कदाचित् पाये जाते हैं; आत्मा के लक्षणभूत तो ये गुण हैं नहीं; अव्याप्तपना होने से, लक्षणाभास हैं।

'स्नेहादि' पुद्गलपरमाणु में पाये जाते हैं क्योंकि स्निग्ध-गुरु इत्यादि तो स्पर्शनइन्द्रिय द्वारा जाने जाते हैं; इसलिए स्पर्शगुण में गर्भित हुए, उन्हें अलग किसलिए कहे ?

'द्रव्यत्वगुण' जल में कहा—ऐसे तो अग्नि आदि में ऊर्ध्वगमनत्वादि पाये जाते हैं; अतः या तो सर्व कहने थे या सामान्य में गर्भित करने थे—**ऐसे ये गुण कहे, वे भी कल्पित हैं।**

'**पाँच प्रकार के कर्म**' कहते हैं—**उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण व गमन।**

वहाँ, ये तो शरीर की चेष्टाएँ हैं, इनको अलग कहने का अर्थ क्या ? तथा इतनी ही चेष्टाएँ तो होती नहीं हैं; चेष्टाएँ तो बहुत प्रकार की होती हैं। तथा इनको अलग ही 'तत्त्व' संज्ञा कही; अतः या तो अलग पदार्थ हों तो उन्हें अलग तत्त्व कहना था या काम-क्रोधादि मिटाने में विशेष प्रयोजनभूत हों तो तत्त्व कहना था लेकिन यहाँ दोनों ही नहीं हैं। यदि ऐसे ही कह देना हो तो पाषाणादि की अनेक अवस्थाएँ होती हैं, उन्हें कहते रहो; कुछ साध्य नहीं है।

'**सामान्य**' के दो प्रकार हैं—पर और अपर। वहाँ 'पर' तो सत्तारूप है; 'अपर' द्रव्यत्वादि-रूप है। जिनकी नित्यद्रव्य में प्रवृत्ति हो, वे '**विशेष**' हैं। तथा अयुतसिद्धसम्बन्ध का नाम, '**समवाय**' है। ये सामान्य आदि तो बहुतों को एक प्रकार (अर्थात् **सामान्य**) द्वारा व एक वस्तु में भेदकल्पना (अर्थात् **विशेष**) द्वारा व भेदकल्पना अपेक्षा, सम्बन्ध (अर्थात् **समवाय**) मानने से अपने विचार ही में होते हैं; कोई अलग पदार्थ तो हैं नहीं। तथा इनके जानने से, काम-क्रोधादि मिटानेरूप विशेष प्रयोजन की भी सिद्धि नहीं होती है; इसलिए इनको 'तत्त्व' किसलिए कहा ?

यदि ऐसे ही तत्त्व कहने थे तो वस्तु के प्रमेयत्वादि अनन्त धर्म हैं और सम्बन्ध, आधार आदि कारकों के अनेक प्रकार, वस्तु में सम्भवित हैं; इसलिए या तो सर्व कहने थे या प्रयोजन जानकर कहने थे; इसलिए ये 'सामान्यादि तत्त्व' भी वृथा ही कहे हैं।

— ऐसे वैशेषिकों द्वारा कथित तत्त्व, कल्पित जानना।

पुनश्च, वैशेषिक दो ही **प्रमाण** मानते हैं—**प्रत्यक्ष और अनुमान।** वहाँ इनके सत्य-असत्य का निर्णय, जैन-न्यायग्रन्थों से[१] जानना।

नैयायिक तो कहते हैं—**विषय, इन्द्रिय, बुद्धि, शरीर, सुख-दुःख**—इनके अभाव से आत्मा की स्थिति, वह **मुक्ति** है और वैशेषिक कहते हैं—चौबीस गुणों में बुद्धि आदि नौ

---

[१] आप्त-मीमांसा/देवागम, आप्त-परीक्षा, युक्त्यनुशासन, अष्टसहस्री, न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय, प्रमाणसंग्रह, तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिक, राजवार्तिक, प्रमेयकमलमार्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्रादि दार्शनिक/सिद्धान्त/न्याय ग्रन्थों से जानना चाहिए।

गुणों का अभाव, वह **मुक्ति** है। यहाँ 'बुद्धि का अभाव' कहा, लेकिन 'बुद्धि' नाम, ज्ञान का है और ज्ञान का अधिकरणपना 'आत्मा का लक्षण' कहा था, अब ज्ञान का अभाव होनेपर, लक्षण का अभाव होने से, लक्ष्य का भी अभाव होगा, तब आत्मा की स्थिति किस प्रकार रहेगी ?

यदि 'बुद्धि' नाम, 'मन' का है तो भावमन तो ज्ञानरूप है ही और द्रव्यमन, शरीररूप है लेकिन मुक्त होनेपर, द्रव्यमन का सम्बन्ध छूटता ही है; अत: जड़द्रव्यमन का नाम, 'बुद्धि' कैसे होगा ? तथा मनवत् ही इन्द्रियाँ जानना।

तथा 'विषय का अभाव' होता है, वहाँ स्पर्शादि विषयों का जानना मिटता है तो ज्ञान किसका नाम ठहरेगा ? यदि उन विषयों का अभाव होगा तो लोक का अभाव होगा।

वहाँ 'सुख का अभाव' कहा, परन्तु सुख ही के लिए, उपाय करते हैं; यदि उसका अभाव होगा तो वह उपादेय कैसे होगा ? तथा यदि वहाँ आकुलतामय इन्द्रियजनित सुख का अभाव हुआ कहें तो यह सत्य है क्योंकि निराकुलता लक्षण, अतीन्द्रियसुख तो वहाँ सम्पूर्ण सम्भव है; इसलिए सुख का अभाव नहीं है।

तथा वहाँ शरीर, दु:ख, द्वेष आदि का अभाव कहते हैं, वह सत्य ही है।

इस तरह शिवमत में कर्ता निर्गुण 'ईश्वर' ही 'शिव' है, उसे 'देव' मानते हैं लेकिन उसके स्वरूप का अन्यथापना पूर्वोक्त प्रकार से जानना। तथा यहाँ भस्म, कोपीन, जटा, जनेऊ इत्यादि चिह्नोंसहित भेष होते हैं, उनके आचारादि भेद से चार प्रकार हैं—**शैव, पाशुपत, महाव्रती** व **कालमुख;** परन्तु ये रागादि सहित हैं; इसलिए सुलिंग नहीं हैं।

इस प्रकार शिवमत का निरूपण किया।

मीमांसकमत

अब, **मीमांसकमत का स्वरूप** कहते हैं —

मीमांसक दो प्रकार के हैं—ब्रह्मवादी (उत्तर मीमांसा), और कर्मवादी (पूर्व मीमांसा)।

वहाँ '**ब्रह्मवादी**' तो 'यह सर्व ब्रह्म है; दूसरा कोई नहीं है'—ऐसा वेदान्त में **अद्वैतब्रह्म** को निरूपित करते हैं तथा 'आत्मा में लय होना', उसे '**मुक्ति**' कहते हैं।

— इनका मिथ्यापना पहले दिखाया है, उसे विचारना।

तथा '**कर्मवादी**' क्रिया, आचार, यज्ञादि कार्यों का कर्तव्यपना प्ररूपित करते हैं परन्तु इन क्रियाओं में रागादि का सद्भाव पाया जाता है; इसलिए ये कार्य, कुछ भी कार्यकारी नहीं हैं।

वहाँ 'भट्ट' और 'प्रभाकर' द्वारा कथित दो पद्धतियाँ हैं—वहाँ भाट्ट (भट्ट के अनुयायी) तो छह प्रमाण मानते हैं—**प्रत्यक्ष, अनुमान, वेद, उपमा, अर्थापत्ति व अभाव।**

तथा प्राभाकर (प्रभाकर के अनुयायी), अभाव के बिना, पाँच ही प्रमाण मानते हैं परन्तु इनका सत्यासत्यपना जैनशास्त्रों से जानना।

वहाँ षट्कर्मसहित ब्रह्मसूत्र के धारक, शूद्र के अन्नादि के त्यागी 'गृहस्थाश्रम' है नाम जिनका - ऐसे 'भट्ट' हैं। तथा वेदान्त में यज्ञोपवीतरहित, विप्र के अन्नादि के ग्राही, 'भगवत्' है नाम जिनका, वे चार प्रकार के हैं—**कुटीचर, बहूदक, हंस, व परमहंस;** यद्यपि ये कुछ त्याग से सन्तुष्ट हुए हैं तथापि ज्ञान-श्रद्धान का मिथ्यापना और रागादि का सद्भाव, इनके पाया जाता है; इसलिए ये भेष कार्यकारी नहीं हैं।

जैमिनीयमत

यहाँ ही जैमिनीयमत है, वह इस प्रकार कहते हैं—सर्वज्ञदेव कोई है नहीं; वेदवचन नित्य हैं, उनसे यथार्थ निर्णय होता है; इसलिए पहले वेदपाठ द्वारा क्रिया में प्रवर्तना, उसे वे 'नोदना' (प्रेरणा) कहते हैं। वही है लक्षण जिसका - ऐसे धर्म का साधन करना। जैसे-कहते हैं—'**स्वः कामोऽग्निं यजेत्**' अर्थात् स्वर्गाभिलाषी, अग्नि को पूजे, इत्यादि निरूपण करते हैं।

यहाँ उनसे पूछते हैं—शैव, सांख्य, नैयायिकादि सभी, वेद को मानते हैं, तुम भी मानते हो लेकिन तुम्हारे व उन सबके तत्त्वादि निरूपण में परस्पर विरुद्धता पायी जाती है, उसका क्या कारण है ? यदि वेद ही में 'कहीं कुछ, कहीं कुछ' निरूपण किया है तो उसकी प्रमाणता कैसे रही ? और यदि मतवाले ही 'कहीं कुछ, कहीं कुछ' निरूपण करते हैं तो तुम परस्पर झगड़कर, निर्णय करके एक को वेद का अनुसारी, अन्य को वेद से पराङ्मुख ठहराओ।

सो हमें तो यह भासित होता है—वेद ही में पूर्वापर विरुद्धतासहित निरूपण है; इसलिए उसका अपनी-अपनी इच्छानुसार अर्थ ग्रहण करके, अलग-अलग मतों के अधिकारी (प्रवर्तक) हुए हैं परन्तु ऐसे वेद को प्रमाण कैसे करें ? तथा अग्नि पूजने से स्वर्ग होता है तो अग्नि को, मनुष्य से उत्तम कैसे मानें ?—प्रत्यक्ष विरुद्ध है तथा वह स्वर्गदाता कैसे होगी ?

— ऐसे ही अन्य वेदवचन प्रमाणविरुद्ध हैं तथा वेद में ब्रह्म कहा है, उसे सर्वज्ञ क्यों नहीं मानते ? इत्यादि प्रकार से जैमिनीयमत कल्पित जानना।

बौद्धमत

अब, **बौद्धमत का स्वरूप** कहते हैं —

बौद्धमत में '**चार आर्यसत्य**'[१] प्ररूपित करते हैं—**दुःख, आयतन, समुदय व मार्ग**। वहाँ

---

[१] दुःखमायतनं चैव ततः समुदयो मतः।
मार्गश्चेत्यस्य च व्याख्या क्रमेण श्रूयतामतः॥ ३६॥ (विशेषावश्यक भाष्य/व्यास भाष्य)

संसारी की स्कन्धरूप [अवस्था], वह '**दुःख**' है; वह पाँच प्रकार का है–**विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्कार व रूप।**[१] वहाँ रूपादि का जानना, वह '**विज्ञान**' है। सुख-दुःख का अनुभवन करना, वह '**वेदना**' है। सोते हुए का जागना, वह '**संज्ञा**' है। जो पढ़ा था, उसे याद करना, वह '**संस्कार**' है। रूप का धारण करना, वह '**रूप**'[२] है।

यहाँ विज्ञानादि को दुःख कहा, वह मिथ्या है। दुःख तो काम-क्रोधादि हैं; ज्ञान, दुःख नहीं है - यह तो प्रत्यक्ष देखते हैं। किसी के ज्ञान थोड़ा है और क्रोध-लोभादि बहुत हैं, वह 'दुःखी' है; किसी के ज्ञान बहुत है, काम-क्रोधादि अल्प हैं या नहीं हैं, वह 'सुखी' है; इसलिए विज्ञानादि दुःख नहीं हैं।

वहाँ '**बारह आयतन**' कहे हैं–पाँच इन्द्रियाँ और उनके शब्दादि पाँच विषय, एक मन और एक धर्मायतन, परन्तु ये आयतन किसलिए कहे हैं ? सबको क्षणिक कहते हैं तो इनका क्या प्रयोजन है ?

तथा जिससे रागादि का गण (समूह) उत्पन्न होता है–ऐसा आत्मा और आत्मीय है नाम जिसका, वह '**समुदाय**' है। वहाँ अहंरूप–आत्मा, और ममरूप–आत्मीय जानना, परन्तु क्षणिक माननेपर, इनको भी कहने का कुछ प्रयोजन नहीं रहता है।

वहाँ 'सर्व संस्कार, क्षणिक हैं'–ऐसी वासना, उसे '**मार्ग**' कहते हैं परन्तु बहुत काल -स्थायी कितनी ही वस्तुएँ, प्रत्यक्ष देखी जाती हैं।

तू कहेगा–एक अवस्था नहीं रहती।

यह हम भी मानते हैं–सूक्ष्मपर्याय क्षणस्थायी है तथा उस वस्तु ही का नाश मानते हैं परन्तु यह तो होता दिखायी नहीं देता, हम कैसे मानें ? तथा बाल-वृद्धादि अवस्था में एक आत्मा का अस्तित्व भासित होता है; यदि एक नहीं है तो पूर्व-उत्तर कार्य का एक कर्ता कैसे मानते हैं ?

यदि तू कहेगा–संस्कार से है।

तो संस्कार किसके हैं ? - जिसके हैं, वह नित्य है या क्षणिक है ? - यदि नित्य है तो सर्व क्षणिक कैसे कहते हैं ? यदि क्षणिक है तो जिसका आधार ही क्षणिक है, उस संस्कार की परम्परा कैसे कहते हैं ? तथा सर्व क्षणिक है तो आप स्वयं भी क्षणिक हुआ। तथा तू ऐसी वासना को मार्ग कहता है परन्तु इस मार्ग के फल को आप तो प्राप्त करता ही

---

[१] दुःखं संसारिणः स्कन्धाः, ते च पञ्चप्रकीर्तिताः।
विज्ञानं वेदना संज्ञा, संस्कारोरूपमेव च॥ ३७॥ (विशेषावश्यक भाष्य/व्यास भाष्य)

[२] रूपं पंचेन्द्रियाण्यर्थाः, पंचविज्ञप्तिरेव च।
तद्विज्ञानाश्रया रूप-प्रसादाश्चक्षुरादयाः॥ ७॥
वेदनानुभवः संज्ञा, निमित्तोद्ग्रहणात्मिका।
संस्कारस्कन्धश्चतुर्भ्योऽन्ये संस्कारास्त इमे त्रयः॥ १५॥
विज्ञानं प्रति विज्ञप्ति, ...। (- अभिधर्म कोश, अध्याय १)

नहीं है; किसलिए इस मार्ग में प्रवर्तता है ? तथा तेरे मत में, निरर्थक शास्त्र किसलिए बनाए ? उपदेश तो कुछ कर्तव्य द्वारा फल प्राप्त करने के लिए दिया जाता है—**ऐसे यह मार्ग मिथ्या है।**

वहाँ रागादि ज्ञानसन्तानवासना का उच्छेद अर्थात् निरोध, उसे '**मोक्ष**' कहते हैं परन्तु जब क्षणिक है, तब मोक्ष किसको कहते हो ? और रागादि का अभाव होना तो हम भी मानते हैं परन्तु अपने स्वरूप ज्ञानादि का अभाव होनेपर तो आप का अभाव होगा—ऐसे [मोक्ष] का उपाय करना कैसे हितकारी होता है ? तथा हिताहित का विचार करनेवाला तो ज्ञान ही है; अतः वह ज्ञान, आप [स्वयं] के अभाव को हित कैसे माने ?

बौद्धमत में **दो प्रमाण** मानते हैं—**प्रत्यक्ष और अनुमान**। इसके सत्यासत्य का निरूपण, जैनशास्त्रों से जानना। तथा ये दो ही प्रमाण हैं तो इनके शास्त्र अप्रमाण हुए; उनका निरूपण किस अर्थ किया ? प्रत्यक्ष-अनुमान तो जीव आप ही कर लेंगे, तुमने शास्त्र किसलिए बनाए ?

वहाँ सुगत को देव मानते हैं परन्तु उसका स्वरूप, नग्न व विक्रियारूप स्थापित करते हैं, वह विडम्बनारूप है। तथा कमण्डल और रक्ताम्बर के धारी, पूर्वाह्न में भोजन करनेवाले, इत्यादि लिंगरूप बौद्धमत के भिक्षुक हैं परन्तु क्षणिक को भेष धारण करने का क्या प्रयोजन ? वहाँ महन्तता के लिए कल्पित निरूपण करना और भेष धारण करना (सिद्ध) होता है।

– ऐसे **बौद्ध** हैं, उनके चार प्रकार हैं—**वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार, व मध्यम।**

वहाँ **वैभाषिक** तो 'ज्ञानसहित पदार्थ को मानते हैं।' **सौत्रान्तिक** 'प्रत्यक्ष यह दिखायी देता है, यही है; इससे परे कुछ नहीं है' - ऐसा मानते हैं। **योगाचार** में 'आचारसहित बुद्धि' पायी जाती है। तथा **मध्यम** हैं, 'वे पदार्थ के आश्रय बिना, ज्ञान ही को मानते हैं।'

वे अपनी-अपनी कल्पना करते हैं परन्तु विचार करनेपर कुछ निर्धार की बात नहीं है।

इस प्रकार बौद्धमत का निरूपण किया।

चार्वाकमत

अब, **चार्वाकमत का स्वरूप** कहते हैं —

कोई 'सर्वज्ञदेव, धर्म-अधर्म-मोक्ष है नहीं, पुण्य-पाप का फल है नहीं, परलोक है नहीं—यह इन्द्रियगोचर जितना है, वह ही लोक है'—ऐसा चार्वाक कहता है।

वहाँ उससे पूछते हैं—सर्वज्ञदेव इस काल-क्षेत्र में नहीं हैं या सर्वदा-सर्वत्र नहीं हैं ? इस काल-क्षेत्र में तो हम भी नहीं मानते हैं परन्तु सर्व काल-क्षेत्र में नहीं हैं—ऐसा जानना

सर्वज्ञ के बिना किसको हुआ? 'जो सर्व क्षेत्र-काल को जानता है, वही सर्वज्ञ है' और यदि नहीं जानता तो निषेध कैसे करते हो?

वहाँ धर्म-अधर्म, लोक में प्रसिद्ध है—यदि वे कल्पित हों तो सर्वजन सुप्रसिद्ध कैसे होते? तथा धर्म-अधर्मरूप परिणति होती देखी जाती है, उससे वर्तमान ही में सुखी-दुःखी होते हैं; इन्हें कैसे न मानें? **मोक्ष का होना, अनुमान में आता है**—क्रोधादि दोष किसी के हीन हैं, किसी के अधिक हैं; इसलिए जाना जाता है कि किसी के इनकी नास्ति भी होती होगी और ज्ञानादि गुण किसी के हीन, किसी के अधिक भासित होते हैं; इसलिए जाना जाता है कि किसी के सम्पूर्ण भी होते होंगे।

— ऐसे जिसके समस्त दोषों की हानि और गुणों की प्राप्ति हो, वही 'मोक्ष-अवस्था' है।

वहाँ पुण्य-पाप का फल भी दिखाई देता है—कोई उद्यम करनेपर भी दरिद्री रहता है, किसी के स्वयमेव लक्ष्मी होती है; कोई शरीर का यत्न करनेपर भी रोगी रहता है, किसी के बिना ही यत्न निरोगता रहती है, इत्यादि प्रत्यक्ष देखा जाता है; वहाँ इसका कारण कोई तो होगा? अतः जो इसका कारण है, वही पुण्य-पाप है। तथा **परलोक भी प्रत्यक्ष-अनुमान से भासित होता है**—व्यन्तरादि ऐसा कहते हुए देखे जाते हैं कि 'मैं अमुक था, अब देव हुआ हूँ।'

तब तू कहेगा—'यह तो पवन है।'

वहाँ हम तो **'मैं हूँ' इत्यादि चेतनात्मकभाव, जिसके आश्रय से पाये जाते हैं, उसी को 'आत्मा' कहते हैं;** तू उसका नाम 'पवन' कहता है परन्तु पवन तो दीवार आदि से अटक जाती है; आत्मा, मुँदा (ढँका) हुआ होनेपर भी, अटकता नहीं है; इसलिए पवन कैसे मानें?

तू जितना इन्द्रियगोचर है, उतना ही लोक कहता है परन्तु तेरे तो थोड़े से भी योजन दूरवर्ती क्षेत्र और थोड़ा-सा भी अतीत-अनागत काल—ऐसे क्षेत्र-कालवर्ती भी पदार्थ, इन्द्रिय-गोचर नहीं हो सकते, जबकि दूर देश की व बहुत काल की बातें, परम्परा से सुनते ही हैं; इसलिए सबका जानना, तेरे नहीं है; तू इतना ही लोक, किस प्रकार कहता है?

चार्वाकमत में कहते हैं—पृथ्वी, अप, तेज, वायु, आकाश मिलनेपर, चेतना उत्पन्न हो आती है, जबकि मरनेपर पृथ्वी आदि यहाँ रहे; चेतनावान पदार्थ गया, वह व्यन्तरादि हुआ—ऐसे प्रत्यक्ष भिन्न-भिन्न देखे जाते हैं। तथा एक शरीर में पृथ्वी आदि तो भिन्न-भिन्न भासित होते हैं; जबकि चेतना, एक भासित होती है। यदि पृथ्वी आदि के आधार से चेतना हो तो हाड़, रक्त, उच्छ्वास आदि में अलग-अलग चेतना होना चाहिए। तथा हाथ आदि को काटनेपर, जैसे—उसके साथ वर्णादि रहते हैं; वैसे चेतना भी रहती है। तथा अहंकार, बुद्धि तो चेतना में होते हैं परन्तु पृथ्वी आदिरूप शरीर तो यहाँ ही रहा, फिर **व्यन्तरादि पर्याय में**, पूर्व पर्याय का अहंपना

देखा जाता है, वह कैसे होता है ? तथा पूर्व पर्याय के गुप्त समाचार, वे प्रगट करते हैं; अतः यह जानना किसके साथ गया ? **जिसके साथ 'जानना', वही 'आत्मा' है।**

चार्वाकमत में—खाना, पीना, भोग-विलास करना, इत्यादि स्वच्छन्दवृत्ति का उपदेश दिया जाता है परन्तु ऐसे तो जगत् स्वयमेव ही प्रवर्तता है। वहाँ शास्त्रादि बनाकर भला होने का उपदेश क्या दिया ? **तू कहेगा**—तपश्चरण, शील, संयम आदि छुड़ाने के लिए, उपदेश दिया, परन्तु इन [तपश्चरणादि] कार्यों में तो कषाय घटने से, आकुलता घटती है; इसलिए यहींपर सुखी हो जाता है और यश आदि होता है परन्तु तू इनको छुड़ाकर, क्या भला करता है ?

विषयासक्त जीवों को सुहाती बातें कहकर, तुझे अपना व औरों का बुरा करने का भय नहीं है; स्वच्छन्द होकर, विषय-सेवन के लिए ऐसी झूठी युक्ति बनाता है।

इस प्रकार चार्वाकमत का निरूपण किया।

अन्यमत निराकरण : उपसंहार

इसी प्रकार अनेक अन्यमत हैं, वे झूठी कल्पित युक्ति बनाकर, विषय-कषायासक्त पापी जीवों द्वारा प्रगट किये गये हैं, उनके श्रद्धानादि द्वारा जीवों का बुरा होता है।

तथा **एक जिनमत है, वह ही सत्यार्थ का प्ररूपक है, सर्वज्ञ-वीतराग देव द्वारा भाषित है; उसके श्रद्धानादि से ही जीवों का भला होता है**—ऐसे जिनमत में जीवादि तत्त्वों का निरूपण किया है; प्रत्यक्ष-परोक्ष दो प्रमाण कहे हैं; सर्वज्ञ-वीतराग अरहन्तदेव हैं; बाह्य -अभ्यन्तर परिग्रहरहित निर्ग्रन्थ गुरु हैं।

— इनका वर्णन 'इस ग्रन्थ में आगे विशेष लिखेंगे', उसे जानना।

यहाँ कोई कहे—तुम्हें राग-द्वेष है; इसलिए तुम अन्यमत का निषेध करके, अपने मत को स्थापित करते हो।

उससे कहते हैं—यथार्थ वस्तु का प्ररूपण करने में राग-द्वेष नहीं होता है। कुछ अपना प्रयोजन विचारकर, अन्यथा प्ररूपण करें तो 'राग-द्वेष' नाम पाता है।

फिर वह कहता है—यदि राग-द्वेष नहीं है तो अन्यमत बुरे और जैनमत भला—ऐसा किस प्रकार कहते हो ? साम्यभाव हो तो सबको समान जानो; मत-पक्ष किसलिए करते हो ?

उससे कहते हैं—हम बुरे को बुरा कहते हैं, भले को भला कहते हैं; इसमें राग-द्वेष क्या किया ? तथा बुरे-भले को समान जानना तो अज्ञानभाव है; साम्यभाव नहीं है।

फिर वह कहता है—सर्व मतों का प्रयोजन तो एक ही है; इसलिए सबको समान जानना चाहिए ?

उससे कहते हैं—यदि प्रयोजन एक हो तो नाना मत किसलिए कहे जाएँ? एक मत में तो एक प्रयोजनसहित अनेक प्रकार से व्याख्यान होता है, उसे अलग मत कौन कहता है? परन्तु उनमें प्रयोजन ही भिन्न-भिन्न है, वह दिखलाते हैं—

अन्यमतों से जैनमत की तुलना

जैनमत में एक वीतरागभाव के पोषण का प्रयोजन है; अतः कथाओं में, लोकादि के निरूपण में, आचरण में, व तत्त्वों में, जहाँ-तहाँ वीतरागता की ही पुष्टि की है।

जबकि अन्यमतों में सरागभाव के पोषण का प्रयोजन है क्योंकि कल्पित रचना, कषायी जीव ही करते हैं और अनेक युक्तियाँ बनाकर, कषायभाव ही का पोषण करते हैं।

जैसे—अद्वैत ब्रह्मवादी, सर्व को ब्रह्म मानकर; सांख्यमती, सर्व कार्य प्रकृति का मानकर और अपने को शुद्ध अकर्ता मानकर; शिवमती, तत्त्व जानने ही से सिद्धि होना जानकर; मीमांसक, कषायजनित आचरण को धर्म मानकर; बौद्ध, क्षणिक मानकर; चार्वाक, परलोकादि न मानकर, विषय-भोगादिरूप कषायकार्यों में स्वछन्द होने का ही पोषण करते हैं।

यद्यपि किसी स्थान पर, कोई कषाय घटाने का भी निरूपण करते हैं तो उस छल से अन्य किसी कषाय का पोषण करते हैं। जैसे—गृहकार्य छोड़कर, परमेश्वर का भजन करना ठहराया, परन्तु परमेश्वर का स्वरूप सरागी ठहराकर, उनके आश्रय से अपने विषय-कषाय का पोषण करते हैं।

जबकि **जैनधर्म में 'देव-गुरु-धर्मादि का स्वरूप', वीतराग ही निरूपण करके, केवल वीतरागता ही का पोषण करते हैं—यह प्रगट है।**

हम क्या कहें? अन्यमती भर्तृहरि ने भी 'वैराग्य प्रकरण' में ऐसा कहा है —

एको रागिषु राजते प्रियतमा-, देहार्द्ध-धारी हरो,
नीरागेषु जिनो विमुक्त-ललना-, सङ्गो न यस्मात्परः।
दुर्वार-स्मर-वाण-पन्नग-विष-, व्यासक्त-मुग्धो जनः,
शेषः काम-विडम्बितो हि विषयान्, भोक्तुं न मोक्तुं क्षमः॥[१]

इस छन्द में सरागियों में महादेव को प्रधान कहा और **वीतरागियों में जिनदेव को प्रधान** कहा है, जबकि सरागभाव और वीतरागभाव में परस्पर प्रतिपक्षीपना है; अतः ये दोनों भले नहीं हैं परन्तु इनमें एक ही हितकारी है।

---

[१] रागी पुरुषों में तो एक महादेव शोभित होता है, जिसने अपनी प्रियतमा पार्वती को आधे शरीर में धारण कर रखा है और **वीतरागियों में जिनदेव शोभित हैं, जिनके समान स्त्रियों का संग छोड़नेवाला दूसरा कोई नहीं है।** शेष जन तो दुर्निवार कामदेव के बाणरूप सर्पों के विष से मूर्छित हुए हैं, जो काम की विडम्बना से न तो विषयों को भलीभाँति भोग ही सकते हैं और न छोड़ ही सकते हैं। (श्रंगार शतक, श्लोक ७८)

सो वीतरागभाव ही हितकारी है; जिसके होनेपर तत्काल आकुलता मिटती है, स्तुतियोग्य होता है; जिससे 'आगामी भला होना' सभी कहते हैं तथा सरागभाव होनेपर तत्काल आकुलता होती है, निन्दनीक होता है; जिससे 'आगामी बुरा होना' भासित होता है। **इसलिए जिसमें वीतरागभाव का प्रयोजन है—ऐसा जैनमत ही इष्ट है** तथा जिनमें सरागभाव के प्रयोजन प्रगट किए हैं—ऐसे अन्यमत अनिष्ट हैं; इन्हें समान कैसे मानें?

तब वह कहता है—यह तो सच है परन्तु अन्यमत की निन्दा करने से, अन्यमती दु:खी होते हैं, विरोध उत्पन्न होता है; अत: किसलिए निन्दा करें?

वहाँ कहते हैं—यदि हम कषाय से निन्दा करें व औरों को दु:ख उपजाएँ तो हम पापी ही हैं परन्तु अन्यमत के श्रद्धानादि से जीवों के अतत्त्वश्रद्धान दृढ़ होता है, जिससे संसार में जीव दु:खी होते हैं; इसलिए उनके लिए करुणाभाव से यथार्थ निरूपण किया है। कोई बिना दोष (कारण), दु:ख पाता हो, विरोध उत्पन्न करता हो तो हम क्या करें?

जैसे—मदिरा की निन्दा करने से कलाल, दु:खी हो; कुशील की निन्दा करने से वेश्यादि, दु:ख पाएँ और खरे-खोटे को पहिचानने की परीक्षा बतलाने से ठग, दु:खी हों तो (हम) क्या करें?

इसी प्रकार यदि पापियों के भय से, धर्मोपदेश न दें तो जीवों का भला कैसे होगा? ऐसा तो कोई उपदेश है नहीं, जिससे सभी चैन पावें?

तथा वह विरोध उत्पन्न करता है, वहाँ विरोध तो परस्पर करनेपर होता है। यदि हम लड़ेंगे नहीं तो वे आप ही उपशान्त हो जाएँगे। हमें तो हमारे परिणामों का फल प्राप्त होगा।

वहाँ कोई कहे—प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वों का अन्यथा श्रद्धान करने से, मिथ्यादर्शनादि होते हैं; अन्यमतों का श्रद्धान करने से किस प्रकार मिथ्यादर्शनादि होंगे?

उसका समाधान—अन्यमतों में विपरीत युक्ति बनाकर, जीवादि तत्त्वों का स्वरूप, यथार्थ भासित न हो—ऐसा ही उपाय किया है, वह किसलिए किया है?

यदि जीवादि तत्त्वों का यथार्थस्वरूप भासित हो तो वीतरागभाव होनेपर ही महन्तपना भासित हो परन्तु जो जीव, वीतरागी नहीं हैं और अपनी महन्तता चाहते हैं, उन्होंने सरागभाव होनेपर भी, महन्तता मनवाने के लिए, कल्पित युक्ति द्वारा अन्यथा निरूपण किया है।

वे अद्वैत ब्रह्मादि का निरूपण करके, **जीव-अजीव का**; स्वच्छन्दवृत्ति का पोषण करके **आस्रव-संवरादि का**; और सकषायीवत् व अचेतनवत् मोक्ष कहकर, **मोक्ष का** अयथार्थ श्रद्धान पुष्ट करते हैं; इसलिए अन्यमतों का अन्यथापना प्रगट किया है। इनका अन्यथापना भासित हो तो तत्त्वश्रद्धान में रुचिवन्त हों और उनकी युक्ति से भ्रम उत्पन्न न हो।

इस प्रकार अन्यमतों का निरूपण किया।

अन्यमत के ग्रन्थों के उद्धरणों से, जैनधर्म की समीचीनता और प्राचीनता

अब, अन्यमतों के शास्त्रों की ही साक्षी से, जिनमत की समीचीनता व प्राचीनता प्रगट करते हैं —

'बड़ा योग वासिष्ठ' छत्तीस हजार श्लोक प्रमाण है, उसके प्रथम 'वैराग्य प्रकरण' के अन्तर्गत 'अहंकार निषेध' नामक अध्याय में, वसिष्ठ और राम के संवाद में ऐसा कहा है —

रामोवाच - **नाऽहं रामो, न मे वांछा, भावेषु च न मे मनः।**
शान्तिमास्थातुमिच्छामि, स्वात्मन्येव जिनो यथा॥①

इसमें रामजी ने जिनसमान होने की इच्छा की; इसलिए रामजी से जिनदेव का उत्तमपना और प्राचीनपना प्रगट हुआ।

'दक्षिणामूर्ति सहस्र नाम' में कहा है —

शिवोवाच - **जैनमार्ग-रतो जैनो, जित-क्रोधो जितामयः।**

यहाँ भगवत् का नाम, 'जैनमार्ग में रत' और 'जैन' कहा; अतः इसमें जैनमार्ग की प्रधानता व प्राचीनता प्रगट हुई।

'वैशम्पायन सहस्र नाम' में कहा है —

कालनेमिर्महावीरः शूरः शौरि-र्जिनेश्वरः।

यहाँ भगवान का नाम, 'जिनेश्वर' कहा; इसलिए जिनेश्वर भगवान हैं।

दुर्वासा ऋषिकृत 'महिम्नि स्तोत्र' में ऐसा कहा है —

तत्तद्दर्शन-मुख्य-शक्तिरिति च, त्वं ब्रह्म-कर्मेश्वरी।
कर्ताऽर्हन् पुरुषो हरिश्च सविता, बुद्धः शिवस्त्वं गुरुः॥

यहाँ 'अरहन्त तुम हो'—ऐसे भगवन्त की स्तुति की; इसलिए अरहन्त के भगवन्तपना प्रगट हुआ।

'हनुमन्नाटक' में ऐसा कहा है —

यं शैवाः समुपासते शिव इति, ब्रह्मेति वेदान्तिनः;
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाण-पटवः, कर्तेति नैयायिकाः।

---

① अर्थात् मैं, राम नहीं हूँ, मेरी कुछ इच्छा नहीं है और भावों व पदार्थों में मेरा मन नहीं है। मैं तो जिनदेव के समान, अपने आत्मा में ही, शान्ति-स्थापना करना चाहता हूँ।

अर्हन्नित्यथ जैन-शासन-रताः, कर्मेति मीमांसकाः;
सोऽयं वो विदधातु वांछित-फलं, त्रैलोक्यनाथः प्रभु॥[१]

यहाँ छहों मतों में एक ईश्वर कहा, वहाँ अरहन्त देव में भी ईश्वरपना प्रगट किया।

यहाँ कोई कहे—जैसे—यहाँ सर्व मतों में एक ईश्वर कहा, उसी प्रकार तुम भी मानो।

उससे कहते हैं—यह तुमने कहा है, हमने तो नहीं कहा; इसलिए तुम्हारे मत में अरहन्त के ईश्वरपना सिद्ध हुआ। यदि हमारे मत में भी इसी प्रकार कहें तो हम भी शिवादि को ईश्वर मानें।

जैसे—कोई व्यापारी, सच्चे रत्न दिखाए, कोई झूठे रत्न दिखाए; वहाँ झूठे रत्नोंवाला तो सर्व रत्नों का समान मूल्य लेने के लिए, समान कहता है परन्तु सच्चे रत्नवाला कैसे समान माने? उसी प्रकार जैनी, सच्चे देवादि का निरूपण करता है, अन्यमती झूठे निरूपित करता है; वहाँ अन्यमती अपनी समान महिमा के लिए, सर्व को समान कहता है परन्तु जैनी कैसे माने?

'रुद्रयामलतन्त्र' के 'भवानी सहस्रनाम' में ऐसा कहा है—

कुण्डासना जगद्धात्री, बुद्धमाता जिनेश्वरी।
जिनमाता जिनेन्द्रा च, शारदा हंसवाहिनी॥

यहाँ भवानी के नाम 'जिनेश्वरी' इत्यादि कहे; इसलिए 'जिन' का उत्तमपना प्रगट किया।

'गणेश पुराण' में ऐसा कहा है—'**जैनं पाशुपतं सांख्यं**'।

'व्यासकृत सूत्र' में ऐसा कहा है—

'जैना एकस्मिन्नेव वस्तुनि उभयं प्ररूपयन्ति स्याद्वादिनः।'[२]

..... इत्यादि उनके शास्त्रों में '**जैन निरूपण**' है; इसलिए जैनमत का प्राचीनपना भासित होता है।

'भागवत' के पंचम स्कन्ध में 'ऋषभावतार' का वर्णन[३] है; वहाँ उन्हें 'करुणामय -तृष्णादि रहित, ध्यान मुद्राधारी, सर्वाश्रम द्वारा पूजित' कहा है; उनके अनुसार 'अरहन्त राजा ने

---

① यह हनुमन्नाटक के मङ्गलाचरण का तीसरा पद्य है। इसमें बताया है कि जिसको शैव लोग, शिव कहकर; वेदान्ती, ब्रह्म कहकर; बौद्ध, बुद्धदेव कहकर; नैयायिक, कर्ता कहकर; **जैनी, अर्हन् कहकर** और मीमांसक, कर्म कहकर उपासना करते हैं, वे त्रैलोक्यनाथ प्रभु, तुम्हारे मनोरथों को सफल करें।

② 'प्ररूपयन्ति स्याद्वादिनः' इति खरडा प्रतौ पाठः।

③ भागवत्, स्कन्ध ५, अध्याय ५, २९।

प्रवृत्ति की' - ऐसा कहते हैं; इसलिए जिस प्रकार राम-कृष्णादि अवतारों के अनुसार, 'अन्यमत' हैं; उसी प्रकार ऋषभावतार के अनुसार, 'जैनमत' है। **इस प्रकार तुम्हारे ही मत द्वारा 'जैनमत' प्रमाण हुआ।**

यहाँ इतना विचार और करना चाहिए कि कृष्णादि अवतारों के अनुसार, 'विषय -कषायों की प्रवृत्ति' होती है; ऋषभावतार के अनुसार, 'वीतराग साम्यभाव की प्रवृत्ति' होती है। यहाँ दोनों प्रवृत्तियों को समान मानने से, धर्म-अधर्म का अन्तर नहीं रहता और अन्तर मानने से जो भली (प्रवृत्ति) हो, वह अंगीकार करना।

'दशावतार चरित्र' में '**बद्धवा पद्मासनं यो नयन-युगमिदं न्यस्य नासाग्र-देशे**' इत्यादि बुद्धावतार का स्वरूप, अरहन्तदेव के समान लिखा है; अतः यदि ऐसा स्वरूप पूज्य है तो अरहन्तदेव सहज ही पूज्य हुए।

'काशी खण्ड' में देवदास राजा को सम्बोधकर, राज्य छुड़ाया; वहाँ नारायण तो विनयकीर्ति यति हुआ; लक्ष्मी को विनयश्री आर्यिका बनायी; गरुड़ को श्रावक बनाया – ऐसा कथन है; अतः जहाँ सम्बोधन करना हुआ, वहाँ जैनी भेष बनाया; इसलिए जैन हितकारी व प्राचीन प्रतिभासित होते हैं।

'प्रभास पुराण' में ऐसा कहा है —

भवस्य पश्चिमे भागे, वामनेन तपः कृतम्।
तेनैव तपसाकृष्टः, शिवः प्रत्यक्षतां गतः॥
पद्मासनमासीनः, श्याम-मूर्ति-र्दिगम्बरः।
नेमिनाथः शिवेत्येवं, नाम चक्रेऽस्य वामनः॥
कलि-काले महा-घोरे, सर्व पाप-प्रणाशकः।
दर्शनात्स्पर्शनादेव, कोटि-यज्ञ-फल-प्रदः॥

यहाँ 'वामन' को, 'पद्मासन दिगम्बर नेमिनाथ का दर्शन हुआ' कहा है; उसी का नाम 'शिव' कहा है तथा उसके दर्शनादि से कोटियज्ञ का फल कहा है—ऐसा नेमिनाथ का स्वरूप तो जैनी प्रत्यक्ष मानते हैं; वह प्रमाण ठहरा।

उसी 'प्रभास पुराण' में यह भी कहा है —

रैवताद्रौ जिनो, नेमि-र्युगादि-र्विमलाचले।
ऋषीणामाश्रमादेव, मुक्तिमार्गस्य कारणम्॥

यहाँ नेमिनाथ को 'जिन' संज्ञा कही, उनके स्थान को 'ऋषि का आश्रम और मुक्ति का कारण' कहा और युगादि के स्थान को भी ऐसा ही कहा; इसलिए वे उत्तम पूज्य ठहरे।

'नगर पुराण' के भवावतार रहस्य में ऐसा कहा है —

अकारादि-हकाराऽन्त-,मूर्ध्वाऽधो-रेफ-संयुतम्।
नाद-विन्दु-कलाऽक्रान्तं, चन्द्र-मण्डल-सन्निभम्॥
एतद्देवि परं तत्त्वं, यो विजानाति तत्त्वतः।
संसार-बन्धनं छित्वा, स गच्छेत्परमां गतिम्॥

यहाँ, 'अर्हं'—ऐसे पद को 'परमतत्त्व' कहा है, उसके जानने से, 'परमगति की प्राप्ति' कही है; अतः 'अर्हं' पद जैनमत द्वारा कथित है।

'नगर पुराण' में कहा है —

दशभि-र्भोजितै-र्विप्रैः, यत्फलं जायते कृते।
मुनेरर्हत्सुभक्तस्य, तत्फलं जायते कलौ॥

यहाँ कृतयुग में दस ब्राह्मणों को भोजन कराने का जितना फल कहा है, उतना फल, कलियुग में अरहन्तभक्त, मुनि को भोजन कराने का कहा है; अतः 'जैनमुनि' उत्तम ठहरे।

'मनुस्मृति' में कहा है —

कुलादि-बीजं सर्वेषां, प्रथमो विमलवाहनः।
चक्षुष्मान् यशस्वी, वाभिचन्द्रोऽथ प्रसेनजित्॥
मरुदेवी च नाभिश्च, भरते कुल-सत्तमाः।
अष्टमो मरुदेव्यां तु, नाभे-र्जात उर-क्रमः॥
दर्शयन् वर्त्म वीराणां, सुराऽसुर-नमस्कृतः।
नीति-त्रितय-कर्ता यो, युगादौ प्रथमो जिनः॥

यहाँ विमलवाहन आदि मनु कहे, वहाँ जैनों में कुलकरों के ये नाम कहे हैं और यहाँ प्रथमजिन को युग के आदि में, मार्ग का दर्शक तथा सुरासुर द्वारा पूजित कहा—यह इसी प्रकार है तो जैनमत, युग के आदि ही से है और उसे प्रमाणभूत कैसे न कहें ?

ऋग्वेद में ऐसा कहा है —

ॐ त्रैलोक्य-प्रतिष्ठितान् चतुर्विंशति-तीर्थंकरान् ऋषभाऽऽद्यान् वर्धमानाऽन्तान् सिद्धान् शरणं प्रपद्ये। ॐ पवित्रं नग्नमुपस्पृशामहे - येषां नग्नं, येषां जातं, येषां वीरं, सुवीरं ..... इत्यादि।

यजुर्वेद में ऐसा कहा है —

'ॐ नमो अर्हतो ऋषभाय।'

वहीं ऐसा कहा है —

ॐ **ऋषभ-पवित्रं** पुरुहूतमध्वरं यज्ञेषु नग्नं परमं माह-संस्तुतावारं शत्रुं जयंतं पशुरिंद्र-माहुतिरिति स्वाहा। ॐ त्रातारमिंद्रं **ऋषभं** वदंति। अमृतारमिंद्रं हवे, सुगतं **सुपार्श्वमिंद्रं** हवे शक्र**मजितं तद्वर्धमान**-पुरुहूतमिंद्रमाहुरिति स्वाहा। ॐ नग्नं सुधीरं दिग्वाससं ब्रह्म-गर्भं सनातनमुपैमि, वीरं पुरुषमर्हंतमादित्य-वर्णं तमसः पुरस्तात् स्वाहा।

ॐ स्वस्तिनः इन्द्रो वृद्ध-श्रवाः, स्वस्तिनः पूषा विश्व-वेदाः, स्वस्तिनस्तार्क्ष्यो **अरिष्ट-नेमिः**, स्वस्तिनो वृहस्पतिर्ददातु दीर्घायुर्बलायुर्वा शुभजातायुः। ॐ रक्ष रक्ष **अरिष्ट-नेमिः** स्वाहा। वामदेव-शान्त्यर्थमनुविधीयते, सोऽस्माकं **अरिष्ट-नेमिः** स्वाहाः।[१]

— ऐसे यहाँ, जैन-तीर्थंकरों के जो नाम हैं, उनके पूजनादि कहे हैं तथा यहाँ यह भी भासित हुआ कि इनके बाद, वेद-रचना हुई है।

इस प्रकार अन्यमत के ग्रन्थों की साक्षी से भी, जिनमत की उत्तमता और प्राचीनता दृढ़ हुई तथा जिनमत को देखने से, वे मत कल्पित ही भासित होते हैं; इसलिए **जो अपने हित के इच्छुक हों, वे पक्षपात छोड़कर, सच्चे जैनधर्म को अंगीकार करो।**

अन्यमतों में पूर्वापर विरोध भासित होता है—पहले अवतार में वेद का उद्धार किया, वहाँ यज्ञादि में हिंसादि का पोषण किया और बुद्धावतार में यज्ञ के निन्दक होकर, हिंसादि का निषेध किया। वृषभावतार में वीतराग संयम का मार्ग दिखाया और कृष्णावतार में परस्त्रीरमण आदि विषय-कषायों का मार्ग दिखाया।

अब, यह संसारी किसका कहा करे? किसके अनुसार प्रवर्ते?—वे इन सब अवतारों को एक बतलाते हैं परन्तु एक ही कदाचित् कैसे और कदाचित् कैसे कहते हैं व प्रवर्तते हैं तो इसको उनके कहने की व प्रवर्तने की प्रतीति कैसे आए?

वहाँ कहीं क्रोधादि कषायों व विषयों का निषेध करते हैं और कहीं लड़ने व विषयादि सेवन का उपदेश देते हैं; वहाँ प्रारब्ध बतलाते हैं लेकिन बिना क्रोधादि हुए, अपने आप लड़ना आदि कार्य हों तो यह भी मानें, परन्तु वे तो होते नहीं हैं। तथा लड़ना आदि कार्य करनेपर भी क्रोधादि हुए न मानें तो अलग क्रोधादि कौन हैं, जिनका निषेध किया; इसलिए ऐसा नहीं बनता, उसमें पूर्वापर विरोध है।

गीता में 'वीतरागता दिखाकर, लड़ने का उपदेश' दिया, वहाँ यह प्रत्यक्ष विरोध भासित होता है। तथा 'ऋषीश्वर आदि ने श्राप दिया' बतलाते हैं—ऐसा क्रोध करनेपर निन्द्यपना कैसे नहीं हुआ? इत्यादि जानना।

---

[१] यजुर्वेद, अ. २५, म. १९ एवं ऋग्वेद, अष्ट १, अ. ६, वर्ग १६

तथा '**अपुत्रस्य गतिर्नास्ति**'—ऐसा भी कहते हैं, जबकि 'भारत' में ऐसा भी कहा है—

अनेकानि सहस्त्राणि, कुमार-ब्रह्मचारिणाम्।
दिवं गतानि राजेन्द्र, अकृत्वा कुल-सन्ततिम्॥

यहाँ कुमार ब्रह्मचारियों को 'स्वर्ग गए' बतलाया—यह परस्पर विरोध है।

वहाँ '[ऋषीश्वर] भारत' में ऐसा कहा है —

मद्य-मांसाऽशनं रात्रौ, भोजनं कन्द-भक्षणम्।
ये कुर्वन्ति वृथास्तेषां, तीर्थयात्रा-जपस्तपः॥
वृथा एकादशी प्रोक्ता, वृथा जागरणं हरेः।
वृथा च पौष्करी यात्रा, कृत्स्नं चान्द्रायणं वृथा॥
चातुर्मास्ये तु सम्प्राप्ते, रात्रि-भोज्यं करोति यः।
तस्य शुद्धिर्न विद्येत्, चान्द्रायण-शतैरपि॥

यहाँ इनमें मद्य-माँसादि का, रात्रि भोजन का एवं चौमासे में विशेषरूप से रात्रि भोजन का व कन्दफल भक्षण का निषेध किया है।

जबकि [उनके यहाँ ही] 'बड़े पुरुषों को मद्य-माँसादि का सेवन करना' कहते हैं, 'व्रतादि में रात्रि भोजन व कन्दादि भक्षण' स्थापित करते हैं—ऐसे विरुद्ध निरूपण करते हैं।

इसी प्रकार अनेक पूर्वापर विरुद्ध वचन, अन्यमत के शास्त्रों में हैं; अतः क्या किया जाए? कहीं तो पूर्व परम्परा जानकर, विश्वास कराने के लिए, उन्हें यथार्थ कहा और कहीं विषय-कषाय का पोषण करने के लिए, अन्यथा कहा; इसलिए जहाँ पूर्वापर विरोध हो, उनके वचन, प्रमाण कैसे करें?

अन्यमतों में जो क्षमा, शील, सन्तोषादि का पोषण करनेवाले वचन हैं, वे तो जैनमत में भी पाये जाते हैं और विपरीत वचन हैं, वे उनके कल्पित हैं। वहाँ जिनमत के अनुसारी वचनों का विश्वास करने से, उनके विपरीत वचनों का भी श्रद्धानादि हो जाता है।

इसलिए अन्यमत का कोई अंग भला देखकर भी, वहाँ श्रद्धानादि नहीं करना। जैसे —विषमिश्रित भोजन, हितकारी नहीं है; वैसे जानना।

यदि कोई उत्तमधर्म का अंग जिनमत में न पाया जाए और अन्यमत में पाया जाए अथवा किसी निषिद्ध अधर्म[१] का अंग जिनमत में पाया जाए और अन्यत्र न पाया जाए तो अन्यमत का आदर करो, परन्तु ऐसा सर्वथा होता ही नहीं है क्योंकि सर्वज्ञ के ज्ञान में कुछ छिपा नहीं है; **इसलिए अन्यमतों के श्रद्धानादि छोड़कर, जिनमत के दृढ़ श्रद्धानादि करना।**

---

[१] उपलब्ध हुई मूल हस्तलिखित प्रति (पृष्ठ १७३) में यहाँ '**निषिद्ध अधर्म**' - ऐसा लिखा है।

श्वेताम्बरमत विचार

वहाँ, कालदोष से कषायी जीवों द्वारा, जिनमत में भी कल्पित रचना की है; उसे बतलाते हैं—श्वेताम्बरमतवाले किसी ने सूत्र बनाए, उन्हें 'गणधर के बनाए' कहते हैं।

वहाँ उनसे पूछते हैं—गणधर ने बनाए आचारांग आदि, जो तुम्हारे यहाँ वर्तमान में पाये जाते हैं, वे उन्होंने इतने प्रमाणसहित ही बनाए थे या बहुत प्रमाणसहित बनाए थे ? यदि इतने प्रमाणसहित ही बनाए थे तो तुम्हारे शास्त्रों में ही आचारांग आदि के पदों का प्रमाण, अठारह हजार आदि कहा है, सो उनकी विधि मिला दो।

पद का प्रमाण क्या ?—यदि विभक्तियुक्त अन्त को पद कहोगे तो कहे हुए कथित प्रमाण से, बहुत पद हो जाएँगे और यदि 'प्रमाण पद' कहोगे तो उस एक पद के साधिक (किंचित् अधिक) इक्यावन करोड़ श्लोक हैं परन्तु ये तो बहुत छोटे शास्त्र हैं; इसलिए सम्भव नहीं है तथा [जिनागम में] आचारांगादि से दशवैकालिकादि का प्रमाण, कम कहा है परन्तु तुम्हारे यहाँ उनका प्रमाण, अधिक कहा है, वह कैसे सम्भव है ?

फिर कहोगे—आचारांगादि बड़े थे; काल दोष जानकर, उन्हीं में से कितने ही सूत्र निकालकर, ये शास्त्र बनाए हैं। **वहाँ** प्रथम तो टूटक ग्रन्थ, प्रमाण नहीं हैं तथा ऐसा नियम है कि बड़ा ग्रन्थ बनाएँ तो उसमें सर्व वर्णन विस्तारसहित करते हैं और छोटा ग्रन्थ बनाएँ तो वहाँ संक्षिप्त वर्णन करते हैं परन्तु सम्बन्ध टूटता नहीं है और किसी बड़े ग्रन्थ में से, थोड़ा सा कथन निकाल लें तो वहाँ सम्बन्ध नहीं मिलेगा; कथन का अनुक्रम टूट जाएगा परन्तु तुम्हारे सूत्रों में तो कथादि का भी सम्बन्ध मिलता भासित होता है, टूटकपना भासित नहीं होता।

तथा अन्य कवियों से, गणधर की बुद्धि तो अधिक होगी; उनके बनाए ग्रन्थों में थोड़े शब्दों में बहुत अर्थ होना चाहिए, परन्तु यहाँ तो अन्य कवियों जैसी भी गम्भीरता नहीं है।

जो ग्रन्थ बनाता है, वह अपना नाम ऐसा नहीं लिखता कि 'वह कहता है', बल्कि 'मैं कहता हूँ'—ऐसा लिखता है परन्तु तुम्हारे सूत्रों में 'हे गौतम!' एवं 'गौतम कहते हैं'—ऐसे वचन हैं परन्तु ऐसे वचन तो तभी सम्भव हैं, जब अन्य कोई कर्ता हो; इसलिए वे सूत्र गणधरकृत नहीं हैं; अन्य के बनाये हैं। आप गणधर के नाम से कल्पित रचना को, प्रमाण कराना चाहते हैं परन्तु विवेकी तो परीक्षा करके मानते हैं; कहा ही तो नहीं मानते।

वे ऐसा भी कहते हैं—गणधर के सूत्रों के अनुसार कोई दशपूर्वधारी हुए हैं, उन्होंने ये सूत्र बनाए हैं।

वहाँ पूछते हैं—यदि नये ग्रन्थ बनाए हैं तो नया नाम रखना था, अंगादि के नाम किसलिए रखे ? जैसे—कोई बड़े साहूकार की कोठी के नाम से, अपना साहूकारा

प्रगट करे – ऐसा यह कार्य हुआ। सच्चे व्यक्ति को तो, जिस प्रकार दिगम्बरों में ग्रन्थों के और नाम रखे तथा उन्हें पूर्व ग्रन्थों का अनुसारी कहा है; उसी प्रकार [आपको भी] कहना योग्य था। अंगादि के नाम रखकर, गणधरकृत का भ्रम किसलिए उत्पन्न किया? इसलिए ये गणधर के व पूर्वधारी के वचन नहीं हैं। वहाँ इन सूत्रों में विश्वास कराने के लिए, जो जिनमत के अनुसार कथन है, वह तो सत्य है ही; दिगम्बर भी उसी प्रकार कहते हैं। वहाँ जो कल्पित रचना की है, उसमें पूर्वापर विरुद्धपना व प्रत्यक्षादि प्रमाण से विरुद्धपना भासित होता है, वही बतलाते हैं—

अन्यलिंग से मुक्ति का निषेध

वहाँ, 'अन्यलिंगी को, गृहस्थ को, स्त्री को एवं चाण्डालादि शूद्रों को साक्षात् मुक्ति की प्राप्ति' होना मानते हैं, वह बनता नहीं है। **सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता, 'मोक्षमार्ग' है** परन्तु वे (श्वेताम्बर भी) सम्यग्दर्शन का स्वरूप तो ऐसा कहते हैं —

अरहंतो महदेवो, जावजीवं सुसाहुणो गुरुणो।
जिणपण्णत्तं तत्तं, ए सम्मत्तं मए गहियं॥①

अत: 'अन्य लिंगी को अरहन्तदेव-साधु-गुरु व जिनप्रणीत तत्त्व का मानना' कैसे सम्भव है? जब [अन्यलिंगी को] सम्यक्त्व भी नहीं होता तो मोक्ष कैसे हो सकता है?

यदि कहोगे–अन्तरंग में श्रद्धान होने से, उनके सम्यक्त्व होता है; इसलिए विपरीत लिंगधारक की प्रशंसादि करनेपर भी, सम्यक्त्व का अतिचार कहा है परन्तु **सच्चा श्रद्धान होने के पश्चात्, आप विपरीत लिंग का धारक कैसे रहेगा?** श्रद्धान होने के पश्चात्, महाव्रतादि अंगीकार करनेपर, सम्यक्चारित्र होता है, वह अन्यलिंग में किस प्रकार बनेगा? यदि अन्यलिंग में भी सम्यक्चारित्र होता है तो 'जैनलिंग (व) अन्यलिंग' समान हुआ।

इसलिए 'अन्यलिंगी को मोक्ष कहना', मिथ्या है।

गृहस्थमुक्ति निषेध

वहाँ, **'गृहस्थ को मोक्ष'** कहते हैं परन्तु जब हिंसादि सर्व सावद्ययोग का त्याग करनेपर, सामायिकचारित्र (सम्यक्चारित्र का एक भेद) होता है, तब सर्व सावद्ययोग का त्याग करनेपर, गृहस्थपना कैसे सम्भव है? **यदि कहोगे**–अन्तरंग त्याग हुआ है।

तो (कहते हैं)–यहाँ तो तीनों योगों से त्याग करते हैं; अत: काय से त्याग कैसे हुआ?

यदि बाह्यपरिग्रहादि रखनेपर भी, महाव्रत होते हैं तो महाव्रतों में तो बाह्यत्याग करने की ही प्रतिज्ञा करते हैं; (बाह्य) त्याग किए बिना, महाव्रत नहीं होते और महाव्रत बिना, छठा आदि गुणस्थान नहीं होता तो फिर मोक्ष कैसे होगा?

---

① **अर्थ** - अरहन्त भगवान मेरे देव हैं, जीवनपर्यन्त श्रेष्ठ साधु मेरे गुरु हैं, जिनेन्द्रदेव के द्वारा प्रणीत ही तत्त्व है, धर्म है - ऐसा सम्यक्त्व मैंने ग्रहण किया है। (- देखो, पंच प्रतिक्रमण सूत्र (गाथा १४), अरिहन्तो सम्यक्त्व सूत्र, सम्यक्त्व अतिचार सूत्र आदि)

इसलिए 'गृहस्थ को मोक्ष कहना', मिथ्या वचन है।

स्त्रीमुक्ति का निषेध

वहाँ, **'स्त्री को मोक्ष' कहते हैं परन्तु जिससे 'सप्तम नरक गमनयोग्य' पाप न हो सके, उससे मोक्ष का कारण 'शुद्धभाव' कैसे होगा ?** क्योंकि जिसके भाव दृढ़ हों, वही उत्कृष्ट पाप व [उत्कृष्ट] धर्म उत्पन्न कर सकता है तथा स्त्री के नि:शंक होकर एकान्त में ध्यान धरना और सर्व परिग्रहादि का त्याग करना, सम्भव नहीं है।

यदि कहोगे–'एक समय में पुरुषवेदी, स्त्रीवेदी व नपुंसकवेदी की सिद्धि होना' सिद्धान्त में कहा है; इसलिए 'स्त्री को मोक्ष' मानते हैं परन्तु यहाँ वह भाववेदी है या द्रव्यवेदी है ? यदि भाववेदी है तो हम मानते ही हैं तथा द्रव्यवेदी है तो पुरुष-स्त्रीवेदी तो लोक में प्रचुर दिखायी देते हैं और नपुंसक तो कोई विरले दिखते हैं तो एक समय में मोक्ष जानेवाले इतने नपुंसक कैसे सम्भव हैं ? इसलिए द्रव्यवेद की अपेक्षा कथन नहीं बनता।

यदि कहोगे–नववें गुणस्थान तक वेद कहा है, वह भी भाववेद की अपेक्षा ही कथन है; द्रव्यवेद की अपेक्षा हो तो चौदहवें गुणस्थानपर्यन्त वेद का सद्भाव कहना सम्भव है।

इसलिए स्त्री को मोक्ष कहना, मिथ्या है।

शूद्रमुक्ति का निषेध

वहाँ, 'शूद्रों को मोक्ष' कहते हैं परन्तु चाण्डालादि को गृहस्थ सन्मानादिपूर्वक दानादि कैसे देंगे ? लोक विरुद्ध होता है तथा नीच कुलवालों के उत्तम परिणाम नहीं हो सकते; इसलिए नीच गोत्रकर्म का उदय तो पंचम गुणस्थानपर्यन्त ही है; ऊपर के गुणस्थान चढ़े बिना, मोक्ष कैसे होगा ?

यदि कहोगे–संयम धारण करने के पश्चात्, उसको उच्च गोत्र ही का उदय कहते हैं।

तो [कहते हैं]–संयम धारण करने या न करने की अपेक्षा से, उच्च-नीच गोत्र का उदय ठहरा–ऐसा होनेपर, असंयमी मनुष्य-तीर्थंकर-क्षत्रियादि को भी नीच गोत्र का उदय ठहरेगा। यदि उनके कुल अपेक्षा, उच्च गोत्र का उदय कहोगे, तो चाण्डालादि को भी कुल अपेक्षा ही नीच गोत्र का उदय कहो परन्तु उसका सद्भाव तुम्हारे सूत्रों में भी पंचम गुणस्थानपर्यन्त ही कहा है; अत: कल्पित कहनेपर, पूर्वापर विरोध होगा ही होगा।

इसलिए शूद्रों को मोक्ष कहना, मिथ्या है।

इस प्रकार उन्होंने सर्व को मोक्ष की प्राप्ति कही; वहाँ उसका प्रयोजन यह है कि 'सबको भला मनाना (फुसलाना), मोक्ष का लालच देना और अपने कल्पित मत की प्रवृत्ति करना;' परन्तु विचार करनेपर [यह सब] मिथ्या भासित होता है।

अछेरों का निराकरण

वहाँ, उनके शास्त्रों में '**अछेरा**' कहते हैं। **वहाँ कहते हैं**—हुण्डावसर्पिणी के निमित्त से हुए हैं, इनको छेड़ना नहीं। यद्यपि कालदोष से कितनी ही बातें होती हैं परन्तु प्रमाण विरुद्ध तो नहीं होतीं। यदि प्रमाण विरुद्ध भी हों तो आकाश के फूल, गधे के सींग इत्यादि का होना भी बनेगा, वह सम्भव नहीं है; अत: वे जो अछेरा कहते हैं, वे प्रमाण विरुद्ध हैं।

किसलिए? वह कहते हैं—वर्धमान जिन, कुछ काल, ब्राह्मणी के गर्भ में रहे, फिर क्षत्रियाणी के गर्भ में बढ़े—ऐसा कहते हैं परन्तु किसी का गर्भ, किसी के पास रख देना, प्रत्यक्ष भासित नहीं होता, अनुमानादि में नहीं आता तथा तीर्थंकर के हुआ कहते हैं तो गर्भ -कल्याणक किसी के घर हुआ, जन्म-कल्याणक किसी के घर हुआ। कुछ दिन रत्नवृष्टि आदि किसी के घर हुई, कुछ दिन किसी के घर हुई। सोलह स्वप्न किसी को आए, पुत्र किसी को हुआ, इत्यादि असम्भव भासित होता है। वहाँ माताएँ तो दो हुईं और पिता तो एक ब्राह्मण ही रहा, परन्तु जन्म-कल्याणकादि में उसका सम्मान नहीं किया; अन्य कल्पित पिता का सम्मान किया।

इस प्रकार 'तीर्थंकर के दो पिता कहना,' महा-विपरीत भासित होता है। सर्वोत्कृष्ट पदधारक के लिए, 'ऐसे वचन सुनना' भी योग्य नहीं है। जब तीर्थंकर के भी ऐसी अवस्था हुई तो सर्वत्र ही अन्य स्त्री का गर्भ, अन्य स्त्री के पास रख देना ठहरेगा तो जैसे—वैष्णव अनेक प्रकार से पुत्र-पुत्री का उत्पन्न होना बतलाते हैं, वैसा ही यह कार्य हुआ। **देखो, ऐसे निकृष्ट काल में भी जब ऐसा नहीं होता, तब वहाँ होना कैसे सम्भव है? इसलिए यह मिथ्या है।**

वहाँ '**मल्लि तीर्थंकर को कन्या**' कहते हैं परन्तु मुनि, देव आदि की सभा में, स्त्री का स्थिति करना, उपदेश देना, सम्भव नहीं है व स्त्रीपर्याय हीन है, वह उत्कृष्ट तीर्थंकर पदधारी को नहीं बनती। तथा तीर्थंकर के नग्नलिंग ही कहते हैं परन्तु स्त्री के नग्नपना सम्भव नहीं है, इत्यादि विचार करने से, असम्भव भासित होता है।

तथा '**हरिक्षेत्र के भोगभूमिया को नरक में गया**' कहते हैं परन्तु बन्ध वर्णन में तो भोगभूमिया को देवगति व देवायु ही का बन्ध कहते हैं; नरक कैसे गया?

सिद्धान्त में तो अनन्त काल में (कदाचित्) जो बात हो, वह भी कहते हैं। जैसे—तीसरे नरकपर्यन्त तीर्थंकर प्रकृति का सत्त्व कहा परन्तु भोगभूमिया के नरक आयु-गति का बन्ध, नहीं कहा; वहाँ केवली भूलते तो नहीं हैं; **इसलिए यह मिथ्या है।**

इस प्रकार सर्व अछेरे असम्भव जानना।

फिर वे कहते हैं—इनको छेड़ना नहीं, **सो** झूठ कहनेवाला इसी प्रकार कहता है।

वहाँ यदि कहोगे—दिगम्बर में जिस प्रकार तीर्थंकर के पुत्री, चक्रवर्ती का मानभंग, इत्यादि कार्य कालदोष से हुआ कहते हैं; उसी प्रकार ये भी हुए, परन्तु ये कार्य तो प्रमाण विरुद्ध नहीं हैं; अन्य के होते थे, वे महन्तों के भी हुए; इसलिए कालदोष कहा है। गर्भ -हरणादि कार्य, प्रत्यक्ष व अनुमानादि से विरुद्ध हैं; उनका होना कैसे सम्भव है ?

वहाँ अन्य भी अनेक कथन, प्रमाण-विरुद्ध कहते हैं—जैसे—कहते हैं कि सर्वार्थसिद्धि के देव, मन ही से प्रश्न करते हैं; केवली, मन ही से उत्तर देते हैं परन्तु जब सामान्य जीव के मन की बात, मन:पर्ययज्ञानी के बिना जान नहीं सकते तो केवली के मन की, सर्वार्थसिद्धि के देव, किस प्रकार जानेंगे ? तथा केवली के भावमन का तो अभाव है, उनका द्रव्यमन, जड़ आकारमात्र है, उत्तर किसने दिया ? **इसलिए यह मिथ्या है।**

इस प्रकार अनेक प्रमाण विरुद्ध कथन किये हैं; इसलिए उनके आगम, कल्पित ही जानना।

श्वेताम्बरमत कथित 'देव-गुरु-धर्म' का अन्यथा स्वरूप

वहाँ, वे श्वेताम्बर मतवाले 'देव-गुरु-धर्म का स्वरूप', अन्यथा निरूपित करते हैं—

देव का अन्यथा स्वरूप

वहाँ, 'केवली के क्षुधादि दोष' कहते हैं परन्तु यह 'देव का स्वरूप अन्यथा' है क्योंकि क्षुधादि होनेपर, आकुलता होती है, तब अनन्त सुख किस प्रकार हो सकता है ?

फिर यदि कहोगे—शरीर को क्षुधा लगती है; आत्मा, तद्रूप नहीं होता ?

तो [कहते हैं]—'क्षुधादि के उपाय हेतु, आहारादि ग्रहण किया' किसलिए कहते हो ? क्षुधादि से पीड़ित होते हैं, तब ही आहार ग्रहण करते हैं।

फिर कहोगे—जैसे—कर्मोदय से विहार होता है; उसी प्रकार आहार ग्रहण होता है।

वहाँ [कहते हैं]—विहार तो विहायोगतिप्रकृति के उदय से होता है परन्तु वह पीड़ा का उपाय नहीं है और वह बिना इच्छा भी किसी जीव के होता देखा जाता है परन्तु आहार तो प्रकृति के उदय [मात्र] से नहीं, क्षुधा से पीड़ित होनेपर ही ग्रहण करता है तथा आत्मा, पवनादि को प्रेरित करता है, तभी उसका निगलना होता है; इसलिए विहारवत् आहार नहीं है।

यदि कहोगे—सातावेदनीय के उदय से आहार ग्रहण होता है, वह भी बनता नहीं है। जो जीव, क्षुधादि से पीड़ित होता है, पश्चात् आहारादि ग्रहण से सुख माने तो उसके आहारादि, साता के उदय से कहे जाते हैं। आहारादि का ग्रहण, सातावेदनीय के उदय से स्वयमेव हो —ऐसा तो है नहीं; यदि ऐसा हो तो सातावेदनीय का मुख्य उदय देवों के होता है, वे निरन्तर आहार क्यों नहीं करते ? तथा महामुनि उपवासादि करते हैं, उनको साता का भी उदय और निरन्तर भोजन करनेवाले को असाता का भी उदय, सम्भव है।

इसलिए जिस प्रकार बिना इच्छा विहायोगति के उदय से, विहार सम्भव है; उसी प्रकार बिना इच्छा, केवल सातावेदनीय के उदय ही से, आहार का ग्रहण सम्भव नहीं है।

फिर वे कहते हैं—सिद्धान्त में केवली के क्षुधादि ग्यारह परीषह कहे हैं; इसलिए उनको क्षुधा का सद्भाव सम्भव है तथा आहारादि बिना, उनकी उपशान्तता कैसे हो? इसलिए उनको आहारादि मानते हैं।

उसका समाधान—कर्मप्रकृतियों का उदय, मन्द-तीव्र भेदसहित होता है। वहाँ अति मन्द उदय होनेपर, उस उदयजनित कार्य की व्यक्तता भासित नहीं होती; इसलिए मुख्यरूप से अभाव कहा जाता है, तारतम्य की अपेक्षा, सद्भाव कहा जाता है। जैसे—नववें गुणस्थान में वेदादि का उदय मन्द है, वहाँ मैथुनादि क्रिया व्यक्त नहीं है; इसलिए वहाँ ब्रह्मचर्य ही कहा है, तारतम्य की अपेक्षा, मैथुनादि का सद्भाव कहा जाता है; उसी प्रकार केवली को असाता का उदय, अति मन्द है क्योंकि एक-एक काण्डक में अनन्तवें भाग अनुभाग रहते हैं—ऐसे बहुत अनुभाग-काण्डकों से व गुण-संक्रमणादि से सत्ता में, असातावेदनीय का अनुभाग अत्यन्त मन्द हुआ है, उसके उदय में ऐसी क्षुधा व्यक्त नहीं होती, जो शरीर को क्षीण करे और मोह के अभाव से, क्षुधादिजनित दुःख भी नहीं है; इसलिए क्षुधादि का अभाव कहते हैं और तारतम्य में उनका सद्भाव कहते हैं।

तथा तूने कहा—आहारादि बिना उनकी उपशान्तता कैसे हो?

परन्तु आहारादि से उपशान्त होनेयोग्य क्षुधा लगे तो मन्द उदय कैसे रहा? देव, भोग-भूमिया आदि को किंचित् मन्द उदय होनेपर भी, बहुत काल पश्चात् किंचित् आहार ग्रहण होता है तो इनको तो अति मन्द उदय हुआ है; इसलिए इनको आहार का अभाव सम्भव है।

फिर वह कहता है—देव, भोगभूमियों आदि का तो शरीर ही वैसा है कि उन्हें भूख थोड़ी व बहुत काल पश्चात् लगती है परन्तु इनका तो शरीर, कर्मभूमि का औदारिक है; इसलिए इनका शरीर, आहार बिना कुछ कम कोटिपूर्वपर्यन्त उत्कृष्टरूप से कैसे रहता है?

उसका समाधान—देवादि का भी शरीर वैसा है, वह कर्म ही के निमित्त से है। यहाँ केवलज्ञान होनेपर ऐसा ही कर्म का उदय हुआ, जिससे शरीर ऐसा हुआ कि उसको भूख प्रगट होती ही नहीं। जिस प्रकार केवलज्ञान होने से पहले, केश-नख बढ़ते थे, अब नहीं बढ़ते; छाया होती थी, अब नहीं होती; शरीर में निगोद था, अब उसका अभाव हुआ।

इस तरह बहुत प्रकार से जैसे—शरीर की अवस्था परिवर्तित हुई; उसी प्रकार आहार बिना ही शरीर जैसे का तैसा रहे - ऐसी भी अवस्था हुई। प्रत्यक्ष देखो! दूसरों को जब जरा व्याप्त हो, तब शरीर शिथिल हो जाता है परन्तु इनका शरीर, आयु के अन्तपर्यन्त शिथिल नहीं होता; इसलिए अन्य मनुष्यों की और इनके शरीर की समानता सम्भव नहीं है।

फिर यदि तू कहेगा—देवादि के आहार ही ऐसा है, जिससे बहुत काल की भूख मिट जाए, परन्तु इनकी भूख कैसे मिटी और शरीर पुष्ट कैसे रहा ?

तो सुन! असाता का उदय, मन्द होने से मिटी और प्रति समय परम-औदारिक शरीरवर्गणा का ग्रहण होता है, **वहाँ वह नोकर्म आहार है; इसलिए ऐसी वर्गणा का ग्रहण होता है, जिससे क्षुधादि व्याप्त न हों और शरीर शिथिल न हो—इसी अपेक्षा से, सिद्धान्त में केवली को आहारक कहा है।**

वहाँ अन्नादि का आहार तो शरीर की पुष्टता का मुख्य कारण नहीं है। प्रत्यक्ष देखो! कोई थोड़ा आहार ग्रहण करता है, शरीर बहुत पुष्ट होता है; कोई बहुत आहार ग्रहण करता है, शरीर क्षीण रहता है। तथा पवनादि साधनवाले बहुत काल तक, आहार नहीं लेते, शरीर पुष्ट बना रहता है व ऋद्धिधारी मुनि, उपवासादि करते हैं, फिर भी शरीर पुष्ट बना रहता है; अतः केवली के तो सर्वोत्कृष्टपना है, उनके अन्नादि बिना, शरीर पुष्ट बना रहता है तो क्या आश्चर्य है ?

तथा केवली आहार को कैसे जाएँ ? कैसे याचना करें ? तथा वे आहार को जाएँ, तब समवसरण खाली कैसे रहे ? अथवा अन्य के द्वारा ला देना ठहराओगे तो कौन ला देगा ? उनके मन की कौन जानेगा ? पूर्व में उपवासादि की प्रतिज्ञा की थी, उसका कैसे निर्वाह होगा ? जीवों के अन्तराय सर्व प्रतिभासित हों, वहाँ कैसे आहार ग्रहण करेंगे ? इत्यादि विरुद्धता भासित होती है।

पुनः वे कहते हैं—आहार-ग्रहण करते हैं परन्तु किसी को दिखायी नहीं देता। **वहाँ** आहार ग्रहण को निन्द्य जाना, तब उसका न दिखना अतिशय में लिखा है परन्तु उनके निन्द्यपना तो रहा; दूसरों को दिखा नहीं तो क्या हुआ ?—ऐसे अनेक प्रकार विरुद्धता उत्पन्न होती है।

अब, अन्य अविवेकता की बातें सुनो—केवली के निहार कहते हैं, रोगादि हुए कहते हैं और कहते हैं कि किसी ने तेजोलेश्या छोड़ी, उससे वर्धमानस्वामी को पेटूगा (पेचिस) का रोग हुआ, उससे बहुत बार निहार होने लगा। यदि तीर्थंकर केवली को भी ऐसे कर्म का उदय रहा और अतिशय नहीं हुआ, तो इन्द्रादि द्वारा पूज्यपना कैसे शोभा देगा ? तथा निहार कैसे करते हैं ? कहाँ करते हैं ?—ये कोई होनेयोग्य बातें नहीं हैं।

वहाँ जैसे-रागादियुक्त छद्मस्थ को क्रिया होती है, वैसे केवली को क्रिया ठहराते हैं—श्री वर्धमानस्वामी के उपदेश में 'हे गौतम!'—ऐसा बारम्बार कहना ठहराते हैं परन्तु उनकी तो अपने काल में सहज दिव्यध्वनि होती है, वहाँ सर्व को उपदेश होता है; गौतम को सम्बोधन किस प्रकार बनता है ? तथा केवली को, नमस्कारादि क्रिया ठहराते हैं परन्तु अनुराग बिना, वन्दना सम्भव नहीं है। तथा गुणाधिक को वन्दना सम्भव है परन्तु उनसे कोई गुणाधिक रहा नहीं है; अतः वह क्रिया कैसे बने ?

वहाँ 'हाट में समवसरण उतरा' कहते हैं परन्तु इन्द्रकृत समवसरण, हाट में किस प्रकार रहेगा? इतनी रचना का समावेश वहाँ कैसे होगा तथा हाट में किसलिए रहे? क्या इन्द्र, हाट जैसी रचना करने में भी समर्थ नहीं है, जिससे हाट का आश्रय लेना पड़े?

और कहते हैं—केवली, उपदेश देने को गए; **परन्तु** घर जाकर, उपदेश देना, अति राग से होता है और वह मुनि के भी सम्भव नहीं है तो केवली को कैसे होगा? **इसी प्रकार वहाँ अनेक विपरीतता प्ररूपित करते हैं।**

केवली, शुद्ध केवलज्ञान-दर्शनमय, रागादिरहित हुए हैं, उनके अघातियों के उदय से होनेवाली कोई क्रिया होती है परन्तु उनके मोहादि का अभाव हुआ है; इसलिए उपयोग जुड़ने से जो क्रिया हो सकती है, वह सम्भव नहीं है। पापप्रकृति का अनुभाग, अत्यन्त मन्द हुआ है—ऐसा मन्द अनुभाग, अन्य किसी के नहीं है; इसलिए अन्य जीवों के, पाप उदय से जो क्रिया होती देखी जाती है, वह केवली के नहीं होती।

इस प्रकार केवली भगवान के सामान्य मनुष्य जैसी क्रिया का सद्भाव कहकर, 'देव के स्वरूप' को अन्यथा प्ररूपित करते हैं।

गुरु का अन्यथा स्वरूप

वहाँ, 'गुरु के स्वरूप' को अन्यथा प्ररूपित करते हैं—मुनि के वस्त्रादि चौदह उपकरण① कहते हैं।

उनसे हम पूछते हैं—मुनि को निर्ग्रन्थ कहते हैं और मुनिपद लेते समय नव प्रकार (कोटि) से सर्व परिग्रह का त्याग करके, महाव्रत अंगीकार करते हैं तो ये वस्त्रादि परिग्रह हैं या नहीं? यदि हैं तो त्याग करने के पश्चात् किसलिए रखते हैं और यदि नहीं हैं तो वस्त्र आदि गृहस्थ रखते हैं, उन्हें भी परिग्रह मत कहो? सुवर्णादि ही को परिग्रह कहो।

वहाँ यदि कहोगे—जैसे—क्षुधा के लिए आहार ग्रहण करते हैं; वैसे शीत-उष्ण आदि के लिए, वस्त्रादि ग्रहण करते हैं।

तो [कहते हैं]—मुनिपद अंगीकार करते हुए, आहार का त्याग नहीं किया है; परिग्रह का त्याग किया है। अन्नादि का संग्रह करना तो परिग्रह है परन्तु भोजन करने जाएँ, वह परिग्रह नहीं है तथा वस्त्रादि का संग्रह करना व पहिनना, वह सर्व ही परिग्रह है—ऐसा लोक में प्रसिद्ध है।

फिर कहोगे—शरीर की स्थिति के लिए वस्त्रादि रखते हैं, ममत्व नहीं है; इसलिए इनको परिग्रह नहीं कहते। **देखो,** श्रद्धान में तो जब सम्यग्दृष्टि हुआ, तभी समस्त परद्रव्यों में ममत्व का अभाव हुआ; उस अपेक्षा से, चौथे गुणस्थान में ही परिग्रहरहित कहो, परन्तु यदि प्रवृत्ति

---

① १. पात्र, २. पात्रबन्ध, ३. पात्र केसरीकर, ४-५. पटलिकाएँ, ६. रजस्त्राण, ७. गोच्छक, ८. रजोहरण, ९. मुखवस्त्रिका, १०-११. दो सूती कपड़े, १२. एक ऊनी कपड़ा, १३. मात्रक, १४. चोलपट्ट। (- देखो, बृहत्क. शु.उ. ३ भा, गा. ३९६२-३९६५)

में ममत्व नहीं है तो उसे कैसे ग्रहण करते हो ? अत: जब वस्त्रादि का ग्रहण-धारण छूटेगा, तभी नि:परिग्रह होगा।

फिर कहोगे—वस्त्रादि को कोई ले जाए तो क्रोध नहीं करते, क्षुधादि लगनेपर उन्हें बेचते नहीं हैं, वस्त्रादि पहिनकर प्रमाद नहीं करते तथा परिणामों की स्थिरता करके, धर्म ही साधते हैं; इसलिए ममत्व नहीं है। **सो [कहते हैं]**—बाह्य क्रोध भले न करो, परन्तु जब जिसके ग्रहण में इष्टबुद्धि होती है, तब उसके वियोग में अनिष्टबुद्धि होती ही होती है। यदि [उसके वियोग में] अनिष्टबुद्धि① नहीं हुई तो फिर उसके लिए याचना क्यों करते हैं ?

वहाँ बेचते नहीं हैं; सो धातु (धनादि) रखने से अपनी हीनता जानकर नहीं बेचते, परन्तु जैसे—धनादि का रखना है; वैसे वस्त्रादि का रखना है। लोक में परिग्रह के चाहक जीवों को दोनों की इच्छा है; इसलिए चोरादि के भयादि के कारण, दोनों समान हैं।

यदि परिणामों की स्थिरता करके, धर्मसाधन ही से परिग्रहपना नहीं होता तो किसी को बहुत ठण्ड लगेगी, वह रजाई (कंबल) रखकर, परिणामों की स्थिरता करेगा और धर्म साधेगा तो उसे भी नि:परिग्रह कहो ?—**ऐसे गृहस्थधर्म-मुनिधर्म में विशेष क्या रहेगा ?**

जिसके परीषह सहने की शक्ति न हो, वह परिग्रह रखकर, धर्म साधन करता है, उसका नाम '**गृहस्थधर्म**' और जिसके परिणाम निर्मल होने से, परीषह से व्याकुल नहीं होते, वह परिग्रह नहीं रखता और धर्मसाधन करता है, उसका नाम '**मुनिधर्म**'—इतना ही विशेष है।

फिर कहोगे—शीतादि के परीषह से व्याकुल कैसे नहीं होंगे ?

सो [कहते हैं]—व्याकुलता तो मोह उदय के निमित्त से होती है; वहाँ मुनि के छठे आदि गुणस्थानों में तीन [कषाय] चौकड़ी का उदय नहीं है और संज्वलन के सर्वघाती स्पर्द्धकों का उदय नहीं है; देशघाती स्पर्द्धकों का उदय है परन्तु उनका कुछ बल नहीं है। जैसे—वेदक-सम्यग्दृष्टि को, [देशघाती] सम्यग्मोहनीय का उदय है, वह सम्यक्त्व का घात नहीं कर सकता; उसी प्रकार देशघाती संज्वलन का उदय, परिणामों को व्याकुल नहीं कर सकता।

अहो! मुनियों के और अन्य के परिणामों की समानता नहीं है; अन्य सबके सर्वघाती का उदय है, इनके देशघाती का उदय है; इसलिए अन्य के जैसे परिणाम होते हैं, वैसे इनके कदापि नहीं होते। इस तरह जिनके सर्वघाती कषायों का उदय होता है, वे गृहस्थ ही रहते हैं और जिनके देशघाती का उदय होता है, वे मुनिधर्म अंगीकार करते हैं क्योंकि उनके परिणाम, शीतादि से व्याकुल नहीं होते; इसलिए वे वस्त्रादि नहीं रखते।

फिर कहोगे—जैनशास्त्रों में मुनि, चौदह उपकरण रखते हैं—ऐसा कहा है।

उन्हें [कहते हैं]—वह तुम्हारे ही शास्त्रों में कहा है; दिगम्बर जैनशास्त्रों में तो कहा नहीं है; वहाँ तो लंगोटमात्र परिग्रह रहनेपर भी, ग्यारहवीं प्रतिमाधारी को 'श्रावक' ही कहा है।

---

① मूल हस्तलिखित प्रति (पृष्ठ १८३) में यहाँ '**जो अनिष्टबुद्धि न भई**' – ऐसा लिखा है।

अतः अब यहाँ विचार करो—दोनों में कल्पित वचन कौनसे है ? प्रथम तो 'कल्पित रचना', जो कषायी हो, वही करता है तथा जो कषायी होता है, वही 'निम्नपद में, उच्च-पदपना' प्रगट करता है; इसलिए यहाँ दिगम्बर में वस्त्रादि रखनेपर धर्म होता ही नहीं है—ऐसा तो नहीं कहा परन्तु वहाँ 'श्रावकधर्म' कहा है; श्वेताम्बर में 'मुनिधर्म' कहा है; इसलिए यहाँ जिसने नीची क्रिया होनेपर, उच्चपना प्रगट किया, वही कषायी है।

— ऐसे कल्पित कथन से अपने को वस्त्रादि रखनेपर भी लोग, मुनि मानने लगें; इसलिए मानकषाय का पोषण किया और दूसरों को सुगम क्रिया में उच्चपद होना दिखाया; इसलिए बहुत लोग लग गए; अतः जो कल्पित मत हुए हैं, वे ऐसे ही हुए हैं; इसलिए कषायी होकर वस्त्रादि होनेपर, मुनिपना कहा है, वह पूर्वोक्त युक्ति से, विरुद्ध भासित होता है; इसलिए 'ये कल्पित वचन हैं'—ऐसा जानना।

फिर कहोगे—जैसे—दिगम्बर में भी, मुनि के शास्त्र, पीछी आदि उपकरण कहे हैं; वैसे हमारे चौदह उपकरण कहे हैं ?

उसका समाधान—जिससे उपकार हो, उसका नाम 'उपकरण' है परन्तु यहाँ शीतादि की वेदना, दूर करने से 'उपकरण' ठहराएँ तो सर्व परिग्रह सामग्री 'उपकरण' नाम प्राप्त करे, परन्तु धर्म में उनका क्या प्रयोजन ? वे तो पाप के कारण हैं; धर्म में तो जो धर्म के उपकारी होते हैं, उनका नाम 'उपकरण' है। वहाँ **शास्त्र—ज्ञान का कारण; पीछी—दया का कारण; कमण्डलु—शौच का कारण है;** अतः ये तो धर्म के उपकारी हुए। वस्त्रादि किस प्रकार धर्म के उपकारी हो सकते हैं ? वे तो शरीरसुख के लिए ही धारण किये जाते हैं।

और सुनो! यदि शास्त्र रखकर, महन्तता दिखाये; पीछी से बुहारी करे; कमण्डल से जलादि पीवे व मैल उतारे, तो शास्त्रादि भी परिग्रह ही हैं परन्तु मुनि ऐसे कार्य नहीं करते; इसलिए 'धर्म के साधन को, परिग्रह संज्ञा नहीं है; भोग के साधन को, परिग्रह संज्ञा होती है'—ऐसा जानना।

फिर कहोगे—कमण्डलु से तो शरीर ही का मल दूर करते हैं परन्तु मुनि, मल दूर करने की इच्छा से कमण्डलु नहीं रखते हैं। शास्त्र पढ़ना आदि कार्य करते हैं, वहाँ मल लिप्त हों तो उनकी अविनय होगी, लोकनिंद्य होंगे; इसलिए इस धर्म के लिए, कमण्डलु रखते हैं।

— ऐसे पीछी आदि उपकरण होनेयोग्य हैं; वस्त्रादि को 'उपकरण' संज्ञा, सम्भव नहीं है।

काम, अरति आदि मोह के उदय से बाह्य में विकार प्रगट हो तथा शीतादि सहे नहीं जाएँ; इसलिए विकार ढ़ँकने को व शीतादि मिटाने को, वस्त्रादि रखते हैं और मान के उदय से अपनी महन्तता भी चाहते हैं; **इसलिए उन्हें कल्पितयुक्ति द्वारा, उपकरण ठहराते हैं।**

वहाँ घर-घर याचना करके, आहार लाना ठहराते हैं। उनसे पहले तो यह पूछते हैं— याचना, धर्म का अंग है या पाप का अंग है ? यदि धर्म का अंग है तो माँगनेवाले सर्व धर्मात्मा हुए और पाप का अंग है तो मुनि के किस प्रकार सम्भव है ?

फिर यदि तू कहेगा—लोभ से कुछ धनादि की याचना करें तो पाप हो; ये तो धर्म -साधन के लिए, शरीर की स्थिरता करना चाहते हैं; इसलिए आहारादि की याचना करते हैं ?

उसका समाधान—आहारादि से धर्म नहीं होता, शरीर का सुख होता है; इसलिए शरीर -सुख के लिए अति लोभ होनेपर, याचना करते हैं। यदि अति लोभ न होता तो आप किसलिए माँगते ? वे ही देते तो देते, न देते तो न देते। तथा अति लोभ हुआ, वही पाप हुआ, तब मुनिधर्म नष्ट हुआ; दूसरा धर्म क्या साधेगा ?

अब वह कहता है—मन में तो आहार की इच्छा हो और याचना न करे, तो मायाकषाय हुई और याचना करने में हीनता आती है तो गर्व के कारण, याचना न करे, तो मानकषाय हुई। आहार लेना था; अतः माँग लिया, इसमें अति लोभ क्या हुआ और इससे 'मुनिधर्म' किस प्रकार नष्ट हुआ ? - वह कहो ?

उससे कहते हैं① —जैसे—किसी व्यापारी को कमाने की इच्छा मन्द है, वह दुकान पर तो बैठे और मन में व्यापार करने की इच्छा भी है परन्तु किसी से वस्तु लेन-देनरूप व्यापार के लिए प्रार्थना नहीं करता है; स्वयमेव कोई आए तो अपनी विधि मिलनेपर, व्यापार करता है तो उसको लोभ की मन्दता है, माया व मान नहीं है। माया व मानकषाय तो तब होगी, जब छल करने के लिए व अपनी महन्तता के लिए, ऐसा स्वांग करे, परन्तु अच्छे व्यापारी को ऐसा प्रयोजन नहीं है; इसलिए उसको माया-मान नहीं कहते।

उसी प्रकार मुनियों को आहारादि की इच्छा मन्द है। वे आहार लेने आते हैं, मन में आहार लेने की इच्छा भी है परन्तु आहार के लिए प्रार्थना नहीं करते; स्वयमेव कोई दे तो अपनी विधि मिलनेपर आहार लेते हैं, वहाँ उनके लोभ की मन्दता है, माया व मान नहीं है। माया व मान तो तब होगा, जब छल करने के लिए व महन्तता के लिए, ऐसा स्वांग करें, परन्तु मुनियों को ऐसा प्रयोजन है नहीं; इसलिए इनको माया-मान नहीं है।

यदि इसी प्रकार माया-मान हो, तो जो मन ही द्वारा पाप करते हैं, वचन-काय द्वारा नहीं करते, उन सबके माया ठहरेगी और जो उच्च पदवी के धारक, नीच वृत्ति अंगीकार नहीं करते, उन सबके मान ठहरेगा - ऐसा अनर्थ होगा।

वहाँ तूने कहा—'आहार माँगने में अति लोभ क्या हुआ ?' **देखो**, अतिकषाय हो, तब लोक-निंद्य कार्य अंगीकार करके भी, मनोरथ पूर्ण करना चाहता है और 'माँगना', लोक निंद्य है,

① मूल हस्तलिखित प्रति में इसके बाद (पृष्ठ १८७) पूरा काव्य हुआ हैं, जिसमें अनेक महत्त्वपूर्ण अंश हैं; पाठकगण मूल में देखें।

उसे भी अंगीकार करके, आहार की इच्छा पूर्ण करने की चाह हुई; इसलिए यहाँ अति लोभ हुआ।

तथा तूने कहा—'मुनिधर्म कैसे नष्ट हुआ?'

तो देखो! मुनिधर्म में ऐसी तीव्रकषाय सम्भव नहीं है। तथा किसी को आहार देने का परिणाम नहीं था और इसने उसके घर में जाकर, याचना की, वहाँ उसको संकोच हुआ और न देनेपर, लोकनिंद्य होने का भय हुआ; इसलिए उसको आहार दिया, परन्तु उसके अन्तरंग प्राण पीड़ित होने से, **हिंसा का सद्भाव** आया। यदि आप उसके घर में न जाते, उसी को देने का (भाव) उपाय होता तो देनेपर, उसको हर्ष होता परन्तु यह तो दबाकर कार्य कराना हुआ।

तथा अपने कार्य के लिए 'याचनारूप वचन' है, वह पापरूप है; अतः यहाँ **असत्य वचन** भी हुआ। तथा उसके देने की इच्छा नहीं थी, इसने याचना की, तब उसने अपनी इच्छा से नहीं दिया, संकोच से दिया; इसलिए **अदत्तग्रहण** भी हुआ। तथा गृहस्थ के घर में स्त्री जैसी-तैसी बैठी थी और यह चला गया; अतः वहाँ **ब्रह्मचर्य की बाड़ का भंग** हुआ। तथा आहार लाकर कितने ही काल तक रखा, आहारादि रखने को पात्रादि रखे; इसलिए **परिग्रह** हुआ।

— ऐसे पाँच महाव्रतों का भंग होने से, मुनिधर्म नष्ट होता है; इसलिए मुनि को 'याचना से आहार लेना' युक्त नहीं है।

फिर वह कहता है—मुनि के बाईस परीषहों में '**याचनापरीषह**' कहा है; अतः माँगे बिना, उस परीषह का सहना कैसे हो सकता है?

उसका समाधान—'याचना करने का नाम, **याचनापरीषह** नहीं है; याचना न करने का नाम, **याचनापरीषह** है। जैसे—अरति करने का नाम, **अरतिपरीषह** नहीं है; अरति न करने का नाम, **अरतिपरीषह** है - ऐसा जानना। यदि याचना करना 'परीषह' ठहरे तो रंकादि बहुत याचना करते हैं, उनके बहुत धर्म होगा।

यदि कहोगे—मान घटाने के कारण, इसे 'परीषह' कहते हैं? **तो [कहते हैं]**—किसी कषाय कार्य के लिए, कोई कषाय छोड़नेपर भी, पाप ही होता है। जैसे—कोई लोभ के लिए, अपने अपमान को न गिने तो उसके लोभ की तीव्रता है, उस अपमान कराने से भी महापाप होता है और आपके कुछ इच्छा नहीं है, कोई स्वयमेव अपमान करे तो उसके महाधर्म है परन्तु यहाँ तो भोजन के लोभ के लिए याचना करके, अपमान कराया; इसलिए पाप ही है, धर्म नहीं है।

तथा वस्त्रादि के लिए भी याचना करता है परन्तु वस्त्रादि कोई धर्म के अंग नहीं हैं, शरीरसुख के कारण हैं; इसलिए पूर्वोक्त प्रकार से, उनका निषेध जानना।

देखो! अपने धर्मरूप उच्चपद को याचना करके, नीचा करते हैं परन्तु उसमें धर्म की हीनता होती है, इत्यादि अनेक प्रकार से मुनिधर्म में याचना आदि सम्भव नहीं है परन्तु ऐसी नहीं होनेयोग्य क्रिया के धारक को 'साधु या गुरु' कहते हैं।

— इस तरह 'गुरु का स्वरूप' अन्यथा कहते हैं।

धर्म का अन्यथा स्वरूप

वहाँ 'धर्म का स्वरूप' अन्यथा कहते हैं। **सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र—इनकी एकता, मोक्षमार्ग है, वही धर्म है** परन्तु वे उसका स्वरूप अन्यथा प्ररूपित करते हैं; वही कहते हैं —

तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शन है, उसकी तो प्रधानता नहीं है। आप (स्वयं) जिस प्रकार अरहन्त, देव; साधु, गुरु; दया, धर्म; का निरूपण करते हैं, उनके श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं। वहाँ प्रथम तो 'अरहन्तादि का स्वरूप', अन्यथा कहते हैं परन्तु इतने ही श्रद्धान से, तत्त्व-श्रद्धान हुए बिना, सम्यक्त्व कैसे होगा? इसलिए मिथ्या कहते हैं।

यदि तत्त्वों के भी श्रद्धान को 'सम्यक्त्व' कहते हैं तो प्रयोजनसहित तत्त्वों का श्रद्धान नहीं कहते। गुणस्थान-मार्गणादिरूप जीव का, अणु-स्कन्धादिरूप अजीव का, पाप-पुण्य के स्थानों का, अविरति आदि आस्रवों का, व्रतादिरूप संवर का, तपश्चरणादिरूप निर्जरा का, [प्रकृति आदिरूप बन्ध का]① सिद्ध होने के लिंगादि के भेदों से, मोक्ष का स्वरूप—जिस प्रकार उनके शास्त्रों में कहा है, उस प्रकार सीख लेना और केवली के वचन, प्रमाण हैं—ऐसे तत्त्वार्थश्रद्धान से, सम्यक्त्व हुआ मानते हैं।

वहाँ हम पूछते हैं—ग्रैवेयक जानेवाले द्रव्यलिंगी मुनि के ऐसा श्रद्धान होता है या नहीं? यदि होता है तो उसे मिथ्यादृष्टि किसलिए कहते हैं? और यदि नहीं होता है तो उसने भी जैन-लिंग, धर्मबुद्धि से धारण किया है, तो उसको देवादि की प्रतीति क्यों नहीं हुई? तथा उसको बहुत शास्त्राभ्यास है, तो उसने जीवादि के भेद क्यों नहीं जाने? अन्यमत का लवलेश भी अभिप्राय नहीं है, तो उसको अरहन्त वचन की कैसे प्रतीति नहीं हुई?

इसलिए उसको ऐसा श्रद्धान तो होता है परन्तु सम्यक्त्व नहीं हुआ तथा नारकी, भोगभूमिया, तिर्यंच आदि को ऐसा श्रद्धान होने का निमित्त नहीं है तथापि उनको बहुत काल-पर्यन्त सम्यक्त्व रहता है; इसलिए उनको ऐसा श्रद्धान नहीं होता, तब भी सम्यक्त्व हुआ है।

इसलिए 'सम्यक्श्रद्धान का स्वरूप'- यह नहीं है; [उसका जो] सच्चा स्वरूप है, उसका वर्णन आगे करेंगे, सो जानना।

उनके शास्त्रों का अभ्यास करना, उसे 'सम्यग्ज्ञान' कहते हैं परन्तु द्रव्यलिंगी मुनि को शास्त्राभ्यास होनेपर भी, 'मिथ्याज्ञान' कहा है और असंयतसम्यग्दृष्टि को विषयादिरूप जानना [होता है, तो भी] उसे 'सम्यग्ज्ञान' कहा है।

इसलिए[सम्यग्ज्ञान का]स्वरूप - यह नहीं है। सच्चा स्वरूप आगे कहेंगे, सो जानना।

तथा उनके द्वारा निरूपित अणुव्रत-महाव्रतादिरूप श्रावक-यति का धर्म, धारण करने से 'सम्यक्चारित्र' हुआ मानते हैं परन्तु प्रथम तो व्रतादि का स्वरूप अन्यथा कहते हैं,

---

① यहाँ नौ पदार्थों के संक्षिप्त उल्लेख में, '**बन्ध के स्वरूप**' का उल्लेख रह गया प्रतीत होता है; अतः उसे जोड़ा गया है, विज्ञजन विचार करें।

वह कुछ पहले गुरुवर्णन में कहा है। वहाँ द्रव्यलिंगी के महाव्रतादि होनेपर भी, सम्यक्चारित्र नहीं होता, जबकि उनके मत के अनुसार, गृहस्थादि के महाव्रतादि अंगीकार किये बिना भी, सम्यक्चारित्र होता है।

इसलिए [सम्यक्चारित्र का] स्वरूप - यह नहीं है; सच्चा स्वरूप अन्य है, उसे आगे कहेंगे।

यहाँ वे कहते हैं—द्रव्यलिंगी के अन्तरंग में पूर्वोक्त श्रद्धानादि नहीं हुए; बाह्य ही हुए हैं; इसलिए सम्यक्त्वादि नहीं हुए।

उसका उत्तर—यदि अन्तरंग नहीं है और बाह्य धारण करता है तो वह कपट से धारण करता है और उसके कपट हो तो ग्रैवेयक कैसे जाए? वह तो नरकादि में जाएगा। बन्ध तो अन्तरंग परिणामों से होता है; इसलिए अन्तरंग जैनधर्मरूप परिणाम हुए बिना, ग्रैवेयक जाना सम्भव नहीं है।

वहाँ 'व्रतादिरूप शुभोपयोग ही से देव का बन्ध' मानते हैं और उसी को 'मोक्षमार्ग' मानते हैं, सो बन्धमार्ग-मोक्षमार्ग को एक किया, परन्तु यह मिथ्या है।

इसी तरह व्यवहारधर्म में अनेक विपरीतताएँ निरूपित करते हैं।

वहाँ 'निन्दक को मारने में, पाप नहीं है'—ऐसा कहते हैं परन्तु अन्यमती निन्दक तो तीर्थंकरादि के होनेपर भी हुए; उनको इन्द्रादि मारते नहीं हैं। यदि पाप न होता तो इन्द्रादि क्यों नहीं मारते? तथा प्रतिमाजी के आभरणादि बनाते हैं परन्तु प्रतिबिम्ब तो वीतरागभाव बढ़ाने के लिए स्थापित किया था; आभरणादि बनाने से अन्यमत की मूर्तिवत्, ये भी हुए, इत्यादि कहाँ तक कहें? अनेक अन्यथा निरूपण करते हैं।

इस प्रकार श्वेताम्बरमत, कल्पित जानना। यहाँ सम्यग्दर्शनादि के अन्यथा निरूपण से मिथ्यादर्शनादि ही की पुष्टता होती है; इसलिए उसका श्रद्धानादि नहीं करना।

ढूँढकमत विचार

वहाँ, इन श्वेताम्बरों में ही ढूँढिये (स्थानकवासी) प्रगट हुए हैं, वे अपने को सच्चा धर्मात्मा मानते हैं, वह भ्रम है। **किसलिए? वह कहते हैं** —

कितने ही तो भेष धारण करके 'साधु' कहलाते हैं परन्तु उनके ग्रन्थों के अनुसार भी व्रत, समिति, गुप्ति आदि का साधन भासित नहीं होता। और देखो! मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदना से सर्व सावद्ययोग त्याग करने की प्रतिज्ञा करते हैं; बाद में पालन नहीं करते। बालक को, भोले (मूढ़; अज्ञानी) को, व शूद्रादि को भी दीक्षा देते हैं।

इस प्रकार त्याग करते हैं और त्याग करते हुए, कुछ विचार नहीं करते कि 'क्या त्याग करता हूँ?' बाद में पालन भी नहीं करते और उन्हें सब 'साधु' मानते हैं।

पुनः यह कहता है—बाद में धर्मबुद्धि हो जाएगी, तब तो उसका भला होगा?

सो [कहते हैं]—पहले ही दीक्षा देनेवाले ने प्रतिज्ञा भंग होती जानकर भी, प्रतिज्ञा कराई तथा इसने प्रतिज्ञा अंगीकार करके भंग की; वहाँ यह पाप किसे लगा? तथा बाद में धर्मात्मा होने का निश्चय क्या?

वहाँ जो साधु का धर्म अंगीकार करके, यथार्थ पालन न करे, उसे 'साधु' मानें या न मानें? यदि मानें तो जो साधु 'मुनि' नाम धारण करते हैं और भ्रष्ट हैं, उन सबको 'साधु' मानो और यदि न मानें तो इनका साधुपना नहीं रहा।

तुम जैसे आचरण से 'साधु' मानते हो, उसका भी पालन किसी विरले के पाया जाता है; सबको 'साधु' किसलिए मानते हो?

यहाँ कोई कहे—हम तो जिसका यथार्थ आचरण देखेंगे, उसे 'साधु' मानेंगे; अन्य को नहीं मानेंगे।

उससे पूछते हैं—एक संघ में बहुत भेषी हैं, वहाँ जिसका यथार्थ आचरण मानते हो, वह औरों को साधु मानता है या नहीं मानता? यदि मानता है तो वह तुमसे भी [अधिक] अश्रद्धानी हुआ, उसे पूज्य कैसे मानते हो? और नहीं मानता तो उनसे साधु का व्यवहार किसलिए वर्तता है? तथा आप तो उन्हें साधु न मानें और अपने संघ में रखकर, औरों से साधु मनवाकर, औरों को अश्रद्धानी करता है—ऐसा कपट किसलिए करता है?

तथा तुम जिसको साधु नहीं मानोगे तो अन्य जीवों को भी ऐसा ही उपदेश करोगे—'इनको साधु मत मानो', इससे तो धर्मपद्धति में विरोध होगा; वहाँ जिसको तुम साधु मानते हो, उससे भी तुम्हारा विरोध हुआ, क्योंकि वह उसे साधु मानता है। तथा तुम जिसका यथार्थ आचरण मानते हो, वहाँ भी विचारकर देखो, तो वह भी यथार्थ मुनिधर्म का पालन नहीं करता है।

कोई कहे—अन्य भेषधारियों से तो बहुत अच्छे हैं; इसलिए हम मानते हैं।

सो [कहते हैं]—अन्यमतों में तो नाना प्रकार के भेष सम्भव हैं क्योंकि वहाँ रागभाव का निषेध नहीं है। इस जैनमत में तो जैसा कहा है, वैसा ही होनेपर 'साधु' संज्ञा होती है।

यहाँ कोई कहे—वे शील-संयमादि पालते हैं, तपश्चरणादि करते हैं; अतः जितना करें, उतना ही भला है।

उसका समाधान—यह सत्य है कि पाला हुआ धर्म, थोड़ा भी भला ही है परन्तु प्रतिज्ञा तो बड़े धर्म की करें और पालें थोड़ा, तो वहाँ प्रतिज्ञा भंग से महापाप होता है। जैसे—कोई उपवास की प्रतिज्ञा करके, एक बार भोजन करे तो उसे बहुत बार भोजन का संयम (त्याग) होनेपर भी,

प्रतिज्ञा भंग से 'पापी' कहते हैं; उसी प्रकार मुनिधर्म की प्रतिज्ञा करके, कोई किंचित् धर्म न पाले तो उसे शील-संयमादि होनेपर भी 'पापी' कहते हैं। जैसे—एकन्त (एकाशन) की प्रतिज्ञा करके, एक बार भोजन करे तो धर्मात्मा ही है; उसी प्रकार अपना श्रावकपद धारण करके, थोड़ा भी धर्म साधन करे तो धर्मात्मा ही है। यहाँ तो 'ऊँचा नाम रखकर, नीची क्रिया करने में पापीपना' सम्भव है; यथायोग्य नाम धारण करके, धर्मक्रिया करने से तो पापीपना होता नहीं है; जितना धर्मसाधन करे, उतना ही भला है।

यहाँ कोई कहे—पंचम काल के अन्तपर्यन्त चतुर्विध संघ का सद्भाव कहा है; इनको साधु न मानें तो किसको मानें?

उसका उत्तर—जिस प्रकार इस काल में हंस का सद्भाव कहा है परन्तु गम्य (ज्ञात) क्षेत्र में हंस दिखायी नहीं देते तो औरों को तो हंस माना नहीं जाता; हंस का लक्षण मिलनेपर ही, हंस माने जाते हैं; उसी प्रकार इस काल में कोई साधु का सद्भाव कहा है और गम्य क्षेत्र में साधु दिखायी नहीं देते तो औरों को तो साधु माना नहीं जाता; साधु का लक्षण मिलनेपर ही, साधु माने जाते हैं। तथा इनका भी प्रचार थोड़े ही क्षेत्र में दिखायी देता है, वहाँ से दूर के क्षेत्र में साधु का सद्भाव कैसे मानें? यदि लक्षण मिलनेपर मानें तो यहाँ भी इसी प्रकार मानो और बिना लक्षण मिले ही मानें तो वहाँ अन्य कुलिंगी हैं, उन्हीं को साधु मानो—ऐसे विपरीतता होती है; इसलिए बनता नहीं है।

कोई कहे—इस पंचम काल में इस प्रकार भी साधुपद होता है तो ऐसा सिद्धान्त का वचन बतलाओ; यदि बिना ही सिद्धान्त तुम मानते हो तो पाप होगा। इस प्रकार अनेक युक्ति द्वारा इनमें साधुपना बनता नहीं है और साधुपने के बिना, साधु मानकर, गुरु मानने से मिथ्यादर्शन होता है क्योंकि भले [सच्चे] साधु को गुरु मानने से ही सम्यग्दर्शन होता है।

प्रतिमाधारी श्रावक की अन्यथा प्रवृत्ति का निषेध

वहाँ, श्रावकधर्म की अन्यथा प्रवृत्ति कराते हैं—त्रसहिंसा एवं स्थूल मृषादि होनेपर भी, जिसका कुछ प्रयोजन नहीं है—ऐसा किंचित् त्याग कराके, उसे देशव्रती हुआ कहते हैं परन्तु वह त्रसघातादि जिसमें हों - ऐसे कार्य करता है; जबकि देशव्रत गुणस्थान में तो ग्यारह अविरति① कहते हैं, वहाँ त्रसघात किस प्रकार सम्भव है? तथा ग्यारह प्रतिमा भेद, श्रावक के हैं, उनमें [श्वेताम्बर में] दसवीं-ग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावक तो कोई होता ही नहीं, परन्तु साधु होता है।

जब पूछें, तब कहते हैं—प्रतिमाधारी श्रावक इस काल में नहीं हो सकते, परन्तु देखो! 'श्रावकधर्म तो कठिन और मुनिधर्म सुगम'—ऐसा विरुद्ध कहते हैं। तथा ग्यारहवीं प्रतिमाधारी

---

① यहाँ 'ग्यारह अविरति' का आशय यह है कि पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक, १२ प्रकार के संयम में से त्रसहिंसा से तो विरत होते हैं परन्तु अन्य ५ स्थावर, ५ इन्द्रिय, एवं १ मन से विरत नहीं होते; अतः इस अपेक्षा उन्हें '११ अविरति' कही हैं।

को थोड़ा परिग्रह, मुनि को बहुत परिग्रह बतलाते हैं—यह सम्भवित वचन नहीं हैं।

फिर कहते हैं—यह प्रतिमा तो थोड़े ही काल पालन कर छोड़ देते हैं परन्तु यदि यह कार्य उत्तम है तो धर्मबुद्धि (श्रावक), ऊँची क्रिया को किसलिए छोड़ेगा और नीचा कार्य है तो किसलिए अंगीकार करेगा?—यह सम्भव ही नहीं है।

कुदेव-कुगुरु को नमस्कारादि करनेपर भी, श्रावकपना बतलाते हैं।

वहाँ वे कहते हैं—धर्मबुद्धि से तो नहीं वन्दते हैं; लौकिक व्यवहार है, जबकि सिद्धान्त में तो उनकी प्रशंसा-स्तवन को भी 'सम्यक्त्व का अतिचार' कहा है परन्तु गृहस्थों से भला मनवाने के लिए, वन्दना करनेपर भी कुछ नहीं कहते।

फिर कहोगे—भय, लज्जा, कुतूहलादि से वन्दते हैं।

तो [उनसे कहते हैं—] इन्हीं कारणों से, कुशीलादि सेवन करनेपर भी, पाप मत कहो; अन्तरंग में पाप जानना चाहिए। **इस प्रकार सर्व आचरण में विरुद्धता होगी।**

देखो! मिथ्यात्व के समान, महापाप की प्रवृत्ति छुड़ाने की तो मुख्यता नहीं है और पवन-काय की हिंसा ठहराकर, 'खुले मुँह बोलना' छुड़ाने की मुख्यता पायी जाती है परन्तु यह क्रम-भंग उपदेश है। तथा धर्म के अंग अनेक हैं, उनमें एक 'परजीव की दया' को मुख्य कहते हैं, उसका भी विवेक नहीं है। जल का छानना, अन्न का शोधना, सदोष वस्तु का भक्षण न करना, हिंसादिरूप व्यवहार न करना, इत्यादि दया के अंगों[१] की मुख्यता नहीं है।

मुखपट्टी आदि का निषेध

वहाँ पट्टी का बाँधना, शौचादि थोड़ा करना, इत्यादि कार्यों की मुख्यता करते हैं परन्तु मैलयुक्त (मुँह) पट्टी में थूक के सम्बन्ध से, जीव उत्पन्न होते हैं, उनका तो यत्न नहीं है और पवन की हिंसा का यत्न बतलाते हैं परन्तु नासिका द्वारा बहुत पवन निकलती है, उसका तो यत्न करते ही नहीं। तथा उनके शास्त्रानुसार [मुँह पट्टी बाँधने में] बोलने ही का यत्न किया है तो सर्वदा किसलिए रखते हैं? जब बोलें, तब यत्न, कर लेना चाहिए।

यदि कहें—भूल जाते हैं; **तो [कहते हैं—]** इतना भी याद नहीं रहता, तब अन्य धर्मसाधन कैसे होगा? तथा शौच आदि थोड़ाकरें, परन्तु आवश्यक शौच तो मुनि भी करते हैं; इसलिए गृहस्थ को अपने योग्य, शौच करना चाहिए। स्त्री-संगम आदि करके, शौच किये बिना, सामायिकादि क्रिया करने से अविनय, विक्षिप्तता आदि होने से, पाप उत्पन्न होता है।

— ऐसे जिनकी मुख्यता करते हैं, उनका भी ठिकाना नहीं है। वहाँ कितने ही दया के अंग उचित पालते हैं, हरितकाय का त्याग आदि [क्रिया] करते हैं, जल थोड़ा गिराते हैं, इनका हम निषेध नहीं करते।

---

[१] मूल हस्तलिखित प्रति (पृष्ठ १९६) में यहाँ '**दया के अंगनि की मुख्यता**' शब्द लिखा है।

मूर्ति पूजा निषेध का निराकरण

वहाँ अहिंसा का एकान्त पकड़कर, प्रतिमा-चैत्यालय पूजन आदि क्रिया का उत्थापन करते हैं परन्तु उन्हीं के शास्त्रों में प्रतिमा आदि का निरूपण है, उसका आग्रह से लोप करते हैं। भगवतीसूत्र में ऋद्धिधारी मुनि का निरूपण है, वहाँ मेरुगिरि आदि में जाकर '**तत्थ चेययाइं वंदई**'—ऐसा पाठ है। इसका अर्थ यह है कि 'वहाँ चैत्यों की वन्दना करते हैं' और 'चैत्य' नाम 'प्रतिमा' का प्रसिद्ध है।

तब वे हठ से कहते हैं—चैत्य शब्द के 'ज्ञानादि' अनेक अर्थ होते हैं; इसलिए अन्य अर्थ हैं; प्रतिमा अर्थ नहीं है। **तो उनसे पूछते हैं**—मेरुगिरि, नन्दीश्वरद्वीप में जा जाकर, वहाँ 'चैत्य वन्दना' की; अतः वहाँ ज्ञानादि की वन्दना करने का अर्थ, कैसे सम्भव है? ज्ञानादि की वन्दना तो सर्वत्र सम्भव है। जो वन्दनायोग्य 'चैत्य', वहाँ सम्भव हो और सर्वत्र सम्भव न हो, उसके लिए वहाँ वन्दना करने का विशेष (अर्थ) सम्भव है और ऐसा होनेयोग्य अर्थ, 'प्रतिमा' ही है; अतः 'चैत्य' शब्द का मुख्य अर्थ, 'प्रतिमा' ही है, वही प्रसिद्ध है। इसी अर्थ द्वारा 'चैत्यालय' नाम सम्भव है; उसका हठ करके क्यों लोप करते हो?

वहाँ नन्दीश्वरद्वीपादि में जाकर, 'देवादि पूजन' आदि क्रिया करते हैं, उसका व्याख्यान उनके [ग्रन्थों में] जहाँ-तहाँ पाया जाता है। लोक में जहाँ-तहाँ अकृत्रिम प्रतिमा का निरूपण है। वहाँ यह रचना अनादि है, यह रचना, भोग कुतूहलादि के लिए तो है नहीं तथा इन्द्रादि के स्थानों में निष्प्रयोजन रचना तो सम्भव नहीं है; इसलिए इन्द्रादि उन्हें देखकर क्या करते हैं?

— या तो अपने मन्दिरों में निष्प्रयोजन रचना देखकर, उससे उदासीन होते होंगे, वहाँ दुःखी होते होंगे, परन्तु यह सम्भव नहीं है अथवा अच्छी रचना देखकर, विषयों का पोषण करते होंगे; परन्तु अरहन्त की मूर्ति द्वारा, सम्यग्दृष्टि अपना विषय-पोषण करें—यह भी सम्भव नहीं है; इसलिए वहाँ उनकी भक्ति आदि ही करते हैं—यह ही सम्भव है।

उनके यहाँ **सूर्याभदेव** का व्याख्यान है, वहाँ प्रतिमाजी को पूजने का विशेष वर्णन किया है; उसे छिपाने के लिए कहते हैं—देवों का ऐसा ही कर्तव्य है; वह सच है परन्तु कर्तव्य का तो फल होता ही होता है—वहाँ धर्म होता है या पाप होता है? यदि धर्म होता है तो अन्यत्र पाप होता था, यहाँ धर्म हुआ; इसे औरों के सदृश कैसे कहें? यह तो योग्य कार्य हुआ। यदि पाप होता है तो वहाँ '**णमोत्थुणं**' का पाठ पढ़ा; अतः पाप के स्थानपर ऐसा पाठ किसलिए पढ़ा?

एक विचार यहाँ यह आया—'**णमोत्थुणं**' के पाठ में तो अरहन्त की भक्ति है, वहाँ 'प्रतिमाजी' के आगे जाकर यह पाठ पढ़ा; इसलिए 'प्रतिमाजी' के आगे 'जो अरहन्तभक्ति की क्रिया' है, वह करना युक्त हुई।

फिर यदि वे ऐसा कहते हैं—देवों में ऐसा कार्य होता है; मनुष्यों में नहीं, क्योंकि मनुष्यों को प्रतिमा आदि बनाने में हिंसा होती है।

तो उन्हीं के शास्त्रों में ऐसा कथन है—जैसे—सूर्याभदेव ने प्रतिमाजी के पूजनादि किये, वैसे द्रौपदी रानी करने लगी; इसलिए मनुष्यों के द्वारा भी 'ऐसा कार्य' कर्तव्य है।

यहाँ एक विचार यह आया—यदि चैत्यालय व प्रतिमा बनाने की प्रवृत्ति नहीं थी, तो द्रौपदी ने किस प्रकार प्रतिमा का पूजन किया? तथा प्रवृत्ति थी तो बनानेवाले धर्मात्मा थे या पापी थे?—यदि धर्मात्मा थे तो गृहस्थों को ऐसा कार्य करना, योग्य हुआ और पापी थे तो वहाँ भोगादि का प्रयोजन तो था नहीं, किसलिए बनाये?

द्रौपदी ने वहाँ '**णमोत्थुणं**' का पाठ किया व पूजनादि किया—वहाँ कुतूहल किया या धर्म किया?—यदि कुतूहल किया तो महापापिनी हुई, धर्म में कुतूहल कैसा? और धर्म किया तो औरों को भी प्रतिमाजी की स्तुति-पूजा करना, युक्त है।

वहाँ वे ऐसी मिथ्यायुक्ति बनाते हैं—जैसे—इन्द्र की स्थापना से, इन्द्र का कार्य सिद्ध नहीं होता है; वैसे अरहन्त प्रतिमा से [अरहन्त का] कार्य सिद्ध नहीं होता है। यदि अरहन्त, आप ① किसी को भक्त मानकर, भला करते हों, तब तो ऐसा भी मानें, परन्तु वे तो वीतराग हैं; यह जीव, भक्तिरूप अपने भावों से शुभफल प्राप्त करता है।

जैसे—स्त्री के आकाररूप काष्ठ-पाषाण की मूर्ति देखकर, वहाँ विकाररूप होकर, अनुराग करे तो उसको पापबन्ध होता है; वैसे अरहन्त के आकाररूप धातु-पाषाणादि की मूर्ति देखकर, धर्मबुद्धि से वहाँ अनुराग करे तो शुभ की प्राप्ति कैसे नहीं हो?

वहाँ वे कहते हैं—हम बिना प्रतिमा ही अरहन्त में अनुराग करके, शुभ उत्पन्न करेंगे।

तो इनसे कहते हैं—आकार देखने से जैसा भाव उत्पन्न होता है, वैसा परोक्ष स्मरण करने से नहीं होता; इसी कारण लोक में भी स्त्री के अनुरागी, स्त्री का चित्र बनाते हैं; इसलिए प्रतिमा के अवलम्बन द्वारा भक्ति विशेष होने से, विशेष शुभ की प्राप्ति होती है।

फिर कोई कहे—प्रतिमा को देख लो, परन्तु पूजनादि करने का क्या प्रयोजन है?

उसका उत्तर—जैसे—कोई किसी जीव का आकार बनाकर, रुद्र भावों से घात करे तो उसे उस जीव की हिंसा करने जैसा पाप होता है व कोई किसी का आकार बनाकर, द्वेष बुद्धि से उसकी बुरी अवस्था करे तो जिसका आकार बनाया, उसकी बुरी अवस्था करने जैसा फल होता है; उसी प्रकार अरहन्त का आकार बनाकर, धर्मानुराग बुद्धि से पूजनादि करे तो अरहन्त के पूजनादि करने जैसा शुभ (भाव) उत्पन्न होता है तथा वैसा ही फल होता है। अति अनुराग

① मूल हस्तलिखित प्रति (पृष्ठ १९८) में यहाँ '**तैसें अरहंत प्रतिमा करि कार्यसिद्धि नाही, सो अरहंत आप ...**' - ऐसा लिखा है।

होनेपर, प्रत्यक्ष दर्शन नहीं होने से, आकार बनाकर पूजनादि करते हैं—इस धर्मानुराग से महा-पुण्य होता है।

वहाँ ऐसा कुतर्क करते हैं—जिसके जिस वस्तु का त्याग हो, उसके आगे उस वस्तु का रखना, हास्य करना है; इसलिए चन्दनादि द्वारा अरहन्त की पूजन, युक्त नहीं है।

उसका समाधान—मुनिपद लेते ही सर्व परिग्रह त्याग किया था, केवलज्ञान होने के पश्चात् (इन्द्रादि ने) तीर्थंकरदेव के समवसरणादि बनाए, छत्र-चँवरादि किए, वहाँ हास्य किया या भक्ति की ?—यदि हास्य किया तो इन्द्र, महापापी हुआ, वह बनता नहीं है; यदि भक्ति की तो पूजनादि में भी भक्ति ही करते हैं।

छद्मस्थ के सामने त्याग की हुई वस्तु का रखना, हास्य करना है क्योंकि उसको विक्षिप्तता हो आती है। केवली के या प्रतिमा के सामने अनुराग से उत्तम वस्तु रखने का दोष नहीं है, उनको विक्षिप्तता नहीं होती; धर्मानुराग से जीव का भला होता है।

फिर वे कहते हैं—प्रतिमा बनवाने में, चैत्यालयादि कराने में व पूजनादि करने में, हिंसा होती है और धर्म, अहिंसा है; इसलिए हिंसा करके धर्म मानने से, महापाप होता है; इसलिए हम इन कार्यों का निषेध करते हैं।

उसका उत्तर—उन्हीं के शास्त्र में ऐसा वचन है —

सुच्चा जाणइ कल्लाणं, सुच्चा जाणइ पावगं।
उभयं पि जाणए सुच्चा, जं सेयं तं समायर॥ १॥

यहाँ कल्याण, पाप और उभय—ये तीनों शास्त्र सुनकर जाने, ऐसा कहा है। वहाँ उभय तो पाप और कल्याण मिलने से होगा, अतः ऐसे कार्य का भी होना ठहरा।

वहाँ पूछते हैं—केवल धर्म से तो उभय, हल्का है ही और केवल पाप से, उभय बुरा है या भला है ?—यदि बुरा है तो इसमें तो कुछ कल्याण का अंश मिला है; पाप से बुरा कैसे कहें ? यदि भला है तो केवल पाप को छोड़कर, ऐसे कार्य करना [उचित] ठहरा।

तथा युक्ति से भी ऐसा ही सम्भव है—जैसे—कोई त्यागी होकर, मकानादि नहीं बनवाता है व सामायिकादि निरवद्य कार्यों में प्रवर्तता है तो उन्हें छोड़कर, प्रतिमादि कराना व पूजनादि करना, उचित नहीं है परन्तु यदि कोई अपने रहने के लिए मकान बनाए, उससे तो चैत्यालयादि करानेवाला हीन नहीं है। हिंसा तो हुई, परन्तु उसके तो लोभ व पापानुराग की वृद्धि हुई और इसके लोभ छूटकर, धर्मानुराग हुआ; अतः कोई व्यापारादि कार्य करे, उससे तो पूजनादि कार्य करना हीन नहीं है। वहाँ तो हिंसादि बहुत होते हैं, लोभादि बढ़ता है, पाप ही की प्रवृत्ति होती है; जबकि यहाँ हिंसादि भी किंचित् होते हैं, लोभादि घटते हैं और धर्मानुराग बढ़ता है।

इस प्रकार जो त्यागी न हों, अपने धन को पाप में खर्चते हों, उन्हें चैत्यालयादि बनवाना योग्य है और जो निरवद्य सामायिकादि कार्यों में उपयोग को न लगा सकें, उनको पूजनादि करने का निषेध नहीं है।

फिर तुम कहोगे—निरवद्य सामायिकादि कार्य ही क्यों न करें? धर्म में काल गँवाना (समय व्यतीत करना आदि)—ऐसे कार्य वहाँ किसलिए करें?

उसका उत्तर—यदि शरीर द्वारा, पाप छोड़नेपर ही निरवद्यपना होता तो ऐसा ही करते, परन्तु परिणामों में पाप छूटनेपर, निरवद्यपना होता है; इसलिए बिना अवलम्बन, सामायिकादि में जिसका परिणाम नहीं लगता, वह पूजनादि द्वारा वहाँ अपना उपयोग लगाता है, वहाँ नाना प्रकार के आलम्बन द्वारा उपयोग लग जाता है। यदि वहाँ उपयोग को न लगाए तो पापकार्यों में उपयोग भटके, तब बुरा हो; इसलिए वहाँ प्रवृत्ति करना युक्त है।

वहाँ तुम कहते हो—धर्म के अर्थ हिंसा करने से तो महापाप होता है; अन्यत्र हिंसा करने से थोड़ा पाप होता है।

सो [कहते हैं—] प्रथम तो यह सिद्धान्त का वचन नहीं है और युक्ति से भी नहीं मिलता क्योंकि ऐसा मानने से तो 'इन्द्र, जन्मकल्याणक में बहुत जल से अभिषेक करता है; समवसरण में देव, पुष्पवृष्टि, चँवर-ढ़ोरना इत्यादि कार्य करते हैं तो वे महापापी हुए।

यदि तुम कहोगे—उनका ऐसा ही व्यवहार है।

तो [कहते हैं—] क्रिया का फल तो हुए बिना रहता नहीं है। यदि पाप है तो इन्द्रादि तो सम्यग्दृष्टि हैं, ऐसा कार्य किसलिए करेंगे? और धर्म है तो किसलिए निषेध करते हो?

फिर भला तुम्हीं से पूछते हैं—तीर्थंकर की वन्दना को राजादि गए, साधु की वन्दना को दूर भी जाते हैं, 'सिद्धान्त सुनना' आदि कार्य करने के लिए, गमनादि करते हैं, वहाँ मार्ग में हिंसा हुई। तथा साधर्मियों को भोजन कराते हैं; साधु का मरण होनेपर उसका संस्कार करते हैं; साधु (दीक्षा) होनेपर, उत्सव करते हैं, इत्यादि प्रवृत्तियाँ अब भी देखी जाती हैं, सो यहाँ भी हिंसा होती है परन्तु ये कार्य तो धर्म के ही अर्थ हैं; अन्य कोई प्रयोजन नहीं है।

यदि यहाँ महापाप होता है तो पूर्व काल में ऐसे कार्य किए, उनका निषेध करो और अब भी गृहस्थ ऐसा कार्य करते हैं, उनका त्याग करो। तथा यदि धर्म होता है तो धर्म के अर्थ [अल्प] हिंसा में महापाप बतलाकर, किसलिए भ्रम में डालते हो?

इसलिए इस प्रकार मानना युक्त है—जैसे—थोड़ा धन ठगाने (खर्च करने) पर, बहुत धन का लाभ हो तो वह कार्य करना, योग्य है; उसी प्रकार थोड़े हिंसादि पाप होनेपर, बहुत

① मूल हस्तलिखित प्रति (पृष्ठ २०१) में यहाँ '**धर्म विषै काल गमावनां**' - ऐसा लिखा है।

धर्म उत्पन्न हो तो वह कार्य करना योग्य है। यदि थोड़े धन के लोभ से, कार्य बिगाड़े तो मूर्ख है; उसी प्रकार थोड़ी हिंसा के भय से, बड़ा धर्म छोड़े तो पापी ही होता है।

कोई बहुत धन ठगाए (खर्च करे) और थोड़ा धन उत्पन्न करे या उत्पन्न न करे, तो वह मूर्ख ही है; उसी प्रकार बहुत हिंसादि द्वारा बहुत पाप उत्पन्न करे और भक्ति आदि धर्म में थोड़ा प्रवर्ते या नहीं प्रवर्ते, तो वह पापी ही है।

तथा जैसे–बिना ठगाए (बिना खर्च किए) ही धन का लाभ होनेपर, ठगाए तो मूर्ख है; उसी प्रकार निरवद्यधर्मरूप उपयोग होनेपर, सावद्यधर्म में उपयोग लगाना, योग्य नहीं है।

इस प्रकार अपने परिणामों की अवस्था देखकर, 'जो भला हो, वह करना', एकान्त पक्ष कार्यकारी नहीं है। तथा[बाह्य]अहिंसा ही केवल धर्म का अंग नहीं है; रागादि का घटना, धर्म का मुख्य अंग है; इसलिए जिस प्रकार परिणामों में रागादि घटें, वह कार्य करना। ❁❁❁

वहाँ गृहस्थों को अणुव्रतादि का साधन हुए बिना ही **सामायिक, पडिकमणो, पोसह (प्रोषध) आदि** क्रियाओं का मुख्य आचरण कराते हैं परन्तु सामायिक तो राग-द्वेष रहित, साम्यभाव होनेपर होती है; पाठमात्र पढ़ने से व उठना-बैठना करने से ही तो होती नहीं है।

फिर कहोगे–'अन्य कार्य करता', उससे तो भला है।

यह सत्य है परन्तु सामायिकपाठ में प्रतिज्ञा तो ऐसी करता है कि मन-वचन-काय द्वारा सावद्य को न करूँगा, न कराऊँगा, परन्तु मन में तो विकल्प होता ही रहता है और वचन -काय में भी कदाचित् अन्यथा प्रवृत्ति होती है, वहाँ प्रतिज्ञाभंग होती है; अतः प्रतिज्ञाभंग करने की अपेक्षा, तो न करना भला है क्योंकि **प्रतिज्ञाभंग का महापाप है।**

फिर हम पूछते हैं–१. कोई प्रतिज्ञा भी नहीं करता है और भाषापाठ पढ़ता है, उसका अर्थ जानकर, उसमें उपयोग रखता है। तथा २. कोई प्रतिज्ञा करता है परन्तु उसे तो भलीभाँति पालता नहीं है और प्राकृतादि के पाठ पढ़ता है, उसके अर्थ का अपने को ज्ञान नहीं है परन्तु बिना अर्थ जाने, वहाँ उपयोग नहीं रहता है, तब उपयोग अन्यत्र भटकता है।

ऐसे इन दोनों में विशेष धर्मात्मा कौन ?–यदि पहले को कहोगे तो ऐसा ही उपदेश क्यों नहीं देते ? तथा दूसरे को कहोगे तो [क्या] प्रतिज्ञा भंग का पाप नहीं हुआ ?① और परिणामों के अनुसार, धर्मात्मापना नहीं ठहरा; पाठादि करने के अनुसार, ठहरा।

इसलिए अपना उपयोग जिस प्रकार निर्मल हो, वह कार्य करना; सध सके, वह प्रतिज्ञा करना; जिसका अर्थ जाने, वह पाठ पढ़ना। **पद्धति से ही नाम रखाने में लाभ नहीं है।**

---

① यहाँ मूल हस्तलिखित प्रति (पृष्ठ २०३) में '**प्रतिज्ञाभंग का पाप न भया ?**' – ऐसा पाठ है।

वहाँ '**पडिकमणो**' (प्रतिक्रमण) नाम, 'पूर्व दोष निराकरण' करने का है परन्तु '**मिच्छा मे दुक्कडं**'—इतना कहने ही से तो दुष्कृत मिथ्या नहीं होते; किये हुए दुष्कृत, मिथ्या होनेयोग्य परिणाम होनेपर होते हैं; इसलिए पाठ ही कार्यकारी नहीं है।

तथा **पडिकमणां** के पाठ में ऐसा अर्थ है कि बारह व्रतादि में जो दुष्कृत लगे हों, वे मिथ्या हों, परन्तु व्रतधारण किए बिना ही, उनका **पडिकमणां** करना कैसे सम्भव है? – जिसके उपवास न हो, वह उपवास में लगे दोष का निराकरण करे तो असम्भवपना हो। **इसलिए यह पाठ पढ़ना किस प्रकार बनता है ?**

तथा **पोसह** (प्रोषध) में भी सामायिकवत् प्रतिज्ञा करके, पालन नहीं करते; इसलिए पूर्वोक्त ही दोष होता है। वहाँ 'पोषह' नाम तो पर्व का है परन्तु पर्व के दिन भी कितने ही काल तक, पाप क्रिया करता है, पश्चात् पोषहधारी होता है। वहाँ जितने काल बने, उतने काल तक साधन करने का तो दोष नहीं है परन्तु 'पोषह' का नाम करे, वह युक्त नहीं है। सम्पूर्ण पर्व में निरवद्य रहनेपर ही 'पोषह' होता है। यदि थोड़े काल तक करने से भी पोषह नाम हो, तो सामायिक को भी पोषह कहो; नहीं तो शास्त्र में प्रमाण बतलाओ कि 'जघन्य पोषह' का इतना काल है। **यह तो बड़ा नाम रखकर, लोगों को भ्रमित करने का प्रयोजन भासित होता है।**

तथा आखड़ी लेने का पाठ तो अन्य कोई पढ़ता है, अंगीकार अन्य करता है परन्तु पाठ में तो 'मेरे त्याग है'—ऐसा वचन है; इसलिए जो त्याग करे, उसी को पाठ पढ़ना चाहिए। यदि पाठ न आए तो भाषा ही से कहना चाहिए, परन्तु पद्धति के लिए यह रीति है।

वहाँ प्रतिज्ञा ग्रहण करने-कराने की तो मुख्यता है और यथाविधि पालने की शिथिलता है और भाव, निर्मल होने का विवेक नहीं है। आर्त्तपरिणामों से या लोभादि से भी उपवासादि करके, वहाँ धर्म मानता है परन्तु फल तो परिणामों से होता है।

— इत्यादि अनेक कल्पित बातें करते हैं, जो जैनधर्म में सम्भव नहीं हैं।

इस प्रकार यह 'जैन में श्वेताम्बरमत' है, वह भी 'देवादि का, तत्त्वों का, व मोक्षमार्गादि का अन्यथा निरूपण' करता है; इसलिए मिथ्यादर्शनादि का पोषक है; अतः त्याज्य है।

'सच्चे जिनधर्म का स्वरूप' आगे कहते हैं, उसके द्वारा मोक्षमार्ग में प्रवर्तना योग्य है; वहाँ प्रवर्तने से तुम्हारा कल्याण होगा।

❁ ❁ ❁

– इति 'श्री मोक्षमार्गप्रकाशक' नामक शास्त्र में,

'अन्य मत निरूपण' [नामक पाँचवाँ अधिकार] समाप्त हुआ॥ ५॥

छठा अधिकार

कुदेव-कुगुरु-कुधर्म का निषेध

॥ ॐ नमः ॥

दोहा - **मिथ्या देवादिक भजें, हो है मिथ्याभाव।**
तजि तिनकों सांचे भजौ, यह हित-हेतु-उपाव॥

अथ, अनादि से जीवों के मिथ्यादर्शनादिभाव पाये जाते हैं, उनकी पुष्टता का कारण, कुदेव-कुगुरु-कुधर्म का सेवन है; उसका त्याग होनेपर, मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति होती है; इसलिए इनका निरूपण करते हैं —

कुदेव का निरूपण और उनके श्रद्धानादि का निषेध

वहाँ, **जो हित के कर्ता नहीं हैं परन्तु उनको भ्रम से हित का कर्ता जानकर, सेवन करते हैं, वे कुदेव हैं।** उनका सेवन, तीन प्रकार के प्रयोजनसहित करते हैं - कहीं तो 'मोक्ष का प्रयोजन' है; कहीं 'परलोक का प्रयोजन' है, और कहीं इस 'लोक का प्रयोजन' है परन्तु ये प्रयोजन तो सिद्ध नहीं होते, कुछ विशेष हानि होती है; इसलिए उनका सेवन, मिथ्याभाव है।

वह बतलाते हैं—अन्यमतों में जिनके सेवन से, मुक्ति का होना कहा है, उन्हें कितने ही जीव, 'मोक्ष के लिए सेवन' करते हैं परन्तु **मोक्ष होता नहीं है;** उनका वर्णन पहले (पाँचवें) 'अन्यमत अधिकार' में किया ही है।

तथा अन्यमत में कहे देवों को, कितने ही 'परलोक में सुख होगा; दुःख नहीं होगा' —ऐसे प्रयोजनसहित सेवन करते हैं। सो ऐसी सिद्धि तो 'पुण्य उपजाने और पाप न उपजाने' से होती है परन्तु आप तो पाप, उपजाता है और कहता है—'ईश्वर हमारा भला करेगा' तो वहाँ अन्याय ठहरा, क्योंकि 'किसी को पाप का फल दे, किसी को न दे'—ऐसा तो होता है नहीं। 'जैसे अपने परिणाम करेगा, वैसा ही फल पाएगा; ईश्वर किसी का बुरा-भला करनेवाला नहीं है।'

वहाँ उन देवों का सेवन करते हुए, उन देवों का तो नाम करते हैं और अन्य जीवों की हिंसा करते हैं तथा भोजन, नृत्यादि द्वारा अपनी इन्द्रियों का विषय-पोषण करते हैं परन्तु पापपरिणामों का फल तो लगे बिना रहता नहीं। हिंसा, विषय-कषाय आदि को सब पाप कहते हैं और पाप का फल भी सब बुरा ही मानते हैं तथा कुदेवों का सेवन करने में हिंसा, विषय आदि ही का अधिकार है; **इसलिए कुदेवों के सेवन से परलोक में भला नहीं होता।**

वहाँ बहुत से जीव, '**इस पर्यायसम्बन्धी** शत्रु नाशादि व रोगादि मिटाने एवं धनादि व पुत्रादि की प्राप्ति इत्यादि दु:ख मिटाने व सुख प्राप्त करने के अनेक प्रयोजनसहित कुदेवादि का सेवन' करते हैं; हनुमानादि को पूजते हैं; देवियों को पूजते हैं; गनगौर-साँझी आदि बनाकर, पूजते हैं; चौथ-शीतला-दहाड़ी आदि को पूजते हैं; **अऊत** (नि:सन्तान)-पितर-व्यन्तरादि को पूजते हैं; सूर्य-चन्द्रमा-शनिश्चर आदि ज्योतिषियों को पूजते हैं; पीर-पैगम्बरादि को पूजते हैं; गाय-घोड़ा आदि तिर्यंचों को पूजते हैं; अग्नि-जलादि को पूजते हैं; शस्त्रादि को पूजते हैं; **अधिक क्या कहें ? - रोड़ी इत्यादि को पूजते हैं।**

इस प्रकार कुदेवादि का सेवन, मिथ्यादृष्टि (मिथ्यादर्शन) होने से होता है क्योंकि प्रथम तो वह जिनका सेवन करता है, उनमें से कितने ही तो कल्पनामात्र देव हैं; **इसलिए उनका सेवन कार्यकारी कैसे होगा ?**

व्यन्तरादि का स्वरूप और उनके पूजने का निषेध

वहाँ, कितने ही व्यन्तरादि हैं—वे किसी का भला-बुरा करने को समर्थ नहीं हैं। यदि वे ही समर्थ हों तो वे ही कर्ता ठहरें, परन्तु उनके करने से कुछ होता दिखायी नहीं देता; वे प्रसन्न होकर, धनादि नहीं दे सकते और द्वेषी होकर, बुरा नहीं कर सकते।

यहाँ कोई कहे—दु:ख देते तो देखे जाते हैं; उन्हें मानने से, दु:ख देना रोक देते हैं ?

उसका उत्तर—इसके जब पाप का उदय हो, तब उनके ऐसी ही कुतूहलबुद्धि होती है, उससे वे चेष्टा करते हैं, चेष्टा करने से यह दु:खी होता है। तथा वे कुतूहल से कुछ कहें—यह उनका कहा हुआ करे,① तो वे चेष्टा करते हुए रुक जाते हैं तथा इसे शिथिल जानकर, कुतूहल करते रहते हैं। तथा **यदि इसके पुण्य का उदय हो तो कुछ कर सकते नहीं।**

ऐसा भी देखा जाता है—कोई जीव, उनको नहीं पूजते व उनकी निन्दा करते हैं, तो वे भी उससे द्वेष करते हैं परन्तु उसे दु:ख नहीं दे सकते।

ऐसा भी कहते देखे जाते हैं—अमुक हमको नहीं मानता, परन्तु उसपर हमारा कुछ वश नहीं है; इसलिए व्यन्तरादि कुछ करने में समर्थ नहीं हैं; इसके पुण्य-पाप ही से सुख -दु:ख होता है, उनके मानने-पूजने से उलटा रोग लगता है, कुछ कार्य-सिद्धि नहीं होती।

① यहाँ मूल हस्तलिखित प्रति में 'किछू कहै यह कह्या करै'—ऐसा पाठ है। विज्ञजन विचार करें।

वहाँ ऐसा जानना—जो कल्पितदेव हैं, उनका भी कहीं अतिशय-चमत्कार देखा जाता है परन्तु वह व्यन्तरादि द्वारा किया होता है। कोई पूर्व पर्याय में उनका सेवक था, पश्चात् मरकर, व्यन्तरादि हुआ और वहाँ उसे किसी निमित्त से ऐसी बुद्धि हुई, तब वह लोक में उनका सेवन करने की प्रवृत्ति कराने के लिए, कोई चमत्कार दिखाता है। भोला जगत्, किंचित् चमत्कार देखकर, उस कार्य में लग जाता है। जिस प्रकार जिन प्रतिमादि के भी अतिशय होना सुनते व देखते हैं परन्तु वे जिनकृत नहीं है; जैनी व्यन्तरादि कृत होते हैं; उसी प्रकार कुदेवों का कोई चमत्कार होता है, वह उनके अनुचर व्यन्तरादि द्वारा किया होता है—ऐसा जानना।

वहीं अन्यमत में परमेश्वर ने भक्तों की सहाय की व प्रत्यक्ष दर्शन दिए इत्यादि कहते हैं; वहाँ कितनी ही तो कल्पित बातें कहीं हैं। कितने ही उनके अनुचर व्यन्तरादि द्वारा किये गये कार्यों को परमेश्वर के किये कहते हैं। यदि वे परमेश्वर के किये हों तो परमेश्वर तो त्रिकालज्ञ है, सर्व प्रकार समर्थ है; वह भक्तों को दुःख किसलिए होने देगा?

तथा अब भी देखते हैं—म्लेच्छ आकर, भक्तों पर उपद्रव करते हैं, धर्म विध्वंस करते हैं, मूर्ति पर विघ्न करते हैं। यदि परमेश्वर को ऐसे कार्यों का ज्ञान न हो तो सर्वज्ञपना नहीं रहेगा; जानने के पश्चात् भी सहाय न करें तो भक्त वत्सलता गई और सामर्थ्य हीन हुआ। तथा साक्षीभूत रहता है तो पहले 'भक्तों को सहायता की' कहते हैं, वह भी झूठ है क्योंकि उसकी तो एक सी वृत्ति है।

फिर यदि कहोगे—वैसी भक्ति नहीं है; **तो** [**कहते हैं**—] म्लेच्छों से तो भले हैं और मूर्ति आदि तो उसी की स्थापना थी, उसे तो विघ्न नहीं होने देना था? वहाँ म्लेच्छ पापियों का उदय होता है, वह परमेश्वर का किया है या नहीं? यदि परमेश्वर का किया है तो निन्दकों को सुखी करता है, भक्तों को दुःख देनेवाले पैदा करता है, वहाँ भक्त वत्सलपना कैसे रहा? और यदि परमेश्वर का किया नहीं होता तो परमेश्वर सामर्थ्यहीन हुआ; इसलिए परमेश्वरकृत कार्य नहीं है। कोई अनुचर व्यन्तरादि ही चमत्कार दिखलाता है—ऐसा ही निश्चय करना।

यहाँ कोई पूछे—कोई व्यन्तर अपना प्रभुत्व कहता है, अप्रत्यक्ष को बतला देता है, और कोई कुस्थान निवासादि बतलाकर, अपनी हीनता कहता है; जो पूछते हैं, वह नहीं बतलाता, भ्रमरूप वचन कहता है, औरों को अन्यथा परिणमित करता है, दुःख देता है, इत्यादि विचित्रता किस प्रकार है?

उसका उत्तर—व्यन्तरों में प्रभुत्व की अधिकता-हीनता तो है परन्तु जो कुस्थान में निवासादि बतलाकर, हीनता दिखलाते हैं, वह तो कुतूहल से वचन कहते हैं। व्यन्तर,

बालक की भाँति कुतूहल करते रहते हैं। जिस प्रकार बालक, कुतूहल द्वारा अपने को हीन दिखलाता है, चिढ़ाता है, गाली सुनकर ऊँचे स्वर में रोता है, बाद में हँसने लग जाता है; उसी प्रकार व्यन्तर चेष्टा करते हैं। यदि कुस्थान ही के निवासी हों तो उत्तम स्थान में आते हैं, वहाँ किसके लाने से आते हैं? अपने आप आते हैं तो अपनी शक्ति होनेपर, कुस्थान में किसलिए रहते हैं? इसलिए इनका ठिकाना तो जहाँ उत्पन्न होते हैं, वहाँ इस पृथ्वी के नीचे व ऊपर है, वह मनोज्ञ है। कुतूहल के लिए जो चाहें, वह कहते हैं। यदि इनको पीड़ा होती हो तो रोते-रोते हँसने कैसे लग जाते हैं?

वहाँ इतना है—मन्त्रादि की अचिन्त्य शक्ति है; अतः किसी सच्चे मन्त्र के निमित्त -नैमित्तिक सम्बन्ध हो तो उसके किंचित् गमनादि नहीं हो सकते, किंचित् दुःख उत्पन्न हो, कोई (उससे) प्रबल उसे मना करे, तब रह जाता है या आप ही रह जाता है, इत्यादि मन्त्र की शक्ति है परन्तु उसे जलाना आदि नहीं होता। मन्त्रवाले जलाया कहते हैं परन्तु वह फिर प्रगट हो जाता है क्योंकि वैक्रियिकशरीर का जलाना आदि सम्भव नहीं है।

तथा व्यन्तरों का अवधिज्ञान—किसी को अल्प क्षेत्र-काल जानने का होता है, किसी को बहुत का होता है। वहाँ उनकी इच्छा हो और उन्हें स्वयं बहुत ज्ञान हो तो अप्रत्यक्ष के बारे में पूछनेपर, उसका उत्तर देते हैं; यदि अल्पज्ञान हो तो अन्य महान् ज्ञानी से पूछकर जवाब देते हैं और यदि अपने को अल्प ज्ञान हो व इच्छा न हो तो पूछनेपर भी उसका उत्तर नहीं देते-ऐसा जानना।

वहाँ अल्पज्ञानवाले व्यन्तरादि को उत्पन्न होने के पश्चात्, कितने ही काल तक, पूर्व-जन्म का ज्ञान हो सकता है, फिर उसका स्मरणमात्र रहता है; इसलिए वहाँ कोई इच्छा हो जाए तो आकर कुछ चेष्टा करें तो करें तथा पूर्वजन्म की बातें कहते हैं; कोई अन्य बात पूछे तो अवधिज्ञान तो थोड़ा है; बिना जाने किस प्रकार कहें? इसलिए जिसका उत्तर आप न दे सकें और इच्छा न हो, वहाँ मान-कुतूहलादि से उत्तर नहीं देते या झूठ बोलते हैं - ऐसा जानना।

तथा देवों में ऐसी शक्ति है—अपने व अन्य के शरीर को व पुद्गलस्कन्ध को जैसी इच्छा हो, वैसे परिणमित कराते हैं; इसलिए नाना आकारादिरूप आप होते हैं व अन्य नाना चरित्र दिखाते हैं। अन्य जीव के शरीर को, रोगादि युक्त करते हैं।

यहाँ इतना (विशेष) है—अपने शरीर को व अन्य पुद्गलस्कन्धों को तो जितनी शक्ति हो, उतने ही परिणमित करा सकते हैं; इसलिए सर्व कार्य करने की शक्ति नहीं है।

तथा अन्य जीव के शरीरादि को उसके पुण्य-पाप के अनुसार ही परिणमित करा सकते हैं; उसके पुण्य का उदय हो तो आप रोगादिरूप परिणमित नहीं करा सकते और पाप का उदय हो तो उसका इष्टकार्य नहीं करा सकते।

– ऐसे व्यन्तरादि की शक्ति जानना।

यहाँ कोई कहे—जिनमें इतनी शक्ति पायी जाए, उनके मानने-पूजने में क्या दोष?

उसका उत्तर—अपने पाप का उदय होनेपर, सुख नहीं दे सकते; पुण्य का उदय होनेपर, दु:ख नहीं दे सकते तथा उनको पूजने से कोई पुण्यबन्ध नहीं होता; रागादि की वृद्धि होने से, पाप ही होता है; इसलिए उनका मानना-पूजना, कार्यकारी नहीं है; बुरा करनेवाला है।

तथा जो व्यन्तरादि, मनवाते हैं, पुजवाते हैं, वे कुतूहल करते हैं; कुछ विशेष प्रयोजन नहीं रखते। जो उनको मानें-पूजें, उससे कुतूहल करते रहते हैं; जो नहीं मानते-पूजते, उनसे कुछ नहीं कहते।

यदि उनको प्रयोजन ही हो, तो न मानने-पूजनेवाले को बहुत दु:खी करें, परन्तु जिनके न मानने-पूजने का तीव्र निश्चय है, उनसे कुछ भी कहते दिखायी नहीं देते।

तथा प्रयोजन तो क्षुधादि की पीड़ा हो तो हो, परन्तु वह उनके व्यक्त नहीं है। यदि हो तो जब इनके लिए नैवेद्यादि देते हैं, उसे ग्रहण क्यों नहीं करते? व औरों को भोजनादि कराने को क्यों कहते हैं? इसलिए उनके कुतूहलमात्र क्रिया है; अत: आपको उनके कुतूहल का आयतन होनेपर, दु:ख होता है, हीनता होती है; इसलिए उनको मानना-पूजना योग्य नहीं है।

यहाँ कोई पूछे—व्यन्तर ऐसा कहते हैं कि गया आदि में पिण्डदान करो तो हमारी गति होगी, हम फिर नहीं आयेंगे; वह क्या है?

उसका उत्तर—जीवों में पूर्वभव का संस्कार तो रहता ही है। व्यन्तरों में भी पूर्वभव के स्मरणादि होने से, विशेष संस्कार होते हैं; उनके पूर्वभव में ऐसी ही वासना थी कि गयादि में पिण्डदानादि करनेपर, गति होती है; इसलिए ऐसे कार्य करने को कहते हैं।

यदि मुसलमान आदि मरकर व्यन्तर होते हैं, वे तो ऐसा नहीं कहते, वे तो अपने संस्काररूप ही वचन कहते हैं; इसलिए सर्व व्यन्तरों की गति वैसे ही होती हो तो सभी समान प्रार्थना करें परन्तु ऐसा नहीं है—ऐसा जानना।

– ऐसे व्यन्तरादि का स्वरूप जानना।

वहाँ सूर्य-चन्द्रमा-ग्रह आदि ज्योतिषी हैं; उनको पूजते हैं, वह भी भ्रम है। सूर्यादि को परमेश्वर का अंश मानकर, पूजते हैं परन्तु उनके तो एक प्रकाश की ही अधिकता भासित होती है परन्तु प्रकाशवान तो अन्य रत्नादि भी होते हैं; अन्य कोई ऐसा लक्षण नहीं है, जिससे उसे परमेश्वर का अंश मानें। तथा चन्द्रमादि को धनादि की प्राप्ति के लिए पूजते हैं परन्तु उनके पूजन से ही धन होता हो तो सर्व दरिद्री इस कार्य को करें; इसलिए यह मिथ्याभाव है।

ज्योतिष के विचार के अनुसार, खोटे ग्रह आदि आनेपर उनकी पूजनादि करते हैं, इसके लिए दानादि देते हैं परन्तु जिस प्रकार हिरणादि स्वयमेव गमनादि करते हैं और पुरुष के दाएँ-बाएँ आनेपर, सुख-दु:ख होने के आगामी ज्ञान को कारण (निमित्त) होते हैं परन्तु कुछ सुख-दु:ख देने को समर्थ नहीं हैं; उसी प्रकार ग्रहादि स्वयमेव गमनादि करते हैं और प्राणी के यथासम्भव योग (संयोग) को प्राप्त होनेपर, सुख-दु:ख होने के आगामी ज्ञान को कारण होते हैं परन्तु कुछ सुख-दु:ख देने को समर्थ नहीं हैं।

कोई तो उन (ग्रहादि) का पूजनादि करते हैं, उसका भी इष्ट नहीं होता और कोई नहीं करता, उसका भी इष्ट होता है; इसलिए उनका पूजनादि करना, मिथ्याभाव है।

यहाँ कोई कहे—देना (दान) तो पुण्य है, वह भला ही है ?

उसका उत्तर—धर्म के लिए देना, पुण्य है परन्तु यह तो दु:ख के भय से व सुख के लोभ से देता है; इसलिए पाप ही है।

इत्यादि अनेक प्रकार से ज्योतिषीदेवों को पूजते हैं, वह सब मिथ्यात्व है।

तथा देवी-दिहाड़ी आदि हैं, वे कितनी ही तो व्यन्तरी व ज्योतिषिनी हैं, उनका अन्यथा स्वरूप मानकर, पूजनादि करते हैं; उनमें कितनी ही कल्पित हैं; अत: उनकी कल्पना करके, पूजनादि करते हैं।

इस प्रकार व्यन्तरादि को पूजने का निषेध किया।

क्षेत्रपाल-पद्मावती आदि पूजने का निषेध

यहाँ कोई कहे—क्षेत्रपाल-दिहाड़ी-पद्मावती आदि देवियाँ तथा यक्ष-यक्षिणी आदि जो जिनमत का अनुसरण करते हैं, उनके पूजनादि करने में तो दोष नहीं है ?

उसका उत्तर—जिनमत में संयम धारण करनेपर, पूज्यपना होता है परन्तु देवों के संयम होता ही नहीं तथा इनको सम्यक्त्वी मानकर पूजते हैं परन्तु भवनत्रिक में सम्यक्त्व की भी मुख्यता नहीं है। यदि सम्यक्त्व से ही पूजते हैं तो सर्वार्थसिद्धि के देव व लौकान्तिक देव, उन्हें ही क्यों नहीं पूजते हैं ?

फिर कहोगे—इनमें जिनभक्ति विशेष है।

उनसे [कहते हैं—] भक्ति की विशेषता भी सौधर्म इन्द्र को है, वह सम्यग्दृष्टि भी है; अत: उसे छोड़कर, इन्हें किसलिए पूजते हैं ?

फिर यदि कहोगे—जैसे—राजा के प्रतिहार आदि होते हैं; वैसे तीर्थंकर के क्षेत्रपाल आदि होते हैं।

उनसे [कहते हैं—] समवसरण आदि में इनका अधिकार नहीं है; यह तो झूठी मान्यता है। तथा जैसे—प्रतिहारादि के मिलानेपर, राजा से मिलते हैं; वैसे ये तीर्थंकर से नहीं मिलाते। वहाँ तो जिसके भक्ति हो, वही तीर्थंकर के दर्शनादि करता है; कोई किसी के आधीन नहीं है।

देखो, अज्ञानता! आयुधादि सहित रौद्रस्वरूप है जिनका, उनकी गा-गाकर भक्ति करते हैं—ऐसे [यदि] जिनमत में भी रौद्ररूप पूज्य हुआ, तो यह भी अन्यमत ही के समान हुआ। तीव्र मिथ्यात्वभाव से, जिनमत में भी ऐसी विपरीत प्रवृत्ति का मानना होता है।

— ऐसे क्षेत्रपाल आदि को भी पूजना, योग्य नहीं है।

वहाँ गाय-सर्पादि तिर्यंच हैं, वे प्रत्यक्ष ही अपने से हीन भासित होते हैं; (कोई भी) उनका तिरस्कारादि कर सकता है, उनकी निन्द्यदशा प्रत्यक्ष देखी जाती है। तथा वृक्ष, अग्नि, जलादि स्थावर हैं; वे तिर्यंचों से भी अत्यन्त हीन अवस्था को प्राप्त देखे जाते हैं।

तथा शस्त्र, दवात आदि अचेतन हैं, वे प्रत्यक्ष सर्व शक्ति से हीन भासित होते हैं; उनमें पूज्यपने का उपचार भी सम्भव नहीं है; इसलिए इनका पूजना महामिथ्याभाव है। इनको पूजने से प्रत्यक्ष व अनुमान द्वारा, कुछ भी फल प्राप्ति भासित नहीं होती; इसलिए इनको पूजना, योग्य नहीं है।

इस प्रकार सर्व ही कुदेवों को पूजना-मानना, निषिद्ध है।

देखो, मिथ्यात्व की महिमा! लोक में अपने से हीन को नमन करने में, अपने को निन्द्य मानते हैं और मोहित होकर, रोड़ी तक को पूजते हुए भी निन्द्यपना नहीं मानते। तथा लोक में तो जिससे प्रयोजन सिद्धि होती जानें, उसी की सेवा करते हैं परन्तु कुदेवों से मेरा प्रयोजन कैसे सिद्ध होगा?—ऐसा बिना विचारे ही, मोहित होकर, कुदेवों का सेवन करते हैं।

कुदेवों का सेवन करते हुए, हजारों विघ्न होते हैं, उन्हें तो गिनते नहीं हैं और किसी पुण्य के उदय से, इष्टकार्य हो जाए तो कहते हैं—इसके सेवन से यह कार्य हुआ। तथा कुदेवादि का सेवन किये बिना, जो इष्टकार्य हों, उन्हें तो गिनते नहीं हैं और कोई अनिष्ट हो जाये तो कहते हैं—इसका सेवन नहीं किया; इसलिए अनिष्ट हुआ।

इतना नहीं विचारते हैं—इन्हीं के आधीन इष्ट-अनिष्ट करना हो तो जो पूजते हैं, उनका इष्ट होगा; जो नहीं पूजते, उनका अनिष्ट होगा, परन्तु ऐसा दिखायी नहीं देता। जैसे—किसी के शीतला को बहुत माननेपर भी, पुत्रादि मरते देखे जाते हैं; किसी के बिना माने भी, जीवित रहते देखे जाते हैं; इसलिए शीतला का मानना, कुछ भी कार्यकारी नहीं है।

इसी प्रकार सर्व कुदेवों का मानना, कुछ भी कार्यकारी नहीं है।

यहाँ कोई कहे—कार्यकारी नहीं है तो न हो, उनके मानने से बिगाड़ भी तो नहीं होता?

उसका उत्तर—यदि बिगाड़ न हो तो हम क्यों निषेध करें ? परन्तु एक तो मिथ्यात्वादि दृढ़ होने से, मोक्षमार्ग दुर्लभ हो जाता है—यह बड़ा बिगाड़ है और एक पापबन्ध होने से, आगामी दु:ख पाते हैं - यह भी बिगाड़ है।

यहाँ पूछते हैं—मिथ्यात्वादि भाव तो अतत्त्वश्रद्धानादि होनेपर होते हैं और पापबन्ध, खोटे कार्य करने से होता है; अत: उनके मानने से मिथ्यात्वादि व पापबन्ध किस प्रकार होंगे ?

उसका उत्तर—प्रथम तो परद्रव्यों को इष्ट-अनिष्ट मानना ही मिथ्या है क्योंकि कोई द्रव्य, किसी का मित्र-शत्रु है नहीं तथा जो इष्ट-अनिष्ट की बुद्धि पायी जाती है①, उसका कारण, पुण्य-पाप हैं; इसलिए जैसे—पुण्यबन्ध हो, पापबन्ध न हो, वह करना।

तथा यदि कर्मउदय का भी निश्चय न हो तो इष्ट-अनिष्ट के बाह्यकारणों के संयोग -वियोग का उपाय करे, परन्तु कुदेव को मानने से, इष्ट-अनिष्टबुद्धि दूर नहीं होती; केवल वृद्धि को प्राप्त होती है तथा उससे पुण्यबन्ध भी नहीं होता; पापबन्ध होता है।

वहाँ कुदेव, किसी को धनादि देते या छुड़ा लेते नहीं देखे जाते; इसलिए ये बाह्यकारण भी नहीं हैं; इनकी मान्यता किसलिए करते हैं ?—जब अत्यन्त भ्रमबुद्धि होती है, जीवादि तत्त्वों के श्रद्धान-ज्ञान का अंश भी नहीं होता है और राग-द्वेष की अति तीव्रता होती है, तब जो कारण नहीं हैं, उन्हें भी इष्ट-अनिष्ट का कारण मानते हैं, तब कुदेवों की मान्यता होती है—ऐसे तीव्र मिथ्यात्वादि भाव होनेपर, मोक्षमार्ग अति दुर्लभ हो जाता है।

कुगुरु का निरूपण और उसके श्रद्धानादि का निषेध

अब, **कुगुरु के श्रद्धानादि का निषेध** करते हैं —

जो जीव, विषय-कषायादि अधर्मरूप तो परिणमित होते हैं और मानादि से अपने को धर्मात्मा मनवाते हैं, धर्मात्मा के योग्य नमस्कारादि क्रिया कराते हैं अथवा किंचित् धर्म का कोई अंग धारण करके, बड़े धर्मात्मा कहलाते हैं, बड़े धर्मात्मायोग्य क्रिया कराते हैं—ऐसे धर्म का आश्रय करके, अपने को बड़ा मनवाते हैं, वे सब कुगुरु जानना क्योंकि धर्मपद्धति में तो विषय -कषायादि छूटनेपर, जिस प्रकार धर्म को धारण करते हैं; उस प्रकार ही अपना पद मानना, योग्य है।

कुलादि अपेक्षा गुरुपने का निषेध

वहाँ कितने ही तो कुल से आप को गुरु मानते हैं; उनमें कुछ ब्राह्मणादि तो कहते हैं —हमारा कुल ही ऊँचा है; इसलिए हम सबके गुरु हैं परन्तु कुल की उच्चता तो धर्मसाधने से है। **यदि कोई उच्चकुल में उत्पन्न होकर, हीन आचरण करे तो उसे उच्च कैसे मानें ?**

① यहाँ मूल हस्तलिखित प्रति (पृष्ठ २१३/१६) में '**बहुरि जो इष्ट-अनिष्ट बुद्धि पाईए है**' - ऐसा पाठ है।

यदि कुल में उत्पन्न होने से ही, उच्चपना रहे तो माँस भक्षणादि करनेपर भी, उसे उच्च ही मानो, परन्तु वह बनता नहीं है।

भारत (महाभारत) ग्रन्थ में भी अनेक प्रकार के ब्राह्मण कहे है—वहाँ जो ब्राह्मण होकर, चाण्डाल (का) कार्य करे, उसे 'चाण्डाल ब्राह्मण' कहना—ऐसा कहा है। यदि कुल ही से उच्चपना हो तो, ऐसी हीनसंज्ञा किसलिए दी है ?

वैष्णवशास्त्रों में ऐसा भी कहते हैं—वेदव्यास आदि, मछली आदि से उत्पन्न हुए हैं; वहाँ कुल का अनुक्रम किस प्रकार रहा ? तथा मूल उत्पत्ति तो ब्रह्मा से कहते हैं; इसलिए सबका एक कुल है; भिन्न कुल कैसे रहा ? तथा उच्चकुल की स्त्री का, नीचकुल के पुरुष से व नीचकुल की स्त्री का, उच्चकुल के पुरुष से संगम होने से, सन्तति होती देखी जाती है; वहाँ कुल का प्रमाण किस प्रकार रहा ?

यदि कदाचित् कहोगे—ऐसा है तो उच्च-नीच कुल का विभाग किसलिए मानते हो ?

उनसे [कहते हैं—] लौकिक कार्यों में असत्य प्रवृत्ति भी सम्भव है परन्तु धर्मकार्य में तो असत्यता सम्भव नहीं है; इसलिए धर्मपद्धति में कुल अपेक्षा, महन्तपना सम्भव नहीं है। धर्मसाधन ही से, महन्तपना होता है। ब्राह्मण आदि कुलों में जो महन्तपना है, वह धर्मप्रवृत्ति से है; धर्मप्रवृत्ति को छोड़कर, हिंसादि पाप में प्रवर्तने से, महन्तपना किस प्रकार रहेगा ?

कोई कहते हैं—हमारे बड़े (पूर्वज), भक्त हुए हैं, सिद्ध हुए हैं, धर्मात्मा हुए हैं; हम उनकी सन्तति में हैं; इसलिए हम गुरु हैं।

उनसे [कहते हैं—] उन बड़ों के बड़े तो ऐसे उत्तम थे नहीं। यदि उनकी सन्तति में उत्तम कार्य करने से, उत्तम मानते हो तो उत्तम पुरुष की सन्तति में जो उत्तम कार्य न करे, उसे उत्तम किसलिए मानते हो ?

वहाँ शास्त्रों में व लोक में यह प्रसिद्ध है—पिता, शुभकार्य करके, उच्चपद प्राप्त करता है; पुत्र, अशुभकार्य करके, नीचपद को प्राप्त करता है अथवा पिता, अशुभकार्य करके, नीचपद को प्राप्त करता है; पुत्र, शुभकार्य करके, उच्चपद को प्राप्त करता है। इसलिए बड़ों (पूर्वजों) की अपेक्षा, महन्त मानना, योग्य नहीं है।

इस प्रकार कुल द्वारा गुरुपना मानना, मिथ्याभाव जानना।

वहाँ कितने ही पट्ट द्वारा गुरुपना मानते हैं—पूर्व काल में कोई महन्त पुरुष हुआ हो, उसके पट्ट पर जो शिष्य-प्रतिशिष्य होते आए हों, उनमें उस महत्पुरुष जैसे गुण न होनेपर भी, गुरुपना मानते हैं। यदि ऐसा ही हो तो उस पट्ट पर, कोई परस्त्रीगमन आदि महा-पापकार्य करेगा, वह भी धर्मात्मा होगा, सुगति को प्राप्त होगा, परन्तु यह सम्भव नहीं है और वह पापी है तो उसे पट्ट का अधिकार कहाँ रहा ? **जो गुरुपदयोग्य कार्य करे, वही गुरु है।**

वहाँ कितने ही पहले तो स्त्री आदि के त्यागी थे, बाद में भ्रष्ट होकर, विवाह आदि कार्य करके गृहस्थ हुए, उनकी सन्तति अपने को गुरु मानती है परन्तु भ्रष्ट होने के बाद, गुरुपना किस प्रकार रहा? अन्य गृहस्थों के समान ये भी हुए।

इतना विशेष हुआ—ये भ्रष्ट होकर गृहस्थ हुए; इन्हें मूल गृहस्थधर्मी, गुरु कैसे मानें?

तथा कितने ही—अन्य तो सर्व पापकार्य करते हैं; एक, स्त्री से विवाह नहीं करते और इसी अंग के कारण, गुरुपना मानते हैं परन्तु एक (अकेला) अब्रह्म ही तो पाप नहीं है; हिंसा -परिग्रहादि भी पाप हैं, उन्हें करते हुए धर्मात्मा-गुरु किस प्रकार मानें? तथा वे धर्मबुद्धि से विवाहादि के त्यागी नहीं हुए हैं परन्तु किसी आजीविका व लज्जा आदि प्रयोजन से, विवाह नहीं करते; उसके यदि धर्मबुद्धि होती तो हिंसादि किसलिए बढ़ाता? तथा जिसके धर्मबुद्धि नहीं है, उसके शील की भी दृढ़ता नहीं रहती और जब विवाह नहीं करता, तब परस्त्रीगमन आदि महापाप उत्पन्न करता है—ऐसी क्रिया होनेपर, गुरुपना मानना, महाभ्रमबुद्धि है[१]।

वहाँ कितने ही—किसी प्रकार का भेष धारण करने से, गुरुपना मानते हैं परन्तु भेष धारण करने से, कौनसा धर्म हुआ कि जिससे धर्मात्मा-गुरु मानें? वहाँ कोई टोपी लगाते हैं, कोई गुदड़ी रखते हैं, कोई चोला पहिनते हैं, कोई चादर ओढ़ते हैं, कोई लाल वस्त्र रखते हैं, कोई श्वेत वस्त्र रखते हैं, कोई भगवा रखते हैं, कोई टाट पहिनते हैं, कोई मृग-छाला रखते हैं, कोई राख लगाते हैं, इत्यादि अनेक स्वांग बनाते हैं परन्तु यदि शीत-उष्णादि नहीं सहे जाते थे, लज्जा नहीं छूटी थी तो पगड़ी-जामा इत्यादि प्रवृत्तिरूप वस्त्रादि का त्याग किसलिए किया? उनको छोड़कर, ऐसे स्वांग बनाने में, धर्म का कौनसा अंग हुआ?

गृहस्थों को ठगने के लिए ऐसे भेष जानना—यदि गृहस्थ जैसा अपना स्वांग रखे तो गृहस्थ कैसे ठगे जाएँगे? जबकि इन्हें उनके माध्यम से आजीविका का या धनादि का या मानादि का प्रयोजन साधना है; इसलिए ऐसे स्वांग बनाते हैं। भोला जगत, उस स्वांग को देखकर ठगाता है और धर्म हुआ मानता है परन्तु यह भ्रम है। यही कहा है —

जह कुवि वेस्सारत्तो, मुसिज्जमाणो वि मण्णए हरिसं।
तह मिच्छ-वेस-मुसिया, गयं पि ण मुणंति धम्म-णिहिं॥[२]

इसका अर्थ—जैसे—कोई वेश्यासक्त पुरुष, धनादि को ठगाते हुए भी हर्ष मानता है; उसी प्रकार मिथ्याभेष द्वारा ठगे गये जीव, नष्ट होते हुए धर्मधन को नहीं जानते हैं।

भावार्थ—इन मिथ्यावेषवाले जीवों की सुश्रुषा आदि से, [जीवों का] अपना धर्मधन नष्ट होता है, उसका विषाद नहीं है; मिथ्याबुद्धि से हर्ष करते हैं।

---

[१] यहाँ मूल प्रति (पृष्ठ २१६/१२) में '**महाभ्रमबुद्धि है**' - ऐसा पाठ है। [२] उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला, गाथा ५

कोई तो मिथ्याशास्त्रों में जो वेष निरूपित किये हैं, उनको धारण करते हैं परन्तु उन शास्त्रों को रचनेवाले पापियों ने, सुगम क्रिया से उच्चपद की प्ररूपणा करने से, मेरी मान्यता होगी व अन्य बहुत से जीव, इस मार्ग में लग जाएँगे—इस अभिप्राय से मिथ्या उपदेश दिया है; उनकी परम्परा में विचाररहित जीव, इतना भी विचार नहीं करते कि वे सुगम क्रिया से उच्च-पद होना बतलाते हैं; अतः यहाँ कुछ दगा है परन्तु भ्रम से उनके कहे हुए मार्ग में प्रवर्तते हैं।

वहाँ किन्हीं शास्त्रों में तो कठिन मार्ग निरूपित किया है, वह तो सधता नहीं है परन्तु अपना ऊँचा नाम धराए बिना, लोग मानेंगे नहीं—इस अभिप्राय से यति, मुनि, आचार्य, उपाध्याय, साधु, भट्टारक, संन्यासी, योगी, तपस्वी, नग्न, इत्यादि नाम तो ऊँचा रखते हैं और इनके आचरणों की साधना कर नहीं सकते; इसलिए इच्छानुसार नाना वेष बनाते हैं तथा कितने ही अपनी इच्छानुसार ही नवीन नाम धारण करते हैं और इच्छानुसार ही वेष बनाते हैं।

— ऐसे अनेक वेष धारण करने से, गुरुपना मानते हैं परन्तु यह मिथ्या है।

यहाँ कोई पूछे—वेष तो बहुत प्रकार के दिखते हैं, उनमें सच्चे-झूठे वेष की पहिचान किस प्रकार होगी?

उसका समाधान—जिन वेषों में विषय-कषाय का कुछ भी लगाव नहीं है, वे वेष सच्चे हैं—ऐसे सच्चे वेष, तीन प्रकार के हैं; अन्य सर्व वेष मिथ्या हैं।

वही 'षट्पाहुड़' (अष्टपाहुड़) में श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है —

एगं जिणस्स रूवं, विदियं उक्किट्ठ-सावयाणं तु।
अवरट्ठियाण तइयं, चउत्थं पुण लिंग दंसणं णत्थि॥ (दर्शनपाहुड़, गाथा १८)

इसका अर्थ—एक तो जिनस्वरूप—निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि का लिंग; दूसरा, उत्कृष्ट श्रावकों का रूप—दशवीं-ग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावक का लिंग; तीसरा, आर्यिकाओं का रूप, यह स्त्रियों का लिंग—ऐसे ये तीन लिंग तो श्रद्धानपूर्वक हैं तथा चौथा कोई लिंग सम्यग्दर्शनस्वरूप नहीं है।

भावार्थ—इन तीन लिंग के अतिरिक्त, अन्य लिंग को जो मानता है, वह श्रद्धानी नहीं है; मिथ्यादृष्टि है। तथा इन वेषियों में कितने ही वेषी, अपने वेष की प्रतीति कराने के लिए, किंचित् धर्म के अंग को भी पालते हैं। **जैसे—खोटा रुपया चलानेवाला, उसमें चाँदी का अंश भी रखता है; वैसे धर्म का कोई अंग दिखाकर, अपना उच्चपद मनवाते हैं।**

यहाँ कोई कहे—जो धर्मसाधन किया, उसका तो फल होगा?

उसका उत्तर—जैसे—उपवास का नाम रखाकर, कणमात्र भी भक्षण करे तो पापी है और एकंत (एकाशन) का नाम रखाकर, किंचित् कम भोजन करे, तब भी धर्मात्मा है; वैसे

उच्च पदवी का नाम रखाकर, उसमें किंचित् भी अन्यथा प्रवर्ते तो महापापी है और नीची पदवी का नाम रखाकर, किंचित् भी धर्मसाधन करे तो धर्मात्मा है; इसलिए धर्मसाधन तो जितना बने, उतना ही करना, कुछ दोष नहीं है परन्तु ऊँचा धर्मात्मा नाम धराकर, नीची क्रिया करने से, महापाप ही होता है।

वही 'षट्पाहुड़' (अष्टपाहुड़) में कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है —

जहजायरूवसरिसो, तिलतुसमेत्तं ण गिण्हदि हत्थेसु।
जइ लेइ अप्पबहुयं, तत्तो पुण जाइ णिग्गोदं॥ (सूत्रपाहुड़, गाथा १८)

इसका अर्थ—जो मुनिपद है, वह यथाजातरूप सदृश है; जैसा जन्म होते समय था, वैसा नग्न है; अत: **वह मुनि, अर्थ माने धन-वस्त्रादि वस्तुओं में, तिल के तुषमात्र भी ग्रहण नहीं करता; यदि कदाचित् अल्प या बहुत वस्तु ग्रहण करता है तो उससे निगोद जाता है।**

इसलिए यहाँ देखो! गृहस्थपने में बहुत परिग्रह रखकर, कुछ प्रमाण करे तो भी, स्वर्ग—मोक्ष का अधिकारी होता है और मुनिपने में किंचित् परिग्रह अंगीकार करनेपर भी, निगोद जानेवाला होता है; इसलिए ऊँचा नाम धराकर, नीची प्रवृत्ति करना युक्त नहीं है।

देखो! हुण्डावसर्पिणी काल में यह कलिकाल (पंचम काल) वर्त रहा है।

जिनमत में तो मुनि का स्वरूप ऐसा है—जहाँ बाह्य-अभ्यन्तर परिग्रह का लगाव नहीं है; केवल अपने आत्मा का आपरूप अनुभव करते हुए, शुभाशुभभावों से उदासीन रहते हैं।'

परन्तु अब [काल के दोष से] विषय-कषायासक्त जीव, मुनिपद धारण करते हैं; वहाँ सर्वसावद्य के त्यागी होकर, पंचमहाव्रतादि अंगीकार करते हैं परन्तु श्वेत-रक्तादि वस्त्रों को ग्रहण करते हैं, भोजनादि में लोलुपी होते हैं, अपनी पद्धति बढ़ाने के उद्यमी होते हैं, कितने ही धनादि भी रखते हैं, हिंसादि करते हैं व नाना आरम्भ करते हैं परन्तु जब अल्प परिग्रह ग्रहण करने का फल, निगोद कहा है, तब ऐसे पापों का फल तो अनन्त संसार होगा ही होगा।

लोगों की अज्ञानता तो देखो! कोई एक छोटी भी प्रतिज्ञा भंग करे, उसे तो पापी कहते हैं और ऐसी बड़ी प्रतिज्ञा भंग करते देखकर भी, गुरु मानते हैं, उनका मुनिवत् सम्मानादि करते हैं परन्तु शास्त्र में कृत-कारित-अनुमोदना का फल (समान) कहा है; इसलिए उनको भी वैसा ही फल लगता है।

मुनिपद लेने का क्रम तो यह है—पहले तत्त्वज्ञान होता है, पश्चात् उदासीनपरिणाम होते हैं, परिषहादि सहने की शक्ति होती है, फिर जब वह स्वयमेव मुनि होना चाहता है, तब श्रीगुरु, मुनिधर्म अंगीकार कराते हैं।

यह कैसी विपरीतता है—तत्त्वज्ञानरहित विषय-कषायासक्त जीवों को माया से या लोभ दिखाकर, मुनिपद देना, पश्चात् अन्यथा प्रवृत्ति कराना - यह बड़ा अन्याय है।

इस प्रकार कुगुरु व उनके सेवन का निषेध किया।

अब, इस कथन को दृढ़ करने के लिए, शास्त्रों की साक्षी देते हैं —

वहाँ '**उपदेश सिद्धान्तरत्नमाला**' में ऐसा कहा है —

गुरुणो भट्टा जाया, सद्दे थुणिऊण लिंति दाणाइं।
दोण्णि वि अमुणिय सारा, दूसमि समयम्मि बुड्ढंति॥ ३१॥

इसका अर्थ—कालदोष से जो गुरु हैं, वे तो भाट हुए; भाटवत् शब्दों द्वारा दातार की स्तुति करके, दानादि ग्रहण करते हैं; इसलिए इस दु:खमकाल में दोनों ही - दातार व पात्र, संसार में डूबते हैं। **और भी वहाँ कहा है —**

सप्पे दिट्ठे णासइ, लोओ ण हि को वि किं पि अक्खेइ।
जो चयइ कुगुरु-सप्पं, हा मूढा भणंति तं दुट्ठं॥ ३६॥

इसका अर्थ—सर्प को देखकर कोई भागे, उसे तो लोग कुछ भी नहीं कहते परन्तु हाय! हाय!! देखो! जो कुगुरु (नामक) सर्प का त्याग करते हैं, उन्हें मूढ़लोग, दुष्ट कहते हैं, बुरा बोलते हैं।

सप्पो इक्कं मरणं, कुगुरु अणंताइ देइ मरणाइं।
तो वर सप्पं गहियं, मा कुरु कुगुरु सेवणं भद्दं॥ ३७॥

इसका अर्थ—अहो! सर्प द्वारा तो एक ही बार मरण होता है और कुगुरु, अनन्त मरण देता है, अनन्तबार जन्म-मरण कराता है; इसलिए हे भद्र! सर्प का ग्रहण तो भला, परन्तु कुगुरु का सेवन भला नहीं है।

– इस श्रद्धान को दृढ़ करने में कारणभूत और भी बहुत गाथाएँ वहाँ कही हैं, उन्हें उस ग्रन्थ [**उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला**] से जान लेना।

तथा '**संघपट्ट**' में ऐसा कहा है —

क्षुत्क्षामः किल कोऽपि रंक-शिशुकः, प्रव्रज्य चैत्ये क्वचित्।
कृत्वा किंचन-पक्षमक्षत-कलिः, प्राप्तस्तदाचार्यकम्॥
चित्रं चैत्य-गृहे गृहीयति निजे, गच्छे कुटुम्बीयति।
स्वं शक्रीयति बालिशीयति बुधान्, विश्वं वराकीयति॥

इसका अर्थ—देखो! क्षुधा से कृश किसी रंक का बालक, कहीं चैत्यालयादि में दीक्षा धारणकर, पापरहित न होता हुआ, किसी पक्ष द्वारा आचार्यपद को प्राप्त हुआ; वह चैत्यालय में अपने गृहवत् प्रवर्तता है, निजगच्छ में कुटुम्बवत् प्रवर्तता है, अपने को इन्द्रवत् महान मानता है, ज्ञानियों को बालकवत् अज्ञानी मानता है, सर्व गृहस्थों को रंकवत् मानता है - यह बड़ा आश्चर्य है।

इसी प्रकार '**यैर्जातो न च, वर्धितो न च, न च क्रीतो**' इत्यादि काव्य है, उसका अर्थ ऐसा है—जिनसे जन्म नहीं हुआ है, पालन नहीं हुआ है, मोल नहीं लिया है, देनदार नहीं हुआ है, इत्यादि किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है और गृहस्थों को वृषभवत् हाँकते हैं, जबरदस्ती दानादि लेते हैं; अरेरे! हाय हाय!! यह जगत्, राजा से रहित है; कोई न्याय पूछनेवाला नहीं है।

— ऐसे ही इस श्रद्धान के पोषक काव्य वहाँ हैं, उन्हें उस ग्रन्थ से जानना।

यहाँ कोई कहता है—यह तो श्वेताम्बरविरचित उपदेश है; उनकी साक्षी किसलिए दी?

उसका उत्तर—जैसे—जिसका हीनपुरुष निषेध करें, उसका उत्तमपुरुष को तो सहज ही निषेध हुआ; उसी प्रकार जिनके वस्त्रादि उपकरण कहे, वे ही जिसका निषेध करें, तब दिगम्बरधर्म में तो ऐसी विपरीतता का, सहज ही निषेध हुआ।

दिगम्बरग्रन्थों में भी इसी श्रद्धान के पोषक वचन हैं। वहाँ श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत 'षट्पाहुड़' [अष्टपाहुड़] में ऐसा कहा है —

दंसण-मूलो धम्मो, उवइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साणं।
तं सोऊण सकण्णे, दंसण-हीणो ण वंदिव्वो॥ (दर्शनपाहुड़, गाथा २)

इसका अर्थ—सम्यग्दर्शन है मूल जिसका, ऐसा जिनवर द्वारा उपदेशित धर्म है; उसे सुनकर, हे कर्णसहित पुरुषो! यह मानो कि **सम्यक्त्वरहित जीव, वन्दनायोग्य नहीं है।**

जो आप कुगुरु हैं, वे कुगुरु के श्रद्धानरहित सम्यक्त्वी कैसे हो सकते हैं ① बिना सम्यक्त्व, अन्य धर्म भी नहीं होता तथा धर्म के बिना, वन्दने योग्य कैसे हो सकते हैं?

जे दंसणेसु भट्ठा, णाणे भट्ठा चरित्तभट्ठा य।
एदे भट्ठ वि भट्ठा, सेसं पि जणं विणासंति॥ (दर्शनपाहुड़, गाथा ८)

[**इसका अर्थ**—] जो दर्शन में भ्रष्ट हैं, ज्ञान में भ्रष्ट हैं, चारित्र में भ्रष्ट हैं; वे जीव, भ्रष्ट से भी भ्रष्ट हैं और भी जो जीव, उनका उपदेश मानता है; वे, उस जीव का नाश करते हैं, बुरा करते हैं।

जे दंसणेसु भट्ठा, पाए पाडंति दंसण-धराणं।
ते होंति लल्ल-मूआ, बोही पुण दुल्लहा तेसिं॥ (दर्शनपाहुड़, गाथा १२)

[**उसका अर्थ**—] जो आप तो सम्यक्त्व से भ्रष्ट हैं और सम्यक्त्वधारियों से अपने पैर पड़वाना चाहते हैं, वे लूले-गूँगे होते हैं; भाव यह है कि वे स्थावर होते हैं तथा उनको बोधि की प्राप्ति, महादुर्लभ होती है।

---

① मूल हस्तलिखित प्रति (पृष्ठ २२२) में यहाँ लिखा है—'**जे आप कुगुरु, ते कुगुरु का श्रद्धानरहित, सम्यक्ती कैसें होइ।**'

जे वि पडंति च तेसिं, जाणंता लज्जा-गारव-भयेण।
तेसिं पि णत्थि बोही, पावं अणुमोयमाणाणं॥ (दर्शनपाहुड़, गाथा १३)

इसका अर्थ—जो जानते हुए भी, लज्जा, गारव (मद) और भय से, उनके पैर पड़ते हैं, उनको भी बोधि अर्थात् सम्यक्त्व नहीं है। **कैसे हैं वे जीव ?**—वे पाप की अनुमोदना करते हैं; पापियों का सम्मानादि करने से, (उन्हें) उस पाप की अनुमोदना का फल लगता है।

जस्स परिग्गह-गहणं, अप्पं बहुयं च हवइ लिंगस्स।
सो गरहिउ जिण-वयणे, परिगह-रहिओ णिरायारो॥ (सूत्रपाहुड़, गाथा १९)

इसका अर्थ—जिस लिंग में थोड़ा व बहुत परिग्रह का अंगीकार हो, वह जिनवचन में निन्दायोग्य है; परिग्रहरहित ही अनगार होता है।

धम्मम्मि णिप्पवासो, दोसावासो य इच्छु-फुल्ल-समो।
णिप्फल-णिग्गुणयारो, णड-सवणो णग्ग-रूवेण॥ (भावपाहुड़, गाथा ७१)

इसका अर्थ—जो धर्म में निरुद्यमी है, दोषों का घर है, इक्षु-फूल के समान निष्फल है, गुण के आचरण से रहित है; वह नग्नरूप से नट-श्रमण है, भाण्डवत् वेशधारी है। यहाँ नग्न होनेपर, भाण्ड का दृष्टान्त सम्भव है; परिग्रह रखनेपर तो यह दृष्टान्त भी नहीं बनता।

जे पावमोहियमई, लिंगं घेत्तूण जिणवरिंदाणं।
पावं कुणंति पावा, ते चत्ता मोक्ख-मग्गम्मि॥ (मोक्षपाहुड़, गाथा ७८)

इसका अर्थ—पाप से मोहित हुई है बुद्धि जिनकी—ऐसे जो जीव, जिनवरों का लिंग धारण करके, पाप करते हैं, वे पापमूर्ति, मोक्षमार्ग में भ्रष्ट जानना। वहीं ऐसा भी कहा है—

जे पंच-चेल-सत्ता, गंथग्गाही य जायणा-सीला।
आधा-कम्मम्मि रया, ते चत्ता मोक्ख-मग्गम्मि॥ (मोक्षपाहुड़, गाथा ७९)

इसका अर्थ—जो पंच प्रकार के वस्त्रों में आसक्त हैं, परिग्रह को ग्रहण करनेवाले हैं, याचनासहित हैं, अधःकर्म आदि दोषों में रत हैं; उन्हें मोक्षमार्ग में भ्रष्ट जानना।

और भी गाथासूत्र वहाँ उस श्रद्धान को दृढ़ करने के लिए कहे हैं, वे वहाँ से जानना। इसी प्रकार श्री कुन्दकुन्दाचार्यकृत लिंगपाहुड़ है, उसमें मुनिलिंग धारण करके, जो हिंसा -आरम्भ-यन्त्र-मन्त्रादि करते हैं, उनका बहुत निषेध किया है।

श्री गुणभद्राचार्य कृत **आत्मानुशासन** में ऐसा कहा है —

इतस्ततश्च त्रस्यन्तो, विभावर्यां यथा मृगाः।
वनाद्वसन्त्युपग्रामं, कलौ कष्टं तपस्विनः॥ (श्लोक १९७)

इसका अर्थ—कलिकाल में तपस्वी, मृगकी भाँति इधर-उधर से भयभीत होकर, वन से नगर के समीप बसते हैं - यह महाखेदकारी कार्य हुआ है। यहाँ नगर के समीप ही रहने का निषेध किया तो नगर में रहना, तो निषिद्ध हुआ ही।

वरं गार्हस्थ्यमेवाद्य, तपसो भावि-जन्मनः।
श्वः स्त्री-कटाक्ष-लुण्टाक-लोप्य-वैराग्य-सम्पदः॥ (वही, श्लोक १९८)

इसका अर्थ—भविष्य में होनेवाला है अनन्त संसार जिससे—ऐसे तप से, गृहस्थपना ही अभी भला है। कैसा है वह तप ?—प्रभात होते ही स्त्रियों के कटाक्षरूपी लुटेरों द्वारा जिसकी वैराग्यसम्पदा लुट गई है - ऐसा है।

इसी प्रकार योगीन्द्रदेवकृत '**परमात्मप्रकाश**' में ऐसा कहा है —

चेल्ला-चेल्ली-पुत्थियहिँ, तूसइ मूढु णिभंतु।
एयहिँ लज्जइ णाणियउ, बंधहँ हेउ मुणंतु॥ (अध्याय २, दोहा ८८)

इसका अर्थ—चेला-चेली और पुस्तकों से, मूढ़ सन्तुष्ट होता है, वह ऐसा ही भ्रान्तिरहित है परन्तु ज्ञानी इन्हें बन्ध का कारण जानता हुआ, इनसे लज्जायमान होता है।

केण वि अप्पउ वंचियउ, सिरु लुंचिवि छारेण।
सयलु वि संग ण परिहरिय, जिणवर-लिंग-धरेण॥ (अध्याय २, दोहा ९०)

इसका अर्थ—जिस किसी जीव के द्वारा अपना आत्मा ठगा गया, वह कौन ?—जिस जीव ने जिनवर का लिंग धारण किया और राख से सिर का लोंच करके, समस्त परिग्रह नहीं छोड़ा।

जे जिण-लिंगु धरेवि मुणि, इट्ठ-परिग्गह लिंति।
छद्दि करेविणु ते जि जिय, सा पुणु छद्दि गिलंति॥ (अध्याय २, दोहा ९१)

इसका अर्थ—हे जीव! जो मुनि, जिनलिंग धारण करके, इष्ट परिग्रह को ग्रहण करते हैं, वे छर्दि (वमन या उल्टी) करके, उसी छर्दि का पुनः भक्षण करते हैं; भाव यह है कि वे निन्दनीय हैं, इत्यादि वहाँ कहते हैं।[१] ❁❁❁

इस प्रकार शास्त्रों में कुगुरु का व उनके आचरण का व उनकी सुश्रुषा का निषेध किया है, उसे जानना। तथा जहाँ मुनि को धात्री-दूत आदि छ्यालीस दोष, आहारादि में कहे हैं; वहाँ गृहस्थों के बालकों को प्रसन्न करना, समाचार कहना, मन्त्र-औषधि-ज्योतिष आदि कार्य बतलाना तथा किया-कराया-अनुमोदित भोजन लेना, इत्यादि क्रियाओं का निषेध किया है परन्तु अब कालदोष से इन्हीं दोषों को लगाकर, आहारादि ग्रहण करते हैं।

तथा पार्श्वस्थ, कुशील आदि भ्रष्टाचारी मुनियों का निषेध किया है, उन्हीं के लक्षणों को धारण करते हैं। **इतना विशेष है कि** वे तो द्रव्य से नग्न रहते हैं परन्तु ये नाना परिग्रह रखते हैं।

---

[१] मूल हस्तलिखित प्रति में इसके बाद पृष्ठ २२४ का लगभग आधा पृष्ठ एवं उसके बाद पृष्ठ २२५ पूरा खाली छोड़ा गया है, इससे प्रतीत होता है कि पण्डितजी यहाँ इस प्रकरण में कुछ और भी सन्दर्भ लिखना चाहते थे।

वहाँ मुनियों के भ्रामरी आदि आहार लेने की विधि कही है परन्तु ये आसक्त होकर, दातार के प्राण पीड़ित करके, आहारादि का ग्रहण करते हैं। तथा जो गृहस्थधर्म में भी उचित नहीं हैं—ऐसे अन्याय-लोकनिन्द्य-पापरूप कार्यों को करते हुए, प्रत्यक्ष देखे जाते हैं।

जिनबिम्ब, शास्त्र आदि सर्वोत्कृष्ट पूज्य; उनका तो अविनय करते हैं और आप उनसे भी (अधिक) महन्तता रखकर, ऊपर बैठना आदि प्रवृत्ति को धारण करते हैं, इत्यादि अनेक विपरीतताएँ प्रत्यक्ष भासित होती हैं और अपने को मुनि मानते हैं, मूलगुण आदि के धारक कहलाते हैं। इसी प्रकार अपनी महिमा कराते हैं। वहाँ गृहस्थ भोले हैं, उन (कुगुरुओं) के द्वारा प्रशंसादि से ठगाते हुए, धर्म का विचार नहीं करते, उनकी भक्ति में तत्पर होते हैं परन्तु बड़े पाप को, बड़ा धर्म मानना—इस मिथ्यात्व का फल, कैसे अनन्त संसार नहीं होगा?

शास्त्र में एक जिनवचन को अन्यथा मानने से, महापापी होना कहा है; यहाँ तो जिनवचन की कुछ बात ही नहीं रखी; अतः इसके समान अन्य पाप कौन है?

शिथिलाचार की पोषक युक्तियाँ और उनका निराकरण

अब यहाँ, कुयुक्तियों द्वारा जो उन कुगुरुओं की स्थापना करते हैं, उनका निराकरण करते हैं —

वहाँ वह कहता है—गुरु बिना तो निगुरा होता है और वैसे गुरु इस समय दिखते नहीं हैं; इसलिए इन्हीं को गुरु मानना?

उसका उत्तर—निगुरा तो उसका नाम है, जो गुरु मानता ही नहीं। वहाँ जो गुरु को तो माने, परन्तु इस क्षेत्र में गुरु का लक्षण न देखकर, किसी को गुरु न माने तो इस श्रद्धान से तो निगुरा होता नहीं है। जिस प्रकार नास्तिक तो उसका नाम है, जो परमेश्वर को मानता ही नहीं। वहाँ जो परमेश्वर को तो माने, परन्तु इस क्षेत्र में परमेश्वर का लक्षण न देखकर, किसी को परमेश्वर न माने तो नास्तिक तो होता नहीं है; उसी प्रकार यह जानना।

फिर वह कहता है—जैनशास्त्रों में वर्तमान में केवली का तो अभाव कहा है, मुनि का तो अभाव नहीं कहा है?

उसका उत्तर—ऐसा तो कहा नहीं है कि इन देशों में सद्भाव रहेगा; भरतक्षेत्र में कहते हैं परन्तु भरतक्षेत्र तो बहुत बड़ा है, कहीं सद्भाव होगा; इसलिए अभाव नहीं कहा है। जहाँ तुम रहते हो, उसी क्षेत्र में सद्भाव मानोगे तो जहाँ ऐसे भी गुरु नहीं मिलेंगे, वहाँ जाओगे, तब किसको गुरु मानोगे? जिस प्रकार वर्तमान में हंसों का सद्भाव कहा है परन्तु हंस दिखायी नहीं देते तो अन्य पक्षियों को तो हंस माना नहीं जाता; उसी प्रकार

वर्तमान में मुनियों का सद्भाव कहा है परन्तु मुनि दिखायी नहीं देते, तो औरों को तो मुनि माना नहीं जा सकता।

फिर वह कहता है—एक अक्षर के दाता को गुरु मानते हैं तो जो शास्त्र सिखलाएँ व सुनाएँ, उन्हें गुरु कैसे न मानें?

उसका उत्तर—गुरु नाम बड़े का है, वहाँ जिस प्रकार की महन्तता जिसके सम्भव हो, उसे उस प्रकार 'गुरु' संज्ञा सम्भव है। जैसे—कुल अपेक्षा, माता-पिता को 'गुरु' संज्ञा है; उसी प्रकार विद्या पढ़ानेवाले को विद्या अपेक्षा 'गुरु' संज्ञा है। यहाँ तो 'धर्म का अधिकार' है; इसलिए जिसके धर्म अपेक्षा महन्तता सम्भवित हो, उसे ही 'गुरु' जानना।

यहाँ 'धर्म' नाम 'चारित्र' का है, '**चारित्तं खलु धम्मो**'[१]—ऐसा शास्त्र में कहा है; इसलिए चारित्र के धारक को ही 'गुरु' संज्ञा है। तथा जैसे—भूतादि का भी नाम 'देव' है तथापि यहाँ देव के श्रद्धान में अरहन्तदेव का ही ग्रहण है; उसी प्रकार औरों का भी नाम 'गुरु' है तथापि यहाँ 'गुरु (के) श्रद्धान' में, निर्ग्रन्थगुरु का ही ग्रहण है।

जैनधर्म में 'अरहन्तदेव - निर्ग्रन्थगुरु' - ऐसा प्रसिद्ध वचन है।

यहाँ प्रश्न है—निर्ग्रन्थ के सिवा, अन्य को गुरु नहीं मानते, उसका कारण क्या है?

उसका उत्तर—निर्ग्रन्थ के सिवा, अन्य जीव, सर्व प्रकार से महन्तता धारण नहीं करते। जैसे—लोभी, शास्त्र व्याख्यान करे, वहाँ वह इसे (दातार; श्रोता को) शास्त्र सुनाने से महन्त हुआ और यह, उसे (लोभी वक्ता को) धन, वस्त्रादि देने से महन्त हुआ। यद्यपि बाह्य में शास्त्र सुनानेवाला महन्त रहता है तथापि अन्तरंग में लोभी होता है तो **वह दातार को ऊँचा मानता है और दातार, लोभी को नीचा मानता है;**[२] इसलिए उसके सर्वथा महन्तता नहीं हुई।

यहाँ कोई कहे—निर्ग्रन्थ भी तो आहार लेते हैं।

उसका उत्तर—लोभी होकर, दातार की सुश्रुषा करके, दीनता से आहार नहीं लेते; इसलिए महन्तता नहीं घटती। जो लोभी हो, वही हीनता प्राप्त करता है। इसी प्रकार अन्य जीव जानना। इसलिए निर्ग्रन्थ ही सर्व प्रकार महन्तता युक्त हैं; निर्ग्रन्थ के सिवा अन्य जीव, सर्व प्रकार गुणवान नहीं हैं; इसलिए गुणों की अपेक्षा, महन्तता और दोषों की अपेक्षा, हीनता भासित होती है, तब निःशंक स्तुति नहीं की जा सकती।

निर्ग्रन्थ के सिवा, अन्य जीव, जैसा धर्मसाधन करते हैं, वैसा व उससे अधिक धर्मसाधन, गृहस्थ भी कर सकते हैं; वहाँ 'गुरु' संज्ञा किसको होगी? इसलिए **जो बाह्याभ्यन्तर परिग्रहरहित निर्ग्रन्थ मुनि हैं, उन्हीं को गुरु जानना।**

यहाँ कोई कहे—ऐसे गुरु तो वर्तमान में यहाँ नहीं हैं; इसलिए जिस प्रकार अरहन्त की स्थापना - प्रतिमा है; उसी प्रकार गुरुओं की स्थापना - ये वेषधारी हैं?

---

[१] प्रवचनसार गाथा १-७ [२] मूल हस्तलिखित प्रति (पृष्ठ २२८) पर '**सो दातार कों उंचा मानै अर दातार, लोभी को नीचा मानैं**' - यह वाक्यांश है; अतः इस संस्करण में उसे जोड़ा गया है।

उसका उत्तर—जिस प्रकार राजा की स्थापना, चित्रादि द्वारा करते हैं तो वह राजा का प्रतिपक्षी नहीं है परन्तु कोई सामान्य मनुष्य अपने को राजा मनाता है तो राजा का प्रतिपक्षी होता है; उसी प्रकार अरहन्तादि की पाषाणादि में स्थापना बनाते हैं तो वह उनका प्रतिपक्षी नहीं है परन्तु कोई सामान्य मनुष्य अपने को मुनि मनाता है तो वह मुनियों का प्रतिपक्षी हुआ।

इस प्रकार भी स्थापना होती हो तो अपने को अरहन्त भी मनाओ! और यदि उनकी स्थापना है तो बाह्य में तो वैसा ही होना चाहिए, परन्तु वे निर्ग्रन्थ और ये बहुत परिग्रह के धारी - यह कैसे बन सकता है?

कोई कहे—अब, श्रावक भी तो जैसे होने चाहिए, वैसे नहीं हैं; इसलिए '**जैसे श्रावक - वैसे मुनि**'?

उसका उत्तर—श्रावक संज्ञा तो शास्त्र में सर्व गृहस्थ जैनियों को है। श्रेणिक भी असंयमी था, उसे उत्तरपुराण में, श्रावकोत्तम कहा है। बारह सभाओं में श्रावक कहे हैं, वहाँ सर्व व्रतधारी नहीं थे। यदि सर्व व्रतधारी होते तो असंयत मनुष्यों की अलग संख्या कही जाती, परन्तु वह नहीं कही है; इसलिए गृहस्थ जैनी 'श्रावक' नाम प्राप्त करता है और 'मुनि' संज्ञा तो निर्ग्रन्थ के सिवा, कहीं कही नहीं है।

वहाँ श्रावक के तो आठ मूलगुण कहे हैं; इसलिए मद्य-माँस-मधु व पाँच उदम्बरादि फलों का भक्षण, श्रावकों को है नहीं; इसलिए किसी प्रकार से श्रावकपना तो सम्भवित भी है परन्तु मुनि के अट्ठाईस मूलगुण हैं, वे भेषियों (वेषधारियों) के दिखायी ही नहीं देते; इसलिए (उनके) मुनिपना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। तथा गृहस्थ अवस्था में तो पहले जम्बूकुमार आदि ने बहुत हिंसादि कार्य किये - ऐसा सुनते हैं परन्तु मुनि होकर तो किसी ने हिंसादि कार्य किये नहीं हैं, परिग्रह रखा नहीं है; इसलिए ऐसी युक्ति कार्यकारी नहीं है।

देखो! आदिनाथजी के साथ चार हजार राजा, दीक्षा लेकर पुनः भ्रष्ट हुए, तब देव उनसे कहने लगे—'**जिनलिंगी होकर अन्यथा प्रवर्तोगे तो हम दण्ड देंगे। जिनलिंग छोड़कर, जो तुम्हारी इच्छा हो, वह तुम जानो**'।

इसलिए जिनलिंगी कहलाकर, अन्यथा प्रवर्तते हैं, वे तो दण्ड योग्य हैं; वन्दनादि योग्य कैसे होंगे? **अब अधिक क्या कहें!** जिनमत में कुवेष धारण करते हैं, वे महापाप करते हैं; अन्य जीव जो उनकी सुश्रुषा आदि करते हैं, वे भी पापी होते हैं।

पद्मपुराण में यह कथा है ①—श्रेष्ठी धर्मात्मा ने, चारण मुनियों को भ्रम से भ्रष्ट जानकर, आहार नहीं दिया; तब जो प्रत्यक्ष भ्रष्ट हैं, उन्हें दानादि देना कैसे सम्भव है?

① पद्मपुराण में यह कथा पर्व १२ में आई है।

यहाँ कोई कहे—हमारे अन्तरंग में श्रद्धान तो सत्य है परन्तु बाह्य लज्जादि के कारण शिष्टाचार करते हैं; इसलिए फल तो अन्तरंग का होगा ?

उसका उत्तर—षट्पाहुड़ में लज्जादि के कारण, वन्दनादि करने का निषेध बतलाया है, वह पहले ही कहा था। कोई जबरदस्ती मस्तक झुकवाकर, हाथ जुड़वाए, तब तो यह सम्भव है कि हमारा अन्तरंग नहीं था परन्तु आप ही मानादि से नमस्कारादि करे, वहाँ अन्तरंग कैसे न कहें ?

जैसे—कोई अन्तरंग में तो माँस को बुरा जाने, परन्तु राजादि से भला मनवाने को माँस भक्षण करे तो उसे व्रती कैसे मानें ? उसी प्रकार अन्तरंग में तो कुगुरुसेवन को बुरा जाने, परन्तु उन को व लोगों से भला मनवाने के लिए, सेवन करे तो श्रद्धानी कैसे कहें ? क्योंकि बाह्य त्याग करने पर ही, अन्तरंग त्याग सम्भव है।

इसलिए जो श्रद्धानी जीव हैं, उन्हें किसी प्रकार से भी, कुगुरुओं की सुश्रुषा आदि करना, योग्य नहीं है।

इस तरह कुगुरुसेवन का निषेध किया।

यहाँ कोई कहे—किसी तत्त्वश्रद्धानी को, कुगुरुसेवन से मिथ्यात्व कैसे हुआ ?

उसका उत्तर—जिस प्रकार शीलवती स्त्री, पर पुरुष के साथ भर्तार की भाँति रमण-क्रिया सर्वथा नहीं करती; उसी प्रकार तत्त्वश्रद्धानी पुरुष, कुगुरु के साथ, सुगुरु की भाँति नमस्कारादि क्रिया सर्वथा नहीं करता क्योंकि यह तो जीवादि तत्त्वों का श्रद्धानी हुआ है; अत: रागादि का निषेध करनेयोग्य श्रद्धान करता है और वीतरागभाव को श्रेष्ठ मानता है।

इसलिए जिनके वीतरागता पाई जाए, उन्हीं गुरु को उत्तम जानकर, नमस्कारादि करता है तथा जिनके रागादि पाए जाएँ, उन्हें निषिद्ध जानकर, नमस्कारादि कदापि नहीं करता।

कोई कहे—जैसे—राजादि को (नमस्कारादि) करता है; वैसे इनको भी करता है ?

उसका उत्तर—राजादि, धर्मपद्धति में नहीं हैं; गुरु का सेवन तो धर्मपद्धति में है। वहाँ राजादि का सेवन तो लोभादि से होता है, वहाँ चारित्रमोह ही का उदय होता है।

जहाँ गुरु के स्थान पर, कुगुरु का सेवन किया, वहाँ तत्त्वश्रद्धान के कारण तो गुरु थे, उनसे यह प्रतिकूल हुआ।

अत: लज्जादि से जिसने कारण में विपरीतता उत्पन्न की, उसके कार्यभूत तत्त्वश्रद्धान में दृढ़ता कैसे सम्भव है ? इसलिए वहाँ दर्शनमोह का उदय होता ही है।

इस प्रकार कुगुरुओं का निरूपण किया।

कुधर्म का निरूपण और उसके श्रद्धानादि का निषेध

अब, **कुधर्म का निरूपण** करते हैं —

जहाँ हिंसादि पाप उत्पन्न हों व विषय-कषायों की वृद्धि हो, वहाँ धर्म मानें, उसे कुधर्म जानना। वहाँ यज्ञादि क्रियाओं में महाहिंसादि उत्पन्न करें, बड़े जीवों का घात करें और वहाँ इन्द्रियों के विषय पोषें; उन जीवों के प्रति दुष्टबुद्धि होकर, रौद्रध्यानी हों, तीव्र लोभ से औरों का बुरा करके, अपना कोई प्रयोजन साधना चाहें—ऐसे कार्य करके, वहाँ धर्म मानें, वह कुधर्म है।

इसी प्रकार तीर्थों में व अन्यत्र स्नानादि कार्य करें, वहाँ छोटे-बड़े बहुत से जीवों की हिंसा होती है; शरीर को चैन मिलता है; इसलिए विषय-पोषण होता है और कामादि बढ़ते हैं; कुतूहलादि से वहाँ कषायभाव बढ़ाता है और धर्म मानता है - ऐसे यह कुधर्म है।

वहाँ संक्रान्ति-ग्रहण-व्यतिपात आदि में दान देता है व बुरे ग्रहादि के लिए दान देता है; पात्र जानकर, लोभी पुरुषों को दान देता है; दान देने में, सुवर्ण-हस्ती-घोड़ा-तिल आदि वस्तुओं को देता है परन्तु **संक्रान्ति आदि पर्व, धर्मरूप नहीं हैं; ज्योतिषियों के संचारादि द्वारा संक्रान्ति आदि होते हैं** तथा दुष्ट ग्रहादि के लिए दिया; अतः वहाँ भय-लोभादि की अधिकता हुई; इसलिए वहाँ दान देने में धर्म नहीं है।

लोभी पुरुष, देनेयोग्य पात्र नहीं हैं क्योंकि लोभी, नाना असत्य युक्तियाँ करके ठगते हैं, किंचित् भला नहीं करते। भला तो तब होता है, जब इसके दान की सहायता से, वे धर्म-साधन करे, परन्तु वह तो उल्टा पापरूप प्रवर्तता है; पाप के सहायक का भला कैसे होगा?

यही 'रयणसार' शास्त्र में कहा है —

सप्पुरिसाणं दाणं, कप्पतरूणं फलाण सोहा वा।
लोहीणं दाणं जइ, विमाणसोहा सवस्स जाणेह॥ २६॥

इसका अर्थ—सत्पुरुषों को दान देना, कल्पवृक्षों के फलों की शोभा समान है—शोभा भी है और सुखदायक भी है तथा लोभी पुरुषों को जो दान देना होता है, वह शव अर्थात् मुर्दा, उसके विमान अर्थात् चकडोल की शोभासमान जानना; वहाँ शोभा तो होती है परन्तु धनी [स्वामी] को परम दुःखदायक होती है; इसलिए लोभी पुरुषों को दान देने में, धर्म नहीं है।

वहाँ द्रव्य तो ऐसा देना चाहिए, जिससे उसके धर्म बढ़े परन्तु स्वर्ण, हस्ती आदि देने से तो हिंसादि उत्पन्न होते हैं और मान-लोभादि बढ़ते हैं, उससे महापाप होता है—ऐसी वस्तुओं का दान देनेवाले को पुण्य कैसे होगा?

तथा विषयासक्त जीव, रति दानादि में पुण्य ठहराते हैं परन्तु जहाँ प्रत्यक्ष कुशीलादि पाप हों, वहाँ पुण्य कैसे होगा ? वहाँ युक्ति मिलाने को कहते हैं कि वह स्त्री, सन्तोष प्राप्त करती है तो ऐसी स्त्री तो विषय-सेवन करने से सुख पाती ही पाती है, फिर शील का उपदेश किसलिए दिया ? रति काल के अतिरिक्त भी, उसके मनोरथ अनुसार न प्रवर्ते तो वह दु:ख पाती है; अत: ऐसी असत्य युक्ति बनाकर, विषय-पोषण करने का उपदेश देते हैं।

— ऐसे ही दयादान व पात्रदान के अलावा अन्य दान देकर, धर्म मानना, सर्व कुधर्म है।

वहाँ व्रतादि करके हिंसादि व विषयादि बढ़ाते हैं परन्तु व्रतादि तो उन्हें घटाने के लिए किये जाते हैं। तथा जहाँ अन्न का तो त्याग करें और कन्दमूलादि का भक्षण करें, वहाँ हिंसा विशेष हुई, स्वादादि विषय विशेष हुए।

तथा दिन में तो भोजन करते नहीं हैं और रात्रि में भोजन करते हैं; वहाँ प्रत्यक्ष ही दिन के भोजन से, रात्रि के भोजन में विशेष हिंसा भासित होती है, प्रमाद विशेष होता है।

वहाँ व्रतादि करके, नाना शृंगार बनाता है, कुतूहल करता है, जुआ आदिरूप प्रवर्तता है, इत्यादि पापक्रिया करता है तथा व्रतादि का फल, लौकिक इष्ट की प्राप्ति व अनिष्ट के नाश को चाहता है, वहाँ कषायों की तीव्रता विशेष हुई।

— ऐसे व्रतादि से धर्म मानता है, वह कुधर्म है।

वहाँ कोई भक्ति आदि कार्यों में हिंसादि पाप बढ़ाते हैं; नृत्यगानादि, इष्ट भोजनादि व अन्य सामग्रियों द्वारा विषयों का पोषण करते हैं; कुतूहल-प्रमाद आदिरूप प्रवर्तते हैं, वहाँ पाप तो बहुत उत्पन्न करते हैं और जहाँ धर्म का कुछ भी साधन नहीं है, वहाँ धर्म मानते हैं; वह सब कुधर्म है।

कितने ही शरीर को तो क्लेश उत्पन्न करते हैं और वहाँ हिंसादि उत्पन्न करते हैं व कषायादिरूप प्रवर्तते हैं। जैसे-पंचाग्नि तपते हैं, उस अग्नि से बड़े-छोटे जीव जलते हैं, हिंसादि बढ़ाते हैं - इसमें धर्म क्या हुआ ? तथा औंधे मुँह झूलते हैं, ऊर्ध्व बाहु रखते हैं, इत्यादि साधन करते हैं; वहाँ क्लेश ही होता है—ये कुछ धर्म के अंग नहीं हैं।

तथा पवन-साधन करते हैं, वहाँ नेती, धोती इत्यादि कार्यों में जलादि से हिंसादि उत्पन्न होते हैं; कोई चमत्कार उत्पन्न हो तो उससे मानादि बढ़ते हैं; वहाँ किंचित् धर्मसाधन नहीं है, इत्यादि क्लेश तो करते हैं; विषय-कषाय घटाने का कोई साधन नहीं करते, अन्तरंग में क्रोध-मान-माया-लोभ का अभिप्राय है परन्तु वृथा क्लेश करके, धर्म मानते हैं, वह कुधर्म है।

वहाँ कितने ही इस लोक में दु:ख सहा नहीं जाता है अथवा परलोक में इष्ट की इच्छा है अथवा अपनी पूजा कराने के लिए अथवा किसी क्रोधादि से अपघात (आत्महत्या) करते हैं। जैसे—पति वियोग से अग्नि में जलकर, सती कहलाती है अथवा हिमालय में गलते हैं, काशी में करौंत लेते हैं, जीवित ही मिट्टी में प्रवेश कर जाते हैं, इत्यादि कार्यों को करके, धर्म मानते हैं परन्तु अपघात का तो बड़ा पाप है। यदि शरीरादि से अनुराग घटा था तो तपश्चरणादि करना था; मर जाने में धर्म का कौनसा अंग हुआ? इसलिए अपघात करना, कुधर्म है।

— ऐसे ही अन्य भी बहुत से कुधर्म के अंग हैं। कहाँ तक कहें—जहाँ विषय-कषाय बढ़ते हों और धर्म मानें, उन सबको कुधर्म जानना।

देखो, काल का दोष! जैनधर्म में भी कुधर्म की प्रवृत्ति हो गई है।

जैनमत में जो धर्मपर्व कहे हैं, वहाँ तो विषय-कषाय छोड़कर, संयमरूप प्रवर्तना योग्य है; उसका तो आदर नहीं करते और वहाँ व्रतादि का नाम धारण करके, नाना शृंगार बनाते हैं अथवा इष्ट भोजनादि करते हैं अथवा कुतूहलादि करते हैं अथवा कषाय बढ़ाने के कार्य करते हैं, जुआ इत्यादि महापापरूप प्रवर्तते हैं।

वहाँ पूजनादि कार्यों में उपदेश तो यह था—'**सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ दोषाय नाऽलं**'[१] बहुत पुण्यसमूह में पाप का अंश, दोष के लिए [समर्थ] नहीं। इस छल द्वारा, पूजा-प्रभावना आदि कार्यों के अन्तर्गत रात्रि में दीपकादि से अथवा अनन्त कायादि [पुष्प आदि साधारण वनस्पति] के संग्रह से अथवा अयत्नाचार प्रवृत्ति से, हिंसादिरूप पाप तो बहुत उत्पन्न करते हैं और स्तुति-भक्ति आदि शुभपरिणामों में नहीं प्रवर्तते अथवा थोड़े प्रवर्तते हैं परन्तु वहाँ **नुकसान बहुत, नफा थोड़ा** या **नफा कुछ भी नहीं**—ऐसे कार्य करने में तो बुरा ही दिखना होता है।

अरे! जिनमन्दिर तो धर्म का ठिकाना है। वहाँ नाना कुकथा करना, सोना इत्यादि प्रमादरूप प्रवर्तते हैं तथा वहाँ बाग-बाड़ी इत्यादि बनाकर, विषय-कषाय का पोषण करते हैं।

तथा लोभी पुरुष को गुरु मानकर, दानादि देते हैं व उनकी असत्य स्तुति करके, महन्तपना मानते हैं, इत्यादि प्रकार से, विषय-कषायों को बढ़ाते हैं और धर्म मानते हैं परन्तु **जिनधर्म तो वीतरागभावरूप है,** उसमें ऐसी विपरीत-प्रवृत्ति कालदोष से ही देखी जाती है।

इस प्रकार कुधर्मसेवन का निषेध किया।

---

[१] पूज्यं जिनं त्वार्चयतो जनस्य, सावद्यलेशोबहुपुण्यराशौ।
दोषायनालं कणिका विषस्य, न दूषिका शीतशिवाम्बुराशौ ॥ ५८ ॥
(वृहत् स्वयंभू स्तोत्र)

अब, इसमें मिथ्यात्वभाव किस प्रकार हुआ ? वह कहते हैं —

तत्त्वश्रद्धान करने में प्रयोजनभूत तो एक यह है कि रागादि छोड़ना; इसी भाव का नाम, धर्म है।

यदि रागादि भावों को बढ़ाकर, धर्म मानें तो वहाँ तत्त्वश्रद्धान कैसे रहा ? यह जिन -आज्ञा से प्रतिकूल भी हुआ। तथा रागादि भाव तो पाप हैं, उन्हें धर्म माना; अतः यह झूठा श्रद्धान हुआ; इसलिए कुधर्म के सेवन में मिथ्यात्वभाव है।

— ऐसे कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र सेवन में, मिथ्यात्वभाव की पुष्टि होती जानकर, इसका निरूपण किया।

वही 'षट्पाहुड़' (अष्टपाहुड़) में कहा है —

कुच्छिय देवं धम्मं, कुच्छिय लिंगं च वंदए जो दु।
लज्जा-भय-गारवदो, मिच्छादिट्ठी हवे सो हु॥ (मोक्षपाहुड़, गाथा ९२)

इसका अर्थ—जो, लज्जा से अथवा भय से अथवा मान से भी कुत्सितदेव को अथवा कुत्सितधर्म को अथवा कुत्सितलिंग को वन्दन करता है, वह मिथ्यादृष्टि होता है।

इसलिए जो, मिथ्यात्व का त्याग करना चाहता है, वह पहले कुदेव-कुगुरु-कुधर्म का त्यागी हो। सम्यक्त्व के पच्चीस मलों के त्याग में भी—अमूढ़दृष्टि (अंग) में तथा छह आयतन में, इन्हीं का त्याग कराया है; अतः इनका अवश्य त्याग करना।

वहाँ कुदेवादि के सेवन से जो मिथ्यात्वभाव होता है, वह यही हिंसादि पापों से बड़ा पाप है; इसके फल में निगोद-नरकादि पर्यायें प्राप्त करते हैं। वहाँ अनन्त कालपर्यन्त महा - संकट प्राप्त करते हैं और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति, महा-दुर्लभ हो जाती है।

वही 'षट्पाहुड़' (अष्टपाहुड़) में कहा है —

कुच्छिय धम्मम्मि रओ, कुच्छिय पासंडि-भत्ति-संजुत्तो।
कुच्छिय तवं कुणंतो, कुच्छिय गइ-भायणो होइ॥ (भावपाहुड़, गाथा १४०)

इसका अर्थ—जो कुत्सितधर्म में रत है, कुत्सित पाखण्डियों की भक्ति से संयुक्त है, कुत्सिततप को करता है—वह जीव, कुत्सित अर्थात् खोटी गति को भोगनेवाला होता है।

अतः हे भव्यों! किंचित्मात्र लोभ से अथवा भय से, कुदेवादि का सेवन करके, जिससे अनन्त कालपर्यन्त महादुःख सहना होता है—ऐसा मिथ्यात्वभाव करना, योग्य नहीं है।

जिनधर्म में यही आम्नाय है—**पहले बड़ा पाप छुड़ाकर, फिर छोटा पाप छुड़ाया है; अतः इस मिथ्यात्व को सप्त व्यसनादि से भी बड़ा पाप जानकर, पहले छुड़ाया है।**

इसलिए जो पाप के फल से डरते हैं, अपने आत्मा को दुःख समुद्र में डुबाना नहीं चाहते, वे जीव, इस मिथ्यात्व को अवश्य छोड़ो; निन्दा-प्रशंसादि के विचार से, शिथिल होना, योग्य नहीं है क्योंकि नीति में भी ऐसा कहा है —

निन्दन्तु नीति-निपुणा यदि वा स्तुवन्तु;
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वाऽस्तु मरणं तु युगान्तरे वा;
न्यायात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥ (नीतिशतक, श्लोक १०)

(इसका अर्थ—) कोई निन्दा करते हों तो निन्दा करो और स्तुति करते हों तो स्तुति करो तथा लक्ष्मी आओ या जहाँ-तहाँ जाओ तथा अभी मरण होओ या युगान्तर में होओ, परन्तु नीति में निपुण पुरुष, न्यायमार्ग से एक डग भी चलित नहीं होते।

— ऐसा न्याय विचारकर, निन्दा-प्रशंसादि के भय-लोभादि से, अन्यायरूप मिथ्यात्व प्रवृत्ति करना, युक्त नहीं है।

अहो! देव-गुरु-धर्म तो सर्वोत्कृष्ट पदार्थ हैं, इनके आधार से धर्म है; इनमें शिथिलता रखने से, अन्य धर्म किस प्रकार हो सकता है? इसलिए बहुत कहने से क्या?—सर्वथा प्रकार से, कुदेव-कुगुरु-कुधर्म का त्यागी होना, योग्य है।

कुदेवादि का त्याग न करने से, मिथ्यात्वभाव बहुत पुष्ट होता है और वर्तमान में यहाँ इनकी प्रवृत्ति विशेष पायी जाती है; इसलिए इनका निषेधरूप निरूपण किया है, उसे जानकर, मिथ्यात्वभाव छोड़कर, अपना कल्याण करो।

❁ ❁ ❁

- इति श्री मोक्षमार्गप्रकाशक नामक शास्त्र में
'कुदेव-कुगुरु-कुधर्म का निषेध'
वर्णनरूप [छठा अधिकार] समाप्त हुआ ॥ ६ ॥

सातवाँ अधिकार

जैन मिथ्यादृष्टियों का विवेचन

॥ ॐ नमः ॥

दोहा - **इस भवतरु को मूल इक, जानहु मिथ्याभाव।**
ताकौं करि निर्मूल अब, करिए मोक्ष उपाव॥

अथ, जो जीव जैन हैं, जिन-आज्ञा को मानते हैं और उनके भी मिथ्यात्व रहता है, उसका वर्णन करते हैं क्योंकि इस मिथ्यात्व बैरी का अंश भी बुरा है; इसलिए सूक्ष्म मिथ्यात्व भी त्यागनेयोग्य है।

वहाँ जिनागम में, निश्चय-व्यवहाररूप वर्णन है; उनमें **यथार्थ का नाम, 'निश्चय' है; उपचार का नाम, 'व्यवहार' है** परन्तु इनके स्वरूप को न जानते हुए, अन्यथा प्रवर्तते हैं।

वही कहते हैं —

निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि

कितने ही जीव, निश्चय को न जानते हुए, निश्चयाभास के श्रद्धानी होकर, आपको मोक्षमार्गी मानते हैं, **अपने आत्मा को सिद्धसमान अनुभवते हैं** परन्तु आप प्रत्यक्ष संसारी हैं, भ्रम से अपने को सिद्ध मानते हैं; वही मिथ्या दृष्टि (मिथ्यादर्शन) है।

शास्त्रों में जो सिद्धसमान आत्मा को कहा है, वह द्रव्यदृष्टि से कहा है; पर्याय अपेक्षा, सिद्धसमान नहीं है। जैसे—राजा और रंक, मनुष्यपने की अपेक्षा समान हैं परन्तु राजापने और रंकपने की अपेक्षा तो समान नहीं हैं; उसी प्रकार सिद्ध और संसारी, जीवत्वपने की अपेक्षा समान हैं परन्तु सिद्धपने और संसारीपने की अपेक्षा तो समान नहीं हैं तथापि ये तो जैसे सिद्ध शुद्ध हैं, वैसा ही अपने को शुद्ध मानते हैं परन्तु वह शुद्ध-अशुद्ध अवस्था, पर्याय है—इस पर्याय अपेक्षा, समानता मानी; अतः यही मिथ्या दृष्टि (मिथ्यादर्शन) है।

वहाँ आप को केवलज्ञानादि का सद्भाव मानते हैं परन्तु अपने को तो क्षयोपशमरूप मति-श्रुतादि ज्ञान का सद्भाव है; क्षायिकभाव तो कर्म का क्षय होनेपर होता है और ये भ्रम से कर्म का क्षय हुए बिना ही, क्षायिकभाव मानते हैं; अतः यही मिथ्या दृष्टि (मिथ्यादर्शन) है।

शास्त्रों में सर्व जीवों का 'केवलज्ञानस्वभाव' कहा है, वह शक्ति अपेक्षा से कहा है क्योंकि सर्व जीवों में 'केवलज्ञानादिरूप होने की शक्ति' है; वर्तमान व्यक्तता तो व्यक्त होनेपर ही कही जाती है।

कोई ऐसा मानता है—आत्मा के प्रदेशों में तो केवलज्ञान ही है, ऊपर आवरण होने से प्रगट नहीं होता, परन्तु यह तो भ्रम है। यदि केवलज्ञान हो तो वज्रपटलादि आड़े होनेपर भी, वस्तु को जानता है; कर्म आड़े आनेपर, वह कैसे अटक सकता है ? इसलिए कर्म के निमित्त से, केवलज्ञान का **अभाव** ही है। यदि इसका सर्वदा सद्भाव रहता तो इसे पारिणामिकभाव कहते, परन्तु यह तो क्षायिकभाव है। '**सर्वभेद जिसमें गर्भित हैं—ऐसा चैतन्यभाव, वह पारिणामिकभाव है।**' इसकी अनेक अवस्थाएँ—मतिज्ञानादिरूप व केवलज्ञानादिरूप हैं परन्तु यह पारिणामिकभाव नहीं है; **इसलिए केवलज्ञान का सर्वदा सद्भाव नहीं मानना।**

वहाँ शास्त्रों में जो सूर्य का दृष्टान्त दिया है, उसका **इतना ही भाव लेना**—जैसे—मेघ-पटल होते हुए, सूर्य का प्रकाश प्रगट नहीं होता; उसी प्रकार कर्मउदय होते हुए, केवलज्ञान नहीं होता। तथा **ऐसा भाव नहीं लेना**—जैसे—सूर्य में प्रकाश रहता है; वैसे आत्मा में केवलज्ञान रहता है क्योंकि दृष्टान्त सर्व प्रकार से मिलता नहीं है।

जैसे—पुद्गल में 'वर्ण' गुण है, उसकी हरित-पीतादि अवस्थाएँ हैं, वहाँ वर्तमान में कोई अवस्था होनेपर, अन्य अवस्था का अभाव है; उसी प्रकार आत्मा में चैतन्यगुण है, उसकी मति-ज्ञानादिरूप अवस्थाएँ हैं, वहाँ वर्तमान में कोई अवस्था होनेपर, अन्य अवस्था का अभाव ही है।

यदि कोई कहे—आवरण नाम तो वस्तु को आच्छादित करने का है; केवलज्ञान का सद्भाव नहीं है तो केवलज्ञानावरण किसलिए कहते हो ?

उसका उत्तर—यहाँ शक्ति है, उसे व्यक्त न होने दे – इस अपेक्षा, आवरण कहा है। जैसे—देशचारित्र का अभाव होनेपर, शक्ति घातने की अपेक्षा, अप्रत्याख्यानावरणकषाय कही है; उसी प्रकार यहाँ जानना।

वहाँ ऐसा जानना—वस्तु में जो पर निमित्त से भाव होते हैं, उनका नाम, औपाधिकभाव है और पर निमित्त के बिना जो भाव होते हैं, उनका नाम, स्वभावभाव है।

जैसे—जल को अग्नि का निमित्त होनेपर, उष्णपना हुआ, वहाँ शीतलपने का अभाव ही है परन्तु अग्नि का निमित्त मिटनेपर, शीतलता ही हो जाती है; इसलिए सदा काल जल का स्वभाव, शीतल कहा जाता है क्योंकि ऐसी शक्ति सदा पायी जाती है और व्यक्त होनेपर, 'स्वभाव व्यक्त हुआ' कहते हैं, कभी व्यक्तरूप भी होता है; उसी प्रकार आत्मा को कर्म का निमित्त होनेपर, अन्यरूप हुआ, वहाँ केवलज्ञान का अभाव ही है परन्तु कर्म का निमित्त

मिटनेपर, सर्वदा केवलज्ञान हो जाता है; इसलिए सदा काल आत्मा का स्वभाव, केवलज्ञान कहा जाता है क्योंकि ऐसी शक्ति सदा पाई जाती है और व्यक्त होनेपर, 'स्वभाव व्यक्त हुआ' कहा जाता है।

जैसे—शीतलस्वभाव के कारण, उष्णजल को शीतल मानकर, कोई पानादि करे तो जलना ही होता है; उसी प्रकार केवलज्ञानस्वभाव के कारण, अशुद्ध आत्मा को केवलज्ञानी मानकर, अनुभव करे तो दुःखी ही होता है।

इस प्रकार जो आत्मा का केवलज्ञानादिरूप अनुभव करते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं।

वहाँ रागादिभाव अपने को प्रत्यक्ष होनेपर भी, भ्रम से आत्मा को रागादिरहित मानते हैं।

उन्हें पूछते हैं—ये रागादि तो होते दिखाई देते हैं, ये किस द्रव्य के अस्तित्व में हैं ? यदि शरीर या कर्मरूप पुद्गल के अस्तित्व में होते हैं तो ये भाव, अचेतन या मूर्तिक होने चाहिए, परन्तु ये रागादि तो प्रत्यक्ष चेतनतासहित अमूर्तिकभाव भासित होते हैं; इसलिए ये भाव, आत्मा ही के हैं।

वही समयसार कलश में कहा है—

कार्यत्वादकृतं न कर्म न च तज्जीवप्रकृत्योर्द्वयो-
रज्ञायाः प्रकृतेः स्वकार्यफलभुग्भावाऽनुषंगात्कृतिः।
नैकस्याः प्रकृतेरचित्त्वलसनाज्जीवोऽस्य कर्ता ततो,
जीवस्यैव च कर्म तच्चिदनुगं, ज्ञाता न यत्पुद्गलः॥

इसका अर्थ—यह रागादिरूप भावकर्म है, वह किसी के द्वारा नहीं किया गया — ऐसा नहीं है क्योंकि यह कार्यभूत है। तथा जीव और कर्मप्रकृति—इन दोनों का भी कर्तव्य नहीं है क्योंकि ऐसा हो तो अचेतन कर्मप्रकृति को भी उस भावकर्म का फल, सुख-दुःख भोगना चाहिए, जो असम्भव है। तथा अकेली कर्मप्रकृति का भी यह कर्तव्य नहीं है क्योंकि उसका अचेतनपना प्रगट है; इसलिए इस रागादि का, जीव ही कर्ता है और वे रागादि, जीव ही के कर्म हैं क्योंकि भावकर्म तो चेतना का अनुसारी है; चेतना बिना नहीं होता और पुद्गल, ज्ञाता है नहीं।

इस प्रकार रागादिभाव, जीव के अस्तित्व में हैं।

अब, जो रागादिभावों का निमित्त—कर्म ही को मानकर, आप (स्वयं) को रागादि का अकर्ता मानते हैं, वे कर्ता तो आप हैं परन्तु आप को निरुद्यमी होकर, प्रमादी रहना है; इसलिए कर्म ही का दोष ठहराते हैं परन्तु यह दुःखदायक भ्रम है।

---

① समयसार, आत्मख्याति टीका, कलश (छन्द) २०३

ऐसा ही समयसार के कलश में कहा है —

राग-जन्मनि निमित्ततां, परद्रव्यमेव कलयन्ति ये तु ते।
उत्तरन्ति न हि मोह-वाहिनीं, शुद्ध-बोध-विधुराऽन्ध-बुद्धयः ॥①

इसका अर्थ—जो जीव, रागादि की उत्पत्ति में परद्रव्य ही का निमित्तपना मानते हैं, वे जीव, 'शुद्धज्ञान से रहित अन्धबुद्धि है जिनकी'—ऐसे होते हुए, मोहनदी के पार नहीं उतरते हैं।

समयसार के 'सर्वविशुद्धज्ञान-अधिकार' ② में [कहा है]—जो आत्मा को अकर्ता मानता है और यह कहता है कि 'कर्म ही जगाते-सुलाते हैं, परघातकर्म से हिंसा है, वेदकर्म से अब्रह्म है; इसलिए कर्म ही कर्ता है'—ऐसे जैनी को सांख्यमती कहा है। जैसे—सांख्यमती, आत्मा को शुद्ध मानकर, स्वच्छन्द होता है; वैसे ही यह हुआ।

वहाँ इस श्रद्धान से यह दोष हुआ—जब रागादि को अपने नहीं जाना, आप को अकर्ता माना; तब रागादि होने का भय नहीं रहा और रागादि को मिटाने का उपाय करना नहीं रहा; तब स्वच्छन्द होकर खोटे कर्मों का बन्ध करके, अनन्त संसार में रुलता है।

यहाँ प्रश्न है कि समयसार में ही ऐसा कहा है —

वर्णाद्या वा राग-मोहादयो वा भिन्ना भावाः सर्व एवाऽस्य पुंसः।③

इसका अर्थ—वर्णादि अथवा रागादिभाव हैं, वे सभी इस आत्मा से भिन्न हैं।

तथा वहीं④ रागादि को पुद्गलमय कहा है तथा अन्य शास्त्रों में भी आत्मा को रागादि से भिन्न कहा है परन्तु यह कैसे है?

उसका उत्तर—रागादिभाव, परद्रव्य के निमित्त से होनेवाले औपाधिकभाव हैं और यह जीव, उन्हें स्वभाव जानता है; जिसे स्वभाव जाने, उसे बुरा कैसे मानेगा? और उसके नाश का उद्यम किसलिए करेगा? इसलिए यह श्रद्धान भी विपरीत है; उसे छुड़ाने के लिए, स्वभाव की अपेक्षा, रागादि को भिन्न कहा है और निमित्त की मुख्यता से पुद्गलमय कहा है।

जैसे—वैद्य, रोग मिटाना चाहता है। यदि शीत की अधिकता देखता है तो उष्ण औषधि बतलाता है और यदि आताप की अधिकता देखता है तो शीतल औषधि बतलाता है; उसी प्रकार श्रीगुरु, ④रागादि छुड़ाना चाहते हैं; यदि रागादि को पर का मानकर, स्वच्छन्द होकर निरुद्यमी होता है तो उसे उपादानकारण की मुख्यता से 'रागादि, आत्मा के हैं'—ऐसा श्रद्धान कराया है

---

① समयसार, आत्मख्याति टीका, कलश (छन्द) २२१ ② समयसार, गाथा ३३२-३४४

③ वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुंसः।
तेनैवान्तस्तत्त्वतः पश्यतोऽमी नो दृष्टाः स्युर्दृष्टमेकं परं स्यात्॥ (-समयसार, आत्मख्याति टीका, कलश ३७)

④ समयसार गाथा ३९-६८; ७५-७९, १०९-११५ आदि में मुख्यतया गाथा ४४, ४६, ५६, ७५ आदि देखें।

तथा यदि रागादि को अपना स्वभाव मानकर, उनके नाश का उद्यम नहीं करता तो उसे निमित्तकारण की मुख्यता से रागादि, परभाव हैं—ऐसा श्रद्धान कराया है।

— इन दोनों विपरीत श्रद्धानों से रहित होनेपर, जब सत्य श्रद्धान होता है, तब ऐसा मानता है कि 'ये रागादिभाव, आत्मा के स्वभाव तो नहीं हैं; कर्म के निमित्त से आत्मा के अस्तित्व में विभावपर्यायरूप उत्पन्न होते हैं; निमित्त मिटनेपर, इनका नाश होने से स्वभावभाव रह जाता है; इसलिए इनके नाश का उद्यम करना।

यहाँ प्रश्न है—यदि कर्म के निमित्त से ये होते हैं तो जब तक कर्म का उदय रहे, तब तक ये विभाव दूर कैसे हों? इसलिए इसका उद्यम करना तो निरर्थक है?

उसका उत्तर—एक कार्य होने में, अनेक कारण चाहिए; उनमें जो कारण, बुद्धिपूर्वक हों, उन्हें तो उद्यम करके मिलाए और अबुद्धिपूर्वक कारण, स्वयमेव मिलें, तब कार्यसिद्धि होती है।

जैसे—पुत्र होने का कारण, बुद्धिपूर्वक तो विवाहादि करना है और अबुद्धिपूर्वक, भवितव्य है; वहाँ पुत्र का अर्थी, विवाहादि का तो उद्यम करे और भवितव्य स्वयमेव मिले, तब पुत्र हो।

उसी प्रकार विभाव दूर करने के कारण, बुद्धिपूर्वक तो तत्त्व विचारादि हैं और अबुद्धिपूर्वक, मोहकर्म के उपशमादि हैं; अतः उसका अर्थी, तत्त्वविचारादि का तो उद्यम करे और मोहकर्म के उपशमादि स्वयमेव मिलें, तब रागादि दूर होते हैं।

यहाँ ऐसा कहते हैं—जैसे—विवाहादि भी भवितव्याधीन हैं; उसी प्रकार तत्त्वविचारादि भी कर्म के क्षयोपशमादि के आधीन हैं; इसलिए उद्यम करना, निरर्थक है?

उसका उत्तर—तत्त्वविचारादि करनेयोग्य ज्ञानावरण का क्षयोपशम तो तेरे हुआ है; इसलिए उपयोग को वहाँ लगाने का उद्यम कराते हैं। असंज्ञी जीवों को क्षयोपशम नहीं है, तो उन्हें उपदेश देने का उद्यम किसलिए करें?

तब वह कहता है—होनहार हो तो वहाँ उपयोग लगे; बिना होनहार, कैसे लगे?

उसका उत्तर—यदि ऐसा श्रद्धान है तो सर्वत्र किसी भी कार्य का उद्यम मत कर। तू, खान-पान-व्यापारादि का तो उद्यम करता है और यहाँ होनहार बतलाता है; इससे मालूम होता है कि तेरा अनुराग यहाँ नहीं है; मानादि से ऐसी झूठी बातें बनाता है।

इस प्रकार जो रागादि होते हुए भी, उनसे रहित आत्मा को मानते हैं, उन्हें मिथ्यादृष्टि जानना।

वे, कर्म-नोकर्म का सम्बन्ध होते हुए भी, आत्मा को निर्बन्ध मानते हैं।

वहाँ इनका बन्धन प्रत्यक्ष देखा जाता है; ज्ञानावरणादि से ज्ञानादि का घात देखा जाता है, शरीर द्वारा उसके अनुसार अवस्थाएँ होती देखी जाती हैं; बन्धन कैसे नहीं है ? यदि बन्धन न हो तो मोक्षमार्गी इनके नाश का उद्यम किसलिए करे ?

यहाँ कोई कहे—शास्त्रों में आत्मा को कर्म-नोकर्म से भिन्न, अबद्धस्पृष्ट कैसे कहा है ?

उसका उत्तर—सम्बन्ध अनेक प्रकार के हैं —

वहाँ तादात्म्यसम्बन्ध की अपेक्षा, आत्मा को कर्म-नोकर्म से भिन्न कहा है क्योंकि द्रव्य पलटकर, एक नहीं हो जाते हैं और इसी अपेक्षा से अबद्धस्पृष्ट कहा है तथा निमित्त -नैमित्तिक सम्बन्ध की अपेक्षा, बन्धन है ही, उनके निमित्त से आत्मा अनेक अवस्थाएँ धारण करता ही है; इसलिए आप (स्वयं) को सर्वथा निर्बन्ध मानना, मिथ्या दृष्टि (मिथ्यादर्शन) है।

यहाँ कोई कहे—हमें तो बन्ध-मुक्ति का विकल्प नहीं करना, क्योंकि शास्त्र में ऐसा कहा है —

जइ बद्धउ मुक्कउ मुणहि, सो बंधियहि णिभंतु।[१]

इसका अर्थ—जो जीव, बँधा और मुक्त हुआ मानता है, वह नि:सन्देह बँधता है।

उससे कहते हैं—जो जीव, केवल पर्यायदृष्टि होकर, बन्ध-मुक्त अवस्था ही को मानते हैं; द्रव्यस्वभाव का ग्रहण नहीं करते, उन्हें ऐसा उपदेश दिया है कि द्रव्यस्वभाव को न जानता हुआ जो जीव, बँधा-मुक्त हुआ मानता है, वह बँधता है। तथा यदि सर्वथा ही बन्ध -मुक्ति न होती हो तो 'यह जीव, बँधता है'—ऐसा क्यों कहें ? तथा बन्ध के नाश का — मुक्त होने का उद्यम किसलिए करता है ? किसलिए आत्मानुभव करता है ? इसलिए **'द्रव्यदृष्टि से एक दशा है और पर्यायदृष्टि से अनेक अवस्थाएँ होती हैं'**—ऐसा मानना, योग्य है।

— ऐसे ही अनेक प्रकार से केवल निश्चयनय का अभिप्राय लेकर, विरुद्ध श्रद्धानादि करता है।

जिनवाणी में तो नाना नयों की अपेक्षा, कहीं कैसा — कहीं कैसा निरूपण किया है; यह अपने अभिप्राय से निश्चयनय की मुख्यता से जो कथन किया हो, उसी को ग्रहण करके मिथ्या दृष्टि (मिथ्यादर्शन) को धारण करता है।

वहाँ जिनवाणी में तो **'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता होनेपर, मोक्षमार्ग कहा है'**; अत: इसके **'सम्यग्दर्शन-ज्ञान में सात तत्त्वों का श्रद्धान और जानना होना चाहिए'**, परन्तु

---

[१] जइ बद्धउ मुक्कउ मुणहि, तो बंधियहि णिभंतु।
सहज-सरूवइ जइ रमहि, तो पावहि सिव संतु॥
(योगसार, दोहा ८७)

उनका विचार नहीं है और '**चारित्र में रागादि दूर करना चाहिए**', उसका उद्यम नहीं है; '**एक अपने आत्मा का शुद्ध अनुभवन करना**'—इस ही को मोक्षमार्ग जानकर, सन्तुष्ट हुआ है।

उसका अभ्यास करने के लिए अन्तरंग में ऐसा चिन्तवन करता रहता है—'**मैं सिद्ध-समान शुद्ध हूँ; केवलज्ञानादि सहित हूँ; द्रव्यकर्म-नोकर्मरहित हूँ; परमानन्दमय हूँ; जन्म-मरणादि दुःख मेरे नहीं हैं**', इत्यादि चिन्तवन करता है।

यहाँ पूछते हैं—यह चिन्तवन यदि द्रव्यदृष्टि से करते हो तो '**द्रव्य तो शुद्ध-अशुद्ध, सर्व पर्यायों का समुदाय है, तुम शुद्ध ही अनुभवन किसलिए करते हो ?**' और यदि पर्यायदृष्टि से करते हो तो '**तुम्हारे तो वर्तमान अशुद्धपर्याय है; तुम अपने को शुद्ध कैसे मानते हो ?**'

यदि शक्ति अपेक्षा, शुद्ध मानते हो तो '**मैं ऐसा होनेयोग्य हूँ**' - ऐसा मानो; '**मैं ऐसा हूँ**' —ऐसा क्यों मानते हो ? इसलिए आपको शुद्धरूप चिन्तवन करना, भ्रम है क्योंकि '**तुमने आप को सिद्धसमान माना तो यह संसार-अवस्था किसकी है ? तुम्हारे केवलज्ञानादि हैं तो ये मतिज्ञानादि किसके हैं ? द्रव्यकर्म-नोकर्मरहित हो तो ज्ञानादि की व्यक्तता क्यों नहीं है ? परमानन्दमय हो तो अब कर्तव्य क्या रहा ? और जन्म-मरणादि दुःख नहीं हैं तो दुःखी कैसे होते हो ?**' इसलिए अन्य अवस्था में, अन्य अवस्था मानना, भ्रम है।

यहाँ कोई कहे—शास्त्र में शुद्धचिन्तवन करने का उपदेश कैसे दिया है ?

उसका उत्तर—एक तो '**द्रव्य अपेक्षा, शुद्धपना**' है; एक '**पर्याय अपेक्षा, शुद्धपना**' है। वहाँ द्रव्य अपेक्षा तो '**परद्रव्य से भिन्नपना और अपने भावों से अभिन्नपना**', उसका नाम 'शुद्धपना' है और पर्याय अपेक्षा, '**औपाधिकभावों का अभाव**' होने का नाम 'शुद्धपना' है; वहाँ '**शुद्ध चिन्तवन में द्रव्य अपेक्षा शुद्धपना**' ग्रहण किया है। वही समयसार व्याख्या में कहा है—

'**एष एवाऽशेषद्रव्यान्तरभावेभ्यो भिन्नत्वेनोपास्यमानः 'शुद्ध' इत्यभिलप्यते।**'①

इसका अर्थ—आत्मा, प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं है; अतः इसे ही '**समस्त परद्रव्यों के भावों से भिन्नपने द्वारा सेवन किया गया शुद्ध**'—ऐसा कहा जाता है।

तथा वहीं ऐसा कहा है —

'**समस्तकारकचक्रप्रक्रियोत्तीर्णनिर्मलाऽनुभूतिमात्रत्वाच्छुद्धः।**'②

इसका अर्थ—समस्त ही कर्ता, कर्म आदि कारकों के समूह की प्रक्रिया से पारंगत (पार को प्राप्त)—ऐसी जो निर्मल अनुभूति अर्थात् अभेदज्ञान तन्मात्र है, उससे शुद्ध है।

— ऐसे 'शुद्ध' शब्द का अर्थ जानना।

---

① मूल प्रति पाठ - 'इत्यभिलिप्येत' (समयसार गाथा ६ की आत्मख्याति टीका) ② समयसार गाथा ७३ की आत्मख्याति टीका

इसी प्रकार **केवल** शब्द का अर्थ जानना—'**जो परभाव से भिन्न, निःकेवल आप ही**' —उसका नाम, केवल है। इसी प्रकार अन्य यथार्थ अर्थों का अवधारण करना।

'पर्याय अपेक्षा शुद्धपना' मानने से तथा 'आप को केवली' मानने से, महाविपरीतता होती है; इसलिए '**आप को द्रव्य-पर्यायरूप अवलोकन करना**' अर्थात् '**द्रव्य की अपेक्षा, सामान्य-स्वरूप अवलोकन करना**' और '**पर्याय की अपेक्षा, अवस्था विशेष अवधारण करना।**'

— **ऐसे ही चिन्तवन करने से सम्यक् दृष्टि होती है** क्योंकि सांच (सच्चा/सत्य) अवलोकन किए बिना, 'सम्यग्दृष्टि' नाम कैसे प्राप्त करे?

निश्चयाभासी की स्वच्छन्दता और उसका निषेध

वहाँ '**मोक्षमार्ग में तो रागादि मिटाने का श्रद्धान-ज्ञान-आचरण करना होता है**', उसका तो विचार ही नहीं है; आप के शुद्ध अनुभवन से ही, आपको सम्यग्दृष्टि मानकर, अन्य सर्व साधनों का निषेध करता है।

'**शास्त्राभ्यास करना**', निरर्थक बतलाता है; '**द्रव्य आदि तथा गुणस्थान-मार्गणा -त्रिलोक आदि के विचार**' को, विकल्प ठहराता है; '**तपश्चरण करने को वृथा क्लेश करना**' मानता है; '**व्रतादि के धारण करने को, बन्धन में पड़ना**' ठहराता है; '**पूजनादि कार्यों को शुभास्त्रव जानकर, हेय**' प्ररूपित करता है, इत्यादि सर्व साधनों का निषेधकर, प्रमादी होकर परिणमित होता है।

'**यदि शास्त्राभ्यास करना निरर्थक हो**' तो मुनियों को भी तो 'ध्यान और अध्ययन' —यही दो कार्य मुख्य हैं। जब ध्यान में उपयोग न लगे, तब अध्ययन ही में उपयोग को लगाते हैं; बीच में अन्यत्र उपयोग लगानेयोग्य नहीं हैं। वहाँ शास्त्राभ्यास द्वारा तत्त्वों को विशेष जानने से, सम्यग्दर्शन-ज्ञान निर्मल होता है तथा वहाँ जब तक उपयोग रहे, तब तक कषाय, मन्द रहती है तथा 'आगामी वीतरागभावों की वृद्धि होती है'—ऐसे कार्य को निरर्थक कैसे मानें?

वहाँ वह कहता है—जिन, शास्त्रों में 'अध्यात्म उपदेश' है, उनका अभ्यास करना; अन्य शास्त्रों का अभ्यास करने से, कोई सिद्धि नहीं है?

उससे कहते हैं—यदि तुझे सच्ची दृष्टि हुई है तो सभी जैनशास्त्र, कार्यकारी हैं। वहाँ भी मुख्यतः अध्यात्मशास्त्रों में तो आत्मस्वरूप का मुख्य कथन है; इसलिए सम्यक्दृष्टि (सम्यग्दर्शन) होनेपर, आत्मस्वरूप का तो निर्णय हो चुका, अब तो ज्ञान की निर्मलता के लिए व उपयोग को मन्दकषायरूप रखने के लिए, अन्य शास्त्रों का अभ्यास मुख्य चाहिए। तथा जो आत्मस्वरूप का निर्णय हुआ है, उसे स्पष्ट रखने के लिए, अध्यात्मशास्त्रों का भी अभ्यास

करना चाहिए, परन्तु अन्य शास्त्रों में अरुचि तो नहीं होनी चाहिए; जिसको अन्य शास्त्रों की अरुचि है, उसे 'अध्यात्म की रुचि' सच्ची नहीं है।

जैसे—जिसको विषयासक्तपना हो, वह विषयासक्त पुरुषों की कथा भी रुचिपूर्वक सुने, विषय के विशेष को भी जाने और विषय के आचरण में जो साधन हों, उन्हें भी हितरूप माने और विषय के स्वरूप को भी पहिचाने; उसी प्रकार जिसको आत्मरुचि हुई हो, वह आत्मरुचि के धारक तीर्थंकरादि के पुराणों को भी जाने; आत्मा के विशेष जानने के लिए, गुणस्थानादि को भी जाने और आत्मा के आचरण में जो व्रतादि साधन हैं, उनको भी हितरूप माने और आत्मा के स्वरूप को भी पहिचाने; इसलिए **चारों ही अनुयोग कार्यकारी हैं।**

तथा उनका अच्छी तरह ज्ञान होने के लिए, शब्द-न्याय शास्त्रादि को भी जानना चाहिए; इसलिए अपनी शक्ति के अनुसार, **'सभी का थोड़ा या बहुत अभ्यास करना'** योग्य है।

फिर वह कहता है—'पद्मनन्दि पच्चीसी' में ऐसा कहा है कि 'बुद्धि, आत्मस्वरूप से निकलकर, बाह्य शास्त्रों में विचरती है; अतः वह बुद्धि, व्यभिचारिणी है।'

उसका उत्तर—यह भी सत्य कहा है [क्योंकि] **बुद्धि तो आत्मा की है, उसे छोड़कर, परद्रव्यरूप शास्त्रों में अनुरागिनी हुई, उसे व्यभिचारिणी ही कहते है।** जैसे—स्त्री, शीलवती रहे तो योग्य ही है और न रहा जाए, तब उत्तमपुरुष (पति) को छोड़कर, चाण्डालादि (पर पुरुष) का सेवन करने से तो अत्यन्त निन्दनीय होती है; उसी प्रकार बुद्धि, आत्मस्वरूप में प्रवर्ते तो योग्य ही है और न रहा जाए, तो प्रशस्त (शुभ) शास्त्रादि परद्रव्यों को छोड़कर, अप्रशस्त (अशुभ) विषयादि में लगे तो महानिन्दनीय ही होती है परन्तु मुनियों की भी बुद्धि, स्वरूप में बहुत काल तक नहीं रहती तो तेरी कैसे रह सकती है?

इसलिए शास्त्राभ्यास में उपयोग लगाना, योग्य है।

वहाँ जो द्रव्यादि के और गुणस्थानादि के विचार को विकल्प ठहराता है, सो विकल्प तो हैं परन्तु निर्विकल्प उपयोग न रहे, तब इन विकल्पों को न करें तो जो अन्य विकल्प होते हैं; वे बहुत रागादि गर्भित होते हैं तथा निर्विकल्पदशा सदा रहती नहीं है क्योंकि छद्मस्थ का उपयोग, एकरूप उत्कृष्ट रहे तो अन्तर्मुहूर्त रहता है।

यदि तू कहेगा—मैं, आत्मस्वरूप ही का चिन्तवन अनेक प्रकार किया करूँगा?

उसे [कहते हैं—] सामान्य चिन्तवन में तो अनेक प्रकार बनते नहीं हैं और यदि विशेष करेगा तो द्रव्य-गुण-पर्याय, गुणस्थान-मार्गणा, शुद्ध-अशुद्ध अवस्था आदि का ही विचार होगा।

❁ बाह्यशास्त्रगहने विहारिणी, या मतिर्बहुविकल्पधारिणी।
चित्स्वरूपकुलसद्मनिर्गता, सा सती न सदृशी कुयोषिता॥ (-१०. सद्बोधचन्द्रोदय अधिकार, **पद्मनन्दि पंचविंशतिका,** छन्द ३८)

और सुन! केवल आत्मज्ञान ही से तो मोक्षमार्ग होता नहीं है; सात तत्त्वों का श्रद्धान -ज्ञान होनेपर और रागादि दूर करनेपर, 'मोक्षमार्ग' होगा; अत: सात तत्त्वों के विशेष जानने के लिए, जीव-अजीव के विशेष और कर्म के आस्रव-बन्धादि के विशेष, अवश्य जाननेयोग्य हैं, जिनसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान की प्राप्ति होती है, फिर उसके बाद रागादि दूर करना। सो इस प्रकार जो रागादि बढ़ाने के कारण हैं, उन्हें छोड़कर, जो रागादि घटाने के कारण हैं, वहाँ उपयोग को लगाना।

सो द्रव्यादि के और गुणस्थानादि के विचार, रागादि घटाने के कारण हैं, इनमें से कोई रागादि (बढ़ाने) का निमित्त नहीं है; इसलिए सम्यग्दृष्टि होने के पश्चात् भी यहाँ ही उपयोग लगाना।

फिर वह कहता है—जो रागादि मिटाने के कारण हों, उनमें तो उपयोग लगाना परन्तु त्रिलोकवर्ती जीवों की गति आदि का विचार करना, कर्म के बन्ध-उदय-सत्तादि के बहुत विशेष जानना तथा त्रिलोक के आकार-प्रमाणादि जानना इत्यादि विचार कैसे कार्यकारी हैं ?

उसका उत्तर—इनका भी विचार करने से, रागादि बढ़ते नहीं हैं क्योंकि वे ज्ञेय, इसको इष्ट-अनिष्ट रूप हैं नहीं; इसलिए वे वर्तमान रागादि के कारण नहीं हैं। तथा इनको विशेष जानने से, तत्त्वज्ञान निर्मल होता है; इसलिए आगामी रागादि घटाने को ही कारण हैं; अत: कार्यकारी हैं।

फिर वह कहता है—स्वर्ग-नरकादि को जानते हैं, वहाँ तो राग-द्वेष होता है ?

उसका समाधान—ज्ञानी को तो ऐसी बुद्धि होती नहीं है; अज्ञानी को होती है; वहाँ पाप छोड़कर, पुण्य कार्य में लगती है; अत: किंचित् रागादि घटते ही हैं।

फिर वह कहता है—शास्त्र में ऐसा उपदेश है कि प्रयोजनभूत थोड़ा ही जानना कार्यकारी है; इसलिए बहुत विकल्प किसलिए करें ?

उसका उत्तर—जो जीव, अन्य बहुत जानते हैं और प्रयोजनभूत को नहीं जानते अथवा जिनकी बहुत जानने की शक्ति नहीं है, उन्हें यह उपदेश दिया है तथा जिसकी बहुत जानने की शक्ति हो, उसको तो यह नहीं कहा कि बहुत जानने से बुरा होगा। 'जितना बहुत जानेगा, उतना प्रयोजनभूत जानना, निर्मल होगा' क्योंकि शास्त्र में ऐसा कहा है —

'सामान्यशास्त्रतो नूनं, विशेषो बलवान् भवेत्'

इसका अर्थ—सामान्यशास्त्र से, विशेष बलवान होता है, विशेष से ही अच्छी तरह निर्णय होता है; इसलिए विशेष जानना, योग्य है।

वहाँ वह तपश्चरण को वृथा क्लेश ठहराता है परन्तु मोक्षमार्गी होनेपर तो संसारी जीवों से उल्टी परिणति होना चाहिए। संसारियों को इष्ट-अनिष्ट सामग्री से राग-द्वेष होता है, इसके राग-द्वेष नहीं होना चाहिए।

तथा राग छोड़ने के लिए, इष्ट सामग्री भोजनादि का त्यागी होता है और द्वेष छोड़ने के लिए, अनिष्ट सामग्री अनशनादि को अंगीकार करता है। स्वाधीनरूप से ऐसा साधन हो तो पराधीन इष्ट-अनिष्ट सामग्री मिलनेपर भी, राग-द्वेष न हो; अतः होना तो ऐसा ही चाहिए, परन्तु तुझे अनशनादि से द्वेष हुआ; इसलिए उसे क्लेश ठहराया।

जब यह क्लेश हुआ, तब भोजन करना स्वयमेव सुख ठहरा और वहाँ राग आया, परन्तु ऐसी परिणति तो संसारियों के पायी ही जाती है, तूने मोक्षमार्गी होकर क्या किया?

यदि तू कहेगा—कितने ही सम्यग्दृष्टि भी तपश्चरण नहीं करते हैं?

उसका उत्तर—कारण विशेष से, [उनको] तप नहीं हो सकता, परन्तु श्रद्धान में तप को भला जानते हैं और उसके साधन का उद्यम रखते हैं। तुझे तो श्रद्धान यह है कि 'तप करना, क्लेश है' तथा तेरे तप का उद्यम नहीं है; इसलिए तुझे सम्यक् दृष्टि (सम्यग्दर्शन) कैसे हो?

फिर वह कहता है—शास्त्र में ऐसा कहा है कि तप आदि का क्लेश करता है तो करो; ज्ञान बिना, सिद्धि नहीं है?

उसका उत्तर—जो जीव, तत्त्वज्ञान से तो पराङ्मुख हैं, व तप ही से मोक्ष मानते हैं, उनको ऐसा उपदेश दिया है कि तत्त्वज्ञान के बिना, केवल तप ही से मोक्षमार्ग नहीं होता तथा तत्त्वज्ञान होनेपर, रागादि मिटाने के लिए, तप करने का तो निषेध है नहीं। यदि निषेध हो तो गणधरादि तप किसलिए करें? इसलिए अपनी शक्ति अनुसार, तप करना, योग्य है।

वहाँ वह व्रतादि को बन्धन मानता है परन्तु स्वच्छन्दवृत्ति तो अज्ञान अवस्था में ही थी; ज्ञान प्राप्त करनेपर तो, [परद्रव्य से] परिणति को रोकता ही है। तथा उस परिणति को रोकने के लिए, बाह्य हिंसादि कारणों का त्यागी अवश्य होना चाहिए।

फिर वह कहता है—'हमारे परिणाम तो शुद्ध हैं; बाह्य त्याग नहीं किया तो नहीं किया?'

उसका उत्तर—यदि ये हिंसादि कार्य तेरे परिणाम बिना, स्वयमेव होते हों तो हम ऐसा मानें, परन्तु यदि तू अपने परिणाम से कार्य करता है तो वहाँ तेरे परिणाम, शुद्ध कैसे कहें? विषय-सेवनादि क्रिया अथवा प्रमादरूप गमनादि क्रिया, परिणाम बिना कैसे हो?

Ⓢ मूल हस्तलिखित प्रति (पृष्ठ २५१) में पण्डितजी ने ११ पंक्तियाँ लिखकर काटी हैं, जिसमें उन्होंने उदाहरण आदि लिखे हैं।

वह क्रिया तो स्वयं उद्यमी होकर तू करता है परन्तु वहाँ जो हिंसादि होते हैं, उन्हें गिनता नहीं है, और परिणाम शुद्ध मानता है परन्तु ऐसी मान्यता से तेरे परिणाम, अशुद्ध ही रहेंगे।

फिर वह कहता है—परिणामों को रोकें, बाह्य हिंसादि भी कम करें, परन्तु प्रतिज्ञा करने में बन्धन होता है; इसलिए प्रतिज्ञारूप व्रत अंगीकार नहीं करना?

उसका समाधान—जिस कार्य को करने की आशा रहती है, उसकी प्रतिज्ञा नहीं लेते हैं और आशा रहने से, उससे राग रहता है। उस रागभाव के कारण, बिना कार्य किये भी अविरति से, कर्म बन्ध होता रहता है; इसलिए प्रतिज्ञा अवश्य करनेयोग्य है। तथा कार्य करने का बन्धन (नियम) हुए बिना, परिणाम कैसे रुकेंगे? प्रयोजन पड़नेपर तद्रूप परिणाम होंगे ही होंगे तथा बिना प्रयोजन भी उसकी आशा रहती है; इसलिए प्रतिज्ञा करना, योग्य है।

फिर वह कहता है—न जाने कैसा उदय आए और बाद में प्रतिज्ञा भंग हो तो महापाप लगता है; इसलिए प्रारब्ध के अनुसार जो कार्य बने, वह बनो; प्रतिज्ञा का विकल्प नहीं करना।

उसका समाधान—प्रतिज्ञा ग्रहण करते हुए जिसका निर्वाह होता न जाने, वह प्रतिज्ञा तो न करें; प्रतिज्ञा लेते ही यह अभिप्राय रहे कि प्रयोजन पड़नेपर छोड़ दूँगा तो वह प्रतिज्ञा क्या कार्यकारी हुई? **प्रतिज्ञा ग्रहण करते हुए तो यह परिणाम रहे कि मरणान्त होनेपर भी नहीं छोड़ूँगा - ऐसी प्रतिज्ञा करना युक्त ही है।** बिना प्रतिज्ञा किए, अविरतिसम्बन्धी बन्ध नहीं मिटता।

वहाँ यदि आगामी उदय के भय से, प्रतिज्ञा न ली जाए तो उदय को विचारने से सर्व ही कर्तव्य का नाश होता है। जैसे—अपने को पचता जाने, उतना भोजन करे। कदाचित् किसी को भोजन से अजीर्ण हुआ हो और यदि उस भय से भोजन करना छोड़ दे तो मरण ही हो; उसी प्रकार अपने से निर्वाह होता जाने, उतनी प्रतिज्ञा करे। कदाचित् किसी को प्रतिज्ञा से भ्रष्टपना हुआ हो और **यदि भय से प्रतिज्ञा करना छोड़ दे तो असंयम ही हो; इसलिए जो बन सके, वह प्रतिज्ञा लेना योग्य है।**

वहाँ, '**प्रारब्ध के अनुसार तो कार्य बनता ही है**', तू उद्यमी होकर, भोजनादि किसलिए करता है? यदि वहाँ उद्यम करता है तो 'त्याग करने का भी उद्यम करना', योग्य ही है। जब तेरी दशा प्रतिमावत् हो जाएगी, तब हम प्रारब्ध ही मानेंगे; तेरा कर्तव्य नहीं मानेंगे; इसलिए स्वच्छन्द होने की युक्ति किसलिए बनाता है? अत: **जो बने, वह प्रतिज्ञा करके, व्रत धारण करना योग्य ही है।**

तथा वह पूजनादि कार्य को शुभास्रव जानकर, हेय मानता है—सो यह तो सत्य ही है परन्तु यदि **इन कार्यों को छोड़कर, शुद्धोपयोगरूप हो तो भला ही है परन्तु यदि विषय -कषायरूप - अशुभरूप प्रवर्ते तो अपना बुरा ही किया।** शुभोपयोग से स्वर्गादि हों अथवा भली वासना से या भले निमित्त से, कर्म के स्थिति-अनुभाग घट जाएँ तो सम्यक्त्वादि की भी प्राप्ति हो जाए तथा अशुभोपयोग से नरक-निगोदादि हों अथवा बुरी वासना से या बुरे निमित्त से, कर्म के स्थिति-अनुभाग बढ़ जाएँ तो सम्यक्त्वादि महादुर्लभ हो जाएँ।

वहाँ शुभोपयोग होने से, कषाय मन्द होती है और अशुभोपयोग होने से, तीव्र होती है; इसलिए मन्दकषाय का कार्य छोड़कर, तीव्रकषाय का कार्य करना तो ऐसा है—जैसे—कड़वी वस्तु न खाना और विष खाना, परन्तु यह तो अज्ञानता है।

फिर वह कहता है—शास्त्र में शुभ-अशुभ को समान कहा है; इसलिए हमें तो विशेष (अन्तर) जानना योग्य नहीं है ?

उसका समाधान—जो जीव, शुभोपयोग को मोक्ष का कारण मानकर, उपादेय मानते हैं और शुद्धोपयोग को नहीं पहिचानते हैं, उन्हें शुभ-अशुभ दोनों को अशुद्धता की अपेक्षा व बन्धकारण की अपेक्षा, समान बतलाया है।

तथा शुभ-अशुभ का परस्पर विचार करें तो शुभभावों में कषाय मन्द होती है; इसलिए बन्ध, हीन होता है; अशुभभावों में कषाय तीव्र होती है; इसलिए बन्ध बहुत होता है।

इस प्रकार विचार करनेपर, सिद्धान्त में अशुभ की अपेक्षा, शुभ को भला भी कहा जाता है। जैसे—रोग तो थोड़ा या बहुत बुरा ही है परन्तु बहुत रोग की अपेक्षा, थोड़े रोग को भला भी कहते हैं; इसलिए शुद्धोपयोग नहीं हो, तब तक अशुभ से छूटकर, शुभ में प्रवर्तना योग्य है; शुभ को छोड़कर, अशुभ में प्रवर्तना योग्य नहीं है।

फिर वह कहता है—कामादि या क्षुधादि मिटाने के लिए, अशुभरूप प्रवृत्ति तो हुए बिना रहती नहीं है और शुभरूप प्रवृत्ति इच्छा करके करनी पड़ती है; ज्ञानी को इच्छा चाहिए नहीं; इसलिए शुभ का उद्यम नहीं करना ?

उसका उत्तर—शुभप्रवृत्ति में उपयोग लगने से तथा उसके निमित्त से, विरागता बढ़ने से, कामादि हीन होते हैं और क्षुधादि में भी संक्लेश थोड़ा होता है; इसलिए शुभोपयोग का अभ्यास करना। उद्यम करनेपर भी यदि कामादि व क्षुधादि पीड़ित करते हैं तो उसके लिए जैसे-थोड़ा पाप लगे, वह करना, परन्तु '**शुभोपयोग को छोड़कर, निःशंक पापरूप प्रवर्तन करना तो योग्य नहीं है।**'

तथा तू कहता है—ज्ञानी के इच्छा नहीं है और शुभोपयोग इच्छा करने से होता है तो जैसे—कोई पुरुष, किंचित्मात्र भी अपना धन देना नहीं चाहता, परन्तु जहाँ बहुत धन जाता जाने, वहाँ अपनी इच्छा से थोड़ा धन देने का उपाय करता है; वैसे ज्ञानी, किंचित्मात्र भी कषायरूप कार्य करना नहीं चाहता, परन्तु जहाँ बहुत कषायरूप अशुभकार्य होता जाने, वहाँ इच्छा करके, अल्पकषायरूप शुभकार्य करने का उद्यम करता है।

— ऐसे यह बात सिद्ध हुई कि '**जहाँ शुद्धोपयोग होता जाने, वहाँ तो शुभकार्य का निषेध ही है परन्तु जहाँ अशुभोपयोग होता जाने, वहाँ शुभ को उपाय करके, अंगीकार करना योग्य है।**'

इस प्रकार अनेक व्यवहार कार्यों का उत्थापन करके, जो स्वच्छन्दपने को स्थापित करता है, उसका निषेध किया।

केवल निश्चयाभास के अवलम्बी जीव की प्रवृत्ति

अब उसी, 'केवल निश्चयावलम्बी' (निश्चयाभास के अवलम्बी) जीव की प्रवृत्ति दिखलाते हैं —

एक शुद्धात्मा को जानने से ज्ञानी हो जाते हैं; अन्य कुछ भी नहीं चाहिए—ऐसा जानकर, कभी एकान्त में बैठकर ध्यानमुद्रा धारणकर, 'मैं, सर्व कर्मोपाधिरहित सिद्धसमान आत्मा हूँ', इत्यादि विचार से सन्तुष्ट होता है परन्तु यह विशेषण किस प्रकार सम्भवित है — ऐसा विचार नहीं है। अथवा अचल, अखण्ड, अनुपमादि विशेषणों द्वारा, आत्मा को ध्याता है परन्तु ये विशेषण, अन्य द्रव्यों में भी सम्भवित हैं तथा ये विशेषण किस अपेक्षा से हैं ? उसका विचार नहीं है। तथा कदाचित् सोते-बैठते जिस-तिस अवस्था में—ऐसा विचार रखकर, अपने को ज्ञानी मानता है।

तथा 'ज्ञानी के आस्रव-बन्ध नहीं हैं'—ऐसा आगम में कहा है; इसलिए कदाचित् विषय-कषायरूप होता है, वहाँ बन्ध होने का भय नहीं है; स्वच्छन्द हुआ रागादिरूप प्रवर्तता है परन्तु स्व-पर को जानने का तो चिह्न, वैराग्यभाव है, वही समयसार में कहा है —

सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञानवैराग्यशक्तिः।[१]

इसका अर्थ—इस सम्यग्दृष्टि को, निश्चय से 'ज्ञान-वैराग्य शक्ति' होती है।

---

[१] सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञानवैराग्यशक्तिः, स्वं वस्तुत्वं कलयितुमयं स्वान्यरूपान्निमुक्त्या।
यस्माज्ज्ञात्वा व्यतिकरमिदं तत्त्वतः स्वं परं च, स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात्सर्वतो रागयोगात्॥ (समयसार, कलश १३६)

फिर कहा है —

सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं, जातु बन्धो न मे स्या-;
दित्युत्तानोत्पुलक-वदनाः, रागिणोऽप्याचरन्तु।
आलम्बन्तां समिति-परतां, ते यतोऽद्यापि पापा;
आत्माऽनात्माऽवगम-विरहात्, सन्ति सम्यक्त्व-रिक्ताः॥ १३७॥

इसका अर्थ—'स्वयमेव यह मैं सम्यग्दृष्टि हूँ, मेरे कदाचित् बन्ध नहीं है'—ऐसा ऊँचा फुलाया है मुँह जिन्होंने—ऐसे रागी, वैराग्यशक्तिरहित आचरण करते हैं तो करो अथवा पाँच समिति की सावधानी का अवलम्बन लेते हैं तो लो क्योंकि वे ज्ञानशक्ति बिना, अभी भी पापी ही हैं—ये दोनों आत्मा-अनात्मा के ज्ञानरहितपने से, सम्यक्त्वरहित ही हैं।

फिर पूछते हैं—पर को पर जाना तो परद्रव्यों में रागादि करने का क्या प्रयोजन रहा?

वहाँ वह कहता है—मोह के उदय से रागादि होते हैं; पूर्व काल में भरतादि ज्ञानी हुए, उनके भी विषय-कषायरूप कार्य हुआ सुनते हैं।

उसका उत्तर—ज्ञानी के भी मोह के उदय से रागादि होते हैं—यह सत्य है परन्तु उनके बुद्धिपूर्वक रागादि नहीं होते; **उसका विशेष वर्णन आगे करेंगे।**

वहाँ जिसको रागादि होने का कुछ विषाद नहीं है, उसके नाश का उपाय भी नहीं है; उसको 'रागादि बुरे हैं'—ऐसा श्रद्धान भी सम्भवित नहीं होता और ऐसे श्रद्धान बिना, सम्यग्दृष्टि कैसे हो? जीवाजीवादि तत्त्वों का श्रद्धान करने का प्रयोजन तो इतना ही श्रद्धान करना है।

तथा भरतादि सम्यग्दृष्टियों के विषय-कषायों की प्रवृत्ति जैसे होती है, वह भी विशेष-रूप से आगे कहेंगे। तू उनके उदाहरण से स्वच्छन्द होगा तो तुझे तीव्र आस्रव-बन्ध होगा।

वही कहा है —

मग्ना ज्ञाननयैषिणोऽपि यदि ते, स्वच्छन्द-मन्दोद्यमाः।[२]

इसका अर्थ—ज्ञाननय का अवलोकन करनेवाले भी जो स्वच्छन्द, मन्द-उद्यमी होते हैं, वे संसार में डूबते हैं।

और भी वहाँ '**ज्ञानिन् कर्म न जातु कर्तुमुचितं ...**'[३] इत्यादि कलश में तथा '**तथापि**

---

① यहाँ मूल हस्तलिखित प्रति (पृष्ठ २५६) में पण्डितजी ने अनेक पंक्तियाँ काटी हैं, जिसमें विषय का स्पष्टीकरण हुआ है।

② मग्नाः कर्मनयावलम्बनपरा, ज्ञानं न जानन्ति यत्; मग्ना ज्ञाननयैषिणोऽपि यदतिस्वच्छन्दमन्दोद्यमाः।
विश्वस्योपरि ते तरन्ति सततं, ज्ञानं भवन्तः स्वयं; ये कुर्वन्ति न कर्म जातु न वशं, यान्ति प्रमादस्य च॥ (समयसार कलश १११)

③ ज्ञानिन् कर्म न जातु कर्तुमुचितं, किंचित्तथाप्युच्यते; भुंक्षे हंत न जातु मे यदि परं, दुर्भुक्त एवासि भोः।
बंधः स्यादुपभोगतो यदि न तत्किं कामचारोस्ति ते; ज्ञानं सन्वस बन्धमेष्यपरथा, स्वस्यापराधाद्ध्रुवम्॥ (समयसार कलश १५१)

④ तथापि न निर्गलं, चरितुमिष्यते ज्ञानिनां; तदायतनमेव सा, किल निर्गला व्यापृतिः।
अकामकृतकर्म तन्मतमकारणं ज्ञानिनां; द्वयं न हि विरुध्यते, किमु करोति जानाति च॥ (समयसार कलश १६६)

न निरर्गलं चरितुमिष्यते ज्ञानिनः' इत्यादि कलश में स्वच्छन्दी होने का निषेध किया है तथा बिना इच्छा के जो कार्य हो, वह कर्मबन्ध का कारण नहीं है। अभिप्राय से कर्ता होकर करे और ज्ञाता रहे – यह तो बनता नहीं है, इत्यादि निरूपण किया है।

इसलिए रागादि को बुरे – अहितकारी जानकर, उनका नाश करने के लिए उद्यम रखना। वहाँ अनुक्रम से, पहले तीव्र रागादि छोड़ने के लिए, अशुभकार्य छोड़कर, शुभ में लगना और पश्चात् मन्द रागादि भी छोड़ने के लिए, शुभ को छोड़कर, शुद्धोपयोगरूप होना।

कितने ही जीव, अशुभ में क्लेश मानकर, व्यापारादि कार्य एवं स्त्री सेवनादि कार्यों को भी घटाते हैं तथा शुभ को हेय जानकर, शास्त्राभ्यासादि कार्यों में नहीं प्रवर्तते हैं तथा वीतरागभावरूप शुद्धोपयोग को प्राप्त नहीं हुए हैं; इसलिए वे जीव, अर्थ-काम-धर्म-मोक्ष-रूप पुरुषार्थ से रहित होते हुए, आलसी व निरुद्यमी होते हैं। उनकी निन्दा पंचास्तिकाय की व्याख्या में की है;[१] उनके लिए दृष्टान्त दिया है –

जैसे–बहुत खीर-खाण्ड (शक्कर) खाकर, पुरुष आलसी हो जाता है तथा जैसे–वृक्ष निरुद्यमी हैं; वैसे वे जीव, आलसी व निरुद्यमी हुए हैं।

अब इनसे पूछते हैं–तुमने बाह्य में तो शुभ-अशुभ कार्यों को घटाया, परन्तु उपयोग तो बिना आलम्बन के रहता नहीं है तो तुम्हारा उपयोग कहाँ रहता है ? वह कहो।

यदि वह कहे–वह आत्मा का चिन्तवन करता है ?

तो [उससे पूछते हैं–] शास्त्रादि द्वारा अनेक प्रकार से आत्मा के विचार को तो तुमने विकल्प ठहराया और आत्मा का कोई विशेषण जानने में बहुत समय लगता नहीं है; बारम्बार एकरूप चिन्तवन में छद्मस्थ का उपयोग लगता नहीं है। गणधरादि का भी उपयोग ऐसा नहीं रह सकता; इसलिए वे भी शास्त्रादि कार्यों में प्रवर्तते हैं तो तेरा उपयोग, गणधरादि से भी शुद्ध हुआ कैसे मानें ? इसलिए तेरा कहना प्रमाण नहीं है।

जैसे–कोई निठल्ला, व्यापारादि में निरुद्यमी होकर, जैसे-तैसे काल गँवाता है; उसी प्रकार तू प्रमादी, धर्म में निरुद्यमी होकर यों ही काल गँवाता है। कभी कुछ चिन्तवन-सा करता है, कभी बातें बनाता है, कभी भोजनादि करता है परन्तु अपना उपयोग निर्मल करने के लिए, शास्त्राभ्यास, तपश्चरण, भक्ति आदि कार्यों में नहीं प्रवर्तता; सूना-सा होकर प्रमादी होने का नाम, 'शुद्धोपयोग' ठहराकर, वहाँ थोड़ा क्लेश होने से, 'जैसे–कोई आलसी होकर पड़े रहने में सुख मानता है; वैसे यह आनन्द मानता है।

---

[१] पंचास्तिकाय गाथा १७२ की आचार्य अमृतचन्द्रकृत समयव्याख्या टीका

अथवा जैसे—कोई स्वप्न में अपने को राजा मानकर, सुखी होता है; उसी प्रकार अपने को भ्रम से 'सिद्धसमान शुद्ध' मानकर, स्वयं ही आनन्दित होता है। अथवा जैसे—कहीं रति मानकर, सुखी होता है; उसी प्रकार कुछ विचार करने में रति मानकर, सुखी होता है; उसे 'अनुभवजनित आनन्द' कहता है। जैसे—कहीं अरति मानकर, उदास होता है; उसी प्रकार व्यापारादि व पुत्रादि को खेद का कारण जानकर, उनसे उदास रहता है और उसे वैराग्य मानता है परन्तु ऐसा ज्ञान-वैराग्य तो कषायगर्भित है। **जो वीतरागरूप उदासीनदशा में निराकुलता होती है, वह सच्चा आनन्द-ज्ञान-वैराग्य,** ज्ञानी जीवों को चारित्रमोह की हीनता होनेपर प्रगट होता है।

वहाँ वह व्यापारादि क्लेश छोड़कर, यथेष्ट भोजनादि द्वारा सुखी हुआ प्रवर्तता है और अपने को वहाँ कषायरहित मानता है परन्तु इस प्रकार आनन्दरूप होने से तो रौद्रध्यान होता है। जहाँ सुख सामग्री को छोड़कर, दु:ख सामग्री का संयोग होनेपर, संक्लेश न हो, राग-द्वेष उत्पन्न न हों, तब नि:कषायभाव होता है—**ऐसी भ्रमरूप उनकी प्रवृत्ति पायी जाती है।**

इस प्रकार जो जीव, केवल निश्चयाभास के अवलम्बी हैं, उन्हें मिथ्यादृष्टि जानना।

जैसे—वेदान्ती व सांख्यमती जीव, केवल शुद्धात्मा के श्रद्धानी हैं; उसी प्रकार इन्हें भी जानना क्योंकि श्रद्धान की समानता होने के कारण, 'उनका उपदेश, इन्हें इष्ट लगता है और इनका उपदेश, उन्हें इष्ट लगता है।'①

उन जीवों को ऐसा श्रद्धान है—केवल शुद्धात्मा के चिन्तवन से तो संवर-निर्जरा होते हैं एवं मुक्तात्मा के सुख का अंश वहाँ प्रगट होता है तथा जीव के गुणस्थानादि अशुद्धभावों का एवं आप (स्वयं आत्मा) के बिना, अन्य जीव-पुद्गलादि का चिन्तवन करने से, आस्रव-बन्ध होता है; इसलिए अन्य विचारों से पराङ्मुख रहते हैं।

— यह भी सत्यश्रद्धान नहीं है क्योंकि शुद्धस्वद्रव्य का चिन्तवन करो या अन्य चिन्तवन करो; यदि वीतरागतासहित भाव हों तो वहाँ संवर-निर्जरा ही है और जहाँ रागादिरूप भाव हों, वहाँ आस्रव-बन्ध ही है। **यदि परद्रव्य को जानने से ही आस्रव-बन्ध होते हों तो, केवली तो समस्त परद्रव्यों को जानते हैं; इसलिए उनके भी आस्रव-बन्ध होंगे।**

फिर वह कहता है—छद्मस्थ को परद्रव्य चिन्तवन होनेपर, रागादि होकर आस्रव-बन्ध होता है।

— यह भी नहीं है क्योंकि 'शुक्लध्यान में भी मुनियों को छहों द्रव्यों का, द्रव्य-गुण-पर्याय का चिन्तवन होने का निरूपण किया है' और अवधि-मन:पर्यय आदि में तो परद्रव्य को जानने ही की विशेषता होती है।

वहाँ **चौथे गुणस्थान में कोई अपने स्वरूप का चिन्तवन करता है, उसको भी आस्रव**

---

① मूल प्रति (पृष्ठ २५९) में यहाँ छह पंक्तियाँ कटी हैं, जिसमें **सप्त तत्त्वों का संक्षिप्त स्वरूप** समझाया गया है—"जिनप्रणीत सप्ततत्त्वनि का यथार्थ श्रद्धान, इनिकै नाहीं है। **कैसे ? सो कहिए है-जीव का स्वरूप** तौ शुद्ध-अशुद्ध दोऊ दशारूप है, याकै एक शुद्धपनां ही का श्रद्धान भया। बहुरि **अजीव का स्वरूप** कर्म्मादिक अवस्था लीएं है, तिनिकों गिनते ही नांहीं। **आस्रव का स्वरूप** रागादि रूप, तिनिकों अपनां दोष जानते नांहीं। **बंध का स्वरूप** कर्म्म का संबंध, ताकों आपकै मानते नांहीं। **संवर का स्वरूप** रागादि मेटनां, ताका उपाय नांही। **निर्जरा का स्वरूप** कर्म्म खिपावनां, ताका उद्यम नांही। **मोक्ष का स्वरूप** सर्व्व कर्म्म नाश होनां, सो.....।

-बन्ध अधिक है व गुणश्रेणीनिर्जरा नहीं है; पाँचवें-छठे गुणस्थान में आहार-विहारादि क्रिया होनेपर, परद्रव्यचिन्तवन से भी, आस्रव-बन्ध थोड़ा है व गुणश्रेणीनिर्जरा होती रहती है; इसलिए स्वद्रव्य-परद्रव्य के चिन्तवन से, निर्जरा-बन्ध नहीं होते; रागादि घटने से, निर्जरा है व रागादि होने से, बन्ध है; उसे रागादि के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं है; इसलिए अन्यथा मानता है।

वहाँ वह पूछता है—यदि ऐसा है तो निर्विकल्प अनुभवदशा में नय-प्रमाण-निक्षेपादि के व दर्शन-ज्ञानादि के भी विकल्पों का निषेध किया है, वह किस प्रकार है ?

उसका उत्तर—जो जीव, इन्हीं विकल्पों में लगे रहते हैं और अभेदरूप एक आत्मा का अनुभव नहीं करते, उन्हें ऐसा उपदेश दिया है —

'ये सर्व विकल्प, वस्तु का निश्चय करने में कारण हैं। वस्तु का निश्चय होनेपर, इनका प्रयोजन कुछ नहीं रहता; इसलिए इन विकल्पों को भी छोड़कर, अभेदरूप एक आत्मा का अनुभव करना; इनके विचाररूप विकल्पों में ही फँसे रहना, योग्य नहीं है।

वस्तु का निश्चय होने के बाद, ऐसा नहीं है कि सामान्यरूप स्वद्रव्य ही का चिन्तवन रहा करे। वहाँ स्वद्रव्य का तथा परद्रव्य का सामान्यरूप और विशेषरूप जानना होता है परन्तु वीतरागतासहित होता है; उसी का नाम 'निर्विकल्पदशा' है।

वहाँ वह पूछता है—यहाँ तो बहुत विकल्प हुए, 'निर्विकल्प' संज्ञा कैसे सम्भव है ?

उसका उत्तर—निर्विचार होने का नाम, 'निर्विकल्प' नहीं है क्योंकि छद्मस्थ को जानना, विचारसहित होता है, उसका अभाव मानने से, ज्ञान का अभाव हो, तब जड़पना हुआ, वह आत्मा को होता नहीं है; इसलिए विचार तो रहता है।

वहाँ यदि कहो—एक सामान्य का ही विचार रहता है; विशेष का नहीं ?

तो उसका उत्तर—सामान्य का विचार तो बहुत काल रहता नहीं है तथा विशेष की अपेक्षा बिना, सामान्य का स्वरूप भासित नहीं होता।

यदि कहो—आप (स्व) ही का विचार रहता है; पर का नहीं ?

— **तो** [**उसका उत्तर**—] पर में परबुद्धि हुए बिना, आप में निजबुद्धि कैसे आए ?

वहाँ वह कहता है—समयसार (आत्मख्याति टीका) में ऐसा कहा है —

भावयेद्भेद-विज्ञान-,मिदमच्छिन्न-धारया।
तावद्यावत्पराच्च्युत्वा, ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते॥ *(कलश १३०)*

इसका अर्थ—यह भेदविज्ञान तब तक निरन्तर भाना, जब तक पर से छूटकर ज्ञान,

ज्ञान में स्थित हो; इसलिए भेदविज्ञान छूटनेपर, पर का जानना मिट जाता है; केवल आप ही को आप जानता रहता है।

देखो! यहाँ तो यह कहा है—पूर्व में स्व-पर को एक जानता था, बाद में भिन्न जानने के लिए, भेदविज्ञान को तब तक भाना ही योग्य है, जब तक ज्ञान, पररूप को भिन्न जानकर, अपने ज्ञानस्वरूप ही में निश्चित हो जाए। पश्चात् भेदविज्ञान करने का प्रयोजन नहीं रहता; स्वयमेव पर को पररूप और आप को आपरूप जानता रहता है—ऐसा नहीं है कि परद्रव्य का जानना ही मिट जाता है।®

अतः परद्रव्य को जानने या स्वद्रव्य के विशेषों को जानने का नाम, विकल्प नहीं है।

तो किस प्रकार है? वह कहते हैं—राग-द्वेषवश किसी ज्ञेय के जानने में उपयोग लगाना और किसी ज्ञेय के जानने से छुड़ाना; इस प्रकार बारम्बार उपयोग को भ्रमाना, उसका नाम विकल्प है। तथा **जहाँ वीतरागरूप होकर जिसे जानते हैं, उसे यथार्थ जानते हैं; अन्य-अन्य ज्ञेय को जानने के लिए, उपयोग को भ्रमाते नहीं हैं, वहाँ निर्विकल्पदशा जानना।**

यहाँ कोई कहता है—छद्मस्थ का उपयोग तो नाना ज्ञेयों में भ्रमता ही भ्रमता है, वहाँ निर्विकल्पता कैसे सम्भव है?

उसका उत्तर—जितने काल, एक जाननेरूप रहे, तब तक निर्विकल्प नाम पाता है। सिद्धान्त में ध्यान का लक्षण ऐसा ही किया है —

'एकाग्र-चिन्ता-निरोधो ध्यानम्।' *(तत्त्वार्थसूत्र, ९-२७)*

[अर्थात्] एक का मुख्य चिन्तवन हो और अन्य चिन्ता रुक जाए, उसका नाम, ध्यान है।

सूत्र की सर्वार्थसिद्धि टीका में यह विशेष कहा है—यदि सर्व चिन्ता रुकने का नाम ध्यान हो तो अचेतनपना आ जाए। वहाँ ऐसी भी विवक्षा है कि सन्तान अपेक्षा, नाना ज्ञेयों का भी जानना होता है परन्तु जब तक वीतरागता रहे; रागादि से आप उपयोग को नहीं भ्रमाए, तब तक निर्विकल्पदशा कहते हैं।

फिर वह कहता है—ऐसा है तो परद्रव्य से छुड़ाकर, स्वरूप में उपयोग लगाने का उपदेश किसलिए दिया है?

उसका समाधान—जो शुभ-अशुभभावों के कारण, परद्रव्य हैं, उनमें उपयोग लगाने से, जिनको राग-द्वेष हो आते हैं और स्वरूप-चिन्तवन करने से, जिनके राग-द्वेष घटते है — ऐसे निचली अवस्थावाले जीवों को पूर्वोक्त उपदेश है।

® मूल हस्तलिखित प्रति (पृष्ठ २६१) में यहाँ ग्यारह पंक्तियाँ कटी हैं, जिसमें इस विषय को चौथे-पाँचवें-छठे आदि गुणस्थान तथा गुणश्रेणीनिर्जरा आदि के माध्यम से समझाया गया हैं।

वहाँ कहा है - **परद्रव्य का जाननें ही तैं बंध होता होइ तौ केवली कै भी होइ। ज्ञानी भए पीछैं तौ मोक्षमार्ग विषैं ज्ञान की निर्मलता तैं परद्रव्यनि का जानपनां वधता जाय है, तहां बंध भी वधता जाय? तातैं परद्रव्य कों जानों वा स्वद्रव्य कों जानों, रागादि कै अनुसारि ही बंध है।** ... तथा इस विषय का विस्तार से आगे निरूपण करने का निर्देश करते हुए कहते हैं - **इनका निरूपण आगैं करैंगे, ताकों समझैगा, तब तेरा भ्रम दूरि होगा।** इसी प्रकार यहाँ एक प्रश्न भी लिखा है - **बहुरि वह कहैं है, तहां परद्रव्य-स्वद्रव्य का जाननें कै अनुसारि बंध-निर्जरा न होसी, परंतु निर्विकल्प ध्यान विषैं और तौ तुम कह्या सो हम जान्यां, परंतु परद्रव्यादिक का विचार होतैं निर्विकल्पपनां कैसे संभवै। ताका समाधान - बहुरि तैं कह्या निर्विकल्प ध्यान विषैं....।**

जैसे—कोई स्त्री, विकारभाव से पर-घर जाती थी, उसे मना किया कि पर-घर मत जाओ; घर में बैठी रहो, परन्तु जो स्त्री, निर्विकारभाव से किसी के घर जाकर, यथायोग्य प्रवर्ते तो कुछ दोष है नहीं; उसी प्रकार उपयोगरूप परिणति, राग-द्वेषभाव से परद्रव्यों में प्रवर्तती थी, उसे मना किया कि परद्रव्यों में प्रवर्तन मत करो; स्वरूप में मग्न रहो, परन्तु जो उपयोगरूप परिणति वीतरागभाव से परद्रव्य को जानकर, यथायोग्य प्रवर्ते तो कुछ दोष है नहीं।

फिर वह कहता है—ऐसा है तो महामुनि, परिग्रहादि-चिन्तवन का त्याग किसलिए करते हैं ?

उसका समाधान—जैसे—विकाररहित स्त्री, कुशील के कारण पराये घरों का त्याग करती है; उसी प्रकार वीतरागपरिणति, राग-द्वेष के कारण परद्रव्यों का त्याग करती है तथा जो व्यभिचार के कारण नहीं हैं—ऐसे पराये घरों में जाने का त्याग है नहीं; उसी प्रकार जो राग -द्वेष के कारण नहीं हैं—ऐसे परद्रव्यों को जानने का त्याग है नहीं।

फिर वह कहता है—जैसे—जो स्त्री, प्रयोजन जानकर, पितादि के घर जाती है तो जाये, बिना प्रयोजन जिस-तिस के घर जाना तो योग्य नहीं है; उसी प्रकार परिणति को प्रयोजन जानकर, सात तत्त्वों का विचार करना; बिना प्रयोजन गुणस्थानादि का विचार करना, तो योग्य नहीं है।

उसका समाधान—जैसे—स्त्री, प्रयोजन जानकर, पितादि के व मित्रादि के भी घर जाए①; उसी प्रकार परिणति, तत्त्वों के विशेष जानने के कारण, गुणस्थानादि व कर्मादि को भी जानती है।

तथा यहाँ ऐसा जानना—जैसे—शीलवती स्त्री, उद्यमपूर्वक तो विट पुरुषों के स्थान पर न जाए; यदि परवश वहाँ जाना बन जाए, वहाँ कुशील सेवन न करे तो स्त्री, शीलवती ही है; उसी प्रकार वीतरागपरिणति, उपायपूर्वक तो रागादि के कारण परद्रव्यों में नहीं लगे; यदि स्वयमेव उनका जानना हो जाए, वहाँ रागादि न करे तो परिणति, शुद्ध ही है; इसलिए मुनियों को स्त्री आदि का परीषह होनेपर, उनको जानते ही नहीं; अपने स्वरूप का ही जानना रहता है—ऐसा मानना मिथ्या है। उनको जानते तो हैं परन्तु रागादि नहीं करते हैं।

इस प्रकार परद्रव्य को जानते हुए भी, वीतरागभाव होता है—ऐसा श्रद्धान करना।

तब वह कहता है—यदि ऐसा है तो शास्त्र में ऐसा कैसे कहा है कि '**आत्मा का श्रद्धान -ज्ञान-आचरण, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है ?**'

उसका समाधान—अनादि से परद्रव्य में आपा (अपनेपन) का श्रद्धान-ज्ञान-आचरण था, उसे छुड़ाने के लिए यह उपदेश है। आप ही में आप (अपनेपन) का श्रद्धान-ज्ञान

① मूल हस्तलिखित प्रति (पृष्ठ २६३) में '**जैसैं-स्त्री, प्रयोजन जांनि पितादिक के मित्रादिक कै भी घरि जाय**'—ऐसा पाठ है।

-आचरण होने से, परद्रव्य में राग-द्वेषादि परिणति करने का श्रद्धान-ज्ञान-आचरण मिट जाए, तब सम्यग्दर्शनादि होते हैं। यदि परद्रव्य का परद्रव्यरूप श्रद्धानादि करने से, सम्यग्दर्शनादि न होते हों तो केवली के भी उनका अभाव हो। जहाँ परद्रव्य को बुरा जानना हो, निजद्रव्य को भला जानना हो; वहाँ तो राग-द्वेष सहज ही हुए। जहाँ आप को आपरूप, पर को पररूप यथार्थ जानता रहे, वैसे ही श्रद्धानादिरूप प्रवर्तन करे, तभी सम्यग्दर्शनादि होते हैं—ऐसा जानना।

इसलिए बहुत क्या कहें—जिस प्रकार रागादि मिटाने का श्रद्धान हो, वही श्रद्धान, सम्यग्दर्शन है; जिस प्रकार रागादि मिटाने का जानना हो, वही जानना, सम्यग्ज्ञान है तथा जिस प्रकार रागादि मिटें, वही आचरण, सम्यक्चारित्र है—ऐसा ही मोक्षमार्ग मानना योग्य है।

इस प्रकार निश्चयनय के आभाससहित एकान्त पक्ष के धारी, जैनाभासों के मिथ्यात्व का निरूपण किया।

व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि

अब, व्यवहाराभास पक्ष के धारक जैनाभासों के मिथ्यात्व का निरूपण करते हैं —

जिनागम में जहाँ व्यवहार की मुख्यता से उपदेश है, उसे मानकर, बाह्य साधनादि ही का श्रद्धानादि करते हैं; उनके धर्म के सर्व अंग, अन्यथारूप होकर, मिथ्याभाव को प्राप्त होते हैं; उसका विशेष कहते हैं।

यहाँ ऐसा जान लेना—व्यवहारधर्म की प्रवृत्ति से, पुण्यबन्ध होता है; इसलिए पाप-प्रवृत्ति की अपेक्षा तो इसका निषेध है नहीं, परन्तु यहाँ जो जीव, व्यवहारप्रवृत्ति ही से सन्तुष्ट होकर, सच्चे मोक्षमार्ग में उद्यमी नहीं होते हैं, उन्हें मोक्षमार्ग के सम्मुख करने के लिए, उस शुभरूप मिथ्याप्रवृत्ति का भी, निषेधरूप निरूपण करते हैं।

जब ऐसा कथन करते हैं—उसे सुनकर यदि शुभप्रवृत्ति छोड़, अशुभ में प्रवृत्ति करोगे, तब तो तुम्हारा बुरा होगा और यदि यथार्थ श्रद्धान करके, मोक्षमार्ग में प्रवर्तन करोगे तो तुम्हारा भला होगा। जैसे—कोई रोगी, निर्गुण औषधि का निषेध सुनकर, औषधि साधन को छोड़कर, कुपथ्य [सेवन] करेगा तो वह मरेगा, उसमें वैद्य का कुछ दोष नहीं है; उसी प्रकार कोई संसारी, पुण्यरूप धर्म का निषेध सुनकर, धर्मसाधन छोड़, विषय-कषायरूप प्रवर्तन करेगा तो वह स्वयं नरकादि में दुःख पाएगा; उपदेशदाता का तो दोष है नहीं। उपदेश देनेवाले का अभिप्राय तो असत्य श्रद्धानादि छुड़ाकर, मोक्षमार्ग में लगाने का जानना।

— इस प्रकार ऐसे अभिप्राय से यहाँ निरूपण करते हैं।

कुल अपेक्षा धर्मधारक व्यवहाराभासी

वहाँ कितने ही जीव तो कुलक्रम से ही जैनी हैं। जैनधर्म का स्वरूप जानते नहीं, परन्तु कुल में जैसी प्रवृत्ति चली आयी है, वैसे प्रवर्तते हैं। वहाँ जिस प्रकार अन्यमती अपने कुलधर्म में प्रवर्तते हैं; उसी प्रकार ये प्रवर्तते हैं। यदि कुलक्रम ही से धर्म हो तो मुसलमान आदि सभी धर्मात्मा हो जाएँ; जैनधर्म की विशेषता क्या रही? वही कहा है —

लोयम्मि रायणीई, णायं ण कुल-कमम्मि कइयावि।
किं पुण तिलोय-पहुणो, जिणिंद-धम्माहिगारम्मि॥[१]

इसका अर्थ—लोक में यह राजनीति है कि कदाचित् कुलक्रम से न्याय नहीं होता है। जिसका कुल चोर हो, उसे चोरी करते पकड़ लें तो उसका कुलक्रम जानकर, छोड़ते नहीं; दण्ड ही देते हैं तो त्रिलोकप्रभु जिनेन्द्रदेव के धर्म के अधिकार में क्या कुलक्रमानुसार न्याय सम्भव है?

इसी प्रकार यदि पिता, दरिद्री हो; आप धनवान हो, वहाँ तो कुलक्रम का विचार करके, आप दरिद्री ही नहीं रहता तो धर्म में कुल का क्या प्रयोजन है? तथा पिता, नरक में जाए; पुत्र, मोक्ष जाए, वहाँ कुलक्रम कैसे रहा? यदि कुलपर दृष्टि हो तो पुत्र भी नरकगामी ही हो; अतः धर्म में कुलक्रम का कुछ भी प्रयोजन नहीं है।

शास्त्रों का अर्थ विचारकर, यदि कालदोष से जिनधर्म में भी पापी पुरुषों द्वारा, कुदेव-कुगुरु-कुधर्म सेवनादिरूप तथा विषय-कषाय पोषणादिरूप विपरीत प्रवृत्ति चलाई गई हो तो उसका त्याग करके, जिन आज्ञानुसार प्रवर्तन करना योग्य है।

यहाँ कोई कहे—परम्परा छोड़कर, नवीन मार्ग में प्रवर्तन करना योग्य नहीं है।

उससे कहते हैं—यदि अपनी बुद्धि से नवीन मार्ग पकड़े तो योग्य नहीं है। शास्त्रों में जो परम्परा से अनादिनिधन जैनधर्म का स्वरूप लिखा है, उसकी प्रवृत्ति मिटाकर, पापी पुरुषों ने बीच में अन्यथा प्रवृत्ति चलाई हो तो उसे परम्परामार्ग, कैसे कहा जा सकता है? तथा उसे छोड़कर, पुरातन जैनशास्त्रों में जैसा धर्म (का स्वरूप) लिखा था, वैसे प्रवर्तन करें तो उसे नवीन मार्ग कैसे कहा जा सकता है?

यदि कुल में जैसी जिनदेव की आज्ञा है, उसी प्रकार धर्म की प्रवृत्ति है तो अपने को भी वैसे ही प्रवर्तन करना योग्य है परन्तु उसे कुलाचार नहीं जानना; उसे धर्म जानकर, उसके स्वरूप-फलादि का निश्चय करके, अंगीकार करना। यदि सच्चे धर्म को भी कुलाचार जानकर, प्रवर्तता है तो उसे धर्मात्मा नहीं कहते, क्योंकि कुल के सर्वजन उस आचरण को छोड़

---

[१] उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला, गाथा ७

दें तो आप भी छोड़ देगा; इसका कारण यह है कि वह जो आचरण करता है, वह कुल के भय से करता है; कुछ धर्मबुद्धि से नहीं करता; इसलिए वह धर्मात्मा नहीं है।

इसलिए विवाहादि कुलसम्बन्धी कार्यों में तो कुलक्रम का विचार करना, परन्तु धर्मसम्बन्धी कार्य में कुल का विचार नहीं करना। जैसा धर्ममार्ग सच्चा है, उसी प्रकार प्रवर्तन करना योग्य है।

परीक्षारहित आज्ञानुसारी धर्मधारक व्यवहाराभासी

वहाँ कितने ही आज्ञानुसारी जैनी होते हैं—जिस प्रकार शास्त्र में आज्ञा है, उस प्रकार मानते हैं परन्तु आज्ञा की परीक्षा नहीं करते। यदि आज्ञा मानना ही धर्म हो तो सर्व मतवाले अपने-अपने शास्त्र की आज्ञा मानकर, धर्मात्मा हो जाएँ; इसलिए परीक्षा करके, जिनवचन की सत्यता पहिचानकर, जिन-आज्ञा मानना योग्य है।

वहाँ बिना परीक्षा किये, सत्य-असत्य का निर्णय कैसे हो ? और बिना निर्णय किये, जिस प्रकार अन्यमती अपने शास्त्रों की आज्ञा मानते हैं; उसी प्रकार इसने जैनशास्त्रों की आज्ञा मानी—यह तो पक्ष से आज्ञा मानना है।

कोई कहे—शास्त्र में दश प्रकार के सम्यक्त्व में, आज्ञासम्यक्त्व कहा है व धर्मध्यान के भेदों में, आज्ञाविचय कहा है एवं नि:शंकित अंग के अन्तर्गत जिनवचन में संशय का निषेध किया है; वह किस प्रकार है ?

उसका समाधान—शास्त्रों में कितने ही कथन तो ऐसे हैं, जिनकी प्रत्यक्ष अनुमानादि द्वारा परीक्षा कर सकते हैं तथा कितने ही कथन ऐसे हैं, जो प्रत्यक्ष अनुमानादि गोचर नहीं हैं; इसलिए वे आज्ञा ही से प्रमाण होते हैं। वहाँ नाना शास्त्रों में जो कथन समान हों, उनकी तो परीक्षा करने का प्रयोजन ही नहीं है परन्तु जो कथन, परस्पर विरुद्ध हों, उनमें से जो कथन प्रत्यक्ष अनुमानादि गोचर हों, उनकी परीक्षा करना।

वहाँ जिन शास्त्रों के कथन की प्रमाणता ठहरे, उन शास्त्रों में जो प्रत्यक्ष अनुमानगोचर नहीं हैं—ऐसे कथन किये हों, उनकी भी प्रमाणता करना। तथा जिन शास्त्रों के कथन की प्रमाणता न ठहरे, उनके सर्व ही कथन की अप्रमाणता मानना।

यहाँ कोई कहे—परीक्षा करनेपर कोई कथन किसी शास्त्र में प्रमाण (प्रामाणिक) भासित हो तथा कोई कथन किसी शास्त्र में प्रमाण भासित हो, तब क्या करें ?

उसका समाधान—जो 'आप्तकथित शास्त्र' हैं, उनमें कोई भी कथन, प्रमाण-विरुद्ध नहीं होते, क्योंकि या तो जानपना ही न हो या राग-द्वेष हो तो असत्य कहें, परन्तु आप्त ऐसे होते नहीं; तूने भले प्रकार परीक्षा नहीं की है; इसलिए भ्रम है।

फिर वह कहता है—छद्मस्थ से अन्यथा परीक्षा हो जाए तो क्या करें?

उसका समाधान—सच्ची-झूठी दोनों वस्तुओं की परस्पर तुलना और प्रमाद छोड़कर, परीक्षा करनेपर तो सच्ची ही परीक्षा होती है; जहाँ पक्षपात के कारण, भले प्रकार परीक्षा न करें, वहाँ ही अन्यथा परीक्षा होती है।

तब वह कहता है—शास्त्रों में परस्पर विरुद्ध कथन तो बहुत हैं, किन-किनकी परीक्षा की जाए?

उसका समाधान—मोक्षमार्ग में देव-गुरु-धर्म, जीवादि तत्त्व एवं बन्ध-मोक्षमार्ग, प्रयोजनभूत हैं; अत: इनकी तो परीक्षा कर लेना। जिन शास्त्रों में ये सच्चे कहे हों, उनकी सर्व आज्ञा मानना; जिनमें ये अन्यथा प्ररूपित किए हों, उनकी आज्ञा नहीं मानना।

जैसे—लोक में जो पुरुष, प्रयोजनभूत कार्यों में झूठ न बोले, वह प्रयोजनरहित कार्यों में झूठ कैसे बोलेगा? उसी प्रकार जिस शास्त्र में 'प्रयोजनभूत देवादि का स्वरूप' अन्यथा नहीं कहा, उसमें प्रयोजनरहित द्वीप-समुद्रादि का कथन, अन्यथा कैसे होगा? क्योंकि **देवादि का कथन अन्यथा करनेपर, वक्ता के विषय-कषाय का पोषण होता है।**

यहाँ प्रश्न—देवादि का अन्यथा कथन तो विषय-कषायवश किया, परन्तु उन्हीं शास्त्रों में अन्य कथन अन्यथा किसलिए किए?

उसका समाधान—यदि एक ही कथन अन्यथा करें तो उसका अन्यथापना शीघ्र प्रगट हो जाए और भिन्न पद्धति ठहरे नहीं; इसलिए बहुत कथन अन्यथा करने से, भिन्न पद्धति ठहरे। वहाँ तुच्छबुद्धि, भ्रम में पड़ जाते हैं कि यह भी मत है, यह भी मत है; इसलिए प्रयोजनभूत का अन्यथापना मिलाने के लिए, अप्रयोजनभूत कथन भी अन्यथा बहुत किये हैं।

वहाँ प्रतीति कराने के लिए कोई-कोई कथन सच्चे भी किये हैं परन्तु जो चतुर हो, वह भ्रम में नहीं पड़ता। प्रयोजनभूत कथन की परीक्षा करके, जहाँ सत्य भासित हो, उस मत की सर्व आज्ञा माने।

इसलिए परीक्षा करनेपर जैनमत ही सत्य भासित होता है; अन्य नहीं, क्योंकि इसके वक्ता, सर्वज्ञ-वीतराग हैं; वे झूठ किसलिए कहेंगे?

इस प्रकार जिनाज्ञा माननेपर जो सच्चा श्रद्धान हो, उसका नाम आज्ञासम्यक्त्व है तथा वहाँ एकाग्र-चिन्तवन होता है, उसी का नाम आज्ञाविचय धर्मध्यान है।

यदि ऐसा न मानें और बिना परीक्षा किये ही आज्ञा मानने से, सम्यक्त्व व धर्मध्यान हो जाए तो जो द्रव्यलिंगी आज्ञा मानकर मुनि हुए, वे आज्ञानुसार साधन द्वारा, ग्रैवेयकपर्यन्त जाते हैं, उनके मिथ्यादृष्टिपना कैसे रहा?

इसलिए कुछ परीक्षा करके, आज्ञा माननेपर ही सम्यक्त्व व धर्मध्यान होता है। लोक में भी किसी प्रकार परीक्षा होनेपर ही, पुरुष की प्रतीति करते हैं।

वहाँ तूने कहा—जिनवचन में संशय करने से सम्यक्त्व में शंका नामक दोष होता है परन्तु न जाने यह किस प्रकार है—ऐसा मानकर, निर्णय न करे, वहाँ शंका नामक दोष होता है। वहाँ यदि निर्णय करने का विचार करते ही सम्यक्त्व में दोष लग जाता हो तो अष्टसहस्री में 'आज्ञा प्रधानी से, परीक्षा प्रधानी को उत्तम' किसलिए कहा ? स्वाध्याय के पृच्छना आदि अंग कैसे कहे ? प्रमाण-नय से पदार्थों का निर्णय करने का उपदेश किसलिए दिया ? इसलिए परीक्षा करके, आज्ञा मानना योग्य है।

वहाँ कितने ही पापी पुरुषों ने, अपने कल्पित कथन किये हैं और उन्हें जिनवचन ठहराया है, उन्हें 'जैनमत के शास्त्र जानकर, प्रमाण नहीं करना।' वहाँ भी प्रमाणादि से परीक्षा करके व परस्पर शास्त्रों से विधि मिलाकर और 'इस प्रकार सम्भव है या नहीं'—ऐसा विचार करके, 'विरुद्ध अर्थ को मिथ्या' ही जानना।

जैसे—किसी ठग ने स्वयं पत्र लिखकर, उसमें लिखनेवाले का नाम 'किसी साहूकार' का रखा, उस नाम के भ्रम से [कोई] धन को ठगाए तो दरिद्री ही होता है; उसी प्रकार पापी लोगों ने स्वयं ग्रन्थादि बनाकर, वहाँ कर्ता का नाम, 'जिन-गणधर-आचार्यों' का रखा, उस नाम के भ्रम से [कोई] झूठ श्रद्धान करे तो मिथ्यादृष्टि ही होता है।

तब वह कहता है—गोम्मटसार① में ऐसा कहा है कि 'सम्यग्दृष्टि जीव, अज्ञानी गुरु के निमित्त से झूठा भी श्रद्धान करे तो आज्ञा मानने से, 'सम्यग्दृष्टि' ही है'; अतः यह कथन कैसे किया ?

[**उसका समाधान**—] जो प्रत्यक्ष अनुमानादिगोचर नहीं हैं, सूक्ष्मपने के कारण जिनका निर्णय नहीं हो सकता②; उनकी अपेक्षा ही यह कथन है परन्तु मूलभूत देव-गुरु-धर्मादि तथा तत्त्वादि का अन्यथा श्रद्धान होनेपर तो सर्वथा सम्यक्त्व रहता नहीं है—यह निश्चय करना; इसलिए बिना परीक्षा किये, केवल आज्ञा ही से जो जैनी हैं, उन्हें भी मिथ्यादृष्टि जानना।

वहाँ कितने ही परीक्षा करके भी जैनी होते हैं परन्तु मूल परीक्षा नहीं करते। दया -शील-तप-संयमादि क्रियाओं से, पूजा-प्रभावनादि कार्यों से, अतिशय-चमत्कारादि से एवं जिनधर्म से इष्ट प्राप्ति होने से, जिनमत को उत्तम जानकर, प्रीतिवन्त होकर, जैनी होते हैं

---

① सम्माइट्ठी जीवो, उवइट्ठं पवयंण तु सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भावं, अजाणमाणो गुरुणियोगा॥ (गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा २७)

② मूल हस्तलिखित प्रति (पृष्ठ २७१) में यहाँ अनेक पंक्तियाँ कटी हैं, जिसमें इस विषय को समझाया गया हैं।

परन्तु अन्य मतों में भी तो ये कार्य पाये जाते हैं; इसलिए इन लक्षणों में तो अतिव्याप्ति पाया जाता है।

कोई कहे—जैसे—जिनधर्म में ये कार्य होते हैं, वैसे अन्यमतों में नहीं पाये जाते; इसलिए अतिव्याप्ति [दोष] नहीं है?

उसका समाधान—यह तो सत्य है और ऐसा ही है परन्तु जैसे—तू दयादि मानता है; उसी प्रकार तो वे भी निरूपण करते हैं। परजीवों की रक्षा को तू दया कहता है, वही वे कहते हैं; इसी प्रकार अन्य जानना।

फिर वह कहता है—उनको निर्णय नहीं हैं क्योंकि कभी दया प्ररूपित करते हैं, कभी हिंसा प्ररूपित करते हैं।

उसका उत्तर—वहाँ दयादि का अंशमात्र तो आया; इसलिए अतिव्याप्तिपना - इन लक्षणों में पाया जाता है; इनके द्वारा सच्ची परीक्षा होती नहीं।

तो वह कैसे होती है? —

[**उसका समाधान—**] **जिनधर्म में, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग कहा है।** वहाँ सच्चे देवादि व जीवादि का श्रद्धान करने से, **सम्यक्त्व** होता है; उनको जानने से, **सम्यग्ज्ञान** होता है एवं वास्तव में रागादि मिटनेपर, **सम्यक्चारित्र** होता है।

—इनके स्वरूप का जैसा निरूपण जिनमत में किया है, वैसा निरूपण अन्यत्र कहीं नहीं किया तथा जैनियों के सिवाय, अन्यमती ऐसा कार्य कर नहीं सकते; इसलिए यह जिनमत का सच्चा लक्षण है—इस लक्षण को पहिचानकर जो परीक्षा करते हैं, वे ही श्रद्धानी हैं; इसके सिवाय जो अन्य प्रकार से परीक्षा करते हैं, वे मिथ्यादृष्टि ही रहते हैं।

वहाँ कितने ही संगति से जैनधर्म धारण करते हैं; कितने ही महान् पुरुषों को जिनधर्म में प्रवर्तता देखकर, आप भी प्रवर्तते हैं; कितने ही देखा-देखी जिनधर्म की शुद्ध या अशुद्ध क्रियाओं में प्रवर्तते हैं, इत्यादि अनेक प्रकार के जीव स्वयं विचारकर, जिनधर्म का रहस्य नहीं पहिचानते और जैनी नाम धारण करते हैं, वे सब मिथ्यादृष्टि ही जानना।

इतना तो है—जिनमत में पाप की प्रवृत्ति विशेष नहीं हो सकती है और पुण्य के निमित्त बहुत हैं तथा सच्चे मोक्षमार्ग के कारण भी वहाँ बने रहते हैं; इसलिए जो कुलादि से भी जैनी हैं, वे भी औरों से तो भले ही हैं।

सांसारिक प्रयोजन के लिए, धर्मधारक व्यवहाराभासी

वहाँ जो जीव, कपट से अजीविका के लिए व बड़ाई के लिए व कुछ विषय-कषाय सम्बन्धी प्रयोजन विचारकर, जैनी होते हैं, वे तो पापी ही हैं। अतितीव्र कषाय होनेपर ऐसी

बुद्धि आती है, उनका सुलझना भी कठिन है। जैनधर्म का सेवन तो संसार नाश के लिए किया जाता है; उसके द्वारा जो सांसारिक प्रयोजन साधना चाहते हैं, वे बड़ा अन्याय करते हैं; इसलिए वे तो मिथ्यादृष्टि हैं ही।

यहाँ कोई कहे—हिंसादि द्वारा जिन कार्यों को करते हैं; वही कार्य, धर्मसाधन द्वारा सिद्ध किये जायें तो बुरा क्या हुआ? दोनों प्रयोजन सिद्ध होते हैं।

उससे कहते हैं—पापकार्य और धर्मकार्य का एक साधन करने से, पाप ही होता है।

जैसे—कोई धर्म का साधन, चैत्यालय बनवाए और उसी को स्त्रीसेवनादि पापों का भी साधन करे तो पापी ही है; हिंसादि द्वारा भोगादि के लिए अलग मकान बनवाता है तो बनाओ, परन्तु चैत्यालय में भोगादि करना, योग्य नहीं है।

उसी प्रकार **धर्म के साधन, पूजा-शास्त्रादि कार्य हैं, उन्हीं को आजीविकादि पाप का भी साधन बनाए तो पापी ही है।** हिंसादि से आजीविकादि के लिए, व्यापारादि करता है तो करो, परन्तु पूजादि कार्यों में तो आजीविकादि का प्रयोजन विचारना योग्य नहीं है।

यहाँ प्रश्न—यदि ऐसा है तो मुनि भी धर्मसाधन करके, पर-घर भोजन करते हैं तथा साधर्मी, साधर्मी का उपकार करते-कराते हैं, वह कैसे बनता है?

उसका उत्तर—स्वयं तो कुछ आजीविकादि का प्रयोजन विचारकर, धर्मसाधन नहीं करते; उन्हें धर्मात्मा जानकर, कोई स्वयमेव भोजन-उपकारादि करते हैं, तब तो कोई दोष है नहीं। तथा यदि आप (स्वयं) ही भोजनादि का प्रयोजन विचारकर, धर्म साधता है तो पापी है ही।

जो विरागी होकर, 'मुनिपना' अंगीकार करते हैं, उनको भोजनादि का प्रयोजन नहीं है। शरीर की स्थिति के लिए स्वयमेव भोजनादि कोई दे तो लेते हैं; नहीं तो समता रखते हैं, संक्लेशरूप नहीं होते। तथा वे अपने हित के लिए, धर्म साधते हैं; उपकार करवाने का अभिप्राय नहीं है और आपके जिसका त्याग नहीं है, वैसा उपकार कराते हैं।

कोई साधर्मी स्वयमेव उपकार करता है तो करो और यदि न करे तो स्वयं को कुछ संक्लेश होता नहीं—ऐसा तो योग्य है परन्तु आप ही आजीविकादि का प्रयोजन विचारकर, बाह्यधर्म का साधन करे; जहाँ भोजनादि का उपकार कोई न करे, वहाँ संक्लेश करे, याचना करे, उपाय करे अथवा धर्मसाधन में शिथिल हो जाए, तो उसे पापी ही जानना।

इस प्रकार **सांसारिक प्रयोजनसहित जो धर्म साधते हैं, वे पापी भी हैं और मिथ्यादृष्टि तो हैं ही।**

इस प्रकार जिनमतवाले भी मिथ्यादृष्टि जानना।

उक्त व्यवहाराभासी धर्मधारकों की सामान्य प्रवृत्ति

अब, इनके धर्म का साधन कैसा पाया जाता है, उसका विशेष बतलाते हैं —

वहाँ जो जीव, कुलप्रवृत्ति से अथवा देखा-देखी अथवा लोभादि के अभिप्राय से, धर्म साधते हैं, उनके तो 'धर्मदृष्टि' नहीं है।

यदि भक्ति करते हैं तो चित्त तो कहीं है, दृष्टि घूमती रहती है और मुख से पाठादि करते हैं व नमस्कारादि करते हैं परन्तु यह ठीक नहीं है। मैं कौन हूँ? किसकी स्तुति करता हूँ? किस प्रयोजन के अर्थ स्तुति करता हूँ? पाठ में क्या अर्थ है? – उसका कुछ पता नहीं है।

कदाचित् कुदेवादि की भी सेवा करने लग जाता है, वहाँ सुदेव-गुरु-शास्त्रादि में एवं कुदेव-गुरु-शास्त्रादि में विशेष (अन्तर) पहिचानता नहीं है।

यदि दान देता है तो पात्र-अपात्र के विचाररहित, जैसे–अपनी प्रशंसा हो, वैसे दान देता है।

तथा तप करता है तो 'भूखा रहने से, महन्तपना हो'–ऐसे कार्य करता है; परिणामों की पहिचान नहीं है।

तथा व्रतादि धारण करता है तो वहाँ बाह्यक्रिया पर दृष्टि है, उसमें भी कोई सच्ची क्रिया करता है, कोई झूठी करता है और जो अन्तरंग रागादिभाव पाये जाते हैं, उनका विचार ही नहीं है तथा बाह्य में रागादि पोषण के साधन करता है।

तथा यदि पूजा प्रभावनादि कार्य करता है तो वहाँ जिस प्रकार लोक में बड़ाई हो व विषय-कषाय का पोषण हो, उस प्रकार कार्य करता है तथा बहुत हिंसादि उत्पन्न करता है।

– ये कार्य तो अपने तथा अन्य जीवों के परिणाम सुधारने के अर्थ कहे हैं। यद्यपि वहाँ किंचित् हिंसादि भी उत्पन्न होते हैं तथापि जिसमें थोड़ा अपराध हो और गुण अधिक हो, वह कार्य करना कहा है परन्तु परिणामों की तो पहिचान नहीं है और यहाँ अपराध कितना लगता है? गुण कितना होता है?–ऐसे नफे-टोटे का ज्ञान नहीं है एवं विधि-अविधि का ज्ञान नहीं है।

यदि शास्त्राभ्यास करता है तो वहाँ पद्धतिरूप प्रवर्तता है—यदि वाँचता है तो औरों को सुना देता है; यदि पढ़ता है तो आप (स्वयं) पढ़ जाता है; सुनता है तो जो कहते हैं, वह सुन लेता है परन्तु जो शास्त्राभ्यास का प्रयोजन है, उसे आप अन्तरंग में नहीं अवधारण करता, इत्यादि धर्मकार्यों के मर्म को नहीं पहिचानता।

अथवा तो जिस प्रकार कुल में बड़े प्रवर्तते हैं, उसी प्रकार हमें भी करना अथवा दूसरे करते हैं, वैसा हमें भी करना अथवा ऐसा करने से हमारे लोभादि की सिद्धि होगी, इत्यादि विचारसहित अभूतार्थधर्म को साधते हैं।

अथवा कितने ही जीव ऐसे होते हैं, जिनके कुछ तो कुलादिरूप बुद्धि है, कुछ धर्मबुद्धि भी है; इसलिए पूर्वोक्त प्रकार भी धर्म का साधन करते हैं और कुछ [जैसा] आगे कहते हैं, उस प्रकार से अपने परिणामों को भी सुधारते हैं; मिश्रपना पाया जाता है —

धर्मबुद्धि से, धर्मधारक व्यवहाराभासी

वहाँ कितने ही धर्मबुद्धि से धर्म साधते हैं परन्तु निश्चयधर्म को नहीं जानते; इसलिए अभूतार्थरूप धर्म को साधते हैं। वहाँ व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को मोक्षमार्ग जानकर, उनका साधन करते हैं —

सम्यग्दर्शन का अन्यथारूप

शास्त्र में देव-गुरु-धर्म की प्रतीति करने से, सम्यक्त्व होना कहा है—ऐसी आज्ञा मानकर, [उन्होंने] अरहन्तदेव - निर्ग्रन्थगुरु - जैनशास्त्र के अतिरिक्त औरों को नमस्कारादि करने का त्याग किया है परन्तु उनके गुण-अवगुण की परीक्षा नहीं करते अथवा परीक्षा भी करते हैं तो तत्त्वज्ञानपूर्वक सच्ची परीक्षा नहीं करते; बाह्य लक्षणों द्वारा परीक्षा करते हैं—ऐसी प्रतीति से 'सुदेव-गुरु-शास्त्रों की भक्ति' में प्रवर्तते हैं।

देवभक्ति का अन्यथारूप

वहाँ अरहन्तदेव हैं, इन्द्रादि द्वारा पूज्य हैं, अनेक अतिशयसहित हैं, क्षुधादि दोषरहित हैं, शरीर की सुन्दरता को धारण करते हैं, स्त्रीसंगमादि रहित हैं, दिव्यध्वनि द्वारा उपदेश देते हैं, केवलज्ञान द्वारा लोकालोक को जानते हैं, काम-क्रोधादि नष्ट किये हैं, इत्यादि विशेषण कहे हैं।

— इनमें से कितने ही विशेषण, पुद्गलाश्रित हैं और कितने ही जीवाश्रित हैं, उनको भिन्न -भिन्न नहीं पहिचानते। जैसे—कोई असमानजातीय मनुष्यादि पर्यायों में, जीव-पुद्गल के विशेषणों को भिन्न न जानकर, मिथ्या दृष्टि (मिथ्यादर्शन) धारण करता है; वैसे यह भी असमान-जातीय अरहन्तपर्याय में, जीव-पुद्गल के विशेषणों को भिन्न न जानकर, मिथ्या दृष्टि (मिथ्यादर्शन) धारण करता है।

वहाँ जो बाह्य विशेषण हैं, उन्हें जानकर तो उनके द्वारा अरहन्तदेव का महन्तपना विशेष मानता है और जो जीव के विशेषण हैं, उन्हें यथावत् न जानकर, उनके द्वारा अरहन्त-देव का महन्तपना आज्ञानुसार मानता है अथवा अन्यथा मानता है क्योंकि जीव के विशेषण यथावत् जाने तो मिथ्या दृष्टि (मिथ्यादर्शन) न रहे।

---

① मूल हस्तलिखित प्रति (पृष्ठ २७६) में यहाँ कुछ कटी पंक्तियाँ में **प्रवचनसार गाथा ८०** के आधार पर, अरहन्त को समझाया है।

वहाँ उन अरहन्तों को स्वर्ग-मोक्ष दाता, दीन-दयाल, अधम-उधारक, पतित-पावन मानता है, सो जैसे—अन्यमती कर्तृत्वबुद्धि से ईश्वर को मानता है; उसी प्रकार यह अरहन्त को मानता है। ऐसा नहीं जानता कि फल तो अपने परिणामों का लगता है, अरहन्त उनमें निमित्तमात्र हैं; इसलिए उपचार द्वारा ही वे विशेषण सम्भव होते हैं। अपने परिणाम शुद्ध हुए बिना, अरहन्त ही स्वर्ग-मोक्षादि के दाता नहीं हैं।

अरहन्तादि के नामादि से श्वानादि ने स्वर्ग प्राप्त किया, वहाँ नामादि का ही अतिशय मानते हैं परन्तु बिना परिणाम के नाम लेनेवाले को भी स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होती, तब सुननेवाले को कैसे होगी?—श्वानादि को नाम सुनने के निमित्त से, कोई मन्दकषायरूप भाव हुए हैं, उनका फल स्वर्ग हुआ है; उपचार से नाम ही की मुख्यता की है।

देखो, अरहन्तादि के नाम, पूजनादि से अनिष्ट सामग्री का नाश तथा इष्ट सामग्री की प्राप्ति मानकर, रोगादि मिटाने के लिए व धनादि की प्राप्ति के लिए, नाम लेता है व पूजनादि करता है परन्तु इष्ट-अनिष्ट का कारण तो पूर्व कर्म का उदय है; अरहन्त तो कर्ता हैं नहीं।

अरहन्तादि की भक्तिरूप शुभोपयोगपरिणामों से, पूर्व पाप के संक्रमणादि हो जाते हैं; इसलिए उपचार से अनिष्ट के नाश का व इष्ट की प्राप्ति का कारण, अरहन्तादि की भक्ति कही जाती है परन्तु जो जीव, प्रथम से ही सांसारिक प्रयोजनसहित भक्ति करता है, उसके तो पाप ही का अभिप्राय हुआ। जो कांक्षा-विचिकित्सारूप भाव हुए, उनसे पूर्व पाप के संक्रमणादि कैसे हों? जिससे उनका कार्य सिद्ध हुआ।

वहाँ कितने ही जीव, भक्ति को मुक्ति का कारण जानकर, वहाँ अति अनुरागी होकर प्रवर्तते हैं। वह तो जैसे—अन्यमती, भक्ति से मुक्ति मानते हैं, वैसा ही इनके भी श्रद्धान हुआ, **परन्तु भक्ति तो रागरूप है और राग से बन्ध है; इसलिए मोक्ष का कारण नहीं है।** जब राग का उदय आता है, तब भक्ति न करे तो पापानुराग हो; इसलिए अशुभराग छोड़ने के लिए, ज्ञानी भक्ति में प्रवर्तते हैं और उसे मोक्षमार्ग का बाह्य निमित्तमात्र भी जानते हैं परन्तु यहाँ ही उपादेयपना मानकर, सन्तुष्ट नहीं होते; शुद्धोपयोग के उद्यमी रहते हैं।

वह ही पंचास्तिकाय व्याख्या में कहा है—**इयं भक्तिः केवलभक्तिप्रधानस्याऽज्ञानिनो भवति। तीव्ररागज्वरविनोदार्थमस्थानरागनिषेधार्थं कदाचिज्ज्ञानिनोऽपि भवति।**[२]

इसका अर्थ—ऐसी भक्ति, केवल भक्ति ही है प्रधान जिसको, ऐसे अज्ञानी जीवों को होती है। तथा तीव्र राग-ज्वर मिटाने के लिए या कुस्थान के राग का निषेध करने के लिए, कदाचित् ज्ञानी को भी होती है।

---

[१] मूल प्रति (पृ.२७७) में यहाँ कई पंक्तियाँ कटी हैं, जबकि नीचे हाशिए पर एक पंक्ति लिखी है - 'बहुरि तिनका कार्य सिद्ध भया'

[२] **अयं हि स्थूललक्षतया केवलभक्तिप्रधानस्याऽज्ञानिनो भवति। उपरितनभूमिकायामलब्धास्पदस्याऽस्थानरागनिषेधार्थं तीव्ररागज्वर-विनोदार्थं वा कदाचिज्ज्ञानिनोऽपि भवतीति।** (पंचास्तिकाय, समयव्याख्या, गाथा १३६ की टीका)

वहाँ वह पूछता है—ऐसा है तो ज्ञानी से, अज्ञानी को भक्ति की अधिकता होती होगी ?

उसका उत्तर—यथार्थता की अपेक्षा तो ज्ञानी को सच्ची भक्ति है; अज्ञानी को नहीं है तथा रागभाव की अपेक्षा, अज्ञानी को श्रद्धान में भी उसे मुक्ति का कारण जानने से, अति अनुराग है; जबकि ज्ञानी के श्रद्धान में शुभबन्ध का कारण जानने से, वैसा अनुराग नहीं है। बाह्य में कदाचित् ज्ञानी को अनुराग बहुत होता है, कभी अज्ञानी को होता है - ऐसा जानना।

— ऐसे देवभक्ति का स्वरूप दिखलाया।

गुरुभक्ति का अन्यथारूप

अब, उसको गुरुभक्ति कैसे होती है ? वह कहते हैं—वहाँ कितने ही जीव, आज्ञानुसारी हैं। वे तो, ये जैन के साधु हैं, हमारे गुरु हैं; इसलिए इनकी भक्ति करनी—ऐसा विचारकर, उनकी भक्ति करते हैं और कितने ही जीव, परीक्षा भी करते हैं। वहाँ ये मुनि, दया पालते हैं, शील पालते हैं, धनादि नहीं रखते, उपवासादि तप करते हैं, क्षुधादि परीषह सहते हैं, किसी से क्रोधादि नहीं करते हैं, उपदेश देकर औरों को धर्म में लगाते हैं, इत्यादि गुणों का विचारकर, उनमें भक्तिभाव करते हैं परन्तु ऐसे गुण तो परमहंसादि अन्य मतियों में तथा जैनी मिथ्यादृष्टियों में भी पाये जाते हैं; इसलिए इनमें अतिव्याप्तिपना है, इनके द्वारा सच्ची परीक्षा नहीं होती।

इन गुणों का विचार करते हैं—उनमें कितने ही जीवाश्रित हैं और कितने ही पुद्गलाश्रित हैं; उनका विशेष (अन्तर) न जानते हुए, असमानजातीय मुनिपर्याय में एकत्वबुद्धि के कारण, मिथ्यादृष्टि ही रहते हैं। ① तथा 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतारूप मोक्षमार्ग', वह ही मुनियों का सच्चा लक्षण है, उसे नहीं पहिचानते, क्योंकि यह पहिचान हो जाए तो मिथ्यादृष्टि रहें नहीं। इस प्रकार यदि मुनियों का सच्चा स्वरूप ही नहीं जानेंगे तो सच्ची भक्ति कैसे होगी ? पुण्यबन्ध के कारणभूत शुभक्रियारूप गुणों को पहिचानकर, उनकी सेवा से अपना भला होना जानकर, उनमें अनुरागी होकर, भक्ति करते हैं।

— ऐसे गुरुभक्ति का स्वरूप कहा।

शास्त्रभक्ति का अन्यथारूप

अब, शास्त्रभक्ति का स्वरूप कहते हैं—कितने ही जीव तो 'यह केवली भगवान की वाणी है; इसलिए केवली के पूज्यपने के कारण, 'ये भी पूज्य हैं'—ऐसा जानकर, भक्ति करते हैं। तथा कितने ही इस प्रकार परीक्षा करते हैं कि इन शास्त्रों में विरागता-दया-क्षमा-शील -सन्तोषादि का निरूपण है; इसलिए ये उत्कृष्ट हैं'—ऐसा जानकर, भक्ति करते हैं परन्तु ऐसा कथन तो अन्य शास्त्रों - वेदान्तादि में भी पाया जाता है।

---

① मूल हस्तलिखित प्रति (पृष्ठ २७९) में यहाँ अनेक पंक्तियाँ कटी हैं, जिसमें **मुनिदशा के स्वरूप** को समझाते हुए लिखते हैं - "बहुरि तत्त्वज्ञान पूर्वक वीतराग भावरूप शुद्धोपयोगरूप मुनिनि का सांचा लक्षण है, ताकी जाति नांही पहचानै है, जातैं यहु पहचानि भएं मिथ्यादृष्टी रहता नांही। **इहां प्रश्न** - जो सर्व ही मुनि तौ शुद्धोपयोगी नांही, शुभोपयोगी भी तौ मुनि हो हैं, तातैं इस लक्षण विषै अव्याप्तिदूषण आया। **ताका उत्तर** - केवल शुभोपयोगी जीव, मुनि होता नांही। केवल शुद्धोपयोगी जीव, मुनि नाम पावै है। जहां उत्कृष्ट शुद्धोपयोग न होऊ ... । केवल आप ही कों आपरूप आचरन करत संते इष्ट-अनिष्ट परद्रव्यनि का संयोग भएं भी सुख-दुःखरूप नांही परिणमै है। इस ही अवस्था कों सुचती बाह्य क्रिया हो है।"

इन शास्त्रों में त्रिलोकादि का गम्भीर निरूपण है; इसलिए उत्कृष्टता जानकर, भक्ति करते हैं परन्तु यहाँ अनुमानादि का तो प्रवेश है नहीं; इसलिए सत्य-असत्य का निर्णय करके, महिमा कैसे जानें ? इसलिए इस प्रकार सच्ची परीक्षा नहीं होती। यहाँ तो अनेकान्तरूप सच्चे जीवादि तत्त्वों का निरूपण है और सच्चा रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग दिखलाया है; उसी से जैनशास्त्रों की उत्कृष्टता है, उसे नहीं पहिचानते, क्योंकि यह पहिचान हो जाए तो मिथ्या दृष्टि रहती नहीं।

— ऐसे शास्त्रभक्ति का स्वरूप कहा। ❁❁❁

इस प्रकार इसको देव-गुरु-शास्त्र की प्रतीति हुई; इसलिए व्यवहारसम्यक्त्व हुआ मानता है परन्तु उनका सच्चा स्वरूप भासित नहीं हुआ है; इसलिए प्रतीति भी सच्ची नहीं हुई है। सच्ची प्रतीति के बिना, सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती; इसलिए वह मिथ्यादृष्टि ही है।

सप्त तत्त्व का अन्यथारूप

शास्त्र में '**तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्**'[१]—ऐसा वचन कहा है; इसलिए शास्त्रों में जैसे—जीवादि तत्त्व लिखे हैं, वैसे आप सीख लेता है और वहाँ उपयोग लगाता है, औरों को उपदेश देता है परन्तु उन तत्त्वों का भाव, भासित नहीं होता और यहाँ उस वस्तु के भाव ही का नाम, 'तत्त्व' कहा है; अतः भाव भासित हुए बिना, 'तत्त्वार्थश्रद्धान' कैसे होगा ?

वहाँ भावभासना क्या है ? वह कहते हैं —

जैसे—कोई पुरुष, चतुर होने के लिए, शास्त्र द्वारा स्वर-ग्राम-मूर्छना, रागों के रूप -ताल-तान के भेदों को सीखता है परन्तु स्वरादि का स्वरूप नहीं पहिचानता। स्वरूप की पहिचान हुए बिना, अन्य स्वरादि को, अन्य स्वरादिरूप मानता है अथवा सत्य भी मानता है तो निर्णय करके नहीं मानता है; इसलिए उसके चतुरपना नहीं होता; उसी प्रकार कोई जीव, सम्यक्त्वी होने के लिए, शास्त्र द्वारा जीवादि तत्त्वों का स्वरूप सीख लेता है परन्तु उनके स्वरूप को नहीं पहिचानता है। स्वरूप को पहिचाने बिना, अन्य तत्त्वों को, अन्य तत्त्वरूप मान लेता है अथवा सत्य भी मानता है तो निर्णय करके नहीं मानता; इसलिए उसके सम्यक्त्व नहीं होता।

जैसे—कोई [संगीत] शास्त्रादि पढ़ा हो या न पढ़ा हो, परन्तु स्वरादि के स्वरूप को पहिचानता है तो वह चतुर ही है; उसी प्रकार शास्त्र [जिनागम] पढ़ा हो या न पढ़ा हो, यदि जीवादि के स्वरूप को पहिचानता है तो वह सम्यग्दृष्टि ही है। इसी प्रकार जैसे—हिरन, स्वर -रागादि के नाम नहीं जानता, परन्तु उनके स्वरूप को पहिचानता है; उसी प्रकार तुच्छबुद्धि, जीवादि के नाम नहीं जानते, परन्तु उनके स्वरूप को पहिचानते हैं कि यह मैं हूँ, ये पर हैं; ये भाव बुरे हैं, ये भले हैं—ऐसे स्वरूप को पहिचाने, उसका नाम भावभासना है।

---

[१] तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र २

[देखो!] शिवभूति मुनि, जीवादि का नाम नहीं जानते थे और '**तुषमाषभिन्न**' –ऐसा रटने लगे, यद्यपि यह सिद्धान्त का शब्द नहीं था परन्तु स्व-पर के भावरूप ध्यान किया; इसलिए केवली हुए; जबकि ग्यारह अंग के पाठी (द्रव्यलिंगी), जीवादि तत्त्वों के विशेष भेद जानते हैं परन्तु भावभासित नहीं होता; इसलिए मिथ्यादृष्टि ही रहते हैं।

अब, इसको [अन्यथा] तत्त्वश्रद्धान किस प्रकार होता है, वह कहते हैं —

जीव-अजीवतत्त्व का अन्यथारूप

[यह व्यवहाराभासी] जिनशास्त्रों से जीव के त्रस-स्थावरादिरूप और गुणस्थान -मार्गणादिरूप भेदों को जानता है; अजीव के पुद्गलादि भेदों को और उनके वर्णादि विशेषों को जानता है परन्तु **अध्यात्मशास्त्रों में भेदविज्ञान को कारणभूत व वीतरागदशा होने को कारणभूत जैसा निरूपण किया है, वैसा नहीं जानता।**

यदि किसी प्रसंगवश उसी प्रकार जानना हो जाए तो शास्त्रानुसार जान तो लेता है परन्तु **अपने को आपरूप जानकर, पर का अंश भी अपने में न मिलाना और अपना अंश भी, पर में न मिलाना—ऐसा सच्चा श्रद्धान नहीं करता है।** जैसे–अन्य मिथ्यादृष्टि, निर्धार बिना, पर्यायबुद्धि से जानपने में व वर्णादि में अहंबुद्धि धारण करते हैं; उसी प्रकार यह भी आत्माश्रित ज्ञानादि में तथा शरीराश्रित उपदेश-उपवासादि क्रियाओं में, अपनत्व मानता है।

यदि कभी शास्त्रानुसार सच्ची बात भी बनाता है परन्तु अन्तरंग निर्धाररूप श्रद्धान नहीं है; इसलिए जिस प्रकार मतवाला, माता को माता भी कहे तो वह सयाना नहीं है; उसी प्रकार इसे सम्यक्त्वी नहीं कहते।

वहाँ जैसे—किसी और की ही बातें कर रहा हो, उस प्रकार से आत्मा का कथन करता है परन्तु यह आत्मा मैं हूँ—ऐसा भाव, भासित नहीं होता।

तथा जैसे—किसी और को और से भिन्न बतलाता हो, उस प्रकार आत्मा और शरीर की भिन्नता प्ररूपित करता है परन्तु मैं, इस शरीर आदि से भिन्न हूँ—ऐसा भाव, भासित नहीं होता।

वहाँ [इस असमानजातीय] पर्याय में जीव-पुद्गल के परस्पर-निमित्त से अनेक क्रियाएँ होती हैं, उन्हें दोनों द्रव्यों के मिलाप से उत्पन्न हुई जानता है; यह जीव की क्रिया है, उसका पुद्गल, निमित्त है; यह पुद्गल की क्रिया है, उसका जीव, निमित्त है—ऐसा भिन्न-भिन्न भाव

---

① तुसमासं घोसंतो भावविसुद्धो महाणुभावो य।
णामेण य सिवभूई केवलणाणी फुडं जाओ॥
(भावपाहुड़, गाथा ५३)

भासित नहीं होता; इत्यादि भाव भासित हुए बिना, उसे जीव-अजीव का सच्चा श्रद्धानी नहीं कहते, क्योंकि **जीव-अजीव को जानने का तो यह ही प्रयोजन था, वह हुआ नहीं।**

आस्रवतत्त्व का अन्यथारूप

वहाँ, आस्रवतत्त्व में जो हिंसादिरूप पापास्रव हैं, उन्हें हेय जानता है; अहिंसादिरूप पुण्यास्रव हैं, उन्हें उपादेय मानता है परन्तु ये तो दोनों ही कर्मबन्ध के कारण हैं; इनमें उपादेयपना मानना, वही मिथ्या दृष्टि (मिथ्यादर्शन) है। वही समयसार के बन्धाधिकार में कहा है [१]—

'सर्व जीवों के जीवन-मरण, सुख-दु:ख, अपने-अपने कर्म के निमित्त से होते हैं। जहाँ अन्य जीव, अन्य जीव के इन कार्यों का कर्ता हो; वही मिथ्याध्यवसाय, बन्ध का कारण है। वहाँ अन्य जीवों को जिलाने का अथवा सुखी करने का अध्यवसाय हो, वह तो पुण्यबन्ध का कारण है और मारने का अथवा दु:खी करने का अध्यवसाय हो, वह पापबन्ध का कारण है।'

– ऐसे अहिंसावत् सत्यादि तो पुण्यबन्ध के कारण हैं और हिंसावत् असत्यादि पाप बन्ध के कारण हैं—ये सर्व मिथ्याध्यवसाय हैं, वे त्याज्य हैं; **इसलिए हिंसादिवत्, अहिंसादि को भी बन्ध का कारण जानकर, हेय ही मानना।**

हिंसा में मारने की बुद्धि हो, परन्तु उसकी आयु पूर्ण हुए बिना, वह मरता नहीं है; यह अपनी द्वेषपरिणति से, आप (स्वयं) ही पाप बाँधता है। अहिंसा में रक्षा करने की बुद्धि हो, परन्तु उसकी आयु अवशेष हुए बिना, वह जीता नहीं है; यह अपनी प्रशस्त रागपरिणति से, आप ही पुण्य बाँधता है—ऐसे ये दोनों हेय हैं; **जहाँ वीतराग होकर, दृष्टा-ज्ञाता रूप प्रवर्ते, वहाँ निर्बन्ध है; वह उपादेय है।**

जब तक ऐसी दशा न हो, तब तक प्रशस्तरागरूप प्रवर्तन करो, **परन्तु श्रद्धान तो ऐसा रखो कि यह भी बन्ध का कारण है, हेय है; श्रद्धान में इसे मोक्षमार्ग जाने तो मिथ्यादृष्टि ही होता है।**

तथा मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग [२]—ये आस्रव के भेद हैं, उन्हें बाह्यरूप से तो मानता है परन्तु अन्तरंग में इन भावों की जाति को नहीं पहिचानता।

वहाँ अन्य देवादि के सेवनरूप गृहीतमिथ्यात्व को मिथ्यात्व जानता है परन्तु अनादि अगृहीतमिथ्यात्व है, उसे नहीं पहिचानता।

---

[१] सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीय-कर्मोदयान्मरणजीवितदु:खसौख्यम्।
अज्ञानमेतदिह यत्तु परः परस्य, कुर्यात्पुमान्मरणजीवितदु:खसौख्यम्॥
अज्ञानमेतदधिगम्य परात्परस्य, पश्यन्ति ये मरणजीवितदु:खसौख्यम्।
कर्म्माण्यहंकृतिरसेन चिकीर्षवस्ते, मिथ्यादृशो नियतमात्महनो भवन्ति॥ (समयसार, कलश १६८-१६९)

[२] समयसार, गाथा १०९, १६४ आदि के आधार पर।

बाह्य त्रस-स्थावर की हिंसा तथा इन्द्रिय-मन के विषयों में प्रवृत्ति, उसको अविरति जानता है परन्तु **हिंसा में, प्रमादपरिणति मूल है और विषयसेवन में, अभिलाषा मूल है;** उसका अवलोकन नहीं करता।

बाह्य क्रोधादि करना, उसको कषाय जानता है परन्तु **अभिप्राय में राग-द्वेष** रहते हैं, उनको नहीं पहिचानता।

तथा बाह्य चेष्टा हो, उसे योग जानता है परन्तु **शक्तिभूत योगों** को नहीं जानता।

— ऐसे आस्रवों का स्वरूप अन्यथा जानता है।

वहाँ, राग-द्वेष-मोहरूप जो आस्रवभाव हैं, उनका तो नाश करने की चिन्ता नहीं है और बाह्यक्रिया अथवा बाह्यनिमित्त मिटाने का उपाय रखता है परन्तु उनके मिटाने से आस्रव नहीं मिटता।

द्रव्यलिंगी मुनि, अन्य देवादि की सेवा नहीं करता, हिंसा या विषयों में नहीं प्रवर्तता, क्रोधादि नहीं करता, मन-वचन-काय को रोकता है तथापि उसके मिथ्यात्वादि चारों आस्रव पाये जाते हैं। वहाँ कपट से भी ये कार्य नहीं करता है; कपट से करे तो ग्रैवेयकपर्यन्त कैसे पहुँचे ? इसलिए जो अन्तरंग अभिप्राय में मिथ्यात्वादिरूप रागादिभाव हैं, वे ही आस्रव हैं; उन्हें नहीं पहिचानता।

इस प्रकार इसको आस्रवतत्त्व का भी सत्य श्रद्धान नहीं है।

बन्धतत्त्व का अन्यथारूप

वहाँ, बन्धतत्त्व में जो अशुभभावों से नरकादिरूप पाप का बन्ध होता है, उसे तो बुरा जानता है और शुभभावों से देवादिरूप पुण्य का बन्ध होता है, उसे भला जानता है परन्तु सभी जीवों को दुःख सामग्री में द्वेष और सुख सामग्री में राग पाया जाता है, वैसा ही इसको भी राग-द्वेष करने का श्रद्धान हुआ। जैसा इस पर्यायसम्बन्धी, सुख-दुःख सामग्री में राग-द्वेष करना है, वैसा ही आगामी पर्यायसम्बन्धी, सुख-दुःख सामग्री में राग-द्वेष करना है।

वहाँ शुभ-अशुभभावों से पुण्य-पाप का विशेष (अन्तर) तो अघातिकर्मों में होता है परन्तु अघातिकर्म, आत्मगुण के घातक नहीं हैं तथा शुभ-अशुभभावों से घातिकर्मों का तो निरन्तर बन्ध होता है, वे सर्व पापरूप ही हैं और वे ही आत्मगुण के घातक हैं; इसलिए अशुद्धभावों से कर्मबन्ध होता है, उसमें भला-बुरा जानना, वही मिथ्या श्रद्धान है।

इस प्रकार ऐसे श्रद्धान से बन्धतत्त्व का भी उसे सत्य श्रद्धान नहीं है।

संवरतत्त्व का अन्यथारूप

वहाँ संवरतत्त्व में, अहिंसादिरूप शुभास्रवभावों को संवर जानता है परन्तु एक ही कारण से, पुण्यबन्ध भी माने और संवर भी माने, वह हो नहीं सकता।

प्रश्न—मुनियों को एक काल में एक भाव होता है, वहाँ उनके बन्ध भी होता है और संवर-निर्जरा भी होते हैं, वह किस प्रकार है ?

उसका समाधान—वह भाव, मिश्ररूप है - कुछ वीतराग हुआ है, कुछ सराग रहा है; जो अंश, वीतराग हुए, उनसे संवर है और जो अंश, सराग रहे, उनसे बन्ध है—ऐसे एक भाव से तो दो कार्य बनते हैं परन्तु एक प्रशस्तराग ही से पुण्यास्रव भी मानना और संवर-निर्जरा भी मानना, वह भ्रम है। मिश्रभाव में भी यह सरागता है, यह वीतरागता है—ऐसी पहिचान सम्यग्दृष्टि ही को होती है; इसलिए अवशेष सरागता को हेयरूप श्रद्धा करता है।

मिथ्यादृष्टि को ऐसी पहिचान नहीं है; इसलिए सरागभाव में संवर के भ्रम से, प्रशस्त-रागरूप कार्यों की उपादेयरूप श्रद्धा करता है।

तथा सिद्धान्त में गुप्ति-समिति-धर्म-अनुप्रेक्षा-परिषहजय-चारित्र, इनके द्वारा संवर होता है – ऐसा कहा है परन्तु इनकी भी यथार्थ श्रद्धा नहीं करता।

किस प्रकार ? वह कहते हैं —

गुप्ति—बाह्य मन-वचन-काय की चेष्टा मिटाये, पाप-चिन्तवन न करे, मौन धारण करे, गमनादि न करे, उसे वह गुप्ति मानता है परन्तु यहाँ तो मन में भक्ति आदिरूप प्रशस्तराग से, नाना विकल्प होते हैं एवं वचन-काय की चेष्टा आप (स्वयं) रोक रखी है, वहाँ शुभप्रवृत्ति है और प्रवृत्ति में गुप्तिपना बनता नहीं है; इसलिए वीतरागभाव होनेपर, जहाँ मन-वचन-काय की चेष्टा न हो, वही **सच्ची गुप्ति** है।

समिति—परजीवों की रक्षा के लिए यत्नाचार प्रवृत्ति, उसको समिति मानता है; **वहाँ हिंसा के परिणामों से तो पाप होता है और रक्षा के परिणामों से संवर कहोगे तो पुण्यबन्ध का कारण कौन ठहरेगा ?** तथा एषणासमिति में दोष टालता है, वहाँ रक्षा का प्रयोजन है नहीं; इसलिए रक्षा ही के लिए समिति नहीं है।

तो समिति कैसे होती है ?—मुनियों के किंचित् राग होनेपर, गमनादि क्रिया होती है, वहाँ उन क्रियाओं में अति-आसक्तता के अभाव से, प्रमादरूप प्रवृत्ति नहीं होती। तथा अन्य जीवों को दुःखी करके, अपना गमनादि प्रयोजन नहीं साधते; इसलिए स्वयमेव ही दया पलती है—ऐसी '**सच्ची समिति**' है।

धर्म—बन्धादि के भय से अथवा स्वर्ग-मोक्ष की इच्छा से, क्रोधादि नहीं करते, परन्तु वहाँ क्रोधादि करने का अभिप्राय तो मिटा नहीं है। जैसे—कोई राजादि के भय से

---

① स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजयचारित्रैः। (तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ९, सूत्र २)

अथवा महन्तपने के लोभ से, परस्त्री सेवन नहीं करता तो उसे त्यागी नहीं कहते; वैसे ही यह क्रोधादि का त्यागी नहीं है।

तो त्यागी कैसे होता है ?—पदार्थ, अनिष्ट-इष्ट भासित होने से, क्रोधादि होते हैं; जब तत्त्वज्ञान के अभ्यास से, कोई इष्ट-अनिष्ट भासित न हो, तब स्वयमेव ही क्रोधादि उत्पन्न नहीं होते, तब सच्चा धर्म होता है।

अनुप्रेक्षा—अनित्यादि चिन्तवन से शरीरादि को बुरा जान, हितकारी न जानकर, उनसे उदास होना, उसका नाम **अनुप्रेक्षा** कहता है—यह तो जैसे कोई मित्र था, तब उससे राग था, पश्चात् उसके अवगुण देखकर, उदासीन हुआ; उसी प्रकार शरीरादि से राग था, पश्चात् अनित्यत्व आदि अवगुण अवलोककर, उदासीन हुआ; परन्तु ऐसी उदासीनता तो द्वेषरूप है। जहाँ जैसा अपना और शरीरादि का स्वभाव है, वैसा पहिचानकर, भ्रम को मिटाकर, भला जानकर, राग नहीं करना और बुरा जानकर, द्वेष नहीं करना—ऐसी सच्ची उदासीनता के लिए, यथार्थ अनित्यत्वादि का चिन्तवन करना ही **सच्ची अनुप्रेक्षा** है।

परीषहजय—क्षुधादि होनेपर उनके नाश का उपाय नहीं करना, उसे **परीषह सहना** (परीषहजय) कहता है; वहाँ उपाय तो नहीं किया और अन्तरंग में क्षुधादि अनिष्ट सामग्री मिलनेपर दुःखी हुआ; रति आदि का कारण मिलनेपर सुखी हुआ, तो वे 'दुःख-सुखरूप परिणाम' हैं, वे ही आर्तध्यान-रौद्रध्यान हैं - ऐसे भावों से संवर कैसे हो ? इसलिए दुःख का कारण मिलनेपर, दुःखी न हो और सुख का कारण मिलनेपर, सुखी न हो; ज्ञेयरूप से उनका जाननेवाला ही रहे, वही **सच्चा परीषहजय** है।

चारित्र—हिंसादि सावद्ययोग के त्याग को 'चारित्र' मानता है; वहाँ महाव्रतादिरूप शुभयोग को उपादेयपने से ग्राह्य मानता है परन्तु **तत्त्वार्थसूत्र में आस्रवपदार्थ का निरूपण करते हुए, 'महाव्रत-अणुव्रत को भी आस्रवरूप' कहा है, वे उपादेय कैसे हो सकते हैं ? तथा आस्रव तो बन्ध का साधक है और चारित्र, मोक्ष का साधक है; इसलिए महाव्रतादिरूप आस्रवभावों को चारित्रपना सम्भव नहीं; सकलकषायरहित जो उदासीनभाव, उसी का नाम चारित्र है।**

जो चारित्रमोह के देशघाती स्पर्धकों के उदय से, महामन्द प्रशस्तराग होता है, वह चारित्र का मल है; उसे छूटता न जानकर, उसका त्याग नहीं करते; सावद्ययोग का ही त्याग करते हैं परन्तु जैसे—कोई पुरुष, कन्द-मूलादि बहुत दोषवाली हरितकाय का त्याग करता है और कितनी ही हरितकायों का भक्षण करता है परन्तु उसे धर्म नहीं मानता; उसी प्रकार मुनि, हिंसादि तीव्रकषायरूप भावों का त्याग करते हैं और कितने ही मन्दकषायरूप महाव्रतादि का पालन करते हैं परन्तु उसे मोक्षमार्ग नहीं मानते।

® तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ७, सूत्र १-२ एवं अध्याय ६, सूत्र १-२-३

प्रश्न—यदि ऐसा है तो चारित्र के तेरह भेदों में महाव्रतादि कैसे कहे हैं ?

उसका समाधान—यह व्यवहारचारित्र कहा है और व्यवहार नाम उपचार का है; वहाँ महाव्रतादि होनेपर ही वीतरागचारित्र होता है—ऐसा सम्बन्ध जानकर, महाव्रतादि में चारित्र का उपचार किया है; निश्चय से नि:कषायभाव है, वही **सच्चा चारित्र** है।

इस प्रकार संवर के कारणों को अन्यथा जानते हुए, संवर का सच्चा श्रद्धानी नहीं होता।

निर्जरातत्त्व का अन्यथारूप

वहाँ, यह अनशनादि तप से निर्जरा मानता है परन्तु केवल बाह्यतप ही करने से तो निर्जरा होती नहीं है। **बाह्यतप तो शुद्धोपयोग बढ़ाने के लिए करते हैं; शुद्धोपयोग, निर्जरा का कारण है; इसलिए उपचार से तप को भी निर्जरा का कारण कहा है।** यदि बाह्यदु:ख सहना ही निर्जरा का कारण हो तो तिर्यंचादि भी भूख-तृषादि सहते हैं।

तब वह कहता है—वे तो पराधीनता से सहते हैं; जो स्वाधीनता से धर्मबुद्धिपूर्वक उपवासादिरूप तप करे, उसको निर्जरा होती है।

उसका समाधान—धर्मबुद्धि से बाह्य उपवासादि तो करते हैं परन्तु वहाँ उपयोग अशुभ-शुभ-शुद्धरूप जैसा परिणमित हो, वैसा परिणमो। यदि बहुत उपवासादि करने से, बहुत निर्जरा हो; थोड़े करने से, थोड़ी निर्जरा हो—ऐसा नियम ठहरे, तब तो उपवासादि ही निर्जरा का मुख्य कारण ठहरे; वह तो बनता नहीं [क्योंकि] परिणाम दुष्ट होनेपर, उपवासादि से निर्जरा कैसे सम्भव है ?

फिर यदि ऐसा कहें—जैसा अशुभ-शुभ-शुद्धरूप उपयोग परिणमित हो, उसके अनुसार बन्ध-निर्जरा होती है।

फिर तो उपवासादि तप, निर्जरा का मुख्य कारण कैसे रहा ? अशुभ-शुभपरिणाम, बन्ध के कारण ठहरे और शुद्धपरिणाम, निर्जरा का कारण ठहरे।

यहाँ प्रश्न—फिर तत्त्वार्थसूत्र में '**तपसा निर्जरा च**'[१]—ऐसा कैसे कहा है ?

उसका समाधान—शास्त्र में '**इच्छानिरोधस्तप:**'[२]—ऐसा कहा है; वहाँ इच्छा को रोकना, उसका नाम तप है; अत: शुभ-अशुभ इच्छा मिटनेपर, उपयोग शुद्ध हो, वहाँ निर्जरा है; इसलिए तप से निर्जरा कही है।

यहाँ वह कहता है—आहारादिरूप अशुभ की तो इच्छा दूर होनेपर ही तप होता है परन्तु उपवासादि व प्रायश्चित्तादि शुभकार्य हैं, इनकी इच्छा तो रहती है ?

---

[१] तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ९, सूत्र ३ [२] धवला, पुस्तक १३, खण्ड ५, भाग ४, सूत्र २६, पृष्ठ ५४

उसका समाधान—ज्ञानीजनों को उपवासादि की इच्छा नहीं है; एक शुद्धोपयोग की इच्छा है; यदि उपवासादि करने से, शुद्धोपयोग बढ़ता है तो वे उपवासादि करते हैं तथा यदि उपवासादि से, शरीर या परिणामों की शिथिलता के कारण, शुद्धोपयोग को शिथिल होता जानें तो वहाँ आहारादि ग्रहण करते हैं। यदि उपवासादि ही से सिद्धि हो तो अजितनाथ आदि तेईस तीर्थंकर, दीक्षा लेकर दो उपवास ही क्यों धारण करते? उनकी तो शक्ति भी बहुत थी परन्तु जैसे परिणाम हुए, वैसे बाह्यसाधन द्वारा एक वीतराग शुद्धोपयोग का अभ्यास किया।

यहाँ प्रश्न—यदि ऐसा है तो अनशनादि को, तप संज्ञा कैसे हुई?

उसका समाधान—इनको बाह्यतप कहा है। यहाँ बाह्य का अर्थ यह है कि बाहर से औरों को दिखायी दे कि यह तपस्वी है परन्तु आप तो जैसा अन्तरंग परिणाम होगा, वैसा ही फल पाएगा, क्योंकि परिणामशून्य शरीर की क्रिया, फलदाता नहीं है।

यहाँ फिर प्रश्न है—शास्त्र में तो अकामनिर्जरा कही है, वहाँ बिना इच्छा के भूख -प्यास आदि सहने से, निर्जरा होती है तो फिर उपवासादि करके कष्ट सहने से, कैसे निर्जरा नहीं हो?

उसका समाधान—अकामनिर्जरा में भी बाह्यनिमित्त तो बिना इच्छा, भूख-प्यास का सहना हुआ है और वहाँ मन्दकषायरूप भाव हों तो पाप की निर्जरा होती है; देवादि पुण्य का बन्ध होता है परन्तु यदि तीव्रकषाय होनेपर भी कष्ट सहने से, पुण्यबन्ध होता हो तो सर्व तिर्यंचादि [मरणोपरान्त] देव ही हों, परन्तु वह होता नहीं है; उसी प्रकार इच्छापूर्वक उपवासादि करने से, वहाँ भूख-प्यासादि कष्ट सहते हैं परन्तु ये तो बाह्यनिमित्त हैं, यहाँ 'जैसा परिणाम हो, वैसा फल पाता है।'

जिस प्रकार [उपचार से] अन्न को प्राण कहा है; उसी प्रकार ऐसा बाह्यसाधन होनेपर, अन्तरंगतप की वृद्धि होती है; इसलिए उपचार से इनको तप कहा है लेकिन यदि, बाह्य-तप तो करे और अन्तरंगतप न हो तो उपचार से भी उसे तप संज्ञा नहीं है। वही कहा है —

कषायविषयाऽऽहारो, त्यागो यत्र विधीयते।
उपवासः स विज्ञेयः, शेषं लंघनकं विदुः॥

[**याका अर्थ**—] जहाँ कषाय, विषय और आहार – इनका त्याग किया जाता है, उसे उपवास जानना; शेष को श्रीगुरु, लंघन कहते हैं।

यहाँ कहेगा—यदि ऐसा है तो हम उपवासादि नहीं करेंगे।

उससे कहते हैं—उपदेश तो ऊँचा चढ़ने को दिया जाता है; तू उल्टा नीचे गिरेगा तो हम क्या करें ? यदि तू मानादि से उपवासादि करता है तो कर या मत कर; कुछ सिद्धि नहीं है और यदि धर्मबुद्धि से आहारादि का अनुराग छोड़ता है तो जितना राग छूटा, उतना ही छूटा, परन्तु इसी को तप जानकर, इससे निर्जरा मानकर सन्तुष्ट मत हो।

अन्तरंगतपों में प्रायश्चित्त-विनय-वैयावृत्त्य-स्वाध्याय-त्याग(व्युत्सर्ग)-ध्यानरूप जो क्रियाएँ, उनमें बाह्य प्रवर्तन, उसे तो बाह्य तपवत् ही जानना। जैसे—अनशनादि बाह्य क्रियाएँ हैं; उसी प्रकार ये भी बाह्य क्रियाएँ हैं; इसलिए प्रायश्चित्तादि बाह्य साधन, अन्तरंगतप नहीं हैं। ऐसा बाह्य प्रवर्तन होनेपर जो अन्तरंग परिणामों की शुद्धता हो, उसका नाम अन्तरंगतप जानना।

वहाँ भी इतना विशेष है—बहुत शुद्धता होनेपर, शुद्धोपयोगरूप परिणति होती है; वहाँ तो निर्जरा ही है, बन्ध नहीं होता और अल्प शुद्धता होनेपर, शुभोपयोग का भी अंश रहता है; इसलिए जितनी शुद्धता हुई, उससे तो निर्जरा है और जितना शुभभाव है, उससे बन्ध है – ऐसा मिश्रभाव युगपत् होता है, वहाँ बन्ध और निर्जरा दोनों होते हैं।

यहाँ कोई कहता है—शुभभावों से, पाप की निर्जरा होती है; पुण्य का बन्ध होता है परन्तु शुद्धभावों से दोनों की निर्जरा होती है—ऐसा क्यों नहीं कहते ?

उसका उत्तर—मोक्षमार्ग में स्थिति का घटना (कम होना) तो सभी प्रकृतियों का होता है; वहाँ पुण्य-पाप का विशेष है ही नहीं और पुण्यप्रकृतियों में अनुभाग का घटना, शुद्धोपयोग से भी नहीं होता; ऊपर-ऊपर पुण्यप्रकृतियों के अनुभाग का तीव्र बन्ध-उदय होता है और पापप्रकृतियों के परमाणु पलटकर, शुभप्रकृतिरूप होते हैं—ऐसा संक्रमण, शुभ व शुद्ध, दोनों भाव होनेपर होता है; इसलिए पूर्वोक्त नियम सम्भव नहीं है; **विशुद्धता ही के अनुसार नियम सम्भव है।**

देखो ! **चतुर्थ गुणस्थानवाला** शास्त्राभ्यास, आत्म-चिन्तवन आदि कार्य करे; वहाँ भी निर्जरा नहीं होती है; बन्ध भी बहुत होता है, जबकि **पंचम गुणस्थानवाला** विषय-सेवनादि कार्य करता है, वहाँ भी उसके गुणश्रेणीनिर्जरा होती रहती है; बन्ध भी थोड़ा होता है।

तथा **पंचम गुणस्थानवाला** उपवासादि व प्रायश्चित्तादि तप करता है; उस काल में भी उसके निर्जरा थोड़ी होती है, जबकि **छठे गुणस्थानवाला** आहार-विहारादि क्रिया करता है, उस काल में भी उसके निर्जरा बहुत होती है और बन्ध, उससे भी थोड़ा होता है।

इसलिए बाह्यप्रवृत्ति के अनुसार निर्जरा नहीं है; अन्तरंग कषायशक्ति घटने से विशुद्धता होनेपर, निर्जरा होती है; सो इसके प्रगट स्वरूप का आगे निरूपण करेंगे, वहाँ से जानना।

इस प्रकार अनशनादि क्रिया को तप संज्ञा उपचार से जानना। इसी से इन्हें व्यवहार तप कहा है। व्यवहार और उपचार का एक अर्थ है तथा ऐसे साधन से जो वीतरागभावरूप विशुद्धता होती है, वह **सच्चा तप** है, उसे निर्जरा का कारण जानना।

यहाँ दृष्टान्त है—जैसे—धन को व अन्न को, प्राण कहा है क्योंकि धन से अन्न लाकर, उसका भक्षण करके, प्राणों का पोषण किया जाता है; इसलिए उपचार से धन और अन्न को, प्राण कहा है परन्तु कोई इन्द्रियादि प्राणों को न जाने और इन्हीं को प्राण जानकर, संग्रह करे तो मरण को ही प्राप्त होगा; उसी प्रकार अनशनादि को तथा प्रायश्चितादि को तप कहा है क्योंकि अनशनादि साधन से प्रायश्चितादिरूप प्रवर्तन करके, वीतरागभावरूप सत्य तप का पोषण किया जाता है; इसलिए उपचार से अनशनादि को तथा प्रायश्चितादि को तप कहा है परन्तु कोई वीतरागभावरूप तप को न जाने और इन्हीं को तप जानकर, संग्रह करे तो संसार ही में भ्रमण करेगा।

बहुत क्या।—इतना समझ लेना कि निश्चयधर्म तो वीतरागभाव है; अन्य नाना विशेष बाह्य साधन की अपेक्षा, उपचार से किये हैं; उनको व्यवहारमात्र धर्म संज्ञा जानना।

— इस रहस्य को नहीं जानता; इसलिए उसके निर्जरा का भी सच्चा श्रद्धान नहीं है।

मोक्षतत्त्व का अन्यथारूप

सिद्ध होना, उसे मोक्ष मानता है। वहाँ जन्म-जरा-मरण-रोग-क्लेशादि दुःख दूर हुए, अनन्त ज्ञान द्वारा लोकालोक का जानना हुआ, त्रिलोकपूज्यपना हुआ, इत्यादिरूप से उसकी महिमा जानता है परन्तु सर्व जीवों को दुःख दूर करने की व ज्ञेयों को जानने की तथा पूज्य होने की इच्छा है। यदि इन्हीं के लिए मोक्ष की इच्छा की तो इसकी अन्य जीवों के श्रद्धान से क्या विशेषता हुई?

वहाँ इसको ऐसा भी अभिप्राय है कि स्वर्ग में सुख है, उससे अनन्तगुना सुख, मोक्ष में है—ऐसे इस गुणाकार में स्वर्ग-मोक्षसुख की एक जाति जानता है। वहाँ स्वर्ग में तो [इन्द्रिय] विषयादि सामग्रीजनित सुख होता है, उसकी जाति इसे भासित होती है लेकिन मोक्ष में विषयादि सामग्री है नहीं; इसलिए वहाँ के सुख की जाति इसे भासित तो नहीं होती, परन्तु महान् पुरुष, मोक्ष को स्वर्ग से भी उत्तम कहते हैं; इसलिए यह भी उत्तम ही मानता है। जैसे—कोई गायन का स्वरूप न पहिचाने, परन्तु सभा के सर्व लोग सराहना करते हैं; इसलिए आप भी सराहना करता है; उसी प्रकार यह मोक्ष को उत्तम मानता है।

यहाँ वह कहता है— शास्त्र में भी तो इन्द्रादि से अनन्तगुना सुख, सिद्धों के प्ररूपित किया है?

उसका उत्तर—जैसे—तीर्थंकर के शरीर की प्रभा को, सूर्यप्रभा से कोटिगुनी कही है, वहाँ उनकी एक जाति नहीं है परन्तु लोक में सूर्यप्रभा की महिमा है, उससे भी अधिक महिमा बतलाने के लिए, उपमालंकार करते हैं; उसी प्रकार सिद्धसुख को, इन्द्रादिसुख से अनन्तगुना कहा है, वहाँ उनकी एक जाति नहीं है परन्तु लोक में इन्द्रादिसुख की महिमा है; उससे भी अधिक महिमा बतलाने के लिए, उपमालंकार करते हैं।

फिर प्रश्न है—वह सिद्धसुख और इन्द्रादिसुख की एक जाति जानता है—ऐसा निश्चय तुमने कैसे किया?

उसका समाधान—[क्योंकि वह] जिस धर्मसाधन का फल, स्वर्ग मानता है, उसी धर्मसाधन का फल, मोक्ष मानता है। कोई जीव, इन्द्रादि पद प्राप्त करे, कोई मोक्ष प्राप्त करे, वहाँ उन दोनों को एक जाति के धर्म का फल हुआ मानता है।

ऐसा तो मानता है—जिसके (धर्म) साधन थोड़ा होता है, वह इन्द्रादि पद प्राप्त करता है; जिसके सम्पूर्ण साधन होता है, वह मोक्ष प्राप्त करता है परन्तु वहाँ धर्म की जाति एक जानता है; इसलिए जो कारण की एक जाति जाने, उसे कार्य की भी एक जाति का श्रद्धान अवश्य होता है क्योंकि कारणविशेष होनेपर ही, कार्यविशेष होता है; इसलिए हमने यह निश्चय किया कि उसके अभिप्राय में इन्द्रादिसुख और सिद्धसुख की एक जाति का श्रद्धान है।

वहाँ कर्मनिमित्त से आत्मा को औपाधिकभाव होते थे, उनका अभाव होनेपर, आप (स्वयं) शुद्धस्वभावरूप केवल आत्मा हुआ। जैसे—स्कन्ध से पृथक् होनेपर, परमाणु शुद्ध होता है; उसी प्रकार यह कर्मादि से भिन्न होकर, शुद्ध होता है।

विशेष इतना—वह [परमाणु तो] दोनों अवस्था में दुःखी-सुखी नहीं है परन्तु आत्मा, अशुद्ध अवस्था में दुःखी था, अब उसका अभाव होने से, उसे निराकुल लक्षण अनन्त सुख की प्राप्ति हुई। तथा इन्द्रादि को जो सुख होता है, वह कषायभावों से आकुलतारूप है; अतः वह परमार्थ से दुःख ही है; इसलिए उसकी और इसकी एक जाति नहीं है।

वहाँ स्वर्गसुख का कारण, प्रशस्तराग है और मोक्षसुख का कारण, वीतरागभाव है; इसलिए कारण में भी विशेष [अन्तर] है परन्तु ऐसा भाव, इसको भासित नहीं होता।

इसलिए मोक्ष का भी इसको सच्चा श्रद्धान नहीं है।

इस प्रकार इसको सच्चा तत्त्वश्रद्धान नहीं है।[१] इसीलिए समयसार[२] में कहा है कि अभव्य को तत्त्वश्रद्धान होनेपर भी, मिथ्यादर्शन ही रहता है। तथा प्रवचनसार[३] में कहा है

---

[१] मूल प्रति (पृष्ठ २९५-२९६) में कुछ पंक्तियाँ कटी हैं, जिसमें **पुण्य-पापतत्त्व का अन्यथा स्वरूप** समझाते हुए लिखा है—"बहुरि पुण्य-पाप मिलाएं नव पदार्थ हो हैं, सो याकै **पुण्य-पाप का भी श्रद्धान ठीक नाहीं**। व्रतशीलादिक पुण्य का कारण कौं भला कहै, ताका फल इन्द्रियसुख, ताकों बुरा कहै। किछू इस लोक के इन्द्रियसुख कों बुरा कहै अर देवादिक का सुख कों भला कहै; सो जाति तौ इन्द्रियसुखनि की एक-'यहु बुरा, वह भला' कैसें मांनिए। बहुरि यहु भी कहै-पुण्य-पाप दोऊ बुरे हैं। देवादिक सर्व पर्याय, संसाररूप है, सो मुख तैं तौ कहै, परन्तु 'मोक्षमार्ग का निरूपण करे, तब शुभ भला....' जातैं यहु मिथ्यादृष्टी ही रहै-अैसैं तौ याकै सम्यग्दर्शन का उपाय है नाहीं, याकै व्यवहार सम्यग्दर्शन की आभासा होतैं भी सम्यग्दर्शन का अभाव हीजाननां।"

[२] समयसार, गाथा २७६-२७७ की आत्मख्याति टीका। [३] प्रवचनसार, गाथा २३९ की उत्थानिका एवं टीका।

कि **आत्मज्ञान शून्य, तत्त्वार्थश्रद्धान कार्यकारी नहीं है।**

वहाँ व्यवहारदृष्टि से इसी सम्यग्दर्शन के आठ अंग कहे हैं, उनको यह पालता है; पच्चीस दोष कहे हैं, उनको टालता है; संवेगादि गुण कहे हैं, उनको धारण करता है परन्तु जैसे—बीज बोए बिना, खेत के सब साधन करनेपर भी, अन्न नहीं होता; उसी प्रकार सच्चा तत्त्वश्रद्धान हुए बिना, सम्यक्त्व नहीं होता।

इसी प्रकार पंचास्तिकाय व्याख्या में जहाँ अन्त में व्यवहाराभासवाले का वर्णन किया है, वहाँ ऐसा ही कथन किया है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन के लिए साधन करनेपर भी, इसको सम्यग्दर्शन नहीं होता।

सम्यग्ज्ञान का अन्यथारूप

अब, शास्त्र में सम्यग्ज्ञान के लिए, शास्त्राभ्यास करने से, सम्यग्ज्ञान होना कहा है; इसलिए यह शास्त्राभ्यास में तत्पर रहता है। वहाँ सीखना, सिखाना, याद करना, वाँचना, पढ़ना आदि क्रियाओं में तो उपयोग को रमाता है परन्तु उसके प्रयोजन पर, दृष्टि नहीं है।

इस उपदेश में मुझे कार्यकारी क्या है ? उसका अभिप्राय नहीं है; स्वयं शास्त्राभ्यास करके, औरों को सम्बोधन देने का अभिप्राय रखता है और बहुत से जीव, उपदेश मानें, वहाँ सन्तुष्ट होता है परन्तु ज्ञानाभ्यास तो अपने लिए किया जाता है और प्रसंग पाकर, पर का भी भला होता हो तो पर का भी भला करे।

वहाँ, कोई उपदेश न सुने तो मत सुनो, स्वयं क्यों विषाद करें ? शास्त्र के अर्थ का भाव जानकर, अपना भला करना।

शास्त्राभ्यास में भी कितने ही तो व्याकरण, न्याय, काव्य आदि शास्त्रों का बहुत अभ्यास करते हैं परन्तु वे तो लोक में पाण्डित्य प्रगट करने के कारण हैं; उनमें आत्महित का निरूपण तो है नहीं। इनका तो प्रयोजन इतना ही है कि यदि अपनी बुद्धि बहुत हो तो थोड़ा-बहुत इनका अभ्यास करके, पश्चात् आत्महित के साधक शास्त्रों का अभ्यास करना; यदि बुद्धि थोड़ी हो तो आत्महित के साधक सुगम शास्त्रों ही का अभ्यास करना। **ऐसा नहीं करना कि व्याकरणादि का ही अभ्यास करते-करते आयु पूर्ण हो जाए और तत्त्वज्ञान की प्राप्ति न बने।**

यहाँ कोई कहे—ऐसा है तो व्याकरणादि का अभ्यास नहीं करना चाहिए ?

उससे कहते हैं—उनके अभ्यास के बिना, महान ग्रन्थों का अर्थ खुलता नहीं है; इसलिए उनका भी अभ्यास करना योग्य है।

फिर यहाँ प्रश्न है—ऐसे महान ग्रन्थ क्यों बनाए, जिनका अर्थ, व्याकरणादि के बिना नहीं खुलता ? भाषा द्वारा सुगमरूप हितोपदेश क्यों नहीं लिखा ? उनको कुछ प्रयोजन तो था नहीं।

---

① पंचास्तिकाय गाथा १७२ की समयव्याख्या टीका।

उसका समाधान—भाषा में भी प्राकृत-संस्कृतादि के ही शब्द हैं परन्तु अपभ्रंशसहित हैं तथा वह देश-देश में अन्य-अन्य प्रकार है तो महन्तपुरुष, शास्त्रों में अपभ्रंश शब्द कैसे लिखते? [क्योंकि] बालक तोतला बोले, परन्तु बड़े तो नहीं बोलते।

तथा एक देश की भाषारूप शास्त्र, दूसरे देश में जाएँ तो वहाँ उसका अर्थ कैसे भासित होगा? इसलिए प्राकृत-संस्कृतादि शुद्ध शब्दरूप ग्रन्थ रचे हैं।

वहाँ व्याकरण के बिना, शब्द का अर्थ यथावत् भासित नहीं होता; न्याय के बिना, लक्षण, परीक्षा आदि यथावत् नहीं हो सकते, इत्यादि। वचन द्वारा वस्तु के स्वरूप का निर्णय, व्याकरणादि बिना भली-भाँति न होता जानकर, उनकी आम्नाय अनुसार कथन किया है। भाषा में भी उनकी थोड़ी-बहुत आम्नाय आनेपर ही उपदेश हो सकता है परन्तु उनकी बहुत आम्नाय से भली-भाँति निर्णय हो सकता है।

फिर यदि कहोगे—ऐसा है तो अब भाषारूप ग्रन्थ किसलिए बनाते हो?

उसका समाधान—कालदोष से जीवों की मन्दबुद्धि जानकर, किन्हीं जीवों के जितना ज्ञान होगा, उतना ही होगा—ऐसा अभिप्राय विचारकर, भाषाग्रन्थ रचते हैं; इसलिए जो जीव, व्याकरणादि का अभ्यास न कर सकें, उन्हें ऐसे ग्रन्थों द्वारा ही अभ्यास करना।

वहाँ जो जीव, शब्दों का नाना युक्तियोंसहित अर्थ करने के लिए ही व्याकरण का अवगाहन करते हैं; वादादि करके महन्त होने के लिए, न्याय का अवगाहन करते हैं और चतुराई प्रगट करने के लिए, काव्य का अवगाहन करते हैं, इत्यादि लौकिक प्रयोजनसहित इनका अभ्यास करते हैं, वे धर्मात्मा नहीं हैं।

इनका जितना बन सके, उतना थोड़ा-बहुत अभ्यास करके, आत्महित के लिए जो तत्त्वादि का निर्णय करते हैं, वे ही धर्मात्मा-पण्डित जानना।

कितने ही जीव, पुण्य-पापादि फल के निरूपक पुराणादि शास्त्रों का अथवा पुण्य-पापक्रिया के निरूपक आचारादि शास्त्रों का अथवा गुणस्थान-मार्गणा-कर्मप्रकृति-त्रिलोकादि के निरूपक करणानुयोग के शास्त्रों का अभ्यास करते हैं परन्तु यदि आप (स्वयं) इनका प्रयोजन नहीं विचारते, तब तो तोते जैसा ही पढ़ना हुआ और यदि इनका प्रयोजन विचारते हैं तो वहाँ पाप को बुरा जानना, पुण्य को भला जानना, गुणस्थानादि का स्वरूप जान लेना तथा इनका जितना अभ्यास करेंगे, उतना हमारा भला है, इत्यादि प्रयोजन का विचार किया है; सो इससे इतना तो होगा कि नरकादि नहीं होंगे; स्वर्गादि होंगे, परन्तु मोक्षमार्ग की प्राप्ति तो होगी नहीं।

वहाँ, पहले सच्चा तत्त्वज्ञान हो, फिर पुण्य-पाप के फल को संसार जाने, शुद्धोपयोग से मोक्ष माने; गुणस्थानादिरूप से जीव का व्यवहार निरूपण जाने, इत्यादि ज्यों का त्यों श्रद्धान करता हुआ, इनका अभ्यास करे तो सम्यग्ज्ञान होता है।

वहाँ तत्त्वज्ञान में कारण, अध्यात्मरूप द्रव्यानुयोग के शास्त्र हैं—कितने ही जीव, उन शास्त्रों का भी अभ्यास करते हैं परन्तु वहाँ जैसा लिखा है, वैसा निर्णय आप (स्वयं) करके, आपका आपरूप, पर का पररूप और आस्रवादि का आस्रवादिरूप श्रद्धान नहीं करते।

मुख से तो यथावत् निरूपण ऐसा भी करें, जिसके उपदेश से अन्य जीव, सम्यग्दृष्टि हो जाएँ, परन्तु जैसे—कोई बालक, स्त्री का स्वांग बनाकर ऐसा गाना गाए, जिसे सुनकर, अन्य पुरुष-स्त्री कामरूप हो जाएँ, लेकिन वह तो जैसा सीखा, वैसा कहता है; उसे कुछ भाव भासित नहीं होता; इसलिए स्वयं कामासक्त नहीं होता; उसी प्रकार यह भी जैसा लिखा है, वैसा उपदेश देता है परन्तु स्वयं अनुभव नहीं करता।

यदि स्वयं को श्रद्धान हुआ होता तो अन्य तत्त्व का अंश, अन्य तत्त्व में नहीं मिलाता, परन्तु इसको निर्णय नहीं है; इसलिए सम्यग्ज्ञान नहीं होता।

इस प्रकार यह भी ग्यारह अंग तक पढ़ता है तथापि सिद्धि नहीं होती—ऐसा समयसार आदि में मिथ्यादृष्टि को ग्यारह अंग तक का ज्ञान होना लिखा है।

यहाँ कोई कहता है—ज्ञान तो इतना होता है परन्तु जैसे—अभव्यसेन को श्रद्धानरहित ज्ञान हुआ था, वैसे होता है।

उसका समाधान—वह तो पापी था, जिसे हिंसादि की प्रवृत्ति का भय नहीं था परन्तु जो जीव, ग्रैवेयक आदि में जाता है, उसको ऐसा ज्ञान होता है, वह तो श्रद्धानरहित नहीं है; उसको तो ऐसा ही श्रद्धान है कि ये ग्रन्थ सच्चे हैं परन्तु तत्त्वश्रद्धान सच्चा नहीं हुआ है।

समयसार[१] में एक ही जीव को धर्म का श्रद्धान, ग्यारह अंग का ज्ञान और महाव्रतादि का पालन करना लिखा है। प्रवचनसार[२] में ऐसा लिखा है कि 'आगमज्ञान ऐसा हुआ, जिसके द्वारा सर्व पदार्थों को हस्तामलकवत् जानता है।

वह यह भी जानता है—इनका जाननेवाला मैं हूँ परन्तु **'मैं ज्ञानस्वरूप हूँ'—ऐसा आप को परद्रव्य से भिन्न, केवल चैतन्यद्रव्य अनुभव नहीं करता है; इसलिए आत्मज्ञान शून्य, आगमज्ञान भी कार्यकारी नहीं है।**

इस प्रकार इसको सम्यग्ज्ञान के लिए, जैनशास्त्रों का अभ्यास है तथापि इसको 'सम्यग्ज्ञान नहीं है।'

---

① समयसार, गाथा २७३, २७४, २७५ एवं आत्मख्याति टीका। ② प्रवचनसार, गाथा २३९ उत्थानिका एवं तत्त्वप्रदीपिका टीका।

सम्यक्चारित्र का अन्यथारूप

वहाँ, इनकी सम्यक्चारित्र के लिए कैसी प्रवृत्ति होती है, वह कहते हैं —

बाह्यक्रिया पर तो इनकी दृष्टि है और परिणाम सुधरने-बिगड़ने का विचार नहीं है तथा यदि परिणामों का भी विचार हो तो जैसे—अपने परिणाम होते दिखायी देते हैं, उन्हींपर दृष्टि रहती है परन्तु उन परिणामों की परम्परा का विचार करनेपर, अभिप्राय में जो वासना है, उसका विचार नहीं करते हैं और फल लगता है, वह अभिप्राय में जो वासना है, उसका लगता है।

— इसका विशेष व्याख्यान आगे करेंगे; वहाँ स्वरूप भलीभाँति भासित होगा।

ऐसी पहिचान के बिना, बाह्य आचरण का ही उद्यम है—**वहाँ कितने ही जीव** तो कुलक्रम से या देखा-देखी या क्रोध-मान-माया-लोभादि से आचरण करते हैं; अत: इनको तो धर्मबुद्धि ही नहीं है; सम्यक्चारित्र कहाँ से हो? इन जीवों मे कोई तो भोले हैं या कषायी हैं परन्तु अज्ञानभाव या कषाय होनेपर, सम्यक्चारित्र नहीं होता।

वहाँ कितने ही जीव ऐसा मानते हैं—'जानने में क्या है? कुछ करेंगे तो फल लगेगा' — ऐसा विचारकर, व्रत-तप आदि क्रियाओं ही के उद्यमी रहते हैं और तत्त्वज्ञान का उपाय नहीं करते, परन्तु **तत्त्वज्ञान के बिना, महाव्रतादि का आचरण भी मिथ्याचारित्र ही नाम पाता है और तत्त्वज्ञान होनेपर, कुछ भी व्रतादि नहीं हैं तथापि असंयत-सम्यग्दृष्टि नाम पाता है; इसलिए पहले तत्त्वज्ञान का उपाय करना,** पश्चात् कषाय घटाने के लिए, बाह्यसाधन करना।

यही योगीन्द्रदेवकृत श्रावकाचार में कहा है —

दंसणभूमिहं बाहिरा, जिय वय-रुक्खं ण हुंति।①

इसका अर्थ—इस सम्यग्दर्शन भूमिका के बिना, हे जीव! व्रतरूपी वृक्ष नहीं होते अर्थात् जिन जीवों के तत्त्वज्ञान नहीं है, वे यथार्थ आचरण नहीं आचरते।

वही विशेष बतलाते हैं—कितने ही जीव, पहले तो बड़ी प्रतिज्ञा धारण कर बैठते हैं परन्तु अन्तरंग में विषय-कषाय-वासना मिटी नहीं है; इसलिए जैसे-तैसे प्रतिज्ञा पूरी करना चाहते हैं, वहाँ उस प्रतिज्ञा से परिणाम दु:खी होते हैं।

जैसे—कोई बहुत उपवास कर बैठता है और पश्चात् पीड़ा से दु:खी हुआ, रोगी की भाँति काल गँवाता है, धर्मसाधन नहीं करता; अत: प्रथम ही सधती जाने, उतनी ही प्रतिज्ञा क्यों नहीं लेते? दु:खी होने में आर्तध्यान होता है, उसका फल, अच्छा कैसे लगेगा? अथवा उस प्रतिज्ञा का दु:ख सहा नहीं जाता, तब उसके बदले विषय-पोषण के लिए,

---

① दंसणभूमिहिं बाहिरा, जिय वयरुक्ख ण हुंति।
विणु वयरुक्खहं सुक्खफल, आयासहु ण पडंति॥ (पाठभेद, सावयधम्म, दोहा ५७)

अन्य उपाय करता है। जैसे –तृषा लगे, तब पानी तो न पिये, परन्तु अन्य शीतल उपचार अनेक प्रकार करे। व घृत तो छोड़े, परन्तु अन्य स्निग्ध वस्तुओं का उपाय करके, भक्षण करे। इसी प्रकार अन्य जानना।

अब, यदि परीषह नहीं सहा जाता था, विषय-वासना नहीं छूटी थी तो ऐसी प्रतिज्ञा किसलिए की? सुगम विषय छोड़कर, पश्चात् विषम विषयों का उपाय करना पड़े–ऐसा कार्य क्यों करे? इससे तो उल्टा रागभाव तीव्र होता है।

अथवा प्रतिज्ञा में दु:ख हो, तब परिणाम लगाने के लिए, कोई आलम्बन विचारता है। जैसे–उपवास करके फिर क्रीड़ा करता है; कितने ही पापी, जुआ आदि कुव्यसनों में लग जाते हैं अथवा सोते रहना चाहते हैं। वे ऐसा जानते हैं कि किसी प्रकार काल पूरा करना।

इसी प्रकार अन्य प्रतिज्ञा में जानना।

अथवा कितने ही पापी ऐसे भी हैं–पहले प्रतिज्ञा करते हैं, बाद में उससे दु:खी हों, तब प्रतिज्ञा छोड़ देते हैं। प्रतिज्ञा लेना-छोड़ना, उनको खेलमात्र है परन्तु प्रतिज्ञा भंग करने का महापाप है, इससे तो प्रतिज्ञा न लेना ही भला है।

इस प्रकार पहले तो निर्विचार होकर, प्रतिज्ञा करते हैं और पश्चात् ऐसी दशा होती है।

सो जैनधर्म में प्रतिज्ञा (न) लेने ① का दण्ड तो है नहीं। जैनधर्म में तो यह उपदेश है–**पहले तो तत्त्वज्ञानी हो, फिर जिसका त्याग करे, उसका दोष पहिचाने; त्याग करने में गुण होता है, उसे जाने तथा अपने परिणामों का यथार्थ निर्णय करे, वर्तमान परिणामों ही के भरोसे प्रतिज्ञा न कर बैठे; भविष्य में निर्वाह होता जाने तो प्रतिज्ञा करे तथा शरीर की शक्ति एवं द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावादि का विचार करे।**

– इस प्रकार विचार करके, फिर प्रतिज्ञा करनी; वह भी ऐसी करनी, जिससे प्रतिज्ञा के प्रति निरादरभाव न हो; परिणाम चढ़ते रहें–**ऐसी जैनधर्म की आम्नाय है।**

यहाँ कोई कहता है–चाण्डालादि ने प्रतिज्ञा की, उनको इतना विचार कहाँ होता है?

उसका समाधान–मरणपर्यन्त कष्ट हो तो हो, परन्तु प्रतिज्ञा नहीं छोड़ना–ऐसा विचार करके वे प्रतिज्ञा करते हैं; अत: प्रतिज्ञा के प्रति निरादरपना नहीं होता।

तथा '**सम्यग्दृष्टि जो प्रतिज्ञा करते हैं, वे तत्त्वज्ञानादि पूर्वक ही करते हैं।**'

वहाँ जिनके अन्तरंग विरक्तता नहीं हुई है और बाह्य प्रतिज्ञा धारण करते हैं, वे प्रतिज्ञा के पहले और बाद में जिसकी प्रतिज्ञा करते हैं, उसमें अति आसक्त होकर लगते हैं। जैसे –उपवास के धारणे-पारणे के भोजन में अति लोभी होकर, गरिष्ठादि भोजन करते हैं, शीघ्रता

① मूल हस्तलिखित प्रति (पृष्ठ ३०२) में यहाँ 'प्रतिज्ञा लेने का दण्ड' लिखा है, जबकि पूर्व प्रकाशित प्रतियों में यहाँ 'प्रतिज्ञा न लेने का दण्ड' लिखा है; अत: यहाँ मूल के आधार पर, सुधार किया है।

बहुत करते हैं। जैसे—जल को रोक रखा था, जब वह छूटा तो तुरन्त ही बहुत प्रवाह चलने लगा; उसी प्रकार प्रतिज्ञा करके, विषयप्रवृत्ति रोकी, परन्तु अन्तरंग आसक्ति बढ़ती गई, फिर प्रतिज्ञा पूर्ण होते ही, अत्यन्त विषयप्रवृत्ति होने लगी अर्थात् प्रतिज्ञा के काल में विषय-वासना मिटी नहीं; आगे-पीछे उसके बदले में अधिक राग किया, परन्तु फल तो रागभाव मिटने से होगा; इसलिए जितनी विरक्ति हुई हो, उतनी ही प्रतिज्ञा करना।

महामुनि भी थोड़ी प्रतिज्ञा करते हैं, फिर आहारादि में कमी करते हैं और यदि बड़ी प्रतिज्ञा करते हैं तो वह अपनी शक्ति देखकर करते हैं; जिस प्रकार परिणाम चढ़ते रहें, वह करते हैं। वहाँ प्रमादी भी न हों और आकुलता भी उत्पन्न न हो—ऐसी प्रवृत्ति कार्यकारी जानना।

जिनकी धर्म पर दृष्टि नहीं है, वे कभी तो बड़ा धर्म आचरते हैं और कभी अधिक स्वच्छन्द होकर प्रवर्तते हैं। जैसे—किसी धर्मपर्व में तो बहुत उपवासादि करते हैं, किसी धर्मपर्व में बारम्बार भोजनादि करते हैं परन्तु यदि धर्मबुद्धि हो तो यथायोग्य सर्व धर्मपर्वों में यथायोग्य संयमादि धारण करें।

तथा कभी तो किसी धर्मकार्य में बहुत धन खर्च करते हैं और कभी कोई धर्मकार्य सहज आ गया हो, तथापि वहाँ थोड़ा भी धन खर्च नहीं करते, परन्तु यदि धर्मबुद्धि हो तो यथाशक्ति यथायोग्य सभी धर्मकार्यों में धन खर्च करें। इसी प्रकार अन्य जानना।

वहाँ जिनके सच्चा धर्मसाधन नहीं है, वे कोई क्रिया तो बहुत बड़ी अंगीकार करते हैं तथा कोई हीनक्रिया किया करते हैं। जैसे—धनादि का तो त्याग किया और अच्छा भोजन, अच्छे वस्त्र, इत्यादि विषयों में विशेष प्रवर्तते हैं। इसी प्रकार कोई जामा (चोगा आदि) पहिनना, स्त्रीसेवन करना, इत्यादि कार्यों का त्याग करके, धर्मात्मापना प्रगट करते हैं और पश्चात् खोटे व्यापारादि कार्य करते हैं, लोकनिन्द्य पापक्रियाओं में प्रवर्तते हैं।

— ऐसे ही कोई क्रिया, अति उच्च तथा कोई क्रिया, अति नीची करते हैं। वहाँ लोकनिन्द्य होकर, धर्म की हँसी कराते हैं कि देखो! अमुक धर्मात्मा, ऐसे कार्य करता है। जैसे—कोई पुरुष, एक वस्त्र तो अति उत्तम पहिने और एक वस्त्र, अतिहीन पहिने तो हँसी ही होती है; उसी प्रकार यह भी हँसी को प्राप्त होता है।

सच्चे धर्म की तो यह आम्नाय है—जितने अपने रागादि दूर हुए हों, उसके अनुसार जिस पद में जो धर्मक्रिया सम्भव हो, वह सब अंगीकार करे। यदि थोड़े रागादि मिटे हों तो निचले पद में ही प्रवर्तन करे, परन्तु उच्चपद धारण करके, नीची क्रिया न करे।

यहाँ प्रश्न है—स्त्रीसेवनादि का त्याग, ऊपर की प्रतिमा में कहा है; इसलिए निचली अवस्थावाला उनका त्याग करे या नहीं करे?

उसका समाधान—निचली अवस्थावाला उनका सर्वथा त्याग नहीं कर सकता, उसे कोई दोष लगता है; इसलिए ऊपर की प्रतिमा में त्याग कहा है। निचली अवस्था में जिस प्रकार का त्याग सम्भव हो, वैसा निचली अवस्थावाला भी करे, परन्तु जिस निचली अवस्था में जो कार्य सम्भव ही नहीं है, उसका करना तो कषायभावों से ही होता है।

जैसे—कोई सप्त व्यसन का सेवन करता हो और स्वस्त्री का त्याग करे तो कैसे हो सकता है ? यद्यपि स्वस्त्री का त्याग करना, [व्यवहार से] धर्म है तथापि पहले सप्त व्यसन का त्याग हो, तभी स्वस्त्री का त्याग करना योग्य है। इसी प्रकार अन्य जानना।

वहाँ जो सर्व प्रकार से धर्म को नहीं जानते हैं—ऐसे जीव, धर्म के किसी अंग को मुख्य करके, अन्य धर्मों को गौण (निषेध) करते हैं। जैसे—कितने ही जीव, दयाधर्म को मुख्य करके, पूजा-प्रभावनादि कार्यों का उत्थापन करते हैं; कितने ही पूजा प्रभावनादि धर्म को मुख्य करके, हिंसादि का भय नहीं रखते; कितने ही तप की मुख्यताकर, आर्तध्यानादि करके भी उपवासादि करते हैं और अपने को तपस्वी मानकर, निःशंक क्रोधादि करते हैं; कितने ही दान की मुख्यता से बहुत पाप करके भी, धनोपार्जनकर दान देते हैं; कितने ही आरम्भत्याग की मुख्यता करके, [व्यापारादि छोड़कर] याचना आदि करते हैं; इत्यादि प्रकार से किसी धर्म को मुख्य करके, अन्य धर्म को नहीं गिनते और उसके आश्रय से पाप का आचरण करते हैं।

वहाँ उनका यह कार्य ऐसे हुआ—जैसे—अविवेकी व्यापारी, किसी व्यापार में लाभ के लिए, अन्य प्रकार से बहुत नुकसान कराता है। वहाँ होना तो ऐसा चाहिए कि जैसे—व्यापारी का प्रयोजन नफा है; सर्व विचारकर जैसे लाभ बहुत हो, वैसा करे; उसी प्रकार ज्ञानी का प्रयोजन वीतरागभाव है; सर्व विचारकर जैसे वीतरागभाव बहुत हो, वैसा करे क्योंकि मूलधर्म, वीतरागभाव है।

इस प्रकार अविवेकी जीव, अन्यथा धर्म अंगीकार करते हैं, उनको तो सम्यक्चारित्र का आभास भी नहीं होता।

कितने ही जीव, अणुव्रत-महाव्रतादिरूप यथार्थ आचरण करते हैं, उनके आचरण के अनुसार ही उनके परिणाम हैं, कोई माया-लोभादि का अभिप्राय नहीं है; इन (अणुव्रत -महाव्रतादि) को धर्म जानकर, मोक्ष के लिए इनका साधन करते हैं। किन्हीं स्वर्गादि के भोगों की भी इच्छा नहीं रखते हैं परन्तु तत्त्वज्ञान पहले नहीं हुआ; इसलिए आप तो जानते हैं कि मैं मोक्ष का साधन कर रहा हूँ परन्तु जो मोक्ष का साधन है, उसे जानते भी नहीं; केवल स्वर्गादि ही का साधन करते हैं परन्तु कोई मिसरी को अमृत जानकर भक्षण करे तो उससे

---

① यहाँ मूल हस्तलिखित प्रति (पृष्ठ ३०५) के हासिये पर लिखा है—'**इहाँ स्नानादि शौचधर्म का कथन तथा लौकिक कार्य आएं, धर्म छोड़ि, तहाँ लग जाएँ, तिनिका कथन लिखनां है।**' तात्पर्य यह है कि पण्डितजी यहाँ और भी कुछ लिखना चाहते थे।

अमृत का गुण तो नहीं होता। आप (स्वयं) की प्रतीति के अनुसार तो फल होता नहीं; फल तो जैसा साधन करे, वैसा ही लगता है।

शास्त्र में ऐसा कहा है—चारित्र में जो सम्यक् पद है, वह अज्ञानपूर्वक आचरण की निवृत्ति के लिए है; इसलिए प्रथम तत्त्वज्ञान हो, उसके पश्चात् जो चारित्र हो, वह सम्यक्चारित्र नाम पाता है। जैसे—कोई किसान, बीज तो बोये नहीं और अन्य साधन करे तो अन्न प्राप्ति कैसे हो?—घास-फूस ही हो; उसी प्रकार अज्ञानी, तत्त्वज्ञान का तो अभ्यास करे नहीं और अन्य साधन करे तो मोक्ष प्राप्ति कैसे हो?—देवपद आदि ही हो।

वहाँ कितने ही जीव तो ऐसे हैं—जो तत्त्वादि के नाम भी भली-भाँति नहीं जानते, केवल व्रतादि में ही प्रवर्तते हैं तथा कितने ही जीव ऐसे हैं—जो पूर्वोक्त प्रकार से सम्यग्दर्शन-ज्ञान का अयथार्थ साधन करके, व्रतादि में प्रवर्तते हैं। सो यद्यपि वे व्रतादि का यथार्थ आचरण करते हैं तथापि यथार्थ श्रद्धान-ज्ञान बिना, सर्व आचरण मिथ्याचारित्र ही है।

यही समयसार कलश [२] में कहा है —

क्लिश्यन्तां स्वयमेव दुष्करतरैः मोक्षोन्मुखैः कर्मभिः;
क्लिश्यन्तां च परे महाव्रततपो-भारेण भग्नाश्चिरम्।
साक्षान्मोक्षमिदं निरामयपदं, संवेद्यमानं स्वयं;
ज्ञानं ज्ञानगुणं बिना कथमपि, प्राप्तुं क्षमन्ते न हि॥

इसका अर्थ—मोक्ष से पराङ्मुख—ऐसे अति दुष्कर पञ्चाग्नि तपश्चरणादि कार्यों द्वारा आप ही क्लेश करते हैं तो करो तथा अन्य कितने ही जीव, महाव्रत और तप के भार से चिरकालपर्यन्त क्षीण होते हुए, क्लेश करते हैं तो करो, परन्तु यह साक्षात् मोक्षस्वरूप सर्व रोगरहित पद, जो अपने आप अनुभव में आता है—ऐसा ज्ञानस्वभाव, वह तो ज्ञानगुण के बिना, अन्य किसी भी प्रकार से प्राप्त करने में समर्थ नहीं है।

इसी प्रकार **पंचास्तिकाय**[३] में जहाँ अन्त में व्यवहाराभासवाले (जीव) का कथन किया है, वहाँ तेरह प्रकार का चारित्र होनेपर भी, उसका मोक्षमार्ग में निषेध किया है। तथा **प्रवचनसार**[४] में आत्मज्ञानशून्य, संयमभाव को अकार्यकारी कहा है। तथा इन्हीं ग्रन्थों में व अन्य **परमात्मप्रकाशादि** शास्त्रों में ऐसे प्रयोजनसहित जहाँ-तहाँ निरूपण है।

इसलिए पहले तत्त्वज्ञान होनेपर ही, आचरण कार्यकारी है।

---

① तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र १, सर्वार्थसिद्धि आदि टीकाएँ। ② समयसार, आत्मख्याति टीका, कलश १४२
③ पंचास्तिकाय, गाथा १७२, समयव्याख्या टीका। ④ प्रवचनसार, गाथा २३९, उत्थानिका एवं टीका।

यहाँ कोई जानेगा—वे बाह्य में तो अणुव्रत-महाव्रतादि साधते हैं, अन्तरंग परिणाम नहीं हैं और स्वर्गादि की वांछा से साधते हैं।

[**समाधान**—] परन्तु इस प्रकार साधने से पापबन्ध होता है; जबकि द्रव्यलिंगी मुनि, अन्तिम ग्रैवेयक तक जाते हैं; पंच परावर्तनों में इकतीस सागरपर्यन्त देवायु की प्राप्ति, अनन्तबार होना लिखा है—ऐसे उच्चपद तो तभी प्राप्त करता है, जब अन्तरंग परिणामपूर्वक महाव्रत पाले, महामन्दकषायी हो, इस लोक-परलोक के भोगादि की चाह न हो; केवल धर्मबुद्धि से मोक्षाभिलाषी होकर, साधन साधे; इसलिए द्रव्यलिंगी को स्थूल तो अन्यथापना है नहीं; सूक्ष्म अन्यथापना है, वह सम्यग्दृष्टि को भासित होता है।

अब, इनके धर्मसाधन कैसे है और उसमें अन्यथापना कैसे है ? वह कहते हैं —

प्रथम तो, संसार में नरकादि के दुःख जानकर व स्वर्गादि में भी जन्म-मरणादि के दुःख जानकर, संसार से उदास होकर, मोक्ष को चाहते हैं; सो इन दुःखों को तो सभी दुःख जानते हैं। इन्द्र-अहमिन्द्र आदि विषयानुराग से इन्द्रियजनित सुख भोगते हैं लेकिन उसे भी दुःख जानकर, निराकुल सुख अवस्था को पहिचानकर, मोक्ष को चाहते हैं, वे ही सम्यग्दृष्टि जानना।

वहाँ विषयसुखादि का फल, नरकादि है; शरीर अशुचि है, विनाशीक है, पोषणयोग्य नहीं है; कुटुम्बादि स्वार्थ के सगे हैं, इत्यादि परद्रव्यों का दोष विचारकर, उनका तो त्याग करते हैं और व्रतादि का फल, स्वर्ग-मोक्ष है; तपश्चरणादि पवित्र हैं, अविनाशी फल के दाता हैं; उनके द्वारा शरीर, शोषण करनेयोग्य है; देव-गुरु-शास्त्रादि हितकारी हैं, इत्यादि परद्रव्यों के गुणों का विचार करके, उनको अंगीकार करते हैं, इत्यादि प्रकार से किसी परद्रव्य को बुरा जानकर, अनिष्टरूप श्रद्धान करते हैं; किसी परद्रव्य को भला जानकर, इष्टरूप श्रद्धान करते हैं—ऐसा परद्रव्यों में इष्ट-अनिष्टरूप श्रद्धान, वह मिथ्या है।

वहाँ इसी श्रद्धान से इनकी उदासीनता भी द्वेष-बुद्धिरूप होती है क्योंकि किसी को बुरा जानना, उसी का नाम 'द्वेष' है।

कोई कहेगा—सम्यग्दृष्टि भी तो परद्रव्य को बुरा जानकर, उनका त्याग करते हैं।

उसका समाधान—सम्यग्दृष्टि, परद्रव्यों को बुरा नहीं जानते हैं; अपने रागभाव को बुरा जानते हैं। आप रागभाव को छोड़ते हैं; इसलिए उसके कारण का भी त्याग हो जाता है। वस्तु का विचार करनेपर, कोई परद्रव्य तो बुरा-भला है नहीं।

कोई कहेगा—(परद्रव्य) निमित्तमात्र तो है।

उसका उत्तर—परद्रव्य, कोई जबरन तो बिगाड़ता नहीं है; अपने भाव बिगड़ें, तब वह भी बाह्यनिमित्त है। तथा उसके निमित्त बिना भी, भाव बिगड़ते हैं; इसलिए नियमरूप निमित्त भी नहीं है। इस प्रकार परद्रव्य का तो दोष देखना, मिथ्याभाव है।

रागादिभाव ही बुरे हैं परन्तु इसको ऐसी समझ नहीं है; यह तो परद्रव्यों का दोष देखकर, उनमें द्वेषरूप उदासीनता करता है।

सच्ची उदासीनता तो उसका नाम है—किसी भी द्रव्य का दोष या गुण भासित नहीं हो, इसलिए किसी को बुरा-भला न जानें; आप को आप जाने, पर को पर जाने; पर से मेरा कुछ भी प्रयोजन नहीं है—ऐसा मानकर, साक्षीभूत रहे; अतः ऐसी उदासीनता ज्ञानी को ही होती है।

वहाँ यह उदासीन होकर, शास्त्र में जो अणुव्रत-महाव्रतरूप व्यवहारचारित्र कहा है, उसे अंगीकार करता है; एकदेश अथवा सर्वदेश हिंसादि पापों को छोड़ता है; उनके स्थानपर अहिंसादि पुण्यरूप कार्यों में प्रवर्तता है तथा जिस प्रकार पर्यायाश्रित पापकार्यों में अपना कर्तापना मानता था; उसी प्रकार अब पर्यायाश्रित पुण्यकार्यों में अपना कर्तापना मानने लगा —ऐसे पर्यायाश्रित कार्यों में अहंबुद्धि मानने की समानता हुई।

जैसे—'मैं, जीवों को मारता हूँ; मैं, परिग्रहधारी हूँ', इत्यादि मान्यता थी; उसी प्रकार मैं 'जीवों की रक्षा करता हूँ, मैं नग्न परिग्रहरहित हूँ'—ऐसी मान्यता हुई; इस प्रकार पर्यायाश्रित कार्यों में अहंबुद्धि, वही मिथ्या दृष्टि (मिथ्यादर्शन) है। यही समयसार [टीका] में कहा है —

ये तु कर्तारमात्मानं, पश्यन्ति तमसा तताः।
सामान्यजनवत्तेषां, न मोक्षोऽपि मुमुक्षुताम्॥[१]

इसका अर्थ—जो जीव, मिथ्या अन्धकार से व्याप्त होते हुए, अपने को पर्यायाश्रित क्रिया का कर्ता मानते हैं; वे जीव, मोक्षाभिलाषी होनेपर भी, जैसे—अन्यमती सामान्य मनुष्यों को मोक्ष नहीं होता; वैसे [उनको भी] मोक्ष नहीं होता, क्योंकि कर्तापने के श्रद्धान की समानता है।

इस प्रकार आप कर्ता होकर, श्रावकधर्म अथवा मुनिधर्म की क्रियाओं में मन-वचन -काय की प्रवृत्ति निरन्तर रखता है; जैसे—उन क्रियाओं में भंग न हो, वैसे प्रवर्तता है परन्तु ऐसे भाव तो सराग हैं; चारित्र है, वह वीतरागभावरूप है; इसलिए ऐसे साधन को मोक्षमार्ग मानना, मिथ्याबुद्धि है।

यहाँ प्रश्न—सराग-वीतराग भेद से दो प्रकार का चारित्र कहा है, वह किस प्रकार है ?

उसका उत्तर—जैसे—चावल दो प्रकार के होते हैं—एक तुषसहित और एक तुषरहित।

वहाँ ऐसा जानना—जो तुष है, वह चावल का स्वरूप नहीं है; चावल में दोष है। वहाँ

---

[१] समयसार, आत्मख्याति टीका, कलश १९९

कोई समझदार [मनुष्य], तुषसहित चावल का संग्रह करता था; उसे देखकर, कोई भोला [मनुष्य], तुषों ही को चावल मानकर, संग्रह करे तो वृथा खेद-खिन्न ही होगा।

उसी प्रकार चारित्र दो प्रकार का कहा है—एक सराग और एक वीतराग।

वहाँ ऐसा जानना—जो राग है, वह चारित्र का स्वरूप नहीं है; चारित्र में दोष है। वहाँ कितने ही ज्ञानी [जीव], प्रशस्तरागसहित चारित्र धारण करते हैं; उन्हें देखकर कोई अज्ञानी [मनुष्य], प्रशस्तराग ही को चारित्र मानकर, संग्रह करे तो वृथा खेद-खिन्न ही होगा।

यहाँ कोई कहेगा—पापक्रिया करने से तीव्र रागादि होते थे, अब इन क्रियाओं को करनेपर मन्दराग हुआ; इसलिए **जितने अंशों में रागभाव घटा, उतने अंशों में तो चारित्र कहो; जितने अंशों में राग रहा, उतने अंशों में राग कहो।** इस प्रकार उसके सरागचारित्र होता है।

उसका समाधान—यदि तत्त्वज्ञानपूर्वक ऐसा हो, तब तो तुम कहते हो, उसी प्रकार है। तत्त्वज्ञान के बिना, उत्कट (उग्र) आचरण होनेपर भी, असंयम नाम ही पाता है क्योंकि रागभाव करने का अभिप्राय नहीं मिटा है।

वही दिखलाते हैं—द्रव्यलिंगी मुनि, राज्यादि को छोड़कर निर्ग्रन्थ होता है; अट्ठाईस मूलगुणों का पालन करता है; उग्र से उग्र अनशनादि बहुत तप करता है; क्षुधादि बाईस परीषह सहता है; शरीर के खण्ड-खण्ड होनेपर भी व्यग्र नहीं होता; व्रत भंग के अनेक कारण मिलनेपर भी, दृढ़ रहता है; किसी से क्रोध नहीं करता; ऐसे साधनों का मान नहीं करता; ऐसे साधनों में कोई कपट भी नहीं है; इन साधनों द्वारा, इस लोक-परलोक के विषयसुख को नहीं चाहता—ऐसी उसकी दशा हुई है। **यदि ऐसी दशा न हो तो ग्रैवेयकपर्यन्त कैसे पहुँचे ? परन्तु शास्त्र में उसे मिथ्यादृष्टि असंयमी ही कहा है।**

उसका कारण यह है कि उसको तत्त्वों का श्रद्धान-ज्ञान, सच्चा नहीं हुआ है। पहले वर्णन किया, उस प्रकार तत्त्वों का श्रद्धान-ज्ञान हुआ है; उसी अभिप्राय से सर्व साधन करता है परन्तु इन साधनों के अभिप्राय की परम्परा का विचार करनेपर, कषायों का अभिप्राय प्रगट होता है।

किस प्रकार ? वह सुनो—यह पाप के कारण रागादि को तो हेय जानकर, छोड़ता है परन्तु पुण्य के कारण प्रशस्तराग को उपादेय मानता है, उसकी वृद्धि का उपाय करता है परन्तु प्रशस्तराग भी तो कषाय है। कषाय को उपादेय माना, तब कषाय करने का ही श्रद्धान रहा। अप्रशस्त परद्रव्यों से द्वेष करके, प्रशस्त परद्रव्यों में राग करने का अभिप्राय हुआ; परद्रव्यों में कुछ भी साम्यभावरूप अभिप्राय नहीं हुआ।

यहाँ प्रश्न है—सम्यग्दृष्टि भी तो प्रशस्तराग का उपाय रखता है।

उसका उत्तर—जैसे—किसी को बहुत दण्ड होता था; अत: वह थोड़ा दण्ड होने का उपाय रखता है; थोड़ा दण्ड होनेपर हर्ष भी मानता है परन्तु श्रद्धान में दण्ड होने को अनिष्ट ही मानता है; उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि के पापरूप बहुत कषाय होती थी, सो यह भी पुण्यरूप थोड़ी कषाय होने का उपाय रखता है; थोड़ी कषाय होनेपर हर्ष भी मानता है परन्तु श्रद्धान में कषाय को हेय ही मानता है। तथा जैसे—कोई कमाई का कारण जानकर, व्यापारादि का उपाय रखता है, उपाय बन जानेपर, हर्ष मानता है; उसी प्रकार द्रव्यलिंगी, मोक्ष का कारण जानकर, प्रशस्तराग का उपाय रखता है, उपाय बन जानेपर, हर्ष मानता है। इस प्रकार प्रशस्तराग के उपाय में और हर्ष में समानता होनेपर भी, सम्यग्दृष्टि के तो दण्डसमान और मिथ्यादृष्टि के व्यापारसमान श्रद्धान पाया जाता है; इसलिए अभिप्राय में विशेष (अन्तर) हुआ।

वहाँ इसको **परीषह-तपश्चरणादि** के निमित्त से दु:ख होता है, उसका इलाज तो नहीं करता है परन्तु दु:ख का वेदन करता है लेकिन दु:ख का वेदन करना, कषाय ही है।

जहाँ वीतरागता होती है, वहाँ तो जैसे अन्य ज्ञेयों को जानता है; उसी प्रकार दु:ख के कारणभूत ज्ञेयों को भी जानता है परन्तु ऐसी दशा इसकी होती नहीं है तथा उनको सहता है, वह भी कषाय के अभिप्रायरूप विचार से सहता है।

वह विचार ऐसा होता है—परवशता से नरकादि गतियों में बहुत दु:ख सहन किए, यह परीषहादि का दु:ख तो थोड़ा है; इसको स्ववश से सहनेपर, स्वर्ग-मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है। यदि इनको नहीं सहेंगे और विषयसुख का सेवन करेंगे तो नरकादि की प्राप्ति होगी, वहाँ बहुत दु:ख होगा, इत्यादि विचार से परीषहों में अनिष्टबुद्धि रहती है। केवल नरकादि के भय से तथा सुख के लोभ से, उन्हें सहन करता है परन्तु ये सब कषायभाव ही हैं।

वहाँ ऐसा विचार भी होता है—जो कर्म बाँधे थे, वे भोगे बिना नहीं छूटते; इसलिए मुझे सहना चाहिए; अत: ऐसे विचार से, कर्मफलचेतनारूप प्रवर्तता है तथा पर्यायदृष्टि से जो परीषहादिरूप अवस्था होती है, उसे आप (स्वयं) को हुई मानता है; द्रव्यदृष्टि से अपनी और शरीरादि की अवस्था को भिन्न नहीं पहिचानता है।

— ऐसे ही नाना प्रकार के व्यवहार-विचार से परीषहादि सहन करता है।

तथा इसने राज्यादि विषय-सामग्री का त्याग किया है और इष्ट भोजनादि का त्याग करता रहता है। वह तो जैसे—कोई दाहज्वरवाला वायु होने के भय से, शीतलवस्तु सेवन का त्याग करता है परन्तु जब तक शीतलवस्तु का सेवन रुचता है, तब तक उसको दाह का अभाव नहीं कहा जाता; उसी प्रकार रागसहित जीव, नरकादि के भय से विषय-सेवन का त्याग करता है परन्तु जब तक विषय-सेवन रुचता है, तब तक उसको राग का अभाव नहीं कहा जाता।

इसी प्रकार, जैसे—अमृत के आस्वादी देव को, अन्य भोजन स्वयमेव नहीं रुचता; उसी प्रकार स्वरस (आत्मिकरस) का आस्वादन करके, विषय-सेवन की अरुचि इसके नहीं हुई है।

इस प्रकार (आगामी) फलादि की अपेक्षा, परीषह सहनादि को सुख का कारण जानता है और विषय-सेवनादि को दु:ख का कारण जानता है तथा तत्काल परीषह सहनादि से दु:ख होना मानता है और विषय-सेवनादि से सुख मानता है।

वहाँ जिनसे सुख-दु:ख का होना माना जाए, उनमें इष्ट-अनिष्टबुद्धि से राग-द्वेषरूप अभिप्राय का अभाव नहीं होता तथा जहाँ राग-द्वेष हैं, वहाँ चारित्र नहीं होता।

इसलिए यह द्रव्यलिंगी, विषय-सेवन छोड़कर, तपश्चरणादि करता है तथापि असंयमी ही है। **सिद्धान्त में इसे असंयत व देशसंयत सम्यग्दृष्टि से भी हीन कहा है क्योंकि उनके चौथा -पाँचवाँ गुणस्थान है ① और इस (द्रव्यलिंगी) का पहला ही गुणस्थान है।**

यहाँ कोई कहता है—असंयत-देशसंयत सम्यग्दृष्टि को कषायों की प्रवृत्ति विशेष है और द्रव्यलिंगी मुनि को थोड़ी है; इसी से असंयत-देशसंयत सम्यग्दृष्टि तो सोलहवें स्वर्गपर्यन्त ही जाते हैं और द्रव्यलिंगी अन्तिम ग्रैवेयकपर्यन्त जाता है; इसलिए भावलिंगी मुनि से तो द्रव्यलिंगी को हीन कहो; उसे असंयत-देशसंयत सम्यग्दृष्टि से हीन कैसे कहा जाए?

उसका समाधान—असंयत-देशसंयत सम्यग्दृष्टि में कषायों की प्रवृत्ति तो है परन्तु श्रद्धान में किसी भी कषाय को करने का अभिप्राय नहीं है तथा **द्रव्यलिंगी के शुभकषाय करने का अभिप्राय पाया जाता है, श्रद्धान में उन्हें भला जानता है; इसलिए श्रद्धान की अपेक्षा, असंयत सम्यग्दृष्टि से भी इसको कषाय अधिक है।**

यद्यपि द्रव्यलिंगी को शुभरूप योगों की प्रवृत्ति बहुत होती है और अघातिकर्मों में पुण्य -पापबन्ध का अन्तर शुभ-अशुभयोंगों के अनुसार होता है; इसलिए वह उपरिम ग्रैवेयकपर्यन्त पहुँचता है परन्तु वह कुछ कार्यकारी नहीं है क्योंकि अघातिकर्म, आत्मगुण के घातक नहीं हैं; इनके उदय से उच्च-नीच पद प्राप्त हुए तो क्या हुआ? वे तो बाह्य संयोगमात्र संसारदशा के स्वांग हैं; **आप तो आत्मा है,** इसलिए आत्मगुण के घातक जो घातिकर्म हैं, उनकी हीनता कार्यकारी है।

उन घातिकर्मों का बन्ध, बाह्यप्रवृत्ति के अनुसार नहीं होता है; अन्तरंग कषायशक्ति के अनुसार होता है; इसलिए **द्रव्यलिंगी की अपेक्षा, असंयत-देशसंयत सम्यग्दृष्टि को घातिकर्मों का बन्ध थोड़ा है। द्रव्यलिंगी को तो सर्व घातिकर्मों का बन्ध बहुत स्थिति-अनुभागसहित होता है और असंयत-देशसंयत सम्यग्दृष्टि को मिथ्यात्व-अनन्तानुबन्धी आदि कर्मों का तो बन्ध है ही नहीं; अवशेष (प्रकृतियों) का बन्ध होता है, वह अल्प स्थिति-अनुभागसहित होता है।**

तथा द्रव्यलिंगी को गुणश्रेणीनिर्जरा कभी नहीं होती; सम्यग्दृष्टि को कदाचित् होती

---

① मूल हस्तलिखित प्रति (पृष्ठ ३१४) में पण्डितजी ने चौथे-पाँचवें गुणस्थान में 'मोक्षमार्ग है' - ऐसा हासिए पर लिखकर काट दिया है, जो पढने में भी आ रहा है; जबकि आगे इसी प्रकरण में पृष्ठ २४८ पर ऊपर की पंक्ति में ही उन्हें 'मोक्षमार्गी' लिखा है।

है और देशसंयम व सकलसंयम होनेपर, निरन्तर होती है; इसी कारण यह मोक्षमार्गी हुआ है; इसलिए द्रव्यलिंगी मुनि को शास्त्र में, असंयत व देशसंयत सम्यग्दृष्टि से हीन कहा है।

समयसार शास्त्र [१] में द्रव्यलिंगी मुनि की हीनता, गाथा-टीका और कलशों में प्रगट की है तथा पंचास्तिकाय [२] टीका में जहाँ केवल व्यवहारावलम्बी (जीव) का कथन किया है, वहाँ व्यवहार पंचाचार होनेपर भी, उसकी हीनता ही प्रगट की है तथा प्रवचनसार [३] में द्रव्यलिंगी को संसारतत्त्व कहा है तथा परमात्मप्रकाश आदि अन्य शास्त्रों में भी इस व्याख्यान को स्पष्ट किया है तथा द्रव्यलिंगी को जो व्रत-तप-शील-संयमादि क्रियाएँ पायी जाती हैं, उन्हें भी इन शास्त्रों में जहाँ-तहाँ अकार्यकारी दिखलाया है, उसे वहाँ देख लेना। यहाँ ग्रन्थ बढ़ जाने के भय से नहीं लिखते हैं।

इस प्रकार केवल व्यवहाराभास के अवलम्बी मिथ्यादृष्टियों का निरूपण किया।

उभयाभासी मिथ्यादृष्टि

अब, जो निश्चय-व्यवहार, इन दोनों नयों के आभास (उभयाभास) का अवलम्बन लेते हैं, ऐसे मिथ्यादृष्टियों का निरूपण करते हैं —

जो जीव ऐसा मानते हैं—जिनमत में निश्चय-व्यवहार, दो नय कहे हैं; इसलिए हमें उन दोनों का अंगीकार करना चाहिए – ऐसा विचारकर, जैसे—केवल निश्चयाभास के अवलम्बियों का कथन किया था, वैसे तो निश्चय को अंगीकार करते हैं और जैसे—केवल व्यवहाराभास के अवलम्बियों का कथन किया था, वैसे व्यवहार का अंगीकार करते हैं।

यद्यपि इस प्रकार अंगीकार करने में, दोनों नयों का परस्पर विरोध है **तथापि करें क्या ?—सच्चा तो दोनों नयों का स्वरूप भासित हुआ नहीं और जिनमत में दो नय कहे हैं, उनमें से किसी को छोड़ा भी नहीं जाता; इसलिए भ्रमसहित दोनों का साधन साधते हैं, वे जीव भी मिथ्यादृष्टि जानना।**

अब, इनकी प्रवृत्ति का विशेष बतलाते हैं—अन्तरंग में आपने तो निर्धार करके, यथावत् निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग को पहिचाना नहीं है; जिन-आज्ञा मानकर, निश्चय - व्यवहाररूप मोक्षमार्ग को दो प्रकार मानते हैं परन्तु **मोक्षमार्ग दो नहीं हैं; मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार का है। जहाँ सच्चे मोक्षमार्ग को मोक्षमार्ग निरूपित किया जाए, वह निश्चय-मोक्षमार्ग है और जहाँ जो मोक्षमार्ग तो है नहीं, परन्तु मोक्षमार्ग का निमित्त है व सहचारी है, उसे उपचार से मोक्षमार्ग कहा जाए, वह व्यवहारमोक्षमार्ग है क्योंकि निश्चय-व्यवहार का सर्वत्र ऐसा ही लक्षण है— सच्चा निरूपण, वह निश्चय : उपचार निरूपण, वह व्यवहार;**

---

[१] देखें, समयसार - गाथा २७३-२७५ व दोनों टीकाएँ ; गाथा १५२-१५४ व दोनों टीकाएँ; साथ ही इनसे सम्बन्धित कलश आदि।
[२] देखें, पंचास्तिकाय गाथा १७२ व दोनों टीकाएँ। [३] देखें, प्रवचनसार - गाथा २७१, उत्थानिका, टीका।

इसलिए निरूपण अपेक्षा, दो प्रकार का मोक्षमार्ग जानना। एक निश्चयमोक्षमार्ग है, एक व्यवहारमोक्षमार्ग है; इस प्रकार दो मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है।

वहाँ निश्चय-व्यवहार, दोनों को उपादेय मानता है, वह भी भ्रम है क्योंकि निश्चय -व्यवहार का स्वरूप तो परस्पर विरोधसहित है। कारण कि समयसार में ऐसा कहा है —

ववहारोऽभूदत्थो, भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।

इसका अर्थ—व्यवहार, अभूतार्थ है; सत्यस्वरूप का निरूपण नहीं करता, किसी अपेक्षा उपचार से, अन्यथा निरूपण करता है, तथा शुद्धनय, जो निश्चय है, वह भूतार्थ है; जैसा वस्तु का स्वरूप है, वैसा निरूपण करता है।

— ऐसे इन दोनों का स्वरूप तो विरुद्धतासहित है।

वहाँ तू ऐसा मानता है—सिद्धसमान शुद्ध आत्मा का अनुभवन, वह निश्चय और व्रत -शील-संयमादिरूप प्रवृत्ति, वह व्यवहार, परन्तु ऐसा तेरा मानना ठीक नहीं है क्योंकि किसी द्रव्यभाव का नाम, निश्चय और किसी का नाम, व्यवहार—ऐसा नहीं है।

एक ही द्रव्य के भाव को, उस स्वरूप ही निरूपण करना, वह निश्चयनय है; उपचार से उस द्रव्य के भाव को, अन्य द्रव्य के भावस्वरूप निरूपण करना, वह व्यवहार है। जैसे— मिट्टी के घड़े को, 'मिट्टी का घड़ा' निरूपित किया जाए, वह निश्चय और घी के संयोग के उपचार से, उसको ही घी का घड़ा कहा जाए, वह व्यवहार—ऐसे ही अन्यत्र जानना।

इसलिए तू किसी को निश्चय माने और किसी को व्यवहार माने, वह भ्रम है।

तथा तेरे मानने में भी निश्चय-व्यवहार को परस्पर विरोध आया—यदि तू अपने को सिद्धसमान शुद्ध मानता है तो व्रतादि किसलिए करता है ? यदि व्रतादि के साधन द्वारा सिद्ध होना चाहता है तो वर्तमान में शुद्ध आत्मा का अनुभवन मिथ्या हुआ।

— ऐसे दोनों नयों में परस्पर विरोध है; इसलिए दोनों नयों का उपादेयपना नहीं बनता।

यहाँ प्रश्न—समयसारादि में शुद्ध आत्मा के अनुभव को निश्चय कहा है; व्रत-तप -संयमादि को व्यवहार कहा है; वैसे ही हम मानते हैं।

उसका समाधान—शुद्ध आत्मा का अनुभव, सच्चा मोक्षमार्ग है; इसलिए उसे निश्चय कहा। यहाँ **स्वभाव से अभिन्न, परभाव से भिन्न—ऐसा शुद्ध शब्द का अर्थ जानना।** संसारी को सिद्ध मानना—ऐसा भ्रमरूप अर्थ, शुद्ध शब्द का नहीं जानना।

---

① ववहारोऽभूदत्थो, भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ। भूदत्थमस्सिदो खलु, सम्मादिट्ठी हवदि जीवो॥ – समयसार गाथा ११

वहाँ व्रत-तप आदि मोक्षमार्ग हैं नहीं; निमित्तादि की अपेक्षा उपचार से इनको मोक्षमार्ग कहते हैं; इसलिए इन्हें व्यवहार [मोक्षमार्ग] कहा है—ऐसे भूतार्थ-अभूतार्थ मोक्षमार्गपने से इनको निश्चय-व्यवहार कहा है, उसे ऐसा ही मानना, परन्तु ये दोनों ही सच्चे मोक्षमार्ग हैं; **इन दोनों को उपादेय मानना, वह तो मिथ्याबुद्धि ही है।**

वहाँ वह कहता है—'श्रद्धान' तो निश्चय का रखते हैं और प्रवृत्ति, व्यवहाररूप रखते हैं—ऐसे हम दोनों का अंगीकार करते हैं।

[**उसे कहते हैं**—] **ऐसा भी नहीं बनता,** क्योंकि निश्चय का निश्चयरूप और व्यवहार का व्यवहाररूप श्रद्धान करना, योग्य है। एक ही नय का श्रद्धान होनेपर, एकान्त मिथ्यात्व होता है तथा प्रवृत्ति में नय का प्रयोजन ही नहीं है। प्रवृत्ति तो द्रव्य की परिणति है; वहाँ जिस द्रव्य की परिणति होती है, उसको उस ही की प्ररूपित करे, वह निश्चयनय और उस ही को अन्य द्रव्य की प्ररूपित करे, वह व्यवहारनय—ऐसे अभिप्राय के अनुसार प्ररूपण करने से, उस प्रवृत्ति में दोनों नय बनते हैं; कुछ प्रवृत्ति ही तो नयरूप है नहीं।

इसलिए इस प्रकार भी दोनों नयों का ग्रहण मानना, मिथ्या है।

तो क्या करें ?

वह कहते हैं—निश्चयनय से जो निरूपण किया हो, उसे तो सत्यार्थ मानकर, उसका श्रद्धान अंगीकार करना और व्यवहार से जो निरूपण किया हो, उसे असत्यार्थ मानकर, उसका श्रद्धान छोड़ना। वही समयसार (कलश) में कहा है —

सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं, त्याज्यं यदुक्तं जिनैः;
तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलोऽप्यन्याश्रयस्त्याजितः।
सम्यङ् निश्चयमेकमेव परमं, निष्कम्पमाक्रम्य किं;
शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे, बध्नन्ति सन्तो धृतिम्।[१]

इसका अर्थ—क्योंकि सर्व ही हिंसादि व अहिंसादि में अध्यवसाय है, वह समस्त ही छोड़ना - ऐसा जिनदेवों ने कहा है; इसलिए मैं ऐसा मानता हूँ कि जो पराश्रित व्यवहार है, वह सर्व ही छुड़ाया है। सन्तपुरुष एक परमनिश्चय ही को भले प्रकार निष्कम्परूप से अंगीकार करके, शुद्धज्ञानघनरूप निजमहिमा में स्थिति क्यों नहीं करते ?

भावार्थ—यहाँ व्यवहार का तो त्याग कराया है; इसलिए निश्चय को अंगीकार करके, निजमहिमारूप प्रवर्तना युक्त है।

---

[१] समयसार, आत्मख्याति टीका, कलश १७३

तथा षट्पाहुड़ (अष्टपाहुड़) में कहा है —

जो सुत्तो ववहारे, सो जोई जग्गए सकज्जम्मि।
जो जग्गदि ववहारे, सो सुत्तो अप्पणे कज्जे॥

इसका अर्थ—जो व्यवहार में सोता है, वह योगी, अपने कार्य में जागता है तथा जो व्यवहार में जागता है, वह अपने कार्य में सोता है।

इसलिए व्यवहारनय का श्रद्धान छोड़कर, निश्चयनय का श्रद्धान करना योग्य है।

'व्यवहारनय, स्वद्रव्य-परद्रव्य को, उनके भावों को एवं कारण-कार्यादि को, किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है'—ऐसे ही श्रद्धान से मिथ्यात्व होता है; इसलिए इसका त्याग करना। तथा 'निश्चयनय, उन्हीं का यथावत् निरूपण करता है; किसी को किसी में नहीं मिलाता है'—ऐसे ही श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है; इसलिए इसका श्रद्धान करना।

यहाँ प्रश्न—यदि ऐसा है तो, जिनमार्ग में दोनों नयों का ग्रहण करना कहा है, वह कैसे ?

उसका समाधान—जिनमार्ग में कहीं तो निश्चयनय की मुख्यतासहित व्याख्यान है, उसे तो—'सत्यार्थ ऐसे ही है'—ऐसा जानना, तथा कहीं व्यवहारनय की मुख्यतासहित व्याख्यान है, उसे—'ऐसे है नहीं; निमित्तादि की अपेक्षा उपचार किया है'—ऐसा जानना।

इस प्रकार जानने का नाम ही, दोनों नयों का ग्रहण है तथा दोनों नयों के व्याख्यान को समान सत्यार्थ जानकर, 'ऐसे भी है, ऐसे भी है'—ऐसे भ्रमरूप प्रवर्तन से तो दोनों नयों का ग्रहण करना नहीं कहा है।''

फिर प्रश्न—यदि व्यवहारनय, असत्यार्थ है तो उसका उपदेश, जिनमार्ग में किसलिए दिया ? एक निश्चयनय ही का निरूपण करना था।

उसका समाधान—ऐसा ही तर्क समयसार में किया है, वहाँ यह उत्तर दिया है —

जह ण वि सक्कमणज्जो, अणज्जभासं विणा दु गाहेदुं।
तह ववहारेण विणा, परमत्थुवदेसणमसक्कं॥[२]

इसका अर्थ—जिस प्रकार अनार्य अर्थात् म्लेच्छ को, म्लेच्छभाषा के बिना, अर्थ-ग्रहण कराने में कोई समर्थ नहीं होता है; उसी प्रकार व्यवहार के बिना, परमार्थ का उपदेश अशक्य है; इसलिए व्यवहार का उपदेश है।

तथा इसी सूत्र की व्याख्या में ऐसा कहा है—**'व्यवहारनयो नाऽनुसर्तव्यः'**[३]।

---

① अष्टपाहुड़, मोक्षपाहुड़, गाथा ३१ (पाठान्तर - अप्पणो कज्जे)

② समयसार, गाथा ८

③ एवं म्लेच्छस्थानीयत्वाज्जगतो व्यवहारनयोऽपि म्लेच्छभाषास्थानीयत्वेन परमार्थप्रतिपादकत्वादुपन्यसनीयोऽथ च ब्राह्मणो न म्लेच्छितव्य इति वचनाद्व्यहारनयो नाऽनुसर्तव्यः। (समयसार, गाथा ८ की आत्मख्याति टीका)

इसका अर्थ—इस निश्चय को अंगीकार कराने के लिए, व्यवहार से उपदेश देते हैं परन्तु व्यवहारनय है, वह अंगीकार करनेयोग्य नहीं है।

यहाँ प्रश्न—व्यवहार बिना, निश्चय का उपदेश कैसे नहीं होता तथा व्यवहारनय कैसे अंगीकार नहीं करना? उसे कहिए —

उसका समाधान—निश्चय से तो आत्मा, परद्रव्यों से भिन्न, स्वभावों से अभिन्न, स्वयंसिद्ध वस्तु है; उसको जो नहीं पहिचानते, उनसे ऐसे ही कहते रहें, तब तो वे समझ नहीं पाएँ; इसलिए उनको व्यवहारनय से शरीरादि परद्रव्यों की सापेक्षता द्वारा, नर-नारक-पृथ्वीकाय आदिरूप जीव के विशेष किये; तब मनुष्य, जीव है; नारकी, जीव है, इत्यादि प्रकारसहित, उन्हें जीव की पहिचान हुई।

अथवा अभेदवस्तु में भेद उत्पन्न करके, ज्ञान-दर्शनादि गुण-पर्यायरूप जीव के विशेष किये; तब जाननेवाला जीव है, देखनेवाला जीव है इत्यादि प्रकारसहित, उनको जीव की पहिचान हुई।

तथा निश्चय से वीतरागभाव, मोक्षमार्ग है; उसे जो नहीं पहिचानते, उनको ऐसे ही कहते रहें तो वे समझ नहीं पाएँ; तब उनको व्यवहारनय से तत्त्वश्रद्धान-ज्ञानपूर्वक, परद्रव्य के निमित्त मिटने की सापेक्षता द्वारा, व्रत-शील-संयमादिरूप वीतरागभाव के विशेष दिखलाए, तब उन्हें वीतरागभाव की पहिचान हुई।

इसी प्रकार अन्यत्र भी, 'व्यवहार बिना, निश्चय के उपदेश का न होना जानना।'

यहाँ व्यवहार से, नर-नारकादि पर्याय ही को जीव कहा, परन्तु पर्याय ही को जीव नहीं मान लेना; पर्याय तो, जीव-पुद्गल के संयोगरूप है। वहाँ निश्चय से जीवद्रव्य भिन्न है, उसी को जीव मानना। जीव के संयोग से शरीरादि को भी उपचार से जीव कहा, वह कथनमात्र ही है; परमार्थ से शरीरादि, जीव नहीं होते—ऐसा ही श्रद्धान करना।

अथवा अभेद आत्मा में ज्ञान-दर्शनादि भेद किए, परन्तु उन्हें भेदरूप ही नहीं मान लेना, क्योंकि भेद तो समझाने के लिए किये हैं। निश्चय से आत्मा, अभेद ही है; उसी को जीववस्तु मानना। संज्ञा-संख्यादि की अपेक्षा, भेद कहे, वे कथनमात्र ही हैं; परमार्थ से भिन्न -भिन्न हैं नहीं—ऐसा ही श्रद्धान करना।

वहाँ परद्रव्य का निमित्त मिटने की अपेक्षा, व्रत-शील-संयमादि को मोक्षमार्ग कहा, परन्तु इन्हीं को मोक्षमार्ग नहीं मान लेना क्योंकि परद्रव्य का ग्रहण-त्याग आत्मा को हो तो आत्मा, परद्रव्य का कर्ता-हर्ता हो जाए, परन्तु कोई द्रव्य, किसी द्रव्य के आधीन है नहीं; इसलिए आत्मा अपने भाव रागादि हैं, उनको छोड़कर, वीतरागी होता है; इसलिए निश्चय से वीतरागभाव ही मोक्षमार्ग है। वीतरागभावों के और व्रतादि के कदाचित् कार्य-कारणपना है;

इसलिए व्रतादि को मोक्षमार्ग कहा, वह कथनमात्र ही है; परमार्थ से बाह्यक्रिया, मोक्षमार्ग नहीं है—ऐसा ही श्रद्धान करना।

इसी प्रकार अन्यत्र भी व्यवहारनय का अंगीकार नहीं करना—ऐसा जान लेना।

यहाँ प्रश्न—व्यवहारनय, पर को उपदेश [देने] में ही कार्यकारी है या अपना भी प्रयोजन साधता है?

उसका समाधान—आप भी जब तक निश्चयनय से प्ररूपित वस्तु को न पहिचाने, तब तक व्यवहारमार्ग से वस्तु का निश्चय करे; इसलिए निचली दशा में आप (स्वयं) को भी व्यवहारनय कार्यकारी है परन्तु व्यवहार को उपचारमात्र मानकर, उसके द्वारा वस्तु का ठीक (यथार्थ निर्णय) करे, तब तो कार्यकारी हो, परन्तु यदि निश्चयवत्, व्यवहार को भी सत्यभूत मानकर, वस्तु 'ऐसे ही है'—ऐसा श्रद्धान करे तो उल्टा अकार्यकारी हो जाए।

वही पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है —

अबुधस्य बोधनार्थं, मुनीश्वराः देशयन्त्यभूतार्थम्।
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति॥ ६॥

माणवक एव सिंहो, यथा भवत्यनवगीतसिंहस्य।
व्यवहार एव हि तथा, निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य॥ ७॥

इनका अर्थ—मुनिराज, अज्ञानी को समझाने के लिए, असत्यार्थ जो व्यवहारनय, उसका उपदेश देते हैं। जो केवल व्यवहार ही को जानता है, उसे उपदेश देना ही योग्य नहीं है। तथा जैसे—जो सच्चे सिंह को न जाने, उसे बिलाव ही सिंह है; उसी प्रकार जो निश्चय को नहीं जाने, उसको व्यवहार ही निश्चयपने को प्राप्त होता है।

यहाँ कोई निर्विचारी पुरुष ऐसा कहे—तुम व्यवहार को असत्यार्थ-हेय कहते हो तो हम व्रत-शील-संयमादि व्यवहारकार्य किसलिए करें? सबको छोड़ देंगे।

उससे कहते हैं—कुछ व्रत-शील-संयमादि का नाम, व्यवहार नहीं है; इनको मोक्षमार्ग मानना, व्यवहार है, उसे छोड़ दे और ऐसा श्रद्धान कर कि इन (व्रत-शील-संयमादि) को तो बाह्य सहकारी जानकर, उपचार से मोक्षमार्ग कहा है क्योंकि ये तो परद्रव्याश्रित हैं तथा सच्चा मोक्षमार्ग, वीतरागभाव है, वह स्वद्रव्याश्रित है; इस प्रकार व्यवहार को असत्यार्थ हेय जानना। व्रतादि को छोड़ने से तो व्यवहार का हेयपना होता है नहीं।

फिर हम पूछते हैं—व्रतादि को छोड़कर, क्या करेगा? यदि हिंसादिरूप प्रवर्तेगा तो वहाँ तो मोक्षमार्ग का उपचार भी सम्भव नहीं है; वहाँ प्रवर्तने से क्या भला होगा?—नरकादि

प्राप्त करेगा; इसलिए ऐसा करना तो निर्विचारीपना है तथा व्रतादिरूप परिणति को मिटाकर, केवल वीतराग उदासीनभावरूप होना बने तो अच्छा ही है; वह निचली दशा में हो नहीं सकता; इसलिए व्रतादि साधन छोड़कर, स्वच्छन्द होना योग्य नहीं है। **इस प्रकार श्रद्धान में निश्चय को और प्रवृत्ति में व्यवहार को उपादेय मानना, वह भी मिथ्याभाव ही है।**

वहाँ यह जीव, दोनों नयों का अंगीकार करने के लिए कदाचित् आप (स्वयं) को शुद्ध, सिद्धसमान, रागादिरहित, केवलज्ञानादिसहित आत्मा अनुभवता है; ध्यानमुद्रा धारण करके, ऐसे विचारों में लगता है परन्तु ऐसा आप नहीं है; 'भ्रम से, निश्चय से मैं ऐसा ही हूँ'—ऐसा मानकर, सन्तुष्ट होता है। कदाचित् वचन द्वारा निरूपण ऐसा ही करता है परन्तु निश्चय (नय) तो वस्तु को यथावत् प्ररूपित करता है। प्रत्यक्ष आप जैसा नहीं है, वैसा आप को माने तो निश्चय नाम कैसे पाये? **जैसा केवल निश्चयाभासवाले जीव का, अयथार्थपना पहले कहा था, उसी प्रकार इसके जानना।**

अथवा यह ऐसा मानता है—आत्मा, इस नय से ऐसा है, इस नय से ऐसा है परन्तु आत्मा तो जैसा है, वैसा ही है; उसमें नय द्वारा निरूपण करने का जो अभिप्राय है, उसे नहीं पहिचानता। जैसे—आत्मा, निश्चय से तो सिद्धसमान, केवलज्ञानादिसहित व द्रव्यकर्म-नोकर्म-भावकर्मरहित है और व्यवहारनय से संसारी, मतिज्ञानादिसहित व द्रव्यकर्म-नोकर्म-भावकर्मसहित है—ऐसा मानता है परन्तु एक आत्मा के ऐसे दो स्वरूप तो होते नहीं हैं; **'जिस भाव ही का सहितपना, उस भाव ही का रहितपना'—एक वस्तु में कैसे सम्भव हो?** इसलिए ऐसा मानना भ्रम है।

तो किस प्रकार है?—जैसे—राजा और रंक, मनुष्यपने की अपेक्षा समान हैं; उसी प्रकार सिद्ध और संसारी, जीवत्वपने की अपेक्षा, समान कहे गये हैं; केवलज्ञानादि की अपेक्षा, समानता मानी जाए, वह तो है नहीं; संसारी को निश्चय से मतिज्ञानादि ही हैं, सिद्ध को केवलज्ञान है।

इतना विशेष है—संसारी को मतिज्ञानादि, कर्म के निमित्त से हैं; इसलिए स्वभाव अपेक्षा, संसारी को केवलज्ञान की शक्ति कही जाए तो दोष नहीं है। जैसे—रंक मनुष्य में, राजा होने की शक्ति पायी जाती है; उसी प्रकार यह भी शक्ति जानना।

तथा द्रव्यकर्म-नोकर्म, पुद्गल से उत्पन्न हुए हैं; इसलिए निश्चय से संसारी को भी इनका भिन्नपना है परन्तु सिद्ध की भाँति इनका कारण-कार्य की अपेक्षा, सम्बन्ध भी न माने तो भ्रम ही है। **भावकर्म, आत्मा का भाव है, वह निश्चय से आत्मा ही का है परन्तु कर्म के निमित्त से होता है; इसलिए व्यवहार से कर्म का कहा जाता है** तथा सिद्ध की भाँति, संसारी को भी रागादि न मानना; उन्हें कर्म ही का मानना—यह भी भ्रम है।

इसी प्रकार एक ही वस्तु को नय से, एक भाव अपेक्षा 'ऐसा भी मानना और वैसा भी मानना' वह तो मिथ्याबुद्धि है परन्तु भिन्न-भिन्न भावों की अपेक्षा, नयों की प्ररूपणा है—ऐसा मानकर, यथासम्भव वस्तु को मानना, वही सच्चा श्रद्धान है; इसलिए मिथ्यादृष्टि अनेकान्तरूप वस्तु को मानता तो है परन्तु यथार्थभाव को पहिचानकर नहीं मान सकता—ऐसा जानना।

तथा इस जीव को व्रत-शील-संयमादि का अंगीकार पाया जाता है परन्तु वह, व्यवहार से ये भी मोक्ष के कारण हैं—ऐसा मानकर, उन्हें उपादेय मानता है; अत: जैसे—पहले केवल व्यवहारावलम्बी जीव को अयथार्थपना कहा था, वैसे ही इसको भी अयथार्थपना जानना।

वहाँ यह ऐसा भी मानता है—यथायोग्य व्रतादि क्रिया तो करनेयोग्य है परन्तु इनमें ममत्व नहीं करना, परन्तु जिसका आप कर्ता हो, उसमें ममत्व कैसे नहीं किया जाए? आप कर्ता नहीं है तो 'मुझको करनेयोग्य है'—ऐसा भाव कैसे किया? और यदि कर्ता है तो वह अपना कर्म हुआ, तब कर्ता-कर्म सम्बन्ध स्वयमेव ही हुआ; अत: ऐसी मान्यता भ्रम है।

तो कैसे है ?—बाह्य व्रतादि हैं, वे तो शरीरादि परद्रव्य के आश्रित हैं, परद्रव्य का आप कर्ता है नहीं; इसलिए उसमें कर्तृत्वबुद्धि भी नहीं करना और वहाँ ममत्व भी नहीं करना।

वहाँ व्रतादि में ग्रहण-त्यागरूप अपना शुभोपयोग होता है, वह अपने आश्रित है, उसका आप (स्वयं) कर्ता है; इसलिए उसमें कर्तृत्वबुद्धि भी मानना और वहाँ ममत्व भी करना, परन्तु इस शुभोपयोग को बन्ध का ही कारण जानना; मोक्ष का कारण नहीं जानना, क्योंकि बन्ध और मोक्ष में तो प्रतिपक्षीपना है; इसलिए एक ही भाव, पुण्यबन्ध का भी कारण हो और मोक्ष का भी कारण हो—ऐसा मानना भ्रम है।

इसलिए जहाँ व्रत-अव्रत, दोनों विकल्परहित, परद्रव्य के ग्रहण-त्याग का कुछ भी प्रयोजन नहीं है—ऐसा उदासीन वीतराग शुद्धोपयोग, वही मोक्षमार्ग है। तथा निचली दशा में कितने ही जीवों को शुभोपयोग और शुद्धोपयोग का युक्तपना पाया जाता है; इसलिए उपचार से व्रतादिरूप शुभोपयोग को, मोक्षमार्ग कहा है।

वस्तु का विचार करनेपर, शुभोपयोग मोक्ष का घातक ही है क्योंकि जो बन्ध का कारण है, वही मोक्ष का घातक है—ऐसा श्रद्धान करना।

इस प्रकार शुद्धोपयोग ही को उपादेय मानकर, उसका उपाय करना और शुभोपयोग -अशुभोपयोग को हेय जानकर, उनके त्याग का उपाय करना।

जहाँ शुद्धोपयोग न हो सके, वहाँ अशुभोपयोग को छोड़कर, शुभ में ही प्रवर्तन करना, क्योंकि शुभोपयोग की अपेक्षा, अशुभोपयोग में अशुद्धता की अधिकता है तथा शुद्धोपयोग हो,

तब तो परद्रव्य का साक्षीभूत ही रहता है; वहाँ तो परद्रव्य का कुछ प्रयोजन ही नहीं है।

शुभोपयोग हो, वहाँ बाह्य व्रतादि की प्रवृत्ति होती है और अशुभोपयोग हो, वहाँ बाह्य अव्रतादि की प्रवृत्ति होती है क्योंकि अशुद्धोपयोग (शुभ-अशुभ उपयोग) के और परद्रव्य की प्रवृत्ति के, निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध पाया जाता है; वहाँ पहले अशुभोपयोग छूटकर, शुभोपयोग होता है, फिर शुभोपयोग छूटकर, शुद्धोपयोग होता है—ऐसी क्रम-परिपाटी है।

वहाँ कोई ऐसा माने—जो शुभोपयोग है, वह शुद्धोपयोग का कारण है परन्तु जैसे—अशुभोपयोग छूटकर, शुभोपयोग होता है; वैसे शुभोपयोग छूटकर, शुद्धोपयोग होता है—ऐसा ही कारण-कार्यपना हो तो शुभोपयोग का कारण, अशुभोपयोग ठहरे।

अथवा द्रव्यलिंगी को शुभोपयोग तो उत्कृष्ट होता है, शुद्धोपयोग होता ही नहीं; इसलिए परमार्थ से इनके कारण-कार्यपना है नहीं। जैसे—रोगी को बहुत रोग था, पश्चात् अल्प रोग रहा तो वह अल्प रोग तो निरोग होने का कारण है नहीं।

[**विशेष**] **इतना है**—अल्प रोग रहनेपर, निरोग होने का उपाय करे तो हो जाए, परन्तु यदि अल्प रोग को ही भला जानकर, उसको रखने का यत्न करे तो निरोग कैसे हो? उसी प्रकार कषायी को तीव्रकषायरूप अशुभोपयोग था, पश्चात् मन्दकषायरूप शुभोपयोग हुआ तो वह शुभोपयोग तो निःकषाय शुद्धोपयोग होने का कारण है नहीं।

[**विशेष**] **इतना है**—शुभोपयोग होनेपर, शुद्धोपयोग का यत्न करे तो हो जाए, परन्तु यदि शुभोपयोग को ही भला जानकर, उसका साधन किया करे तो शुद्धोपयोग कैसे हो?

इस प्रकार मिथ्यादृष्टि का शुभोपयोग तो शुद्धोपयोग का कारण है नहीं; सम्यग्दृष्टि को शुभोपयोग होनेपर, निकट शुद्धोपयोग प्राप्त हो—ऐसी मुख्यता से कहीं शुभोपयोग को शुद्धोपयोग का कारण भी कहते हैं—ऐसा जानना।

यह (उभयाभासी) जीव, आप को निश्चय-व्यवहाररूप मोक्षमार्ग का साधक मानता है। वहाँ पूर्वोक्त प्रकार से आत्मा को शुद्ध माना, वह तो सम्यग्दर्शन हुआ; वैसा ही जाना, वह सम्यग्ज्ञान हुआ; वैसे ही विचारों में प्रवर्तन किया, वह सम्यक्चारित्र हुआ—ऐसे तो आपको निश्चयरत्नत्रय हुआ मानता है परन्तु मैं प्रत्यक्ष अशुद्ध हूँ तो शुद्ध कैसे मानता-जानता -विचारता हूँ, इत्यादि विवेकरहित भ्रम से सन्तुष्ट होता है।

वहाँ अरहन्तादि के अलावा, अन्य देवादि को नहीं मानता एवं जैनशास्त्रानुसार जीवादि के भेद सीख लिये हैं; उन्हीं को मानता है, औरों को नहीं मानता, वह तो सम्यग्दर्शन हुआ; तथा जैनशास्त्रों के अभ्यास में बहुत प्रवर्तता है, वह सम्यग्ज्ञान हुआ तथा व्रतादिरूप क्रियाओं में प्रवर्तता है, वह सम्यक्चारित्र हुआ—ऐसे आपको व्यवहाररत्नत्रय हुआ मानता है' परन्तु व्यवहार तो उपचार का नाम है, वह उपचार भी तो तब बनता है, जब सत्यभूत निश्चयरत्नत्रय के कारणादि हों। जिस प्रकार निश्चयरत्नत्रय सधे, उसी प्रकार इन्हें साधे तो व्यवहारपना

भी सम्भव हो, परन्तु इसे तो सत्यभूत निश्चयरत्नत्रय की पहिचान ही हुई नहीं तो यह ऐसे कैसे साध सकेगा ? आज्ञानुसारी हुआ, देखा-देखी साधन करता है; इसलिए इसके निश्चय -व्यवहार मोक्षमार्ग नहीं हुआ।

आगे, निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग का निरूपण करेंगे; उसका साधन होनेपर ही मोक्षमार्ग होगा।

– ऐसे यह जीव, निश्चयाभास को मानता-जानता है परन्तु व्यवहारसाधन को भी भला जानता है; इसलिए स्वच्छन्द होकर, अशुभरूप नहीं प्रवर्तता है; व्रतादि शुभोपयोगरूप प्रवर्तता है; इसलिए अन्तिम ग्रैवेयकपर्यन्त पद को प्राप्त करता है तथा यदि निश्चयाभास की प्रबलता से, अशुभरूप प्रवृत्ति हो जाए तो कुगति में भी गमन होता है, परिणामों के अनुसार फल प्राप्त करता है परन्तु संसार का ही भोक्ता रहता है; सच्चा मोक्षमार्ग पाए बिना, सिद्धपद को नहीं प्राप्त करता है।

इस प्रकार निश्चयाभास-व्यवहाराभास—दोनों (उभयाभास) के अवलम्बी मिथ्यादृष्टियों का निरूपण किया।

सम्यक्त्व-सन्मुख मिथ्यादृष्टि

अब, जो सम्यक्त्व के सन्मुख मिथ्यादृष्टि हैं, उनका निरूपण करते हैं —

कोई मन्दकषायादि का कारण पाकर, ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षयोपशम हुआ, जिससे **तत्त्व-विचार करने की शक्ति** हुई और मोह मन्द हुआ, जिससे **तत्त्व-विचार में उद्यम** हुआ तथा बाह्यनिमित्त देव-गुरु-शास्त्रादि का हुआ, उनसे **सच्चे उपदेश का लाभ** हुआ।

वहाँ अपने प्रयोजनभूत मोक्षमार्ग, देव-गुरु-धर्मादि, जीवादि तत्त्व, निज-पर और अपने को अहितकारी-हितकारी भाव, इत्यादि के उपदेश से सावधान होकर, ऐसा विचार किया

— **'अहो! मुझे तो इन बातों की खबर ही नहीं; मैं भ्रम से भूलकर, प्राप्त पर्याय ही में तन्मय हुआ, परन्तु इस पर्याय की तो थोड़े ही काल की स्थिति है तथा यहाँ मुझे सर्व निमित्त मिले हैं; इसलिए मुझे इन बातों को बराबर समझना चाहिए, क्योंकि इनमें तो मेरा ही प्रयोजन भासित होता है'**—ऐसा विचारकर, जो उपदेश सुना, उसका **निर्धार करने का उद्यम** किया।

वहाँ उद्देश, लक्षण-निर्देश और परीक्षा द्वारा, उनका निर्धार होता है; इसलिए पहले तो उनके नाम सीखे, वह **उद्देश** हुआ; फिर उनके **लक्षण** जाने; फिर ऐसा सम्भवित है कि नहीं —ऐसे विचारसहित **परीक्षा** करने लगे।

वहाँ नाम सीख लेना और लक्षण जान लेना—ये दोनों तो उपदेश के अनुसार होते हैं; जैसे उपदेश दिया हो, वैसे याद कर लेना, परन्तु परीक्षा करने में अपना विवेक चाहिए, वहाँ विवेकपूर्वक एकान्त में अपने उपयोग में विचार करे—जैसा उपदेश दिया, वैसे ही है या अन्यथा है ? वहाँ अनुमानादि प्रमाण से यथार्थ निर्णय करे।

अथवा उपदेश तो ऐसा है और ऐसा न मानें तो ऐसा होता है; अत: इनमें प्रबल युक्ति कौन है और निर्बल युक्ति कौन है ?—जो प्रबल भासित हो, उसे सत्य जाने तथा यदि उपदेश में अन्यथा सत्य भासित हो अथवा उसमें सन्देह रहे; निर्धार न हो तो जो विशेषज्ञ हों, उनसे पूछे और वे उत्तर दें, उसका विचार करे—ऐसे जब तक निर्धार न हो, तब तक प्रश्नोत्तर करे। **अथवा समानबुद्धि के धारक हों, उनसे अपना विचार जैसा हुआ हो, वैसा कहे** और प्रश्नोत्तर करके, परस्पर चर्चा करे तथा जो प्रश्नोत्तर में निरूपण हुआ हो, उसका एकान्त में विचार करे।

इस प्रकार अपने अन्तरंग में जैसा उपदेश दिया था, वैसा ही निर्णय होकर, भावभासित हो; तब तक ऐसे ही उद्यम किया करे।

तथा अन्यमतियों द्वारा जो कल्पित तत्त्वों का उपदेश दिया गया है, उससे जैन-उपदेश अन्यथा भासित हो अथवा सन्देह हो, तब भी पूर्वोक्त प्रकार से उद्यम करे।

— ऐसा उद्यम करनेपर, जैसा जिनदेव का उपदेश है, वैसा ही सत्य है; मुझे भी ऐसा ही भासित होता है—ऐसा निर्णय होता है क्योंकि जिनदेव अन्यथावादी हैं नहीं।

यहाँ कोई कहे—यदि जिनदेव, अन्यथावादी नहीं हैं तो जैसा उनका उपदेश है, वैसा ही श्रद्धान कर लें; परीक्षा किसलिए करें ?

उसका समाधान—परीक्षा किये बिना, यह तो मानना हो सकता है कि जिनदेव ने ऐसा कहा है, वह सत्य है परन्तु उनका भाव आप (स्वयं) को भासित नहीं होगा तथा भाव, भासित हुए बिना, श्रद्धान निर्मल नहीं होता, क्योंकि जिसकी किसी के वचन ही से प्रतीति की जाए, उसकी अन्य के वचन से अन्यथा भी प्रतीति हो जाए; इसलिए शक्ति अपेक्षा, वचन से की गई प्रतीति, अप्रतीति के समान है। तथा जिसका भाव, भासित हुआ हो, उसे अनेक प्रकार से भी अन्यथा नहीं मानता; इसलिए **भाव भासित होनेपर जो प्रतीति होती है, वही सच्ची प्रतीति है।**

यहाँ यदि कहोगे—पुरुष की प्रमाणता से वचन की प्रमाणता की जाती है।

तो [कहते हैं—] पुरुष की भी प्रमाणता, स्वयमेव तो नहीं होती, उसके कितने ही वचनों की परीक्षा पहले कर लेते हैं, तब पुरुष की प्रमाणता होती है।

यहाँ प्रश्न—उपदेश तो अनेक प्रकार का होता है, किस-किस की परीक्षा करें ?

उसका समाधान—उपदेश में कितने ही उपादेय, कितने ही हेय और कितने ही ज्ञेय तत्त्वों का निरूपण होता है। वहाँ उपादेय और हेय तत्त्वों की परीक्षा कर लेना चाहिए, क्योंकि इनमें अन्यथापना होने से, अपना बुरा होता है; उपादेय को हेय मान लें तो बुरा होता है, हेय को उपादेय मान लें तो बुरा होता है।

फिर यदि कहेगा—स्वयं परीक्षा नहीं की और जिनवचन ही से उपादेय को उपादेय जानें और हेय को हेय जाने तो इसमें कैसे बुरा होता है?

उसका समाधान—अर्थ का भाव भासित हुए बिना, वचन का अभिप्राय नहीं पहिचाननेपर, यह तो मान लेता है कि 'मैं जिनवचनानुसार मानता हूँ' परन्तु भाव भासित हुए बिना, अन्यथापना हो जाता है। लोक में भी नौकर को किसी कार्य के लिए भेजते हैं, वहाँ यदि वह उस कार्य का भाव जानता है तो कार्य को सुधारता है और यदि भाव भासित नहीं होता तो कहीं चूक ही जाता है; इसलिए भाव भासित होने के लिए, हेय और उपादेय तत्त्वों की परीक्षा अवश्य करना चाहिए।

फिर वह कहता है—यदि परीक्षा अन्यथा हो जाए तो क्या करें?

उसका समाधान—जिनवचन और अपनी परीक्षा, इनकी समानता होती है, तब तो जाने कि सत्य परीक्षा हुई है; जब तक ऐसा न हो, तब तक जैसे—कोई लेखा (हिसाब -किताब) करता है; उसकी विधि जब तक न मिले, तब तक अपनी चूक को ढूँढ़ता है; उसी प्रकार यह भी अपनी परीक्षा में विचार किया करता है।

वहाँ जो ज्ञेयतत्त्व हैं, उनकी परीक्षा हो सके तो परीक्षा करे; नहीं तो यह अनुमान करे कि जिन्होंने हेय-उपादेय तत्त्व ही अन्यथा नहीं कहे, वे ज्ञेयतत्त्वों को अन्यथा किसलिए कहेंगे? जैसे—कोई प्रयोजनरूप कार्यों ही में झूठ नहीं बोलता है, वह अप्रयोजन झूठ क्यों बोलेगा? इसलिए ज्ञेयतत्त्वों का स्वरूप, परीक्षा से भी अथवा आज्ञा से जानता है, फिर भी यदि उनका यथार्थभाव भासित न हो तो भी दोष नहीं है।

इसी कारण, जैनशास्त्रों में जहाँ तत्त्वादि का निरूपण किया है, वहाँ तो हेतु-युक्ति आदि द्वारा, जिस प्रकार उसे अनुमानादि से प्रतीति आए; उसी प्रकार कथन किया है तथा त्रिलोक, गुणस्थान, मार्गणा, पुराणादि के कथन, आज्ञानुसार किये हैं।

इस प्रकार हेय-उपादेय तत्त्वों की परीक्षा करना योग्य है।

वहाँ जीवादि द्रव्यों व तत्त्वों को पहिचानना, स्व-पर को पहचानना तथा त्यागनेयोग्य —मिथ्यात्व-रागादि और ग्रहण करनेयोग्य—सम्यग्दर्शनादि का स्वरूप पहिचानना। इसी प्रकार निमित्त-नैमित्तिक आदि जैसे हैं, वैसे पहिचानना, इत्यादि जिनके जानने से, मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति होती है, उन्हें अवश्य जानना; इस तरह इनकी तो परीक्षा करना।

सामान्यरूप से इनको किसी हेतु-युक्ति द्वारा जानना; प्रमाण-नयों के द्वारा जानना या निर्देश-स्वामित्वादि या सत्-संख्यादि से इनके विशेष जानना।[१] जैसी बुद्धि हो व जैसा निमित्त बने, उसी प्रकार सामान्य-विशेषरूप से इनको पहिचानना। तथा इस जानने में उपकारी गुणस्थान-मार्गणादि व पुराणादि व व्रतादि-क्रियादि को भी जानना योग्य है। यहाँ जिनकी परीक्षा हो सके, उनकी परीक्षा करना; न हो सके, उनका आज्ञानुसार जानपना करना।

— ऐसे इस जानने के प्रयोजन से, कभी आप (स्वयं) ही विचार करता है, कभी शास्त्र पढ़ता है, कभी सुनता है, कभी अभ्यास करता है, कभी प्रश्नोत्तर करता है, इत्यादिरूप प्रवर्तता है। अपना कार्य करने का इसको हर्ष बहुत है; इसलिए अन्तरंग प्रीति से उसका साधन करता है। इस प्रकार साधन करते हुए, जब तक— (१) सच्चा तत्त्वश्रद्धान न हो; (२) 'यह इसी प्रकार है'—ऐसी प्रतीतिसहित जीवादि तत्त्वों का स्वरूप आपको भासित न हो; (३) जैसे -पर्याय में अहंबुद्धि है, वैसे केवल आत्मा में अहंबुद्धि न आये; (४) हित-अहितरूप अपने भावों को न पहिचाने, तब तक सम्यक्त्व के सन्मुख मिथ्यादृष्टि है। यही जीव, थोड़े ही काल में सम्यक्त्व को प्राप्त होगा—इसी भव में या अन्य पर्याय में सम्यक्त्व को पाएगा।

इस भव में अभ्यास करके, परलोक में तिर्यंचादि गति में भी जाए तो वहाँ संस्कार के बल से, देव-गुरु-शास्त्र के निमित्त बिना भी, सम्यक्त्व हो जाता है क्योंकि ऐसे अभ्यास के बल से, मिथ्यात्वकर्म का अनुभाग हीन होता है—जहाँ उसका उदय न हो, वहीं सम्यक्त्व हो जाता है; [क्योंकि] मूलकारण तो यही है, देवादि का तो बाह्यनिमित्त है।

इस प्रकार मुख्यता से तो इनके निमित्त से ही सम्यक्त्व होता है परन्तु तारतम्य से पूर्व -अभ्यास-संस्कार से, वर्तमान में इनका निमित्त न हो तो भी सम्यक्त्व हो सकता है।

सिद्धान्त में '**तन्निसर्गादधिगमाद्वा**'[२]—ऐसा सूत्र है; इसका अर्थ यह है कि वह सम्यग्दर्शन, निसर्ग या अधिगम से होता है। वहाँ देवादि बाह्यनिमित्त के बिना हो, उसे निसर्ग से हुआ कहते हैं तथा देवादि के निमित्त से हो, उसे अधिगम से हुआ कहते हैं।

देखो! तत्त्वविचार की महिमा!! तत्त्वविचाररहित—देवादि की प्रतीति करे, बहुत शास्त्रों का अभ्यास करे, व्रतादि पाले, तपश्चरणादि करे; उसको तो सम्यक्त्व होने का अधिकार नहीं और तत्त्वविचारसहित—इनके बिना भी, सम्यक्त्व का अधिकारी होता है ।

वहाँ, (१) किसी जीव को, तत्त्वविचार होने के पहले कोई कारण पाकर, देवादि की प्रतीति हो जाए अथवा व्रत-तप का अंगीकार हो जाए, पश्चात् तत्त्वविचार करे, परन्तु **सम्यक्त्व का अधिकारी तत्त्वविचार होनेपर ही होता है।**

---

[१] * प्रमाणनयैरधिगमः। * निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः। * सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च। - तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र ६-७-८।

[२] तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र३

(२) किसी को तत्त्वविचार होने के पश्चात्, तत्त्वप्रतीति नहीं होने से, सम्यक्त्व तो नहीं हुआ और व्यवहारधर्म की प्रतीति-रुचि हो गई; इसलिए देवादि की प्रतीति करता है व व्रत-तप को अंगीकार करता है।

(३) किसी को देवादि की प्रतीति और सम्यक्त्व युगपत् होते हैं तथा व्रत-तप, सम्यक्त्व के साथ भी होते हैं और पहले-पीछे भी होते हैं। **देवादि की प्रतीति का तो नियम है, इसके बिना, सम्यक्त्व नहीं होता, परन्तु व्रतादि का नियम है नहीं।**

(४) अधिकांश जीव तो पहले सम्यक्त्वी होते हैं, पश्चात् ही व्रतादि को धारण करते हैं लेकिन किन्हीं को युगपत् भी हो जाते हैं।

इस प्रकार यह तत्त्वविचारवाला जीव, सम्यक्त्व का अधिकारी है परन्तु उसको सम्यक्त्व होता ही होता है—ऐसा नियम नहीं है क्योंकि शास्त्र में सम्यक्त्व होने से पूर्व, '**पंच लब्धि**' का होना कहा है।

पाँच लब्धियों का स्वरूप

१. क्षयोपशम, २. विशुद्धि, ३. देशना, ४. प्रायोग्य, ५. करण। वहाँ जिसके होनेपर, तत्त्वविचार हो सके—ऐसा ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षयोपशम हो अर्थात् उदयकाल को प्राप्त सर्वघातीस्पर्धकों के निषेकों के उदय का अभाव, वह क्षय; अनागत काल में उदय आनेयोग्य उन्हीं का सत्तारूप रहना, वह उपशम तथा देशघातीस्पर्धकों के उदयसहित कर्मों की अवस्था; उसका नाम, क्षयोपशम है, उसकी प्राप्ति होना, वह **क्षयोपशमलब्धि**[१] है।

जहाँ मोह का मन्द उदय आने से, मन्दकषायरूप ऐसे भाव होते हैं कि जिससे तत्त्व-विचार हो सके, वह **विशुद्धिलब्धि**[२] है।

जहाँ जिनदेव के द्वारा उपदिष्ट तत्त्व का धारण होता है, विचार होता है, वह **देशनालब्धि**[३] है तथा नरकादि में जहाँ उपदेश का निमित्त नहीं होता है, वहाँ पूर्व संस्कार से होती है।

तथा जब कर्मों की पूर्वसत्ता अन्तःकोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण रह जाए और नवीन बन्ध अन्तःकोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण के संख्यातवें भागमात्र होता है तथा वह भी उस लब्धिकाल से लगाकर, क्रमशः घटता जाता है, कितनी ही पापप्रकृतियों का बन्ध, क्रमशः मिटता जाता है, इत्यादि योग्य अवस्था का होना, वह **प्रायोग्यलब्धि**[४] है।

वहाँ ये चारों लब्धियाँ, भव्य या अभव्य [दोनों] को हो सकती हैं। इन चार लब्धियों के होने के बाद, सम्यक्त्व हो तो हो; न हो तो, नहीं भी हो—ऐसा लब्धिसार में कहा है।

इसलिए उस तत्त्वविचारवाले को, सम्यक्त्व होने का नियम नहीं है। जैसे—किसी शिष्य को हित की शिक्षा दी, उसे जानकर वह विचार करे कि यह जो शिक्षा दी, वह किस प्रकार

---

① खयउवसमियविसोही, देसणपाउग्गकरणलद्धी य।
चत्तारि वि सामण्णा, करणं सम्मत्तचारित्ते॥
(लब्धिसार, गाथा ३)

है ? पश्चात् विचार करनेपर, उसको इस प्रकार ही है—ऐसी उस शिक्षा की प्रतीति हो जाए अथवा अन्यथा विचार हो जाए या अन्य विचार में लगकर, उस शिक्षा का निर्धार न करे तो प्रतीति नहीं भी होती है।

उसी प्रकार श्रीगुरु ने तत्त्वोपदेश दिया, उसे जानकर विचार करे कि यह उपदेश दिया, किस प्रकार है ? पश्चात् विचार करनेपर, उसको इस प्रकार ही है—ऐसी प्रतीति हो जाए अथवा अन्यथा विचार हो जाए या अन्य विचार में लगकर, उस उपदेश का निर्धार न करे तो प्रतीति नहीं भी होती है; इसलिए मूलकारण मिथ्यात्वकर्म है; उसका उदय मिटे तो प्रतीति हो जाए, न मिटे तो नहीं हो—ऐसा नियम है; **इसका उद्यम तो तत्त्वविचार करनामात्र ही है।**

पाँचवीं **करणलब्धि** होनेपर, सम्यक्त्व होता ही होता है—ऐसा नियम है; अतः जिसके पहले कहीं हुई, चार लब्धियाँ तो हुई हों और अन्तर्मुहूर्त पश्चात्, जिसको सम्यक्त्व होना होता है, उसी जीव को करणलब्धि होती है।

इस करणलब्धिवाले को, बुद्धिपूर्वक तो इतना ही उद्यम होता है कि उस तत्त्वविचार में उपयोग को तद्रूप होकर लगाये; उससे प्रतिसमय परिणाम निर्मल होते जाते हैं।

जैसे—किसी को शिक्षा का विचार ऐसा निर्मल होनेलगा कि जिससे उसको शीघ्र ही उसकी प्रतीति हो जाएगी; उसी प्रकार तत्त्वोपदेश का विचार ऐसा निर्मल होनेलगा कि जिससे उसको शीघ्र ही उसका श्रद्धान होगा। वहाँ इन परिणामों का तारतम्य, केवलज्ञान के द्वारा जैसा देखा, उसका निरूपण करणानुयोग में किया है।

वहाँ इस करणलब्धि के तीन भेद हैं—अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण; इनका विशेष व्याख्यान तो लब्धिसार शास्त्र में किया है, वहाँ से जानना। यहाँ संक्षेप में कहते हैं —

त्रिकालवर्ती सर्व करणलब्धिवाले जीवों के परिणामों की अपेक्षा, ये तीन नाम हैं; वहाँ करण नाम तो परिणाम का है।

जहाँ पहले और पिछले समयों के परिणाम, समान हों, वह अधःकरण है।① जैसे—किसी जीव के परिणाम, उस करण के पहले समय में जैसे अल्प विशुद्धतासहित हुए, पश्चात् प्रतिसमय अनन्तगुनी विशुद्धता से बढ़ते गए; वहाँ उसको द्वितीय-तृतीय आदि समयों में जैसे परिणाम हों, वैसे किन्हीं अन्य जीवों को, प्रथम समय में ही हों और उनके उससे प्रतिसमय अनन्तगुनी विशुद्धता से बढ़ते हों—ऐसे **अधःप्रवृत्तकरण** जानना।

वहाँ जिसमें पहले और पिछले समयों के परिणाम, समान नहीं हों; अपूर्व ही हों, वह अपूर्वकरण है। इस करण के परिणाम, जैसे पहले समय में हों, वैसे किसी भी जीव को

① जम्हा हेट्ठिमभावा, उवरिमभावेहिं सरिसगा होंति।
तम्हा पढमं करणं, अधापवत्तो त्ति णिद्दिट्ठं॥
(लब्धिसार, गाथा ३५)

द्वितीयादि समयों में नहीं होते; बढ़ते ही होते हैं। यहाँ अधःकरणवत् जिन जीवों को, करण का पहला समय ही हो, उन अनेक जीवों के परस्पर परिणाम समान भी होते हैं और अधिक -कम विशुद्धतासहित भी होते हैं परन्तु यहाँ इतना विशेष हुआ कि इस (प्रथम समयवर्ती) की उत्कृष्टता होनेपर भी, द्वितीयादि समयवाले के जघन्यपरिणाम भी, उससे अनन्तगुनी विशुद्धतासहित ही होते हैं; इसी प्रकार जिन्हें करण प्रारम्भ किए द्वितीयादि समय हुए हों, उनके उस समयवालों के परस्पर परिणाम, समान या असमान होते हैं परन्तु ऊपर के समयवालों के परिणाम, उस समय समान सर्वथा नहीं होते; अपूर्व ही होते हैं—ऐसे **अपूर्वकरण**[१] जानना।

तथा जिसमें समान समयवर्ती जीवों के परिणाम, समान ही होते हैं; निवृत्ति अर्थात् परस्पर भेद, उससेरहित होते हैं; [वह अनिवृत्तिकरण है।] इस करण के पहले समय में सर्व जीवों के परिणाम, परस्पर समान ही होते हैं; उसी प्रकार द्वितीयादि समयों में परस्पर समानता जानना तथा प्रथमादि समयवालों से, द्वितीयादि समयवालों के अनन्तगुनी विशुद्धतासहित होते हैं—ऐसे **अनिवृत्तिकरण**[२] जानना।

इस प्रकार ये तीन करण जानना।

वहाँ पहले अन्तर्मुहूर्त कालपर्यन्त **अधःकरण** होता है, वहाँ **चार आवश्यक** होते हैं —

१. प्रति समय **अनन्तगुनी विशुद्धता** होती है। २. प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त से नवीन बन्ध की स्थिति घटती जाती है, वह **स्थितिबन्धापसरण** है। ३. प्रशस्तप्रकृतियों का अनुभाग प्रति समय अनन्तगुना बढ़ता है, [वह **अनुभागबन्धवृद्धि** है]। ४. अप्रशस्तप्रकृतियों का अनुभागबन्ध प्रति समय अनन्तवें भाग होता है, [वह **अनुभागबन्धापसरण** है।]; इस प्रकार चार आवश्यक होते हैं।

वहाँ पश्चात्, **अपूर्वकरण** होता है; उसका काल, अधःकरण के काल के संख्यातवें भाग है; उसमें ये आवश्यक और होते हैं —

१. एक-एक अन्तर्मुहूर्त से सत्ताभूत पूर्वकर्मों की स्थिति थी, उसको घटाता है, वह

---

① समए समए भिण्णा, भावा तम्हा अपुव्वकरणो हु।
अणियट्टी वि तहं वि य, पडिसमयं एक्कपरिणामो॥ (लब्धिसार, गाथा ३६)
जम्हा उवरिमभावा, हेट्ठिमभावेहिं णत्थि सरिसत्तं।
तम्हा बिदियं करणं, अपुव्वकरणं ति णिद्दिट्ठं॥ (लब्धिसार, गाथा ५१)
करणं परिणामो अपुव्वाणि च, ताणि करणाणि च अपुव्वकरणाणि, असमाणपरिणामा त्ति जं उत्तं होदि॥
(धवला १-९-८-४)

② एगसमए वट्टंताणं जीवाणं परिणामेहिं ण विज्जदे णियट्टी - णिव्वित्ती जत्थ, ते अणियट्टीपरिणामा।
(धवला १-९-८-४)
एक्कम्हि कालसमए, संठाणादीहिं जह णियट्टंति।
ण णियट्टंति तहा विय, परिणामेहिं मिहो जेहिं॥ (गोम्मटसार जीवकाण्ड, ५६)

स्थितिकाण्डकघात है। २. उससे छोटे एक-एक अन्तर्मुहूर्त से पूर्वकर्मों के अनुभाग को घटाता है, वह **अनुभागकाण्डकघात** है। ३. गुणश्रेणी के काल में क्रमशः असंख्यातगुने प्रमाणसहित कर्मों को निर्जरा के योग्य करता है, वह **गुणश्रेणीनिर्जरा** है। ४. यहाँ **गुणसंक्रमण** नहीं होता है परन्तु अन्यत्र जहाँ अपूर्वकरण होता है, वहाँ होता है।

– ऐसे अपूर्वकरण होने के पश्चात्, **अनिवृत्तिकरण** होता है, उसका काल, अपूर्वकरण से भी संख्यातवें भाग है; उसमें पूर्वोक्त आवश्यकोंसहित कितना ही काल जाने के बाद, **अन्तरकरण** करता है, जो अनिवृत्तिकरण के काल के बाद उदय आनेयोग्य–ऐसे मिथ्यात्व-कर्म के अन्तर्मुहूर्तमात्र[१] निषेक, उनका अभाव करता है; उन परमाणुओं को अन्य स्थितिरूप परिणमित करता है।

वहाँ अन्तरकरण करने के पश्चात्, **उपशमकरण** करता है। अन्तरकरण द्वारा अभावरूप किये गये निषेकों के ऊपरवाले जो मिथ्यात्व के निषेक हैं, उनको उदय आने के अयोग्य बनाता है, इत्यादि क्रिया द्वारा, अनिवृत्तिकरण के अन्त समय के अनन्तर, जिन निषेकों का अभाव किया था, उनका जब काल आए, तब निषेकों के बिना, उदय किसका आएगा? इसलिए मिथ्यात्व का उदय न होने से, **प्रथमोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति** होती है।

अनादि मिथ्यादृष्टि के सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय की सत्ता नहीं होती है; इसलिए वह एक मिथ्यात्वकर्म का ही उपशम करके, सम्यग्दृष्टि होता है। तथा कोई जीव, सम्यक्त्व पाकर फिर भ्रष्ट होता है तो उसकी दशा भी अनादि मिथ्यादृष्टि जैसी हो जाती है।

यहाँ प्रश्न है—परीक्षा करके तत्त्वश्रद्धान किया था, उसका अभाव कैसे होता है?

उसका समाधान—जैसे–किसी पुरुष को शिक्षा दी, उसकी परीक्षा करके, उसे 'ऐसे ही है'–ऐसी प्रतीति भी आयी थी, पश्चात् किसी प्रकार से अन्यथा विचार हुआ; इसलिए उस शिक्षा में सन्देह हुआ कि 'ऐसे है या ऐसे?' अथवा 'न जाने कैसे है?' अथवा उस शिक्षा को झूठ जानकर, उससे विपरीतता हुई, तब उसे ऐसी [मिथ्या] प्रतीति हुई और तब उसको उस शिक्षा की प्रतीति का अभाव हो जाता है।

अथवा पहले तो अन्यथा प्रतीति थी ही, बीच में शिक्षा के विचार से यथार्थ प्रतीति हुई थी परन्तु उस शिक्षा का विचार किये बहुत काल हो गया; तब उसे भूलकर,

---

[१] किमन्तरकरणं णाम? - विवक्खियकम्माणं हेट्ठिमोवरिमट्ठिदीओ मोत्तूण मज्झे अन्तोमुहुत्तमेत्ताणं ट्ठिदीणं परिणामविसेसेण णिसेगाणमभावीकरणमन्तरकरणमिदि भण्णदे॥ (जयधवला, अ०प० ९५३)

प्रश्न - अन्तरकरण का क्या स्वरूप है? **उत्तर** - विवक्षितकर्मों की अधस्तन और उपरिम स्थितियों को छोड़कर, मध्यवर्ती 'अन्तर्मुहूर्तमात्र' स्थितियों के निषेकों का, परिणाम विशेष के द्वारा अभाव करने को, **अन्तरकरण** कहते हैं।

[१] सिद्धान्त ग्रन्थों के अनुसार यहाँ 'मुहर्तमात्र' के स्थान पर, 'अन्तर्मुहूर्तमात्र' होना चाहिए। (यह मूलप्रति के पृष्ठ ३३६ में प्रतिलिपिकार के द्वारा भूलवश लिखा गया प्रतीत होता है।) (देखो, जयधवला, अ.प.९५३ / लब्धिसार ८६ एवं २४३)

जैसी पहले अन्यथा प्रतीति थी, वैसी ही स्वयमेव हो गई, तब उस शिक्षा की प्रतीति का अभाव हो जाता है।

अथवा यथार्थ प्रतीति पहले तो की, पश्चात् न तो कोई अन्यथा विचार किया और न बहुत काल हुआ, परन्तु वैसे ही कर्मोदय से होनहार के अनुसार, स्वयमेव ही उस प्रतीति का अभाव होकर, अन्यथापना हुआ।

– ऐसे अनेक प्रकार से उस शिक्षा की यथार्थ प्रतीति का अभाव होता है।

उसी प्रकार जीव को जिनदेव के तत्त्वादिरूप उपदेश हुआ, उसकी परीक्षा करके, उसको 'ऐसे ही है'–ऐसा श्रद्धान हुआ; पश्चात् जैसे पहले कहे हैं, वैसे अनेक प्रकार से उस यथार्थ श्रद्धान का अभाव होता है। यह कथन यहाँ स्थूलरूप से दिखाया है।

तारतम्य से तो केवलज्ञान में भासित होता है कि 'इस समय श्रद्धान है और इस समय नहीं है' क्योंकि यहाँ मूलकारण, मिथ्यात्वकर्म है; जब उसका उदय होता है, तब तो अन्य विचारादि कारण मिलें या न मिलें, स्वयमेव सम्यक्श्रद्धान का अभाव होता है और उसका उदय नहीं होता है, तब अन्य कारण मिलें या न मिलें, स्वयमेव सम्यक्श्रद्धान हो जाता है।

– ऐसी अन्तरंग समय-समय सम्बन्धी सूक्ष्मदशा का ज्ञान, छद्मस्थ को नहीं होता; अतः अपनी मिथ्या-सम्यक् श्रद्धानरूप अवस्था के तारतम्य का निश्चय, इसको नहीं हो सकता; केवलज्ञान में भासित होता है–इसी अपेक्षा, गुणस्थानों का पलटना, शास्त्र में कहा है।

इस प्रकार जो सम्यक्त्व से भ्रष्ट हो, उसे **सादि मिथ्यादृष्टि** कहते हैं; उसके भी पुनः सम्यक्त्व की प्राप्ति में, पूर्वोक्त **पाँच लब्धियाँ** होती हैं।

विशेष इतना–यहाँ किसी जीव को दर्शनमोह की तीन प्रकृतियों की सत्ता होती है, वह तीनों का उपशम करके, **प्रथमोपशमसम्यक्त्वी** होता है। अथवा किसी को सम्यक्त्व-मोहनीय का उदय आता है; शेष दो प्रकृतियों का उदय नहीं होता, वह **क्षयोपशमसम्यक्त्वी** होता है; इसको गुणश्रेणी आदि क्रिया नहीं होती तथा अनिवृत्तिकरण नहीं होता।

अथवा किसी को मिश्रमोहनीय का उदय आता है, शेष दो प्रकृतियों का उदय नहीं होता, वह '**मिश्रगुणस्थान**' को प्राप्त होता है, इसको करण नहीं होते।

– ऐसे मिथ्यात्व छूटनेपर, सादि मिथ्यादृष्टि की दशा होती है। **क्षायिकसम्यक्त्व** को [कृतकृत्य] वेदकसम्यग्दृष्टि ही प्राप्त करता है; इसलिए उसका कथन यहाँ नहीं किया है।

इस प्रकार सादि मिथ्यादृष्टि का जघन्य [काल] तो मध्यम अन्तर्मुहूर्तमात्र और उत्कृष्ट, किंचित् न्यून अर्धपुद्गलपरावर्तनमात्र काल जानना।

देखो, परिणामों की विचित्रता! कोई जीव तो ग्यारहवें गुणस्थान में **यथाख्यातचारित्र** प्राप्त करके, पुनः मिथ्यादृष्टि होकर, किंचित् न्यून अर्धपुद्गलपरावर्तन कालपर्यन्त संसार में रुलता है और कोई नित्य निगोद से निकलकर, मनुष्य होकर, मिथ्यात्व छूटने के पश्चात्,

अन्तर्मुहूर्त में **केवलज्ञान** प्राप्त करता है—**ऐसा जानकर, अपने परिणाम बिगड़ने का भय रखना और उनके सुधारने का उपाय करना।**

वहाँ इस **सादि मिथ्यादृष्टि** को यदि थोड़े काल तक, मिथ्यात्व का उदय रहता है तो बाह्य जैनीपना नष्ट नहीं होता व तत्त्वों का अश्रद्धान व्यक्त नहीं होता तथा उसे विचार किये बिना ही अथवा थोड़े विचार ही से, पुनः सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है।

यदि बहुत काल तक, मिथ्यात्व का उदय रहे तो जैसी **अनादि मिथ्यादृष्टि** की दशा होती है, वैसी इसकी भी दशा हो जाती है। **गृहीतमिथ्यात्व** को भी ग्रहण कर सकता है, **निगोदादि** में भी रुलता है; इसका कोई प्रमाण (सीमा) नहीं है।

कोई जीव, सम्यक्त्व से भ्रष्ट होकर, **सासादन** में आता है और वहाँ जघन्य एक समय व उत्कृष्ट छह आवली प्रमाण काल तक रहता है—इसके परिणामों की दशा, वचन द्वारा कहने में नहीं आती। सूक्ष्म कालमात्र किसी [सासादन] जाति के, केवलज्ञानगम्य परिणाम होते हैं। वहाँ अनन्तानुबन्धी का तो उदय होता है, मिथ्यात्व का उदय नहीं होता—ऐसे आगमप्रमाण से उसका स्वरूप जानना।

तथा कोई जीव, सम्यक्त्व से भ्रष्ट होकर, **मिश्रगुणस्थान** को प्राप्त होता है। वहाँ मिश्र-मोहनीय (सम्यक्-मिथ्यात्व प्रकृति) का उदय होता है; इसका काल, मध्यम अन्तर्मुहूर्तमात्र है; अतः इसका भी काल थोड़ा है; इसलिए इसके भी परिणाम, केवलज्ञानगम्य हैं।

यहाँ इतना भासित होता है—जैसे—किसी को शिक्षा दी, उसको वह कुछ सत्य और कुछ असत्य, एक ही काल में मानता है; उसी प्रकार तत्त्वों का श्रद्धान व अश्रद्धान, एक ही काल में होता है, वह **मिश्रदशा** है।

कितने ही कहते हैं—'हमें तो जिनदेव तथा अन्य देव, सर्व ही वन्दन करनेयोग्य हैं', इत्यादि मिश्रश्रद्धान को मिश्रगुणस्थान कहते हैं परन्तु ऐसा नहीं है; यह तो प्रत्यक्ष मिथ्यात्व-दशा है। व्यवहाररूप देवादि का श्रद्धान होनेपर भी, जब मिथ्यात्व रहता है, तब इसको तो देव-कुदेव का कुछ निर्णय ही नहीं है; इसको तो यह विनयमिथ्यात्व प्रगट है—ऐसा जानना।

इस तरह सम्यक्त्व के सन्मुख मिथ्यादृष्टियों का कथन किया, प्रसंग पाकर, अन्य भी कथन किया है।

इस प्रकार जैनमतवाले मिथ्यादृष्टियों के स्वरूप का निरूपण किया। ⊛

यहाँ नाना प्रकार के मिथ्यादृष्टियों का कथन किया है।

उसका प्रयोजन यह जानना—इन प्रकारों को पहिचानकर, **अपने में कोई ऐसा दोष**

हो तो उसे दूर करके, सम्यक्श्रद्धानी होना; औरों के ही ऐसे दोष देख-देखकर, कषायी नहीं होना, क्योंकि अपना भला-बुरा तो अपने परिणामों से है।

औरों को तो यदि रुचिवान देखें तो कुछ उपदेश देकर, उनका भी भला करें; **इसलिए अपने परिणाम सुधारने का उपाय करना योग्य है। सर्व प्रकार के मिथ्यात्वभाव छोड़कर, सम्यग्दृष्टि होना योग्य है क्योंकि संसार का मूल, मिथ्यात्व है; मिथ्यात्व के समान, अन्य पाप नहीं है।**

एक मिथ्यात्व और उसके साथ अनन्तानुबन्धी का अभाव होने से, इकतालीस प्रकृतियों का❁ तो बन्ध ही मिट जाता है, स्थिति अन्त: कोड़ाकोड़ी सागर की रह जाती है, अनुभाग थोड़ा ही रह जाता है, शीघ्र ही मोक्षपद को प्राप्त करता है परन्तु मिथ्यात्व का सद्भाव रहते हुए, अन्य अनेक उपाय करनेपर भी, मोक्षमार्ग नहीं होता।

अत: जिस-तिस उपाय से, सर्व प्रकार के मिथ्यात्व का नाश करना, योग्य है।

❁ ❁ ❁

- इति श्री मोक्षमार्गप्रकाशक नामक शास्त्र में,
'जैनमतवाले मिथ्यादृष्टियों का निरूपण' जिसमें हुआ
- ऐसा [सातवाँ] अधिकार सम्पूर्ण हुआ॥ ७॥

❁ **४१ प्रकृतियों के नाम —**

मिथ्यात्वसम्बन्धी १६ प्रकृतियाँ — मिथ्यात्व, हुंडकसंस्थान, नपुंसकवेद, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, नरकायु, असंप्राप्तासृपाटिकासंहनन, चार जाति (एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय), स्थावर, आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण।

अनन्तानुबन्धी सम्बन्धी २५ प्रकृतियाँ — चार अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ, स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, दुर्भग, दु:स्वर, अनादेय, अप्रशस्त विहायोगति, स्त्रीवेद, नीचगोत्र, तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, तिर्यगायु, उद्योत, चार संस्थान (न्यग्रोध, स्वाति, कुब्जक, वामन), चार संहनन (वज्रनाराच, नाराच, अर्धनाराच और कीलित)।

आठवाँ अधिकार
उपदेश का स्वरूप

॥ ॐ नमः ॥

अथ, मिथ्यादृष्टि जीवों को मोक्षमार्ग का उपदेश देकर, उनका उपकार करना—यह ही उत्तम उपकार है। तीर्थंकर-गणधरादि भी ऐसा ही उपकार करते हैं; इसलिए इस शास्त्र में भी उन्हीं के उपदेशानुसार उपदेश देते हैं।

वहाँ उपदेश का स्वरूप जानने के लिए, कुछ व्याख्यान करते हैं क्योंकि उपदेश को यथावत् न पहिचानें तो अन्यथा मानकर, विपरीत प्रवर्तन करें; इसलिए उपदेश का स्वरूप कहते हैं —

जिनमत में उपदेश, चार अनुयोग के द्वारा दिया गया है—१. प्रथमानुयोग, २. करणानुयोग, ३. चरणानुयोग, ४. द्रव्यानुयोग—ये चार अनुयोग हैं।

वहाँ जिसमें, तीर्थंकर-चक्रवर्ती आदि महान पुरुषों के चरित्र का निरूपण किया हो, वह **प्रथमानुयोग** है; जिसमें, गुणस्थान-मार्गणादिरूप जीव का, कर्मों का व त्रिलोकादि का निरूपण हो, वह **करणानुयोग** है; जिसमें, गृहस्थ-मुनि के धर्म-आचरण करने का निरूपण हो, वह **चरणानुयोग** है तथा जिसमें, षट्द्रव्य, सप्त तत्त्वादि का व स्व-पर भेदविज्ञान आदि का निरूपण हो, वह **द्रव्यानुयोग** है।

अनुयोगों का प्रयोजन

अब, इनका प्रयोजन कहते हैं —

प्रथमानुयोग का प्रयोजन

प्रथमानुयोग में तो संसार की विचित्रता, पुण्य-पाप का फल, महन्त पुरुषों की प्रवृत्ति इत्यादि निरूपण से, जीवों को धर्म में लगाते हैं। जो जीव, तुच्छबुद्धि हों, वे भी उससे धर्म-सन्मुख होते हैं क्योंकि वे जीव, सूक्ष्म निरूपण को नहीं पहिचानते; लौकिक कथाओं को जानते हैं, वहाँ उनका उपयोग लगता है। प्रथमानुयोग में लौकिक प्रवृत्तिरूप ही निरूपण होता

है, उसे वे भलीभाँति समझ जाते हैं तथा लोक में तो राजादि की कथाओं में, पाप का पोषण होता है; यहाँ महन्तपुरुष राजादि की कथाएँ तो हैं परन्तु जहाँ-तहाँ पाप को छुड़ाकर, धर्म में लगाने का प्रयोजन प्रगट करते हैं; इसलिए वे जीव, कथाओं के लालच से तो उन्हें पढ़ते-सुनते हैं और फिर पाप को बुरा व धर्म को भला जानकर, धर्म में रुचिवन्त होते हैं।

इस प्रकार यह अनुयोग, तुच्छबुद्धियों को समझाने के लिए है।

'प्रथम' अर्थात् 'अव्युत्पन्न मिथ्यादृष्टि', उनके लिए जो अनुयोग, वह प्रथमानुयोग है – ऐसा अर्थ, गोम्मटसार की टीका में ① किया है।

वहाँ जिन जीवों को तत्त्वज्ञान हुआ हो, पश्चात् इस प्रथमानुयोग को पढ़े-सुनें तो उन्हें यह उसके उदाहरणरूप भासित होता है। जैसे—जीव, अनादिनिधन है; शरीरादि संयोगी पदार्थ हैं—ऐसा यह जानता था; वहाँ पुराणों में जीवों के भवान्तर निरूपित किए हैं, वे उस जानने के उदाहरण हुए। ऐसे ही यह शुभ-अशुभ-शुद्धोपयोग को जानता था व उनके फल को जानता था; पुराणों में उन उपयोगों की प्रवृत्ति और उनका फल, जीव को प्राप्त हुआ, उसका निरूपण किया है, वही उस जानने का उदाहरण हुआ। इसी प्रकार अन्य जानना।

यहाँ उदाहरण का अर्थ यह है कि जिस प्रकार जानता था, उसी प्रकार वहाँ (उदाहरण में) किसी जीव की अवस्था हुई; इसलिए यह उस जानने की साक्षी हुई।

वहाँ जैसे—कोई सुभट है, वह सुभटों की प्रशंसा और कायरों की निन्दा, जिसमें हो – ऐसी किन्हीं पुराण (महन्त) पुरुषों की कथा सुनने से, सुभटपने में अति उत्साहवान होता है; उसी प्रकार धर्मात्मा है, वह धर्मात्माओं की प्रशंसा और पापियों की निन्दा, जिसमें हो – ऐसी किन्हीं पुराणपुरुषों की कथा सुनने से, धर्म में अति उत्साहवान होता है।

इस प्रकार यह प्रथमानुयोग का प्रयोजन जानना।

करणानुयोग का प्रयोजन

करणानुयोग में जीवों व कर्मों के विशेष तथा त्रिलोकादि की रचना निरूपित करके, जीवों को धर्म में लगाते है। जो जीव, धर्म में उपयोग लगाना चाहते हैं, वे जीवों को गुणस्थान -मार्गणा आदि विशेष तथा कर्मों के कारण-अवस्था-फल, किस-किसके कैसे-कैसे पाये जाते हैं, इत्यादि विशेष तथा त्रिलोक में नरक-स्वर्गादि के स्थानों को पहिचानकर, पाप से विमुख होकर, धर्म में लगते हैं। तथा ऐसे विचार में उपयोग रम जाए, तब पापप्रवृत्ति छूटकर, स्वयमेव तत्काल धर्म उत्पन्न होता है; उस अभ्यास से, तत्त्वज्ञान की भी प्राप्ति शीघ्र होती है।

---

① प्रथमं मिथ्यादृष्टिमव्रतिकमव्युत्पन्नं वा प्रतिपाद्यमाश्रित्य प्रवृत्तोऽनुयोगोऽधिकारः प्रथमानुयोगः।

(– जीवतत्त्व प्रबोधिनी टीका, गोम्मटसार, गाथा ३६१-६२)

– ऐसा सूक्ष्म यथार्थ कथन, जिनमत में ही है; अन्यत्र नहीं है। इस प्रकार महिमा जानकर, जिनमत का श्रद्धानी होता है।

वहाँ जो जीव, तत्त्वज्ञानी होकर इस करणानुयोग का अभ्यास करते हैं, उन्हें यह उसके विशेषणरूप भासित होता है। जिन जीवादि तत्त्वों को आप जानता है, उन्हीं के विशेष करणानुयोग में (वर्णित) किये हैं; वहाँ कितने ही विशेषण तो यथावत् निश्चयरूप हैं, कितने ही उपचारसहित व्यवहाररूप हैं, कितने ही द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावादि के स्वरूप-प्रमाणादिरूप हैं, कितने ही निमित्त आश्रयादि की अपेक्षासहित हैं, इत्यादि अनेक प्रकार के विशेषण निरूपित किये हैं, उन्हें ज्यों का त्यों मानता हुआ, वह उस करणानुयोग का अभ्यास करता है।

इस अभ्यास से तत्त्वज्ञान निर्मल होता है। जैसे–कोई यह तो जानता था कि यह रत्न है परन्तु उस रत्न के बहुत विशेष जाननेपर, वह रत्न का निर्मल पारखी होता है; उसी प्रकार यह तत्त्वों को जानता था कि 'ये जीवादि हैं' परन्तु उन तत्त्वों के बहुत विशेष जाने तो तत्त्वज्ञान निर्मल होता है। तत्त्वज्ञान निर्मल होनेपर, आप ही विशेष धर्मात्मा होता है।

वहाँ अन्य स्थानों पर उपयोग को लगाने से तो रागादि की वृद्धि होती है और छद्मस्थ का उपयोग निरन्तर एकाग्र रहता नहीं है; इसलिए ज्ञानी, इस करणानुयोग के अभ्यास में उपयोग को लगाता है, उससे केवलज्ञान द्वारा देखे गए पदार्थों का जानपना इसको होता है; प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष ही का भेद है, भासित होने में विरुद्धता नहीं है।

इस प्रकार यह 'करणानुयोग का प्रयोजन' जानना।

'करण' अर्थात् गणित कार्य के कारणरूप सूत्र, उनका जिसमें अनुयोग अर्थात् अधिकार हो, वह करणानुयोग है; इसमें गणित वर्णन की मुख्यता होती है–ऐसा जानना।

चरणानुयोग का प्रयोजन

अब, चरणानुयोग का प्रयोजन कहते हैं–चरणानुयोग में नाना प्रकार धर्म के साधन निरूपित करके, जीवों को धर्म में लगाते हैं। जो जीव, हित-अहित को नहीं जानते, हिंसादि पापकार्यों में तत्पर हो रहे हैं; उन्हें जिस प्रकार वे पापकार्यों को छोड़कर, धर्मकार्यों में लगें, उस प्रकार उपदेश दिया है; उसे जानकर जो धर्म आचरण करने को सन्मुख हुए; वे जीव, गृहस्थधर्म व मुनिधर्म का विधान सुनकर, आप से जैसा सधे, वैसे धर्मसाधन में लगते हैं।

– ऐसे साधन से कषाय, मन्द होती है; उसके फल में इतना तो होता है कि कुगति में दुःख नहीं पाते और सुगति में सुख प्राप्त करते हैं। तथा ऐसे साधन से, जिनमत का निमित्त बना रहता है; वहाँ तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होना हो तो हो जाती है।

वहाँ जो जीव, तत्त्वज्ञानी होकर चरणानुयोग का अभ्यास करते हैं, उन्हें ये सर्व आचरण, अपने वीतरागभाव के अनुसार भासित होते हैं। एकदेश या सर्वदेश वीतरागता होनेपर ऐसी श्रावकदशा या मुनिदशा होती है क्योंकि इनमें निमित्त-नैमित्तिकपना पाया जाता है—ऐसा जानकर, श्रावक व मुनिधर्म के विशेष पहिचानकर, जैसा अपना वीतरागभाव हुआ हो, वैसा अपने योग्य धर्म को साधते हैं। वहाँ जितने अंशों में वीतरागता होती है, उसे कार्यकारी जानते हैं व जितने अंश में राग रहता है, उसे हेय जानते हैं; सम्पूर्ण वीतरागता को परम-धर्म मानते हैं।

इस प्रकार चरणानुयोग का प्रयोजन है।

द्रव्यानुयोग का प्रयोजन

अब, द्रव्यानुयोग का प्रयोजन कहते हैं—द्रव्यानुयोग में द्रव्यों का व तत्त्वों का निरूपण करके, जीवों को धर्म में लगाते हैं। जो जीव, जीवादि द्रव्यों को व तत्त्वों को पहिचानते नहीं, आपा-पर को भिन्न जानते नहीं, उन्हें हेतु-दृष्टान्त-युक्तियों द्वारा व प्रमाण-नयादि द्वारा, उनका स्वरूप इस प्रकार दिखाया है कि जिस प्रकार इनको प्रतीति हो जाए, उसके अभ्यास से अनादि अज्ञानता दूर होती है; अन्यमत कल्पित तत्त्वादि, मिथ्या भासित होते हैं, तब जिनमत की प्रतीति होती है और उनके भाव को पहिचानने का अभ्यास रखें तो शीघ्र ही तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हो जाती है।

वहाँ जिनके तत्त्वज्ञान हुआ हो, वे जीव, द्रव्यानुयोग का अभ्यास करें तो उन्हें अपने श्रद्धान के अनुसार वह सर्व कथन प्रतिभासित होता है। जैसे—किसी ने कोई विद्या सीख ली, परन्तु यदि उसका अभ्यास करता रहे तो वह याद रहती है, न करे तो भूल जाता है; उसी प्रकार इसको तत्त्वज्ञान हुआ, परन्तु यदि उसके प्रतिपादक द्रव्यानुयोग का अभ्यास करता रहे तो वह तत्त्वज्ञान रहता है, न करे तो भूल जाता है अथवा संक्षेपरूप से तत्त्वज्ञान हुआ था, वह नाना युक्ति-हेतु-दृष्टान्तादि द्वारा स्पष्ट हो जाए तो उसमें शिथिलता नहीं हो सकती। तथा इस अभ्यास से, रागादि घटने से शीघ्र मोक्ष सधता है।

इस प्रकार द्रव्यानुयोग का प्रयोजन जानना।

अनुयोगों के व्याख्यान का विधान

अब, इन अनुयोगों में किस प्रकार व्याख्यान है, वह कहते हैं —

प्रथमानुयोग के व्याख्यान का विधान

प्रथमानुयोग में जो मूल कथाएँ हैं, वे तो जैसी हैं, वैसी ही निरूपित करते हैं तथा उनमें प्रसंग पाकर जो व्याख्यान होता है, वह कोई तो ज्यों का त्यों होता है, कोई ग्रन्थकर्ता के विचारानुसार होता है परन्तु प्रयोजन अन्यथा नहीं होता।

उसका उदाहरण—जैसे—तीर्थंकरदेवों के कल्याणकों में, इन्द्र आए—यह कथा तो सत्य है। वहाँ इन्द्र ने स्तुति की, उसका व्याख्यान किया; लेकिन इन्द्र ने तो अन्य प्रकार से ही स्तुति की थी और यहाँ ग्रन्थकर्ता ने अन्य ही प्रकार से स्तुति करना लिखा है परन्तु स्तुतिरूप प्रयोजन अन्यथा नहीं हुआ।

इसी प्रकार परस्पर किन्हीं के वचनालाप हुआ; वहाँ उनके तो अन्य प्रकार अक्षर निकले थे, यहाँ ग्रन्थकर्ता ने अन्य प्रकार के कहे, परन्तु प्रयोजन एक ही दिखलाते हैं।

वहाँ नगर-वन-संग्रामादि के नामादि तो यथावत् ही लिखते हैं परन्तु वर्णन प्रयोजन का पोषण करता हुआ हीनाधिक भी निरूपित करते हैं, इत्यादि इसी प्रकार जानना।

इसी प्रकार प्रसंगरूप कथा भी ग्रन्थकर्ता अपने विचारानुसार कहते हैं। जैसे—धर्म-परीक्षा में मूर्खों की कथा लिखी, लेकिन वही कथा, मनोवेग ने कही थी—ऐसा नियम नहीं है परन्तु मूर्खपने का पोषण करनेवाली कोई कथा कही थी—ऐसे अभिप्राय का पोषण करते हैं। इसी प्रकार अन्यत्र जानना।

यहाँ कोई कहे—अयथार्थ कहना तो जैनशास्त्र में सम्भव नहीं है।

इसका उत्तर—अन्यथा तो उसका नाम है, जो प्रयोजन कुछ का कुछ प्रगट करे। जैसे—किसी से कहा - तू ऐसा कहना, लेकिन उसने वे ही अक्षर नहीं कहे, परन्तु उसी प्रयोजनसहित कहे तो उसे मिथ्यावादी नहीं कहते—ऐसा जानना।

यदि जैसे को तैसा लिखने की (सम्प्रदाय) परम्परा हो तो किसी ने बहुत प्रकार से वैराग्य चिन्तवन किया था, उसका सर्व वर्णन लिखने से ग्रन्थ बढ़ जाता और कुछ भी नहीं लिखने से, उसका भाव भासित नहीं होता; इसलिए वैराग्य के प्रसंग में थोड़ा-बहुत अपने विचार के अनुसार, वैराग्य-पोषक ही कथन करते हैं; सराग-पोषक कथन नहीं करते हैं, वहाँ प्रयोजन अन्यथा नहीं हुआ; इसलिए इसको अयथार्थ नहीं कहते। इसी प्रकार अन्यत्र जानना।

प्रथमानुयोग में जिसकी मुख्यता हो, उसी का पोषण करते हैं।

जैसे—किसी ने उपवास किया, उसका फल तो अल्प था परन्तु उसे अन्य धर्मपरिणति की विशेषता हुई; इसलिए विशेष उच्चपद की प्राप्ति हुई, वहाँ उसको उपवास ही का फल निरूपित करते हैं। ऐसे ही अन्य जानना।

जिस प्रकार किसी ने शीलादि की प्रतिज्ञा दृढ़ रखी, नमस्कारमन्त्र का स्मरण किया व अन्य धर्मसाधन किया, उसके कष्ट दूर हुए, अतिशय प्रगट हुए; वहाँ उन्हीं का वैसा फल नहीं हुआ है परन्तु अन्य किसी कर्म के उदय से वैसे कार्य हुए हैं तथापि उनको उन शीलादि का ही फल निरूपित करते हैं; उसी प्रकार कोई पापकार्य किया, उसको उसी का तो वैसा फल नहीं हुआ है अथवा अन्य कर्म के उदय से नीचगति को प्राप्त हुआ

या कष्टादि हुए, उसे उसी पापकार्य का फल निरूपित करते हैं, इत्यादि इसी प्रकार जानना।

यहाँ कोई कहे—ऐसा झूठा फल दिखलाना तो योग्य नहीं है; ऐसे कथन को प्रमाण कैसे करें ?

उसका समाधान—जो अज्ञानीजीव बहुत फल दिखाए बिना, धर्म में न लगें व पाप से न डरें; उनका भला करने के लिए, ऐसा वर्णन करते हैं। झूठ तो तब हो, जब धर्म के फल को, पाप का फल बतलावें; पाप के फल को, धर्म का फल बतलावें; परन्तु ऐसा तो है नहीं।

जैसे—दस पुरुष मिलकर कोई कार्य करें, वहाँ उपचार से एक पुरुष का भी किया कहा जाए तो दोष नहीं है अथवा जिसके पितादि ने कोई कार्य किया हो, उसे एक जाति अपेक्षा, उपचार से पुत्रादि का किया कहा जाए तो दोष नहीं है; उसी प्रकार बहुत शुभ व अशुभकार्यों का एक फल हुआ, उसे उपचार से एक शुभ व अशुभकार्य का फल कहा जाए तो दोष नहीं है अथवा अन्य शुभ व अशुभकार्य का फल यदि हुआ हो, उसे एक जाति अपेक्षा, उपचार से किसी अन्य ही शुभ व अशुभकार्य का फल कहें तो दोष नहीं है।

उपदेश में कहीं व्यवहारवर्णन है, कहीं निश्चयवर्णन है। यहाँ उपचाररूप व्यवहार-वर्णन किया है, इस प्रकार इसे प्रमाण करते हैं परन्तु इसको तारतम्य नहीं मान लेना, तारतम्य का तो करणानुयोग में निरूपण किया है, उसे जानना।

प्रथमानुयोग में उपचाररूप किसी धर्म का अंग होनेपर, सम्पूर्ण धर्म हुआ कहते हैं।

जैसे—जिन जीवों के शंका-काँक्षादि नहीं हुए, उनको **सम्यक्त्व** हुआ कहते हैं लेकिन किसी एक कार्य में शंका-काँक्षा न करने से ही तो सम्यक्त्व नहीं होता; सम्यक्त्व तो तत्त्वश्रद्धान होनेपर होता है परन्तु [जैसे—] निश्चयसम्यक्त्व का तो व्यवहारसम्यक्त्व में उपचार किया है, वैसे व्यवहारसम्यक्त्व के किसी एक अंग में, सम्पूर्ण व्यवहारसम्यक्त्व का उपचार किया है। इस प्रकार उपचार से सम्यक्त्व हुआ कहते हैं।

वहाँ किसी जैनशास्त्र का एक अंग जाननेपर, **सम्यग्ज्ञान** हुआ कहते हैं लेकिन संशयादि रहित तत्त्वज्ञान होनेपर, सम्यग्ज्ञान होता है परन्तु यहाँ पूर्ववत् उपचार से सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

तथा कोई भला आचरण होनेपर, **सम्यक्चारित्र** हुआ कहते हैं; वहाँ जिसने जैनधर्म अंगीकार किया हो व कोई छोटी-मोटी प्रतिज्ञा ग्रहण की हो, उसे **श्रावक** कहते हैं लेकिन श्रावक तो पंचम गुणस्थानवर्ती होनेपर होता है परन्तु पूर्ववत् उपचार से इसे श्रावक कहा है। उत्तरपुराण में श्रेणिक को श्रावकोत्तम कहा है; वहाँ वह तो असंयत था परन्तु जैन था; इसलिए कहा है। इसी प्रकार अन्यत्र जानना।

इसी प्रकार जो सम्यक्त्वरहित मुनिलिंग धारण करें व द्रव्य से भी कोई अतिचार लगाते हों, [फिर भी] उन्हें मुनि कहते हैं; वहाँ मुनि तो षष्ठादि गुणस्थानवर्ती होनेपर होते हैं परन्तु पूर्ववत् उपचार से मुनि कहा है।

समवसरणसभा में मुनियों की संख्या कही, वहाँ सर्व ही शुद्ध भावलिंगी मुनि नहीं थे परन्तु मुनिलिंग धारण करने से, सभी को मुनि कहा है। इसी प्रकार अन्यत्र जानना।

प्रथमानुयोग में कोई धर्मबुद्धि से अनुचित कार्य करे, उसकी भी प्रशंसा करते हैं।

जैसे—मुनि विष्णुकुमार ने, मुनियों का उपसर्ग दूर किया, वह धर्मानुराग से किया, परन्तु मुनिपद छोड़कर, यह कार्य करना योग्य नहीं था क्योंकि ऐसा कार्य तो गृहस्थधर्म में सम्भव है और गृहस्थधर्म से मुनिधर्म ऊँचा है; वहाँ ऊँचा धर्म छोड़कर, नीचा धर्म अंगीकार किया, वह अयोग्य है परन्तु **वात्सल्य अंग की प्रधानता से, मुनि विष्णुकुमारजी की प्रशंसा की है परन्तु इस छल से औरों को ऊँचा धर्म छोड़कर, नीचा धर्म अंगीकार करना योग्य नहीं है।**

जैसे—**ग्वाले ने मुनि को अग्नि से तपाया, उसने करुणा से ऐसा कार्य किया,** परन्तु आये हुए उपसर्ग को तो दूर करना चाहिए, सहज अवस्था में जो शीतादि का परीषह होता है, उसे दूर करनेपर रति मानने का कारण होता है, जबकि उन्हें रति करना नहीं है, तब उल्टा उपसर्ग होता है; इसी से विवेकी उनके शीतादि का उपचार नहीं करते, परन्तु ग्वाला, अविवेकी था, उसने करुणा से यह कार्य किया; **इसलिए उसकी प्रशंसा की है - इस छल से, औरों को धर्मपद्धति में जो विरुद्ध हो, वह कार्य करना योग्य नहीं है।**

जैसे—वज्रकरण राजा ने, सिंहोदर राजा को नमन नहीं किया, मुद्रिका में प्रतिमा रखी, परन्तु बड़े-बड़े सम्यग्दृष्टि, राजादि को नमन करते हैं, इसमें दोष नहीं है; जबकि मुद्रिका में प्रतिमा रखने में अविनय होती है, यथावत् विधि से ऐसी प्रतिमा नहीं होती; इसलिए इस कार्य में दोष है परन्तु उसे ऐसा ज्ञान नहीं था; धर्मानुराग से, मैं औरों को नमन नहीं करूँगा—ऐसी बुद्धि हुई; इसलिए उसकी प्रशंसा की है परन्तु इस छल से औरों को ऐसे कार्य करना योग्य नहीं है।

इसी प्रकार कितने ही पुरुषों ने, पुत्रादि की प्राप्ति के लिए अथवा रोग कष्टादि दूर करने के लिए, चैत्यालय पूजनादि कार्य किए, स्तोत्रादि किए, नमस्कारमन्त्र स्मरण किया, परन्तु ऐसा करने से तो निःकांक्षितगुण का अभाव होता है; निदानबन्ध नामक आर्तध्यान होता है, उसको पाप ही का प्रयोजन अन्तरंग में है; इसलिए पाप ही का बन्ध होता है परन्तु मोहित होकर भी बहुत पापबन्ध के कारण, कुदेवादि का तो पूजनादि नहीं किया, इतना उसका गुण ग्रहण करके, उसकी प्रशंसा करते हैं परन्तु इस छल से औरों को लौकिककार्यों के लिए, धर्मसाधन करना, युक्त नहीं है। इसी प्रकार अन्य जानना।

— ऐसे ही प्रथमानुयोग में अन्य कथन भी होते हैं, उन्हें यथासम्भव जानकर, भ्रमरूप नहीं होना।

करणानुयोग के व्याख्यान का विधान

अब, करणानुयोग में किस प्रकार व्याख्यान है, वह कहते हैं —

जैसा केवलज्ञान द्वारा जाना गया, वैसा करणानुयोग में व्याख्यान है।

वहाँ केवलज्ञान द्वारा तो बहुत जाना गया, परन्तु इसमें जीव को कार्यकारी, जीव -कर्मादि का व त्रिलोकादि का ही निरूपण होता है। वहाँ उनका भी स्वरूप, सर्व निरूपित नहीं हो सकता है; इसलिए जिस प्रकार वचनगोचर होकर, छद्मस्थ के ज्ञान में उनका कुछ भाव भासित हो, उस प्रकार संकुचित करके, निरूपण करते हैं।

यहाँ उदाहरण—जीव के भावों की अपेक्षा, गुणस्थान कहे हैं, वे भाव, अनन्तस्वरूप-सहित वचनगोचर नहीं हैं, वहाँ बहुत भावों की एक जाति करके, चौदह गुणस्थान कहे हैं। इसी प्रकार जीवों को जानने के अनेक प्रकार हैं, वहाँ मुख्य चौदह मार्गणा का निरूपण किया है। ऐसे ही कर्मपरमाणु अनन्त प्रकार शक्तियुक्त हैं, उनमें बहुतों की एक जाति करके, आठ व एक सौ अड़तालीस प्रकृतियाँ कही हैं। इसी प्रकार त्रिलोक में, अनेक रचनाएँ हैं, वहाँ मुख्यरूप से कितनी ही रचनाओं का निरूपण करते हैं। ऐसे ही प्रमाण के अनन्त भेद हैं, वहाँ संख्यातादि तीन भेद व इनके इक्कीस भेद निरूपित किए हैं। इसी प्रकार अन्यत्र जानना।

करणानुयोग में यद्यपि वस्तु के क्षेत्र-काल-भावादि अखण्डित हैं तथापि छद्मस्थ को हीनाधिक ज्ञान होने के कारण, प्रदेश-समय-अविभाग-प्रतिच्छेद आदि की कल्पना करके, उनका प्रमाण निरूपित करते हैं। वहाँ एक वस्तु में, भिन्न-भिन्न गुणों का व पर्यायों का भेद करके, निरूपण करते हैं। इसी प्रकार जीव-पुद्गलादि यद्यपि भिन्न-भिन्न हैं तथापि सम्बन्धादि के द्वारा, अनेक द्रव्यों से उत्पन्न गति-जाति आदि भेदों को, एक जीव के निरूपित करते हैं, इत्यादि व्याख्यान, व्यवहारनय की प्रधानतासहित जानना, क्योंकि व्यवहार के बिना, विशेष नहीं जाना जा सकता। वहाँ कहीं निश्चयवर्णन भी पाया जाता है। जैसे—जीवादि द्रव्यों का प्रमाण निरूपण किया, वहाँ भिन्न-भिन्न इतने ही द्रव्य हैं, वह यथासम्भव जान लेना।

करणानुयोग में जो कथन हैं, वे कितने ही तो छद्मस्थ के प्रत्यक्ष अनुमानादि गोचर होते हैं तथा यदि न हों तो उन्हें आज्ञाप्रमाण से मानना। जैसे—जीव-पुद्गल की स्थूल बहुत काल-स्थायी मनुष्यादि पर्यायों व घटादि पर्यायों का निरूपण किया है, उनका तो प्रत्यक्ष-अनुमानादि हो सकता है परन्तु प्रति समय सूक्ष्मपरिणमन की अपेक्षा,

ज्ञानादि के व स्निग्ध-रूक्षादि के अंश निरूपित किए हैं, वे आज्ञा से ही प्रमाण होते हैं। इसी प्रकार अन्यत्र जानना।

करणानुयोग में छद्मस्थों की प्रवृत्ति के अनुसार वर्णन नहीं किया है; केवलज्ञानगम्य पदार्थों का निरूपण है। जैसे—कितने ही जीव तो द्रव्यादि का विचार करते हैं व व्रतादि पालते हैं परन्तु उनके अन्तरंग में, सम्यक्त्व-चारित्र शक्ति नहीं है; इसलिए उनको मिथ्यादृष्टि अव्रती कहते हैं तथा कितने ही जीव, द्रव्यादि के व व्रतादि के विचाररहित हैं, अन्य कार्यों में प्रवर्तते हैं व निद्रादि द्वारा निर्विचार हो रहे हैं परन्तु उनके सम्यक्त्वादि शक्ति का सद्भाव है; इसलिए उनको सम्यक्त्वी व व्रती कहते हैं।

इसी प्रकार किसी जीव में कषायों की प्रवृत्ति तो बहुत है परन्तु उसकी अन्तरंग कषायशक्ति थोड़ी है तो उसे मन्दकषायी कहते हैं तथा किसी जीव में कषायों की प्रवृत्ति तो थोड़ी है परन्तु उसकी अन्तरंग कषायशक्ति बहुत है तो उसे तीव्रकषायी कहते हैं।

जैसे—व्यन्तरादि देव, कषायों से नगर नाशादि कार्य करते हैं तथापि उनको थोड़ी कषाय-शक्ति से पीतलेश्या कही है और एकेन्द्रियादि जीव, कषायकार्य करते दिखायी नहीं देते, तथापि उनको बहुत कषायशक्ति से, कृष्णादि लेश्या कही हैं।

इसी प्रकार सर्वार्थसिद्धि के देव, कषायरूप थोड़े प्रवर्तते हैं [तथापि] उनको बहुत कषाय-शक्ति से, **असंयम** कहा है और पंचम गुणस्थानवर्ती, व्यापार-अब्रह्मादि कषायकार्यरूप बहुत प्रवर्तते हैं [तथापि] उनको मन्दकषायशक्ति से, **देशसंयम** कहा है। इसी प्रकार अन्यत्र जानना।

— ऐसे ही किसी जीव में मन-वचन-काय की चेष्टा थोड़ी होती दिखायी देती है तथापि कर्माकर्षण शक्ति की अपेक्षा, बहुत योग कहा है तथा किसी में चेष्टा बहुत दिखायी देती है तथापि शक्ति की हीनता से, अल्प योग कहा है।

जैसे—केवली, गमनादि क्रियारहित हुए, वहाँ भी उनके बहुत योग कहा है तथा द्वीन्द्रियादि जीव, गमनादि करते हैं तथापि उनके अल्प योग कहा है। इसी प्रकार अन्यत्र जानना।

तथा कहीं जिसकी व्यक्तता कुछ भासित नहीं होती तथापि सूक्ष्म शक्ति के सद्भाव से, उसका वहाँ अस्तित्व कहा है। जैसे—मुनि को, अब्रह्मकार्य कुछ नहीं है तथापि नौवें गुणस्थान-पर्यन्त, मैथुन संज्ञा कही है तथा अहमिन्द्रों को दुःख का कारण व्यक्त नहीं है तथापि कदाचित् असाता का उदय कहा है और नारकियों को सुख का कारण व्यक्त नहीं है तथापि कदाचित् साता का उदय कहा है।① इसी प्रकार अन्यत्र जानना।

तथा **करणानुयोग**, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि धर्म का निरूपण, कर्मप्रकृतियों के उपशमादि की अपेक्षासहित, सूक्ष्मशक्ति जैसे पायी जाती है, वैसे गुणस्थानादि में करता है तथा सम्यग्दर्शनादि के विषयभूत जीवादि का भी निरूपण, सूक्ष्मभेदादि सहित करता है।

---

① यहाँ मूल हस्तलिखित प्रति (पृष्ठ ३५२) के अनुसार, एक वाक्य का हिन्दी अनुवाद जोड़ा गया है—'**नारकीनि कै सुख का कारण व्यक्त नाहीं, तौ भी कदाचित् साता का उदय कह्या।**'—यह वाक्य, पूर्व प्रकाशित प्रतियों में छूट गया था।

यहाँ कोई करणानुयोग के अनुसार आप उद्यम करे तो हो नहीं सकता; करणानुयोग में तो यथार्थ पदार्थ का ज्ञान कराने का मुख्य प्रयोजन है; आचरण करवाने की मुख्यता नहीं है। इसलिए यह जीव तो चरणानुयोगादि के अनुसार प्रवर्तन करे, उससे जो कार्य होना है, वह स्वयमेव ही होता है। जैसे—**आप कर्मों के उपशमादि करना चाहे तो कैसे हो ? आप तो तत्त्वादि का निश्चय करने का उद्यम करे, उससे स्वयमेव ही उपशमादि सम्यक्त्व होते हैं।** इसी प्रकार अन्यत्र जानना।

एक अन्तर्मुहूर्त में ग्यारहवें गुणस्थान से गिरकर, क्रमशः मिथ्यादृष्टि होता है, फिर चढ़कर, केवलज्ञान उत्पन्न करता है परन्तु ऐसे सम्यक्त्व आदि के सूक्ष्मभाव, बुद्धिगोचर नहीं होते; इसलिए करणानुयोग के अनुसार जैसा का तैसा जान तो ले, परन्तु प्रवृत्ति, बुद्धिगोचर जैसे भला हो, वैसे करे।

वहाँ करणानुयोग में भी कहीं उपदेश की मुख्यतासहित व्याख्यान होता है, उसे सर्वथा उसी प्रकार नहीं मानना। जैसे—हिंसादि के उपाय को, कुमतिज्ञान कहा है; अन्य मतादि के शास्त्राभ्यास को, कुश्रुतज्ञान कहा है; बुरा दिखे, भला न दिखे, उसे विभंगज्ञान कहा है; वहाँ इनको छोड़ने के लिए, उपदेश द्वारा ऐसा कहा है। **तारतम्य से मिथ्यादृष्टि के सभी ज्ञान, कुज्ञान हैं; सम्यग्दृष्टि के सभी ज्ञान, सुज्ञान हैं।** इसी प्रकार अन्यत्र जानना।

इसी प्रकार कहीं स्थूलकथन किया हो, उसे तारतम्यरूप नहीं जानना।

जैसे—व्यास से तीन गुनी परिधि कही जाती है परन्तु सूक्ष्मता में, कुछ अधिक तीन गुनी होती है। इसी प्रकार अन्यत्र जानना।

ऐसे ही कहीं मुख्यता की अपेक्षा व्याख्यान होता है, उसे सर्व प्रकार नहीं जानना।

जैसे—मिथ्यादृष्टि व सासादनगुणस्थानवाले को पापजीव कहा है; असंयत आदि गुणस्थानवाले को पुण्यजीव कहा है, वहाँ मुख्यपने से ऐसा कहा है; तारतम्य से दोनों के पाप-पुण्य [भाव] यथासम्भव पाये जाते हैं। इसी प्रकार अन्यत्र जानना।

— ऐसे ही और भी नाना प्रकार पाये जाते हैं, उन्हें यथासम्भव जानना।

इस प्रकार करणानुयोग में व्याख्यान का विधान दिखलाया।

चरणानुयोग के व्याख्यान का विधान

अब, चरणानुयोग में व्याख्यान का विधान दिखलाते हैं —

चरणानुयोग में जिस प्रकार जीवों को अपनी बुद्धिगोचर धर्म का आचरण हो, वैसा उपदेश दिया है। वहाँ धर्म तो निश्चयरूप मोक्षमार्ग है, वही है; उसके साधनादि, उपचार से धर्म हैं; इसलिए व्यवहारनय की प्रधानता से नाना प्रकार उपचारधर्म के भेदादि का, इसमें निरूपण

किया जाता है क्योंकि निश्चयधर्म में तो कुछ ग्रहण-त्याग का विकल्प नहीं है और इसको निचली अवस्था में विकल्प छूटता नहीं है; इसलिए इस जीव को धर्मविरोधी कार्यों को छुड़वाने का और धर्मसाधनादि कार्यों को ग्रहण करवाने का इसमें उपदेश होता है।

वह उपदेश दो प्रकार से दिया जाता है—एक तो व्यवहार ही का उपदेश देते हैं और एक निश्चयसहित, व्यवहार का उपदेश देते हैं।

वहाँ जिन जीवों के निश्चय का ज्ञान नहीं है व उपदेश देनेपर होता भी दिखायी नहीं देता — ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव, कुछ धर्मसन्मुख होनेपर, उन्हें **व्यवहार ही का उपदेश** देते हैं।

जिन जीवों को निश्चय-व्यवहार का ज्ञान है व उपदेश देनेपर, उनका ज्ञान होता दिखायी देता है—ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव व सम्यक्त्वसन्मुख मिथ्यादृष्टि जीव, उनको **निश्चयसहित व्यवहार का उपदेश** देते हैं क्योंकि श्रीगुरु, सर्व जीवों के उपकारी हैं।

वहाँ असंज्ञी जीव तो उपदेश ग्रहण करनेयोग्य नहीं हैं; अत: उनका तो इतना ही उपकार किया कि अन्य जीवों को उनकी **दया का उपदेश** दिया। तथा जो जीव, कर्मप्रबलता से निश्चयमोक्षमार्ग को प्राप्त नहीं हो सकते, उनका इतना ही उपकार किया कि उन्हें व्यवहार-धर्म का उपदेश देकर, कुगति के दु:खों के कारण, पापकार्य छुड़ाकर, सुगति के इन्द्रियसुखों के कारणरूप पुण्यकार्यों में लगाया; वहाँ **जितने दु:ख मिटे, उतना ही उपकार हुआ।**

देखो! पापी को तो पापवासना ही रहती है और वह कुगति में जाता है परन्तु वहाँ धर्म का निमित्त नहीं है; इसलिए परम्परा से दु:ख ही को पाता रहता है तथा पुण्यवान् को धर्मवासना रहती है और वह सुगति में जाता है, वहाँ धर्म के निमित्त प्राप्त होते हैं; इसलिए परम्परा से सुख को प्राप्त करता है **अथवा उसकी कर्मशक्ति हीन हो जाए तो मोक्षमार्ग को भी प्राप्त हो जाता है;** इसलिए व्यवहारउपदेश द्वारा पाप से छुड़ाकर, पुण्यकार्यों में लगाते हैं।

तथा जो जीव, मोक्षमार्ग को प्राप्त हुए व प्राप्त होनेयोग्य हैं, उनका ऐसा उपकार किया कि उनको निश्चयसहित व्यवहार का उपदेश देकर, मोक्षमार्ग में प्रवर्तित किया।

श्रीगुरु तो सर्व का ऐसा ही उपकार करते हैं परन्तु जिन जीवों का ऐसा उपकार न बने, तो श्रीगुरु क्या करें ?—जैसा बना, वैसा ही उपकार किया; इसलिए दो प्रकार से उपदेश देते हैं।

वहाँ व्यवहार उपदेश में तो बाह्य क्रियाओं की ही प्रधानता है; उनके उपदेश से जीव, पापक्रिया छोड़कर, पुण्यक्रियाओं में प्रवर्तता है, वहाँ क्रिया के अनुसार परिणाम भी, तीव्रकषाय छोड़कर, कुछ मन्दकषायी हो जाते हैं—ऐसे मुख्यरूप से तो इस प्रकार है परन्तु किसी के नहीं हों तो मत होओ; **श्रीगुरु तो परिणाम सुधारने के लिए बाह्य क्रियाओं का उपदेश देते हैं।**

निश्चयसहित व्यवहार के उपदेश में परिणामों की ही प्रधानता है; उसके उपदेश से तत्त्वज्ञान के अभ्यास द्वारा व वैराग्यभावना द्वारा परिणाम सुधारे, वहाँ परिणाम के अनुसार बाह्य-क्रिया भी सुधर जाती है। परिणाम सुधरनेपर, बाह्यक्रिया सुधरती ही सुधरती है; **इसलिए श्रीगुरु, परिणाम सुधारने का मुख्य उपदेश देते हैं।**

— ऐसे दो प्रकार के उपदेश में जहाँ व्यवहार का ही उपदेश हो, वहाँ **सम्यग्दर्शन के लिए,** अरहन्तदेव - निर्ग्रन्थगुरु - दयाधर्म को ही मानना; अन्य को नहीं मानना तथा जीवादि तत्त्वों का जो व्यवहारस्वरूप कहा है, उसका श्रद्धान करना; शंकादि पच्चीस दोष नहीं लगाना; नि:शंकितादि अंग व संवेगादि गुणों का पालन करना, इत्यादि उपदेश देते हैं।

सम्यग्ज्ञान के लिए, जिनमत के शास्त्रों का अभ्यास करना, अर्थ-व्यंजनादि (अर्थाचार -व्यंजनाचार-उभयाचार आदि) अंगों का साधन करना, इत्यादि उपदेश देते हैं।

तथा **सम्यक्चारित्र के लिए,** एकदेश व सर्वदेश हिंसादि पापों का त्याग करना, व्रतादि अंगों का पालन करना, इत्यादि उपदेश देते हैं। वहाँ किसी जीव को विशेषधर्म का साधन न होता जानकर, एक आखड़ी आदि का ही उपदेश देते हैं। जैसे—भील को कौए का माँस छुड़वाया; ग्वाले को नमस्कारमन्त्र जपने का उपदेश दिया; गृहस्थ को चैत्यालय-पूजा-प्रभावनादि कार्य का उपदेश देते हैं, इत्यादि; जैसा जीव हो, उसे वैसा उपदेश देते हैं।

इसी प्रकार जहाँ निश्चयसहित व्यवहार का उपदेश होता है, वहाँ **सम्यग्दर्शन के लिए,** यथार्थ तत्त्वों का श्रद्धान कराते हैं; उनका जो निश्चयस्वरूप है, वह भूतार्थ है; जो व्यवहारस्वरूप है, वह उपचार है—ऐसे श्रद्धानसहित व स्व-पर के भेदज्ञान के द्वारा, परद्रव्य में रागादि छोड़ने के प्रयोजनसहित, उन तत्त्वों का श्रद्धान करने का उपदेश देते हैं—ऐसे श्रद्धान से अरहन्तादि के सिवाय, अन्य देवादि मिथ्या भासित हों, तब स्वयमेव उनका मानना छूट जाता है; उसका भी निरूपण करते हैं।

सम्यग्ज्ञान के लिए, संशयादि रहित, उन्हीं तत्त्वों को उसी प्रकार जानने का उपदेश देते हैं—ऐसे जानने में कारण, जिनशास्त्रों का अभ्यास है; इसलिए उस प्रयोजन के लिए, जिनशास्त्रों का भी अभ्यास स्वयमेव होता है; उसका निरूपण करते हैं।

तथा **सम्यक्चारित्र के लिए,** रागादि दूर करने का उपदेश देते हैं; वहाँ एकदेश व सर्वदेश तीव्ररागादि का अभाव होनेपर, उनके निमित्त से जो एकदेश व सर्वदेश पापक्रिया होती थी, वह छूटती है तथा **मन्दराग से श्रावक-मुनि के व्रतों की प्रवृत्ति होती है और मन्दराग का भी अभाव होनेपर, शुद्धोपयोग की प्रवृत्ति होती है;** उसका निरूपण करते हैं।

वहाँ यथार्थ श्रद्धानसहित सम्यग्दृष्टियों के जैसे कोई यथार्थ आखड़ी (प्रतिज्ञा) होती है या भक्ति होती है या पूजा-प्रभावनादि कार्य होते हैं या ध्यानादि होते हैं, उनका उपदेश देते हैं।

जिनमत में जैसा सच्चा परम्परामार्ग है, वैसा उपदेश देते हैं।

— ऐसे दो प्रकार का उपदेश चरणानुयोग में जानना।

वहाँ **चरणानुयोग में तीव्रकषायों का कार्य छुड़ाकर, मन्दकषायरूप कार्य करने का उपदेश देते हैं।** यद्यपि कषाय करना बुरा ही है तथापि सर्व कषाय न छूटते जानकर, जितनी कषाय घटें, उतना ही भला होगा - ऐसा प्रयोजन वहाँ जानना। जैसे—जिन जीवों को आरम्भादि करने की व मन्दिरादि (घर) बनवाने की व विषय-सेवन की व क्रोधादि करने की इच्छा सर्वथा दूर न होती जाने, उन्हें पूजा-प्रभावना-दानादि करने का व चैत्यालयादि बनवाने का व जिनदेवादि के आगे शोभादि, नृत्य-गानादि करने का व धर्मात्मा पुरुषों की सहाय आदि करने का उपदेश देते हैं क्योंकि इनमें परम्परा कषाय का पोषण नहीं होता; पापकार्यों में परम्परा कषाय का पोषण होता है; इसलिए पापकार्यों से छुड़ाकर, इन कार्यों में लगाते हैं।

वहाँ थोड़ा-बहुत जितना छूटता जाने, उतना पापकार्य छुड़ाकर, उन्हें सम्यक्त्व व अणुव्रतादि पालने का उपदेश देते हैं। तथा जिन जीवों के सर्वथा आरम्भादि की इच्छा दूर हुई है, उनको पूर्वोक्त पूजादि कार्य व सर्व पापकार्य छुड़ाकर, महाव्रतादि क्रियाओं का उपदेश देते हैं।

तथा किंचित् रागादि न छूटते जानकर, उन्हें दया-धर्मोपदेश-प्रतिक्रमणादि कार्य करने का उपदेश देते हैं। **जहाँ सर्व राग दूर हुआ हो, वहाँ कुछ करने का कार्य ही नहीं रहा; इसलिए उन्हें कुछ उपदेश ही नहीं है—ऐसा क्रम जानना।**

चरणानुयोग में कषायी जीवों को कषाय उत्पन्न करके भी, पाप को छुड़ाते हैं और धर्म में लगाते हैं। जैसे—पाप का फल, नरकादि के दुःख दिखाकर, उनको **भयकषाय** उत्पन्न करके, पापकार्य छुड़वाते हैं तथा पुण्य के फल, स्वर्गादि के सुख दिखाकर, उन्हें **लोभकषाय** उत्पन्न करके, धर्मकार्यों में लगाते हैं। वहाँ यह जीव, इन्द्रियविषय-शरीर-पुत्र-धनादि के अनुराग से पाप करता है, धर्म से पराङ्मुख रहता है; इसलिए इन्द्रियविषयों को मरण-क्लेशादि के कारण दिखलाकर, उनमें **अरतिकषाय** कराते हैं। शरीरादि को अशुचि दिखलाकर, वहाँ **जुगुप्साकषाय** कराते हैं।

पुत्रादि को धनादि के ग्राहक दिखाकर, वहाँ **द्वेष** कराते हैं तथा धनादि को मरण -क्लेशादि का कारण दिखाकर, वहाँ **अनिष्टबुद्धि** कराते हैं, इत्यादि उपायों से, विषयादि में तीव्र राग दूर होने से, उनके पापक्रिया छूटकर, धर्म में प्रवृत्ति होती है। तथा नामस्मरण-स्तुतिकरण -पूजा-दान-शीलादि से इस लोक में दारिद्र्य-कष्ट-दुःख दूर होते हैं; पुत्र-धनादि की प्राप्ति होती है—ऐसे निरूपण द्वारा, उनको **लोभ** उत्पन्न करके, उन्हें धर्मकार्यों में लगाते हैं।

इसी प्रकार अन्य उदाहरण जानना।

यहाँ प्रश्न है—कोई कषाय छुड़ाकर, कोई कषाय कराने का प्रयोजन क्या है?

उसका समाधान—जैसे—रोग तो शीतांग भी है और ज्वर भी है परन्तु किसी का शीतांग से मरण होता जाने, वहाँ वैद्य, उसको ज्वर होने का उपाय करता है; ज्वर होने के पश्चात्, उसके जीने की आशा होती है, तब बाद में ज्वर को भी मिटाने का उपाय करता है।

उसी प्रकार कषाय तो सर्व ही हेय हैं परन्तु कितने ही जीवों को कषायों से पापकार्य होता जाने, वहाँ श्रीगुरु, उनको पुण्यकार्य में कारणभूत कषाय होने का उपाय करते हैं; पश्चात् उसके सच्ची धर्मबुद्धि हुई जानते हैं, तब बाद में उस कषाय को भी मिटाने का उपाय करते हैं—ऐसा प्रयोजन जानना।

चरणानुयोग में जैसे जीव, पाप छोड़कर, धर्म में लगें, वैसे अनेक युक्तियों द्वारा वर्णन करते हैं। वहाँ लौकिक दृष्टान्त-युक्ति-उदाहरण-न्यायप्रवृत्ति के द्वारा समझाते हैं व कहीं अन्यमत के भी उदाहरणादि कहते हैं।

जैसे—सूक्ति मुक्तावली में लक्ष्मी को कमलवासिनी कहा है व समुद्र में से विष और लक्ष्मी उत्पन्न हुए, उस अपेक्षा उसे विष की भगिनी कहा है। इसी प्रकार अन्यत्र कहा है।

वहाँ कितने ही उदाहरणादि झूठे भी हैं परन्तु सच्चे प्रयोजन का पोषण करते हैं; इसलिए दोष नहीं है।

यहाँ कोई कहे—झूठ का तो दोष लगता है ?

उसका उत्तर—यदि झूठ भी है और सच्चे प्रयोजन का पोषण करे तो उसे झूठ नहीं कहते तथा सच भी है और झूठे प्रयोजन का पोषण करे तो वह झूठ ही है।

अलंकार-युक्ति-नामादि में वचन अपेक्षा, झूठ-सच नहीं होता है; प्रयोजन अपेक्षा, झूठ-सच होता है। जैसे—तुच्छ शोभासहित नगरी को, इन्द्रपुरी के समान कहते हैं, वह झूठ है परन्तु शोभा के प्रयोजन का पोषण करता है; इसलिए झूठ नहीं है।

इसी प्रकार 'इस नगरी में छत्र ही में दण्ड होता है; अन्यत्र नहीं है'—ऐसा कहा, वह झूठ है; अन्यत्र भी दण्ड देना पाया जाता है परन्तु 'वहाँ अन्यायवान् थोड़े हैं और न्यायवान् को दण्ड नहीं देते हैं'—ऐसे प्रयोजन का पोषण होता है; इसलिए झूठ नहीं है।

वहाँ बृहस्पति का नाम, 'सुरगुरु' लिखते हैं व मंगल का नाम, 'कुज' लिखते हैं परन्तु ऐसे नाम अन्यमत की अपेक्षा हैं; इनका अक्षरार्थ है, वह झूठा है परन्तु वह नाम, उस पदार्थ का अर्थ प्रगट करता है; इसलिए झूठ नहीं है।

इस प्रकार अन्यमतादि के उदाहरणादि देते हैं, वे झूठे हैं परन्तु उदाहरणादि का तो श्रद्धान कराना है नहीं; श्रद्धान तो प्रयोजन का कराना है, वह प्रयोजन सच्चा है; इसलिए दोष नहीं है।

चरणानुयोग में छद्मस्थ को बुद्धिगोचर स्थूलपने की अपेक्षा, लोकप्रवृत्ति की मुख्यता-सहित उपदेश देते हैं; वहाँ केवलज्ञानगोचर सूक्ष्मपने की अपेक्षा, [उपदेश] नहीं देते, क्योंकि उसका आचरण नहीं हो सकता है, जबकि यहाँ आचरण कराने का प्रयोजन है।

जैसे—**अणुव्रती को त्रसहिंसा का त्याग** कहा है परन्तु उसको स्त्रीसेवनादि क्रियाओं में त्रसहिंसा होती है। वह यह भी जानता है कि जिनवाणी में यहाँ त्रस कहे हैं परन्तु उसको त्रस मारने का अभिप्राय नहीं है; अतः लोक में जिसका नाम, त्रसघात है, उसे नहीं करता है; इसलिए उस अपेक्षा उसको त्रसहिंसा का त्याग है।

इसी प्रकार **मुनि को स्थावर-हिंसा का भी त्याग** कहा है परन्तु मुनि, पृथ्वी जलादि में गमनादि करते हैं, वहाँ सर्वथा त्रस का भी अभाव नहीं है क्योंकि त्रसजीवों की भी अवगाहना इतनी छोटी होती है कि जो दृष्टिगोचर नहीं होती और उनकी स्थिति, पृथ्वी-जलादि में ही होती है—ऐसा जिनवाणी से मुनि जानते हैं व कदाचित् अवधिज्ञानादि से भी जानते हैं परन्तु उनको प्रमाद से स्थावर-त्रस की हिंसा का अभिप्राय नहीं है।

तथा लोक में भूमि खोदना, अप्रासुक जल से क्रिया करना, इत्यादि प्रवृत्ति का नाम, **स्थावरहिंसा** है और स्थूल त्रसजीवों को पीड़ित करने का नाम, **त्रसहिंसा** है, उसे नहीं करते; इसलिए मुनि को **सर्वथा हिंसा का त्याग** कहते हैं।

इसी प्रकार **असत्य-स्तेय-अब्रह्म-परिग्रह का त्याग** कहा है परन्तु केवलज्ञान से जानने की अपेक्षा तो असत्यवचनयोग, बारहवें गुणस्थानपर्यन्त कहा है; अदत्तकर्मपरमाणु आदि परद्रव्य का ग्रहण, तेरहवें गुणस्थानपर्यन्त है; वेद का उदय, नववें गुणस्थानपर्यन्त है; अन्तरंग-परिग्रह, दसवें गुणस्थानपर्यन्त है; बाह्यपरिग्रह समवसरणादि, केवली को भी होता है।

वहाँ [मुनि को] प्रमाद से पापरूप अभिप्राय नहीं है और लोकप्रवृत्ति में जिन क्रियाओं से 'यह झूठ बोलता है, चोरी करता है, कुशील सेवन करता है, परिग्रह रखता है', इत्यादि नाम पाता है, वे क्रियाएँ इनके नहीं हैं; इसलिए असत्यादि का इनको त्याग कहा है।

तथा जैसे—**मुनि के मूलगुणों में पंचेन्द्रियों के विषय का त्याग** कहा है परन्तु इन्द्रियों का जानना तो मिटता नहीं है और विषयों में राग-द्वेष सर्वथा दूर हुए हों तो यथाख्यातचारित्र हो जाए, वह हुआ नहीं है परन्तु स्थूलरूप से विषय-इच्छा का अभाव हुआ है और बाह्य विषयसामग्री मिलाने की प्रवृत्ति दूर हुई है; इसलिए इनके इन्द्रियविषय का त्याग कहा है।

इसी प्रकार अन्यत्र जानना।

वहाँ व्रतीजीव, त्याग व आचरण करता है, वह चरणानुयोग की पद्धति अनुसार व लोकप्रवृत्ति के अनुसार, त्याग करता है। जैसे—किसी ने **त्रसहिंसा का त्याग** किया, वहाँ चरणानुयोग में व लोक में जिसे त्रसहिंसा कहते हैं, उसका त्याग किया है; केवलज्ञानादि के द्वारा जो त्रस देखे जाते हैं, उनकी हिंसा का त्याग बनता ही नहीं।

वहाँ जिस **त्रसहिंसा का त्याग** किया, उसरूप मन का विकल्प न करना, वह **मन से त्याग** है; वचन न बोलना, वह **वचन से त्याग** है; काय द्वारा नहीं प्रवर्तना, वह **काय से त्याग** है। इसी प्रकार अन्य त्याग व ग्रहण होता है, वह ऐसी पद्धतिसहित ही होता है - ऐसा जानना।

यहाँ प्रश्न है—करणानुयोग में तो केवलज्ञान की अपेक्षा तारतम्य कथन है, वहाँ छठे गुणस्थान में **सर्वथा बारह अविरतियों का अभाव** कहा है, वह किस प्रकार कहा है?

उसका उत्तर—अविरति भी योग व कषाय में गर्भित है परन्तु वहाँ भी चरणानुयोग की अपेक्षा त्याग का अभाव, उसी का नाम, अविरति कहा है—ऐसे वहाँ उसका अभाव है।

मुनि को **मन-अविरति का अभाव** कहा, वहाँ मन के विकल्प तो होते हैं परन्तु स्वेच्छाचारी मन की पापरूप प्रवृत्ति के अभाव से, मन-अविरति का अभाव कहा है - ऐसा जानना।

चरणानुयोग में व्यवहार लोकप्रवृत्ति की अपेक्षा ही नामादि कहते हैं। जैसे—सम्यक्त्वी को पात्र और मिथ्यात्वी को अपात्र कहा; यहाँ जिसके जिनदेवादि का श्रद्धान पाया जाए, वह तो सम्यक्त्वी; जिसके उनका श्रद्धान नहीं है, वह मिथ्यात्वी जानना, क्योंकि दान देना, चरणानुयोग में कहा है; इसलिए चरणानुयोग ही की अपेक्षा, सम्यक्त्व-मिथ्यात्व ग्रहण करना।

वहाँ **करणानुयोग की अपेक्षा**, सम्यक्त्व-मिथ्यात्व ग्रहण करने से, **वही जीव, जो ग्यारहवें गुणस्थान में था और वही अन्तर्मुहूर्त में पहले गुणस्थान में आ जाता है; अतः वहाँ दातार, पात्र-अपात्र का निर्णय कैसे कर सकता है?**

इसी प्रकार **द्रव्यानुयोग की अपेक्षा**, सम्यक्त्व-मिथ्यात्व ग्रहण करनेपर, मुनिसंघ में द्रव्यलिंगी भी हैं और भावलिंगी भी हैं, वहाँ प्रथम तो उनका निर्णय होना कठिन है क्योंकि बाह्यप्रवृत्ति [दोनों की] समान है तथा यदि कदाचित् सम्यक्त्वी को किसी चिह्न द्वारा उनका निर्णय हो जाए और वह उनकी भक्ति न करे तो औरों को संशय होगा कि इसकी भक्ति क्यों नहीं की?—ऐसे उसका मिथ्यादृष्टिपना प्रगट होगा, तब संघ में विरोध उत्पन्न होगा; इसलिए यहाँ व्यवहार सम्यक्त्व-मिथ्यात्व की अपेक्षा, कथन जानना।

यहाँ कोई प्रश्न करे—सम्यक्त्वी तो, द्रव्यलिंगी को अपने से हीनगुणयुक्त मानता है; वह उसकी भक्ति कैसे करे?

उसका समाधान—व्यवहारधर्म का साधन, द्रव्यलिंगी को बहुत है और भक्ति करना, वह भी व्यवहार ही है; इसलिए जैसे—कोई धनवान हो, परन्तु जो कुल में बड़ा हो, उसे कुल

अपेक्षा बड़ा जानकर, उसका सत्कार करता है; उसी प्रकार आप सम्यक्त्वगुणसहित है परन्तु जो व्यवहारधर्म में प्रधान हो, उसे व्यवहारधर्म की अपेक्षा, गुणाधिक मानकर, उसकी भक्ति करता है - ऐसा जानना।

इसी प्रकार जो जीव, बहुत उपवासादि करे, उसे तपस्वी कहते हैं। यद्यपि कोई ध्यान -अध्ययनादि विशेष करता है, वह उत्कृष्ट तपस्वी है तथापि यहाँ चरणानुयोग में बाह्यतप ही की प्रधानता है; इसलिए उसी को तपस्वी कहते हैं। **इसी प्रकार अन्य नामादि जानना।**

— ऐसे ही अन्य प्रकार सहित, चरणानुयोग में व्याख्यान का विधान जानना।

द्रव्यानुयोग के व्याख्यान का विधान

अब, द्रव्यानुयोग के विषय में [व्याख्यान का विधान] कहते हैं —

जीवों को **जीवादि द्रव्यों का यथार्थ श्रद्धान** जैसे हो, वैसे विशेष युक्ति-हेतु-दृष्टान्तादि का यहाँ निरूपण करते हैं क्योंकि इसमें यथार्थ श्रद्धान करवाने का प्रयोजन है। वहाँ यद्यपि जीवादि वस्तु, अभेद है तथापि उनमें भेद-कल्पना करके, व्यवहार से द्रव्य-गुण-पर्यायादि का भेद निरूपण करते हैं; उनकी प्रतीति लाने के लिए, अनेक युक्तियों द्वारा उपदेश देते हैं अथवा प्रमाण-नय द्वारा उपदेश देते हैं, वह भी युक्ति है तथा वस्तु का अनुमान-प्रत्यभिज्ञान आदि करने के लिए, हेतु-दृष्टान्तादि देते हैं।

— ऐसे वहाँ **वस्तु की प्रतीति** करवाने के लिए उपदेश देते हैं।

इसी प्रकार यहाँ **मोक्षमार्ग का श्रद्धान** कराने के लिए, जीवादि तत्त्वों का विशेष युक्ति -हेतु-दृष्टान्तादि द्वारा निरूपण करते हैं।

वहाँ स्व-पर भेद-विज्ञानादि जैसे हो, वैसे जीव-अजीव का निर्णय कराते हैं तथा वीतरागभाव जैसे हो, वैसे आस्रवादि का स्वरूप बतलाते हैं। इसी प्रकार वहाँ मुख्यरूप से ज्ञान-वैराग्य में कारण, आत्मानुभवनादि की महिमा गाते हैं।

द्रव्यानुयोग में निश्चय अध्यात्म उपदेश की प्रधानता होती है, वहाँ व्यवहारधर्म का भी निषेध करते हैं। जो जीव, आत्मानुभवन का उपाय नहीं करते और बाह्यक्रियाकाण्ड में मग्न हैं; उनको वहाँ से उदास करके, आत्मानुभवनादि में लगाने को व्रत-शील-संयमादि का हीनपना प्रगट करते हैं। **वहाँ ऐसा नहीं जान लेना कि इनको छोड़कर, पाप में लगना, क्योंकि उस उपदेश का प्रयोजन, अशुभ में लगाने का नहीं है; शुद्धोपयोग में लगाने के लिए, शुभोपयोग का निषेध करते हैं।**

यहाँ कोई कहे—अध्यात्मशास्त्रों में पुण्य-पाप को समान कहा है; इसलिए शुद्धोपयोग हो तो भला ही है, न हो तो पुण्य में लगो या पाप में लगो?

उसका उत्तर—जैसे—शूद्र जाति की अपेक्षा, जाट व चांडाल को समान कहा है परन्तु चांडाल से, जाट कुछ उत्तम है—वह अस्पृश्य है, यह स्पृश्य है; उसी प्रकार बन्धकारण की अपेक्षा, पुण्य-पाप समान हैं परन्तु पाप से, पुण्य कुछ भला है—वह तीव्रकषायरूप है, यह मन्दकषायरूप है; इसलिए पुण्य छोड़कर, पाप में लगना युक्त नहीं है - ऐसा जानना।

वहाँ जो जीव, जिनबिम्ब-भक्ति आदि कार्यों में ही मग्न हैं, उनको आत्मश्रद्धानादि कराने के लिए, देह में देव है, मन्दिरों में नहीं, इत्यादि उपदेश देते हैं।

वहाँ ऐसा नहीं जान लेना कि भक्ति छोड़कर, भोजनादि से आप (स्वयं) को सुखी करना, क्योंकि उस उपदेश का प्रयोजन ऐसा नहीं है। इसी प्रकार अन्य व्यवहार का निषेध वहाँ किया जाता है परन्तु उसे जानकर, प्रमादी नहीं होना।

वहाँ ऐसा जानना—जो केवल व्यवहारसाधन में ही मग्न हैं, उनको निश्चय रुचि कराने के लिए, व्यवहार को हीन दिखलाया है।

ऐसे ही उन्हीं शास्त्रों में—सम्यग्दृष्टि के विषय-भोगादि को बन्ध का कारण नहीं कहा; निर्जरा का कारण कहा—इससे यहाँ भोगों का उपादेयपना नहीं जान लेना।

वहाँ सम्यग्दृष्टि की महिमा बतलाने के लिए, जो तीव्रबन्ध के कारण, भोगादि प्रसिद्ध थे, उन भोगादि के होनेपर भी, श्रद्धानशक्ति के बल से, मन्दबन्ध होने लगा, उसे गिना नहीं और उसी के बल से, विशेष निर्जरा होने लगी; इसलिए **उपचार से भोगों को भी बन्ध का कारण नहीं कहा है; निर्जरा का कारण कहा।** विचार करनेपर भोग, निर्जरा के कारण हों तो उन्हें छोड़कर, सम्यग्दृष्टि, मुनिपद का ग्रहण किसलिए करे ?

यहाँ इस कथन का इतना ही प्रयोजन है—'देखो, सम्यक्त्व की महिमा! जिसके बल से, भोग भी अपने गुण (कार्य) को नहीं कर सकते हैं।'

इसी प्रकार अन्य भी कथन हों तो उनका यथार्थपना जान लेना।

द्रव्यानुयोग में भी, चरणानुयोगवत् ग्रहण-त्याग कराने का प्रयोजन है; इसलिए छद्मस्थ के बुद्धिगोचर परिणामों की अपेक्षा ही वहाँ कथन करते हैं। इतना विशेष है—**चरणानुयोग में तो बाह्यक्रिया की मुख्यता से वर्णन करते हैं; द्रव्यानुयोग में आत्मपरिणामों की मुख्यता से निरूपण करते हैं;** वहाँ करणानुयोगवत् सूक्ष्म वर्णन नहीं करते, उसके उदाहरण देते हैं —

उपयोग के शुभ, अशुभ और शुद्ध—ऐसे तीन भेद कहे हैं; वहाँ **धर्मानुरागरूप परिणाम, वह शुभोपयोग; पापानुरागरूप या द्वेषरूपपरिणाम, वह अशुभोपयोग और राग-द्वेषरहित परिणाम, वह शुद्धोपयोग**—ऐसा कहा है परन्तु इस छद्मस्थ के बुद्धिगोचर परिणामों की अपेक्षा यह कथन है; करणानुयोग में कषायशक्ति की अपेक्षा, गुणस्थानादि में संक्लेश-विशुद्ध परिणामों की अपेक्षा, निरूपण किया है; वह विवक्षा यहाँ नहीं है।

करणानुयोग में तो रागादिरहित शुद्धोपयोग, यथाख्यातचारित्र होनेपर होता है, वह मोह के नाश से स्वयमेव होगा; निचली अवस्थावाला, शुद्धोपयोग का साधन कैसे करे?

द्रव्यानुयोग में शुद्धोपयोग करने का ही मुख्य उपदेश है; इसलिए वहाँ छद्मस्थ जिस काल में, बुद्धिगोचर भक्ति आदि व हिंसा आदि कार्यरूप परिणामों को छोड़कर, आत्मानुभवन आदि कार्यों में प्रवर्तता है, उस काल उसे शुद्धोपयोगी कहते हैं।

यद्यपि यहाँ केवलज्ञानगोचर, सूक्ष्म रागादि होते हैं तथापि उनकी विवक्षा यहाँ नहीं की जाती; वह अपने बुद्धिगोचर रागादि छोड़ता है, इस अपेक्षा उसे शुद्धोपयोगी कहा है।

इसी प्रकार स्व-पर श्रद्धानादि होनेपर, सम्यक्त्वादि कहे, वह बुद्धिगोचर अपेक्षा से निरूपण है। सूक्ष्मभावों की अपेक्षा, गुणस्थानादि में सम्यक्त्वादि का निरूपण, करणानुयोग में पाया जाता है। इसी प्रकार अन्य जानना।

इसलिए द्रव्यानुयोग के कथन की विधि, करणानुयोग से मिलाना चाहें तो वह कहीं तो मिलती है, कहीं नहीं मिलती।

जैसे—यथाख्यातचारित्र होनेपर तो दोनों अपेक्षा, शुद्धोपयोग है लेकिन निचली दशा में द्रव्यानुयोग की अपेक्षा तो कदाचित् शुद्धोपयोग होता है परन्तु करणानुयोग की अपेक्षा, सदा काल कषाय अंश के सद्भाव से, शुद्धोपयोग नहीं है। इसी प्रकार अन्य कथन जान लेना।

साथ ही द्रव्यानुयोग में परमत में कहे हुए तत्त्वादि को असत्य दिखलाने के लिए, उनका निषेध करते हैं, वहाँ द्वेषबुद्धि नहीं जानना; उनको असत्य दिखलाकर, सत्य श्रद्धान कराने का प्रयोजन जानना।

— ऐसे ही और भी अनेक प्रकार से द्रव्यानुयोग में व्याख्यान का विधान है।

इस प्रकार चारों अनुयोग के व्याख्यान का विधान कहा है। ❁

वहाँ किसी ग्रन्थ में एक अनुयोग की, किसी में दो की, किसी में तीन की और किसी में चारों की प्रधानतासहित व्याख्यान होता है; अतः जहाँ जैसा सम्भव हो, वहाँ वैसा समझ लेना।

अनुयोगों के व्याख्यान की पद्धति

अब, इन अनुयोगों में कैसी पद्धति की मुख्यता पायी जाती है, वह कहते हैं —

प्रथमानुयोग में तो अलंकार व काव्यादि शास्त्रों की पद्धति मुख्य है क्योंकि अलंकारादि से मन रंजायमान होता है; सीधी बात कहनेपर ऐसा उपयोग नहीं लगता; जैसा उपयोग, अलंकारादि युक्तिसहित कथन से लगता है तथा परोक्ष बात को कुछ अधिकतासहित निरूपण किया जाए तो उसका स्वरूप भली-भाँति भासित होता है।

करणानुयोग में गणित आदि शास्त्रों की पद्धति मुख्य है क्योंकि वहाँ द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के प्रमाणादि का निरूपण करते हैं; इसलिए गणित ग्रन्थों की आम्नाय से उसका सुगम जानपना होता है। तथा **चरणानुयोग में सुभाषित नीतिशास्त्रों की पद्धति मुख्य है** क्योंकि यहाँ आचरण कराना है; इसलिए **लोकप्रवृत्ति के अनुसार, नीतिमार्ग दिखलानेपर, वह आचरण करता है।**

द्रव्यानुयोग में न्यायशास्त्रों की पद्धति मुख्य है क्योंकि वहाँ निर्णय करने का प्रयोजन है और न्यायशास्त्रों में, निर्णय करने का मार्ग दिखाया है।

इस प्रकार इन अनुयोगों में मुख्य पद्धति है, अन्य भी अनेक पद्धतिसहित व्याख्यान इनमें पाये जाते हैं।

यहाँ कोई कहता है—अलंकार-गणित-नीति-न्याय का ज्ञान तो पण्डितों को होता है; उसे तुच्छबुद्धि समझते नहीं हैं; इसलिए इनमें सीधा कथन क्यों नहीं किया?

उसका उत्तर—शास्त्र हैं, वे मुख्यरूप से पण्डितों और चतुरों (बुद्धिमानों) के अभ्यास करनेयोग्य हैं; यदि अलंकारादि आम्नायसहित कथन हो तो उनका मन लगे तथा जो तुच्छ-बुद्धिसहित हैं, उनको पण्डित समझा देते हैं और यदि नहीं समझ सकें तो उन्हें मुख से सीधा ही कथन कहते हैं परन्तु ग्रन्थों में सीधा कथन लिखने से, विशेष बुद्धिमान् उनके अभ्यास में विशेष नहीं प्रवर्तते हैं; इसलिए अलंकारादि आम्नायसहित कथन करते हैं।

इस प्रकार इन चार अनुयोगों का निरूपण किया तथा जिनमत में बहुत शास्त्र तो इन चारों अनुयोगों में गर्भित हैं।

वहाँ व्याकरण-न्याय-छन्द-कोशादि शास्त्र व वैद्यक-ज्योतिष-मन्त्रादि शास्त्र भी जिनमत में पाए जाते हैं, उनका क्या प्रयोजन है, उसे सुनो —

व्याकरण-न्याय आदि शास्त्रों का प्रयोजन

व्याकरण-न्याय आदि का अभ्यास होनेपर, अनुयोगरूप शास्त्रों का अभ्यास हो सकता है; इसलिए व्याकरणादि शास्त्र कहे हैं।

कोई कहता है—भाषारूप सीधा निरूपण करते तो व्याकरणादि का क्या प्रयोजन था?

उसका उत्तर—भाषा तो अपभ्रंशरूप अशुद्धवाणी है, देश-देश में अन्य-अन्य है; वहाँ महन्त पुरुष, शास्त्रों में ऐसी रचना कैसे करें? तथा व्याकरण-न्याय आदि द्वारा जैसा यथार्थ सूक्ष्म अर्थ का निरूपण होता है, वैसा सीधी भाषा में नहीं हो सकता है; इसलिए व्याकरणादि की आम्नाय से वर्णन किया है; अतः अपनी बुद्धि के अनुसार थोड़ा-बहुत इनका अभ्यास करके, अनुयोगरूप प्रयोजनभूत शास्त्रों का अभ्यास करना।

वहाँ वैद्यकादि चमत्कार से, जिनमत की प्रभावना होती है व औषधादि से उपकार भी होता है या जो जीव, लौकिककार्यों में अनुरक्त हैं, वे वैद्यकादि चमत्कार से जैनी होकर, बाद में सच्चा धर्म प्राप्त करके, अपना कल्याण करें, इत्यादि प्रयोजनसहित, वैद्यकादि शास्त्र कहे हैं।

यहाँ इतना है कि ये भी जैनशास्त्र हैं—ऐसा जानकर, इनके अभ्यास में बहुत नहीं लगना। यदि विशेषबुद्धि से इनका सहज जानना हो और इनको जानने से, अपने रागादि विकार बढ़ते न जाने तो इनका भी जानना होओ। **अनुयोगशास्त्र के समान, ये शास्त्र, बहुत कार्यकारी नहीं हैं; इसलिए इनके अभ्यास का विशेष उद्यम करना, योग्य नहीं है।**

यहाँ प्रश्न—यदि ऐसा है तो गणधरादि ने इनकी रचना किसलिए की?

उसका उत्तर—पहले कहे अनुसार किंचित् प्रयोजन जानकर, इनकी रचना की है। जैसे—बहुत धनवान, कदाचित् अल्प कार्यकारी वस्तु का भी संचय करता है परन्तु थोड़े धनवाला उन वस्तुओं का संचय करे तो वह धन तो वहाँ लग जाए, फिर बहुत कार्यकारी वस्तु का संग्रह कैसे करेगा? उसी प्रकार बहुत बुद्धिमान् गणधरादि, कथंचित् अल्प कार्यकारी वैद्यकादि शास्त्रों का भी संचय करते हैं परन्तु थोड़े बुद्धिमान उनके अभ्यास में लगे तो वह बुद्धि तो वहाँ लग जाए, फिर उत्कृष्ट कार्यकारी शास्त्रों का अभ्यास कैसे करे?

जैसे—मन्दरागी तो पुराणादि में शृंगारादि का निरूपण करे तो भी विकारी नहीं होता, परन्तु तीव्ररागी, वैसे शृंगारादि का निरूपण करे तो पाप ही बाँधे; उसी प्रकार मन्दरागी गणधरादि हैं, वे वैद्यकादि शास्त्रों का निरूपण करें तो भी विकारी नहीं होते, परन्तु तीव्ररागी उनके अभ्यास में लग जाएँ तो रागादि बढ़ाकर, पापकर्म को बाँधें - ऐसा जानना।

इस प्रकार जैनमत के उपदेश का स्वरूप जानना।

अनुयोगों में दोष-कल्पनाओं का निराकरण

अब, इनमें यदि कोई दोष-कल्पना करता है तो उसका निराकरण करते हैं—

प्रथमानुयोग में दोष-कल्पना का निराकरण

कितने ही जीव कहते हैं—प्रथमानुयोग में शृंगारादि का व संग्रामादि का बहुत कथन करते हैं, उनके निमित्त से रागादि बढ़ जाते हैं; इसलिए ऐसा कथन नहीं करना था और ऐसा कथन सुनना भी नहीं?

उनसे कहते हैं—कथा कहना हो, तब तो सभी अवस्थाओं का कथन करना चाहिए तथा जो अलंकारादि द्वारा बढ़ाकर कथन करते हैं, वहाँ पण्डितों के वचन तो युक्तिसहित ही निकलते हैं।

फिर यदि तुम कहोगे—सम्बन्ध मिलाने के लिए, सामान्यकथन किया होता; बढ़ाकर कथन किसलिए किया ?

उसका उत्तर यह है—परोक्ष कथन को बढ़ाकर कहे बिना, उसका स्वरूप भासित नहीं होता तथा पहले तो भोग-संग्राम आदि इस प्रकार किए, पश्चात् सबका त्याग करके, मुनि हुए, इत्यादि चमत्कार तभी भासित होंगे, जब बढ़ाकर कथन किया जाए।

फिर तुम कहते हो—उसके निमित्त से रागादि बढ़ जाते हैं।

[**उसका उत्तर**]—जैसे—कोई चैत्यालय बनवाए, वहाँ उसका प्रयोजन तो धर्मकार्य कराने का है परन्तु कोई पापी वहाँ पापकार्य करे तो चैत्यालय बनवानेवाले का तो दोष नहीं है; उसी प्रकार श्रीगुरु, पुराणादि में शृंगारादि का वर्णन करते हैं, वहाँ उनका प्रयोजन, रागादि कराने का तो है नहीं; धर्म में लगाने का प्रयोजन है परन्तु यदि कोई पापी, धर्म न करे और रागादि ही बढ़ाए तो श्रीगुरु का क्या दोष है ?

फिर यदि तू कहेगा—जो रागादि का निमित्त हो, वह कथन ही नहीं करना था।

उसका उत्तर यह है—सरागी जीवों का मन, केवल वैराग्यकथन में नहीं लगता; इसलिए जैसे—बालक को बतासा के आश्रय से, औषधि देते हैं; उसी प्रकार सरागी को भोगादि कथन के आश्रय से, धर्म में रुचि कराते हैं।

यदि तू कहेगा—ऐसा है तो विरागी पुरुषों को तो ऐसे ग्रन्थों का अभ्यास करना, योग्य नहीं है।

उसका उत्तर यह है—जिनको अन्तरंग में रागभाव नहीं है, उनको शृंगारादि कथन सुननेपर, रागादि उत्पन्न ही नहीं होते। वे यह जानते हैं कि यहाँ इसी प्रकार कथन करने की पद्धति है।

फिर तू कहेगा—जिनको शृंगारादि का कथन सुननेपर, रागादि हो जाते हैं, उन्हें तो वैसा कथन सुनना, योग्य नहीं है।

उसका उत्तर यह है—जहाँ धर्म ही का प्रयोजन है और जहाँ-तहाँ धर्म का पोषण करते हैं—ऐसे जैन पुराणादि में प्रसंग पाकर, शृंगारादि का कथन किया है; उसे सुनकर भी जो बहुत रागी हो तो वह अन्यत्र कहाँ विरागी होगा ? वह तो पुराण सुनना छोड़कर, अन्य कार्य भी ऐसे ही करेगा, जहाँ बहुत रागादि हों; इसलिए उसको भी पुराण सुनने से थोड़ी-बहुत धर्मबुद्धि हो तो हो। अन्य कार्यों से तो यह कार्य, भला ही है।

कोई कहे—प्रथमानुयोग में अन्य जीवों की कहानियाँ हैं, उनसे अपना क्या प्रयोजन सधता है ?

उससे कहते हैं—जैसे—कामी पुरुषों की कथा सुननेपर, अपने को भी काम का प्रेम बढ़ता है; उसी प्रकार धर्मात्मा पुरुषों की कथा सुननेपर, अपने को धर्म की प्रीति विशेष होती है; **इसलिए प्रथमानुयोग का अभ्यास करना योग्य है।**

करणानुयोग में दोष-कल्पना का निराकरण

वहाँ कितने ही जीव कहते हैं—करणानुयोग में गुणस्थान-मार्गणादि का व कर्मप्रकृतियों का कथन किया व त्रिलोकादि का कथन किया, वहाँ उन्हें जान लिया कि यह इस प्रकार है, यह इस प्रकार है परन्तु इसमें अपना कार्य क्या सिद्ध हुआ? या तो भक्ति करें या व्रत-दानादि करें या आत्मानुभवन करें - इनसे अपना भला हो।

उनसे कहते हैं—परमेश्वर तो वीतराग हैं; भक्ति करनेपर, प्रसन्न होकर कुछ करते नहीं है। भक्ति करनेपर मन्दकषाय होती है, उसका स्वयमेव उत्तम फल होता है परन्तु करणानुयोग के अभ्यास में उससे भी अधिक मन्दकषाय हो सकती है; इसलिए इसका फल अति उत्तम होता है। तथा व्रत-दानादि तो कषाय घटाने के बाह्यनिमित्त के साधन हैं परन्तु करणानुयोग① का अभ्यास करनेपर, वहाँ उपयोग लग जाए, तब रागादि दूर होते हैं; अतः यह अन्तरंग निमित्त का साधन है; इसलिए यह विशेष कार्यकारी है, [क्योंकि] व्रतादि धारण करके, अध्ययनादि करते हैं।

वहाँ **आत्मानुभव सर्वोत्तम कार्य है** परन्तु सामान्य अनुभव में उपयोग टिकता नहीं है और जब नहीं टिकता, तब अन्य विकल्प होते हैं; वहाँ करणानुयोग का अभ्यास हो तो उस विचार में उपयोग को लगाता है - यह विचार वर्तमान के भी रागादि घटाता है और आगामी रागादि घटाने का कारण है; इसलिए यहाँ उपयोग लगाना। जीव, कर्मादि के नाना प्रकार से भेद जानते हैं, उनमें रागादि करने का प्रयोजन नहीं है; इसलिए रागादि बढ़ते नहीं हैं; वीतराग होने का प्रयोजन जहाँ-तहाँ प्रगट होता है; इसलिए रागादि मिटाने का कारण है।

यहाँ कोई कहे—कोई कथन तो ऐसा ही है परन्तु इनमें द्वीप-समुद्रादि के योजनादि निरूपित किये हैं, उनसे क्या सिद्धि है?

उसका उत्तर—उनको जाननेपर, कुछ उनमें इष्ट-अनिष्टबुद्धि नहीं होती; इसलिए पहले कहे अनुसार सिद्धि होती है।

फिर वह कहता है—यदि ऐसा है तो जिनसे कुछ प्रयोजन नहीं है—ऐसे पाषाणादि को जानते हुए, वहाँ भी इष्ट-अनिष्टपना नहीं मानते; इसलिए वह भी कार्यकारी हुआ।

उसका उत्तर—सरागी जीव, रागादि प्रयोजन बिना, किसी को जानने का उद्यम नहीं करता। यदि स्वयमेव उनका जानना हो तो अन्तरंग रागादि के अभिप्रायवश, वहाँ से उपयोग

---

① हस्तलिखित मूल प्रति (पृ. ३७०) में सबसे नीचे यहाँ करणानुयोग की जगह 'चरणानुयोग' लिखा है, जबकि उसके २ पंक्ति ऊपर और उसके ४ पंक्ति बाद (पृ. ३७१) पर भी 'करणानुयोग' लिखा है; अतः यहाँ पूर्व प्रकाशित प्रति के अनुसार ही रखा है।

को छुड़ाना ही चाहता है। यहाँ उद्यम करके, द्वीप-समुद्रादि को जानता है, वहाँ उपयोग लगाता है, सो रागादि घटनेपर ऐसा कार्य होता है; जबकि पाषाणादि में इस लोक का कोई प्रयोजन भासित हो जाए तो रागादि हो आते हैं परन्तु द्वीपादि में इस लोकसम्बन्धी कार्य कुछ भी नहीं है; इसलिए रागादि का कारण नहीं है।

यदि स्वर्गादि की रचना सुनकर, वहाँ राग हो जाए तो परलोकसम्बन्धी होता है; उसका कारण, पुण्य को जानता है तो पाप छोड़कर, पुण्य में प्रवर्तता है, उससे इतना ही लाभ होता है लेकिन द्वीपादि को जाननेपर यथावत् रचना भासित होती है तो अन्य मतादि का कथन झूठ भासित होने से, सत्य श्रद्धानी होता है और यथावत् रचना जानने से, भ्रम मिटनेपर उपयोग की निर्मलता होती है; इसलिए वह अभ्यास कार्यकारी है।

वहाँ कितने ही कहते हैं—करणानुयोग में कठिनता बहुत है; इसलिए उसके अभ्यास में खेद होता है।

उनसे कहते हैं—यदि वस्तु शीघ्र जानने में आए तो वहाँ उपयोग उलझता नहीं है और जानी हुई वस्तु को बारम्बार जानने का उत्साह नहीं होता, तब पापकार्यों में उपयोग लग जाता है; इसलिए अपनी बुद्धि के अनुसार, कठिनता से भी जिसका अभ्यास होता जानें, उसका अभ्यास करना, क्योंकि जिसका अभ्यास हो ही न सके, उसका [अभ्यास] कैसे करे?

तू कहता है—खेद होता है। **तो [कहते हैं—]** प्रमादी रहने में तो धर्म है नहीं, प्रमाद से सुखिया रहे, वहाँ तो पाप ही होता है; इसलिए धर्म के लिए उद्यम करना ही योग्य है।

— ऐसा विचार करके, करणानुयोग का अभ्यास करना।

चरणानुयोग में दोष-कल्पना का निराकरण

वहाँ कितने ही जीव ऐसा कहते हैं—चरणानुयोग में बाह्यव्रतादि साधन का उपदेश है परन्तु इनसे कुछ सिद्धि नहीं है; अपने परिणाम निर्मल होना चाहिए, बाह्य में चाहे जैसे प्रवर्तन करो; इसलिए इस उपदेश से पराङ्मुख रहते हैं।

उनसे कहते हैं—आत्मपरिणामों में और बाह्यप्रवृत्ति में, निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है क्योंकि छद्मस्थ की क्रियाएँ परिणामपूर्वक होती हैं, कदाचित् बिना परिणाम कोई क्रिया होती है, वह परवश से होती है; अपने वश से उद्यम करके कार्य करें और कहें कि परिणाम इसरूप नहीं हैं परन्तु यह भ्रम है। अथवा बाह्यपदार्थ का आश्रय पाकर, परिणाम हो सकते हैं; इसलिए परिणाम मिटाने के लिए, बाह्यवस्तु का निषेध करना—[ऐसा] समयसारादि[१] में कहा है।

इसी कारण, रागादि भाव घटनेपर, ऐसे अनुक्रम से बाह्य में श्रावक-मुनि धर्म होता है।

अथवा ऐसा श्रावक-मुनि धर्म अंगीकार करनेपर, पाँचवें-छठे आदि गुणस्थानों में रागादि घटनेरूप परिणामों की प्राप्ति होती है—ऐसा निरूपण **चरणानुयोग** में किया है।

---

[१] समयसार गाथा २६५ की आत्मख्याति टीका; पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, छन्द ४९ इत्यादि।

वहाँ यदि बाह्यसंयम से कुछ भी सिद्धि न हो तो सर्वार्थसिद्धि में रहनेवाले देव, सम्यग्दृष्टि व बहुत ज्ञानी हैं, उनको तो चौथा गुणस्थान होता है और (सम्यक्त्वसहित) गृहस्थ -श्रावक मनुष्यों को पंचम गुणस्थान होता है, उसका क्या कारण है ?

तथा तीर्थंकरादि गृहस्थपद छोड़कर, किसलिए संयम ग्रहण करते हैं ? **इसलिए यह नियम है कि बाह्यसंयम-साधन के बिना, परिणाम निर्मल नहीं हो सकते;** इसलिए बाह्यसाधन का विधान जानने के लिए, **चरणानुयोग का अभ्यास अवश्य करना चाहिए ?**

द्रव्यानुयोग में दोष-कल्पना का निराकरण

वहाँ कितने ही जीव कहते हैं—द्रव्यानुयोग में व्रत-संयमादि व्यवहारधर्म का हीनपना प्रगट किया है; सम्यग्दृष्टि के विषय-भोगादि को निर्जरा का कारण कहा है, इत्यादि कथन सुनकर, जीव स्वच्छन्द होकर, पुण्य छोड़कर, पाप में प्रवर्तते हैं; इसलिए इनका पढ़ना-सुनना, योग्य नहीं है ?

उनसे कहते हैं—जैसे—गधा मिश्री खाकर मर जाए तो मनुष्य तो मिश्री खाना नहीं छोड़ते; उसी प्रकार विपरीतबुद्धि अध्यात्मग्रन्थ सुनकर, स्वच्छन्द हो जाए तो विवेकी तो अध्यात्मग्रन्थों का अभ्यास नहीं छोड़ते।

वे इतना करें—जिसे स्वच्छन्द होता हुआ जानें, उसे जैसे वह स्वछन्द न हो, उस प्रकार उपदेश दें **तथा अध्यात्मग्रन्थों में भी स्वछन्द होने का जहाँ-तहाँ निषेध करते हैं;** इसलिए जो भलीभाँति उनको सुनता है, वह तो स्वच्छन्द होता नहीं, परन्तु एक बात सुनकर, अपने अभिप्राय से कोई स्वच्छन्द हो तो ग्रन्थ का तो दोष है नहीं; उस जीव ही का दोष है।

यदि झूठे दोष की कल्पना करके, अध्यात्मशास्त्रों को पढ़ने-सुनने का निषेध करें, तो मोक्षमार्ग का मूलउपदेश तो वहाँ ही है; उसका निषेध करने से तो मोक्षमार्ग का निषेध होता है। जैसे—मेघवर्षा होनेपर, बहुत से जीवों का कल्याण होता है परन्तु किसी को उल्टा नुकसान हो तो उसकी मुख्यता करके, मेघ का तो निषेध नहीं करना; उसी प्रकार सभा में अध्यात्म उपदेश होनेपर, बहुत से जीवों को मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है परन्तु कोई उल्टा पाप में प्रवर्तता हो तो उसकी मुख्यता करके, अध्यात्मशास्त्रों का तो निषेध नहीं करना।

यदि अध्यात्मग्रन्थों से कोई स्वच्छन्द हो तो वह तो पहले भी मिथ्यादृष्टि था, अब भी मिथ्यादृष्टि ही रहा। [उसका] इतना ही नुकसान होगा कि सुगति न होकर, कुगति होगी, परन्तु **अध्यात्म उपदेश न होनेपर, बहुत जीवों को मोक्षमार्ग की प्राप्ति का अभाव होता है; अतः इसमें बहुत जीवों का बहुत बुरा हो; इसलिए अध्यात्म उपदेश का निषेध नहीं करना।**

वहाँ कितने ही जीव कहते हैं कि द्रव्यानुयोगरूप अध्यात्म उपदेश है, वह उत्कृष्ट है सो, जो उच्चदशा को प्राप्त हों, उनको वह कार्यकारी है; निचली दशावालों को व्रत-संयमादि का ही उपदेश देना, योग्य है।

उनसे कहते हैं—**जिनमत में यह परिपाटी है कि पहले सम्यक्त्व होता है, फिर व्रत होते हैं; वह सम्यक्त्व, स्व-पर का श्रद्धान होनेपर होता है और वह श्रद्धान, द्रव्यानुयोग का अभ्यास करनेपर होता है; इसलिए पहले द्रव्यानुयोग के अनुसार श्रद्धान करके, सम्यग्दृष्टि हों, पश्चात् चरणानुयोग के अनुसार व्रतादि धारण करके, व्रती हों।** इस प्रकार मुख्यरूप से तो निचली दशा में ही द्रव्यानुयोग कार्यकारी है; गौणरूप से जिसे मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती न जानें, उसे पहले किसी व्रतादि का उपदेश देते हैं; इसलिए ऊँची दशावालों को अध्यात्म अभ्यास योग्य है—ऐसा जानकर, निचली दशावालों को वहाँ से पराङ्मुख होना, योग्य नहीं है।

यदि कहोगे—ऊँचे उपदेश का स्वरूप, निचली दशावालों को भासित नहीं होता।

उसका उत्तर यह है—और तो अनेक प्रकार की चतुराई जाने और यहाँ मूर्खपना प्रगट करे, वह योग्य नहीं है; अभ्यास करने से, स्वरूप भली-भाँति भासित होता है, [भले ही] अपनी बुद्धि अनुसार, थोड़ा-बहुत भासित होता है परन्तु सर्वथा निरुद्यमी होने का पोषण करे, वह तो जिनमार्ग का द्वेषी होना है।

पुनः यदि कहोगे—वर्तमान [पंचम] काल, निकृष्ट है; इसलिए उत्कृष्ट अध्यात्म उपदेश की मुख्यता नहीं करना।

उनसे कहते हैं—वर्तमानकाल, साक्षात् मोक्ष न होने की अपेक्षा, निकृष्ट है; आत्मानुभवन आदि करके, सम्यक्त्वादि का होना, वर्तमानकाल में मना नहीं है; इसलिए आत्मानुभवन आदि के लिए, द्रव्यानुयोग का अवश्य अभ्यास करना।

वही षट्पाहुड़ [मोक्षपाहुड़] में कहा है —

अज्ज वि तिरयणसुद्धा, अप्पा झाऊण जंति सुरलोए।[१]
लोयंतिय देवत्तं, तत्थ चुआ णिव्वुदिं जंति॥ ७७॥

इसका अर्थ—आज भी, त्रिकरण (अधःकरण-अपूर्वकरण-अनिवृत्तिकरण) अथवा त्रिरत्न (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) से शुद्धजीव, आत्मा को ध्याकर, स्वर्गलोक को प्राप्त होते हैं व लौकान्तिक में देवपना प्राप्त करते हैं; वहाँ से च्युत होकर, मोक्ष जाते हैं। **बहुरि...**[२]

इसलिए इस काल में भी द्रव्यानुयोग का उपदेश, मुख्य चाहिए।

कोई कहता है—द्रव्यानुयोग में अध्यात्मशास्त्र हैं, वहाँ स्व-पर भेद-विज्ञान आदि का उपदेश दिया है, वह तो कार्यकारी भी बहुत है और समझ में भी शीघ्र आता है परन्तु द्रव्य

---

① इस पंक्ति का पाठभेद है - **अज्ज वि तिरयणसुद्धा, अप्पा झाएवि लहदि इंदत्तं।**

② यहाँ मूल हस्तलिखित प्रति (पृष्ठ ३७५) में 'बहुरि' के आगे ३-४ पंक्तियों का स्थान छोड़ा गया है, जिससे ज्ञात होता है कि पण्डितप्रवर श्री टोडरमलजी यहाँ कुछ और भी लिखना चाहते थे किन्तु लिख नहीं सके।

-गुण-पर्याय आदि का व प्रमाण-नय आदि का व अन्यमत के कहे तत्त्व आदि के निराकरण का कथन किया है परन्तु उनके अभ्यास से विकल्प विशेष होते हैं और वे बहुत प्रयास करनेपर जानने में आते हैं; इसलिए उनका अभ्यास नहीं करना।

उनसे कहते हैं—सामान्य जानने से, विशेष का जानना बलवान है। ज्यों-ज्यों विशेष जानते हैं, त्यों-त्यों वस्तुस्वभाव निर्मल भासित होता है, श्रद्धान दृढ़ होता है, रागादि घटते हैं; इसलिए उस अभ्यास में प्रवर्तना योग्य है।

इस प्रकार चारों अनुयोगों में दोष-कल्पना करके, अभ्यास से पराङ्मुख होना, योग्य नहीं है।

व्याकरण-न्यायादि शास्त्रों की उपयोगिता

वहाँ, व्याकरण-न्यायादि शास्त्र हैं, उनका भी थोड़ा-बहुत अभ्यास करना, क्योंकि इनके ज्ञान बिना, बड़े शास्त्रों का अर्थ भासित नहीं होता। वस्तु का स्वरूप भी इनकी पद्धति जाननेपर, जैसा भासित होता है, वैसा भाषा आदि से भासित नहीं होता; इसलिए **परम्परा से कार्यकारी जानकर, इनका भी अभ्यास करना, परन्तु इन्हीं में फँस नहीं जाना। इनका कुछ अभ्यास करके, प्रयोजनभूत शास्त्रों के अभ्यास में प्रवर्तना।**

तथा वैद्यकादि शास्त्र हैं, उनसे मोक्षमार्ग में कुछ प्रयोजन ही नहीं है; इसलिए किसी व्यवहारधर्म के अभिप्राय से, बिना खेद किये इनका अभ्यास हो जाए तो उपकारादि करना, पापरूप नहीं प्रवर्तना और इनका अभ्यास न हो तो मत होओ; कुछ बिगाड़ नहीं है।

इस प्रकार जिनमत के शास्त्र, निर्दोष जानकर, उनका उपदेश मानना।

अनुयोगों में दिखायी देनेवाले परस्पर विरोध का निराकरण

अब, शास्त्रों में अपेक्षादि को न जानने से, परस्पर विरोध भासित होता है, उसका निराकरण करते हैं—**प्रथम (प्रथमानुयोग) आदि अनुयोगों की आम्नाय के अनुसार, जहाँ जिस प्रकार कथन किया हो, वहाँ उस प्रकार जान लेना; अन्य अनुयोग के कथन को, अन्य अनुयोग के कथन से अन्यथा जानकर, सन्देह नहीं करना।**

जैसे—कहीं तो निर्मल सम्यग्दृष्टि ही को शंका-कांक्षा-विचिकित्सा का अभाव कहा; कहीं भय का आठवें गुणस्थानपर्यन्त, लोभ का दसवें पर्यन्त, जुगुप्सा का आठवें पर्यन्त, उदय कहा; वहाँ विरुद्ध नहीं जानना। सम्यग्दृष्टि को श्रद्धानपूर्वक तीव्र शंकादि का अभाव हुआ है अथवा मुख्यतः सम्यग्दृष्टि, शंकादि नहीं करता, उस अपेक्षा चरणानुयोग में, सम्यग्दृष्टि को शंकादि का अभाव कहा है परन्तु सूक्ष्मशक्ति की अपेक्षा, भयादि का उदय, अष्टमादि गुणस्थानपर्यन्त पाया जाता है; इसलिए करणानुयोग में वहाँ पर्यन्त, उनका सद्भाव कहा है। इसी प्रकार अन्य जानना।

पूर्व में, अनुयोगों के उपदेश विधान में, अनेक उदाहरण कहे हैं, वे जानना अथवा अपनी बुद्धि से समझ लेना। **वहाँ एक ही अनुयोग में, विवक्षा के वश से अनेकरूप कथन करते हैं—**

जैसे—**करणानुयोग** में प्रमादों का सातवें गुणस्थान में अभाव कहा है, वहीं कषायादि प्रमाद के भेद कहे; जबकि वहाँ ही कषायादि का सद्भाव दसवें आदि गुणस्थानपर्यन्त कहा;① वहाँ विरुद्ध नहीं जानना, क्योंकि यहाँ प्रमादों में तो जो शुभाशुभभावों के अभिप्रायसहित कषाय आदि होते हैं, उनका ग्रहण है परन्तु सातवें गुणस्थान में ऐसा अभिप्राय दूर हुआ है; इसलिए उनका वहाँ अभाव कहा है तथा सूक्ष्म आदि भावों की अपेक्षा, उन्हीं का दसवें आदि गुणस्थानपर्यन्त सद्भाव कहा है।

इसी प्रकार **चरणानुयोग** में चोरी-परस्त्री आदि सप्त व्यसन का त्याग, पहली प्रतिमा में कहा है तथा वहाँ ही उनका त्याग, दूसरी प्रतिमा में कहा है; वहाँ विरुद्ध नहीं जानना, क्योंकि सप्त व्यसन में तो चोरी आदि कार्य ऐसे ग्रहण किए हैं, जिनसे दण्डादि पाता है, लोक में अति निन्दा होती है तथा व्रतों में ऐसे चोरी आदि त्याग करनेयोग्य कहे हैं, जो गृहस्थधर्म से विरुद्ध होते हैं व किंचित् लोकनिंद्य होते हैं—ऐसा अर्थ जानना। इसी प्रकार अन्यत्र जानना।

तथा नाना भावों की सापेक्षता से, एक ही भाव का, अन्य-अन्य प्रकार निरूपण करते हैं—

जैसे—कहीं तो महाव्रतादि को चारित्र के भेद कहा, कहीं महाव्रतादि होनेपर भी, द्रव्यलिंगी को असंयमी कहा; वहाँ विरुद्ध नहीं जानना, क्योंकि [सम्यग्दर्शन-] सम्यग्ज्ञानसहित महाव्रतादि तो चारित्र है और अज्ञानपूर्वक व्रतादि होनेपर भी, असंयम ही है।

इसी प्रकार, जैसे—पाँच प्रकार के मिथ्यात्वों में भी, विनय कहा है और बारह प्रकार के तपों में भी, विनय कहा है; वहाँ विरुद्ध नहीं जानना, क्योंकि जो विनय करनेयोग्य नहीं हैं, उनकी भी विनय करके, धर्म मानना, वह तो विनयमिथ्यात्व है और धर्मपद्धति से जो विनय करनेयोग्य हैं, उनकी यथायोग्य विनय करना, वह विनयतप है।

जैसे—कहीं तो अभिमान की निन्दा की और कहीं प्रशंसा की, वहाँ विरुद्ध नहीं जानना क्योंकि मानकषाय से, अपने को ऊँचा मनवाने के लिए विनयादि न करे, वह अभिमान, निंद्य ही है और निर्लोभपने से दीनता आदि न करे, वह अभिमान, प्रशंसायोग्य है।

जैसे—कहीं चतुराई की निन्दा की, कहीं प्रशंसा की; वहाँ विरुद्ध नहीं जानना, क्योंकि मायाकषाय से किसी को ठगने के लिए चतुराई करें, वह तो निंद्य ही है और विवेकसहित यथायोग्य कार्य करने में जो चतुराई हो, वह श्लाघ्य ही है। इसी प्रकार अन्यत्र जानना।

---

① मूल प्रति (पृष्ठ ३७७) में यहाँ ६-७ पंक्तियाँ कटी हैं, जिसमें इसी विषय का खुलासा किया गया है। वह इस प्रकार है — **इन्द्रिय -अविरति का अभाव, षष्ठ गुणस्थान विषै ही कहा, अर इनिकी, विषय प्रवृत्ति द्वादशम गुणस्थानपर्यंत कही। अर राज्यादि, कथारूप वचनयोग की प्रवृत्ति, त्रयोदशम गुणस्थानपर्यंत कही। निद्रा का द्वादशमगुणस्थानपर्यंत उदय कह्या। रतिकषाय का अष्टम गुणस्थानपर्यंत उदय कह्या, सो इहां विरुद्ध न जानना। जहां शुभ-अशुभ भावनि का अभिप्राय तैं कषायादिरूप दशा होइ, ताका नाम प्रमाद है, सो ताका तौ सप्तम गुणस्थान विषै अभाव हूवा, जातैं तहां शुभ-अशुभ भाव छोडि, शुद्धध्यान अवस्था पाईए है। बहुरि जो कषायादिक का दशमादि गुणस्थानपर्यंत...।** (... इसके बाद उन्होंने स्वयं इस विवेचन को विस्तार भय से छोड़ दिया प्रतीत होता है।)

इसी प्रकार एक ही भाव की, कहीं तो उससे उत्कृष्टभाव की अपेक्षा, निन्दा की हो और कहीं उससे हीनभाव की अपेक्षा से प्रशंसा की हो; वहाँ विरुद्ध नहीं जानना —

जैसे—किसी शुभक्रिया की जहाँ निन्दा की हो, वहाँ तो उससे ऊँची शुभक्रिया व शुद्धभाव की अपेक्षा जानना और जहाँ प्रशंसा की हो, वहाँ उससे नीची [शुभ] क्रिया व अशुभक्रिया की अपेक्षा जानना। इसी प्रकार अन्यत्र जानना।

इसी प्रकार किसी जीव की ऊँचे जीव की अपेक्षा, निन्दा की हो, वहाँ सर्वथा निन्दा नहीं जानना और किसी की नीचे जीव की अपेक्षा, प्रशंसा की हो, वहाँ सर्वथा प्रशंसा नहीं जानना; यथासम्भव उसके गुण-दोष जान लेना।

इसी प्रकार अन्य व्याख्यान जिस अपेक्षासहित किये हों, उस अपेक्षा, उनका अर्थ समझना।

शास्त्र में एक ही शब्द का—कहीं तो कोई अर्थ होता है, कहीं कोई अर्थ होता है; वहाँ प्रकरण पहिचानकर, उसका यथायोग्य अर्थ जानना। जैसे—मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन कहा, वहाँ **दर्शन** शब्द का अर्थ, श्रद्धान है; उपयोगवर्णन में, दर्शन शब्द का अर्थ, वस्तु का सामान्यस्वरूप ग्रहणमात्र है और इन्द्रियवर्णन में, दर्शन शब्द का अर्थ, नेत्र द्वारा देखनामात्र है।

इसी प्रकार जैसे—**सूक्ष्म-बादर** का अर्थ, वस्तुओं के प्रमाण (नाप) आदि कथन में जो छोटे प्रमाणसहित हो, उसका नाम, सूक्ष्म और बड़े प्रमाणसहित हो, उसका नाम, बादर - ऐसा होता है। पुद्गलस्कन्धादि के कथन में, जो इन्द्रियगम्य न हो, वह सूक्ष्म और जो इन्द्रियगम्य हो, वह बादर - ऐसा अर्थ है। जीवादि के कथन में, ऋद्धि आदि के निमित्त बिना, जो स्वयमेव न रुके, उसका नाम, सूक्ष्म और जो रुके, उसका नाम, बादर - ऐसा अर्थ है। वस्त्रादि के कथन में, महीन का नाम, सूक्ष्म और मोटे का नाम, बादर - ऐसा अर्थ है।

जैसे—**प्रत्यक्ष** शब्द का अर्थ, लोकव्यवहार में तो इन्द्रियों के द्वारा जानने का नाम, प्रत्यक्ष है; प्रमाणभेदों में स्पष्ट प्रतिभास का नाम, प्रत्यक्ष है; आत्मानुभवनादि में आप (आत्मा) में अवस्था होती है, उसका नाम, प्रत्यक्ष है।

जैसे—मिथ्यादृष्टि को **अज्ञान** कहा, वहाँ सर्वथा ज्ञान का अभाव नहीं जानना; सम्यग्ज्ञान के अभाव से, अज्ञान कहा है।

तथा जैसे—**उदीरणा** शब्द के अर्थ में, जहाँ देवादि के उदीरणा नहीं कही, वहाँ तो अन्य निमित्त से मरण हो, उसका नाम, उदीरणा है और दशकरणों के कथन में उदीरणाकरण, देवायु के भी कहा है, वहाँ ऊपर के निषेकों का द्रव्य, उदयावली में दिया जाए, उसका नाम उदीरणा है। इसी प्रकार अन्यत्र यथासम्भव अर्थ जानना।

वहाँ एक ही शब्द के पहले [अन्य] शब्द जोड़ने से, अनेक प्रकार के अर्थ हो जाते हैं अथवा उसी शब्द के अनेक अर्थ हैं; वहाँ जैसा सम्भव (यथायोग्य) हो, वैसा अर्थ जानना।

जैसे—जीते, उसका नाम जिन है परन्तु धर्मपद्धति में, कर्मशत्रु को जीते, उसका नाम जिन जानना। यहाँ कर्मशत्रु शब्द को पहले जोड़ने से, जो अर्थ होता है, वह ग्रहण किया; अन्य नहीं किया।

इसी प्रकार जैसे—प्राण धारण करे, उसका नाम जीव है; जहाँ जीवन-मरण का, व्यवहार अपेक्षा कथन हो, वहाँ तो इन्द्रियादि प्राण धारण करे, वह जीव है तथा द्रव्यादि का, निश्चय अपेक्षा निरूपण हो, वहाँ चैतन्यप्राण को धारण करे, वह जीव है।

जैसे—समय शब्द के अनेक अर्थ हैं—आत्मा का नाम, समय है; सर्व पदार्थ का नाम, समय है; काल का नाम, समय है; समयमात्र काल का नाम, समय है; शास्त्र का नाम, समय है; मत का नाम, समय है। [... इत्यादि]

— ऐसे अनेक अर्थों में जैसा जहाँ सम्भव हो, वैसा अर्थ वहाँ जान लेना।

वहाँ कहीं तो अर्थ अपेक्षा, नामादि कहते हैं; कहीं रूढ़ि अपेक्षा, नामादि कहते हैं— जहाँ रूढ़ि अपेक्षा नामादि लिखे हों, वहाँ उनके शब्दार्थ ग्रहण नहीं करना, बल्कि उनके जो रूढ़िरूप अर्थ हों, वही ग्रहण करना। जैसे—सम्यक्त्वादि को धर्म कहा, वहाँ तो यह जीव को उत्तम स्थान में धारण कराता है; इसलिए इसका नाम, सार्थक है तथा धर्मद्रव्य का नाम, धर्म कहा, वहाँ रूढ़ि नाम है, इसका अक्षरार्थ ग्रहण नहीं करना, बल्कि इस नाम की धारक एक वस्तु है—ऐसा अर्थ ग्रहण करना। इसी प्रकार अन्यत्र जानना।

इसी प्रकार कहीं शब्द का जो अर्थ होता है, वह तो ग्रहण नहीं करना, परन्तु वहाँ जो प्रयोजनभूत अर्थ है, वह ग्रहण करना। जैसे—कहीं किसी का अभाव कहा हो, परन्तु वहाँ यदि किंचित् सद्भाव पाया जाए तो वहाँ सर्वथा अभाव नहीं ग्रहण करना; किंचित् सद्भाव को न गिनकर, अभाव कहा है - ऐसा अर्थ जानना। सम्यग्दृष्टि को रागादि का अभाव कहा, वहाँ ऐसे ही अर्थ जानना। इसी प्रकार नोकषाय का अर्थ तो यह है कि कषाय का निषेध, परन्तु यह अर्थ ग्रहण नहीं करना; यहाँ तो क्रोधादि के समान ये कषायें नहीं है; किंचित् कषायें हैं; इसलिए नोकषाय हैं - ऐसा अर्थ ग्रहण करना। इसी प्रकार अन्यत्र जानना।

कहीं किसी युक्ति से कथन किया हो, वहाँ प्रयोजन ग्रहण करना। जैसे—समयसार -कलश① में यह कहा है कि 'धोबी के दृष्टान्त के समान, परभाव के त्याग की दृष्टि, जब तक प्रवृत्ति को प्राप्त नहीं हुई, तब तक यह अनुभूति प्रगट हुई'; अतः यहाँ यह प्रयोजन है कि 'परभाव का त्याग होते ही, अनुभूति प्रगट होती है।' लोक में किसी के आते ही कोई कार्य हुआ हो, वहाँ ऐसा कहते हैं कि 'यह आया ही नहीं और यह ऐसा कार्य हो गया' — ऐसा ही प्रयोजन यहाँ ग्रहण करना। इसी प्रकार अन्यत्र जानना।

---

① अवतरति न यावद्वृत्तिमत्यन्तवेगादनवमपरभावत्यागदृष्टान्तदृष्टिः।
झटिति सकलभावैरन्यदीयैर्विमुक्ता स्वयमियमनुभूतिस्तावदाविर्बभूव॥
(समयसार, पूर्वरंग, कलश २९)

कहीं कुछ प्रमाणादि कहे हों, वहाँ वही नहीं मान लेना; जो प्रयोजन हो, वह जानना। जैसे—**ज्ञानार्णव**[१] **में ऐसा कहा है—इस काल में दो-तीन सत्पुरुष हैं परन्तु नियम से इतने ही नहीं हैं; यहाँ थोड़े हैं - ऐसा प्रयोजन जानना।** इसी प्रकार अन्यत्र जानना।

इसी रीतिसहित और भी अनेक प्रकार से शब्दों के अर्थ होते हैं; उनको यथासम्भव जानना; विपरीत अर्थ नहीं जानना।

वहाँ जो उपदेश हो, उसे यथार्थ पहिचानकर, जो अपने योग्य उपदेश हो, उसे अंगीकार करना। जैसे—वैद्यकशास्त्रों में अनेक औषधियाँ कही हैं, उनको जानें, परन्तु ग्रहण उन्हीं का करें, जिनसे अपना रोग दूर हो। अपने को शीत का रोग हो तो उष्ण औषधि का ही ग्रहण करे; शीतल औषधि का ग्रहण न करे; यह औषधि औरों को कार्यकारी है - ऐसा जाने; उसी प्रकार जैनशास्त्रों में अनेक उपदेश हैं, उन्हें जानें, परन्तु ग्रहण उसी का करे, जिससे अपना विकार दूर हो जाए। आप (स्वयं) को जो विकार हो, उसका निषेध करनेवाले, उपदेश को ग्रहण करे; उसके पोषक उपदेश को ग्रहण न करे; यह उपदेश औरों को कार्यकारी है - ऐसा जाने।

यहाँ उदाहरण कहते हैं—जैसे—शास्त्रों में कहीं निश्चयपोषक उपदेश है, कहीं व्यवहार-पोषक उपदेश है; वहाँ आप को व्यवहार का आधिक्य हो तो निश्चयपोषक उपदेश का ग्रहण करके, यथावत् प्रवर्तन करो और अपने को निश्चय का आधिक्य हो तो व्यवहारपोषक उपदेश का ग्रहण करके, यथावत् प्रवर्तन करो।

देखो! पहले तो व्यवहारश्रद्धान के कारण, आत्मज्ञान से भ्रष्ट हो रहा था, पश्चात् व्यवहार उपदेश ही की मुख्यता करके, आत्मज्ञान का उद्यम न करे अथवा पहले तो निश्चयश्रद्धान के कारण, वैराग्य से भ्रष्ट होकर, स्वछन्दी हो रहा था, पश्चात् निश्चय उपदेश ही की मुख्यता करके, विषय-कषाय का पोषण करता है।

इस प्रकार विपरीत उपदेश ग्रहण करने से, बुरा ही होता है।

जैसे—**आत्मानुशासन**[२] **में ऐसा कहा है कि तू गुणवान होकर, दोष क्यों लगाता है? दोषवान होना था तो दोषमय ही क्यों नहीं हुआ?** वहाँ यदि जीव, आप तो गुणवान हो और उसे कोई दोष लगता हो तो वहाँ उस दोष को दूर करने के लिए, उस उपदेश को अंगीकार करना। तथा यदि आप तो दोषवान है और इस उपदेश को ग्रहण करके, गुणवान

---

[१] दुःप्रज्ञाबललुप्तवस्तुनिचया, विज्ञानशून्याशयाः; विद्यन्ते प्रतिमन्दिरं निजनिज-स्वार्थोद्यता देहिनः।
आनन्दामृतसिन्धुशीकरचयै-र्निर्वाप्य जन्मज्वरं; ये मुक्तेर्वदनेन्दुवीक्षणपराः, ते सन्ति द्वि-त्रा यदि॥ (ज्ञानार्णव, ५-२४)

[२] हे चन्द्रमः किमिति लाञ्छनवानभूस्त्वं। तद्वान्भवेः किमिति तन्मय एव नाभूः।
किं ज्योत्स्नया मलमलं तव घोषयन्त्या। स्वर्भानवन्ननु तथा सति नाऽसि लक्ष्यः॥ (आत्मानुशासन, १४०)

पुरुषों को नीचा दिखलाए तो बुरा ही है (क्योंकि) सर्व दोषमय होने से तो, किंचित् दोषरूप होना बुरा नहीं है; इसलिए तुझसे तो वह भला है।

यहाँ जो कहा है कि '**तू दोषमय ही क्यों नहीं हुआ ?**'— यह तो तर्क किया है, कोई सर्व दोषमय होने के लिए यह उपदेश नहीं है, वहाँ तो गुणवान की किंचित् दोष होनेपर भी, निन्दा की है परन्तु सर्व दोषरहित तो सिद्ध हैं; निचली दशा में तो कोई गुण, कोई दोष होता ही है।

यहाँ कोई कहे—यदि ऐसा है तो मुनिलिंग धारण करके, किंचित् परिग्रह रखे, वह भी निगोद जाता है - ऐसा **षट्पाहुड़**[१] में कैसे कहा है ?

उसका उत्तर—ऊँची पदवी धारण करके, जो उस पद में होनेयोग्य नहीं हैं—ऐसे नीचे कार्य करे तो प्रतिज्ञा भंगादि होने से, महादोष लगता है और नीची पदवी में वहाँ होनेयोग्य - ऐसे गुण-दोष हों तो हों; वहाँ उसका दोष ग्रहण करना, योग्य नहीं है - ऐसा जानना।

उपदेशसिद्धान्तरत्नमाला[२] में कहा है—'आज्ञानुसार उपदेश देनेवाले का क्रोध भी क्षमा का भण्डार है' परन्तु यह उपदेश वक्ता को ग्रहण करनेयोग्य नहीं है—इस उपदेश से वक्ता क्रोध करता रहे तो उसका बुरा ही होगा; यह उपदेश, श्रोताओं को ग्रहण करनेयोग्य है। कदाचित् वक्ता, क्रोध करके भी सच्चा उपदेश दे तो श्रोता, गुण ही मानेंगे।

इसी प्रकार अन्यत्र जानना।

इसी प्रकार जैसे—किसी को अति शीतांग रोग हो, उसके लिए अति उष्ण रसादि औषधि कही है; उस औषधि को जिसको दाह हो या तुच्छ शीत हो, वह ग्रहण करे तो दुःख ही पाता है; उसी प्रकार किसी को किसी कार्य की अति मुख्यता हो, उसके लिए, उसके निषेध का अति खींचकर उपदेश दिया हो; उसे जिसको उस कार्य की मुख्यता न हो या थोड़ी मुख्यता हो, वह ग्रहण करे तो बुरा ही होता है।

यहाँ उदाहरण—जैसे—**किसी को शास्त्राभ्यास की अति मुख्यता है और आत्मानुभव का उद्यम ही नहीं है तो उसके लिए बहुत शास्त्राभ्यास का निषेध किया है।**

लेकिन जिसको शास्त्राभ्यास नहीं है या थोड़ा शास्त्राभ्यास है, वह जीव, उक्त उपदेश से शास्त्राभ्यास छोड़ दे और आत्मानुभव में उपयोग रहता नहीं है, तब उसका तो बुरा ही होता है।

---

① जहजायरूवसरिसो, तिलतुसमेत्तं ण गिहदि हत्थेसु।
जइ लेइ अप्पबहुयं, तत्तो पुण जाइ णिग्गोदम्॥ (सूत्रपाहुड़ गाथा १८)

② रोसो वि खमाकोसो, सुत्तं भासंत जस्स धण्णस्स।
उस्सुत्तेण खमा वि य, दोस महामोह आवासो॥ (उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला, गाथा १४)

इसी प्रकार, जैसे—किसी को यज्ञ-स्नानादि द्वारा हिंसा से, धर्म मानने की मुख्यता है, उसके लिए 'यदि पृथ्वी उलट जाए तो भी हिंसा करने से, पुण्यफल नहीं होता'—ऐसा उपदेश दिया है परन्तु जो जीव, पूजनादि कार्यों को करके, किंचित् हिंसा लगाता है और बहुत पुण्य उपजाता है, वह जीव, उक्त उपदेश से पूजनादि कार्य छोड़ दे और हिंसारहित सामायिकादि धर्म में उपयोग लगाता नहीं, तब उसका तो बुरा ही होता है। इसी प्रकार अन्यत्र जानना।

तथा जैसे—कोई औषधि, गुणकारी है परन्तु आप को जब तक उस औषधि से हित हो, तब तक उसका ग्रहण करे; यदि शीत मिटनेपर भी, उष्ण औषधि का सेवन करता ही रहे तो उल्टा रोग होता है; उसी प्रकार कोई धर्मकार्य है परन्तु आपको जब तक उस धर्मकार्य से हित हो, तब तक उसका ग्रहण करे; यदि उच्चदशा होनेपर भी, निचली दशा सम्बन्धी धर्म के सेवन में लगा रहे तो उल्टा विकार ही होता है। **यहाँ उदाहरण**—जैसे—पाप मिटाने के लिए, प्रतिक्रमणादि धर्मकार्य कहे हैं परन्तु **आत्मानुभव होनेपर, प्रतिक्रमणादि का विकल्प करे तो उल्टा विकार बढ़ता है; इसी कारण समयसार में प्रतिक्रमणादि को विष कहा है।**

इसी प्रकार, **जैसे—अव्रती के करनेयोग्य जो प्रभावनादि धर्मकार्य कहे हैं, उन्हें व्रती होकर करे तो पाप ही बाँधता है तथा व्यापारादि आरम्भ छोड़कर, चैत्यालयादि कार्यों का अधिकारी हो - यह कैसे बने ?** इसी प्रकार अन्यत्र जानना।

जैसे—पाकादि औषधियाँ, पुष्टकारी हैं परन्तु ज्वरवान् उन्हें ग्रहण करे तो महादोष उत्पन्न हो; उसी प्रकार ऊँचा धर्म, बहुत भला है परन्तु अपने विकारभाव दूर न हों और ऊँचे धर्म का ग्रहण करे तो महान दोष उत्पन्न होता है। **यहाँ उदाहरण**—जैसे—अपना अशुभविकार भी नहीं छूटा हो और निर्विकल्पदशा को अंगीकार करे तो उल्टा विकार बढ़ता है तथा जैसे—भोजनादि विषयों में आसक्त हो और आरम्भ त्यागादि धर्म को अंगीकार करे, तो दोष ही उत्पन्न होता है तथा जैसे—व्यापारादि करने का विकार तो छूटे नहीं और त्याग के भेषरूप धर्म अंगीकार करे तो महान दोष उत्पन्न हो। इसी प्रकार अन्यत्र जानना।

इसी प्रकार और भी सच्चे विचार से उपदेश को यथार्थ जानकर, अंगीकार करना।

बहुत विस्तार कहाँ तक कहें ?—अपने को सम्यग्ज्ञान होनेपर, स्वयं ही को यथार्थ भासित होता है। उपदेश तो वचनात्मक है तथा वचन द्वारा अनेक अर्थ, युगपत् नहीं कहे जाते; इसलिए उपदेश तो एक ही अर्थ की मुख्यतासहित होता है।

जिस अर्थ का जहाँ वर्णन है, वहाँ उसी की मुख्यता है; दूसरे अर्थ की वहाँ ही मुख्यता करें तो दोनों उपदेश दृढ़ नहीं होंगे; इसलिए उपदेश में एक अर्थ को दृढ़ करे, परन्तु सर्व

जिनमत का चिह्न स्याद्वाद है और 'स्यात्' पद का अर्थ, 'कथंचित्' है; इसलिए जो उपदेश हो, उसे सर्वथा नहीं जान लेना। उपदेश के अर्थ को जानकर, वहाँ इतना विचार करना कि 'यह उपदेश किस प्रकार है ? किस प्रयोजनसहित है ? किस जीव को कार्यकारी है ? इत्यादि विचार करके, उसका यथार्थ अर्थ ग्रहण करे, पश्चात् अपनी दशा देखे।

जो उपदेश जिस प्रकार आपको कार्यकारी हो, उसे उसी प्रकार आप अंगीकार करे और जो उपदेश जाननेयोग्य ही हो तो उसे यथार्थ जान ले। इस प्रकार उपदेश के फल को प्राप्त करे।

यहाँ कोई कहे—जो तुच्छबुद्धि, इतना विचार न कर सके, वह क्या करे ?

उसका उत्तर—जैसे—व्यापारी अपनी बुद्धि के अनुसार, जिसमें समझे, उसमें थोड़ा या बहुत व्यापार करे, परन्तु नफा-नुकसान का ज्ञान तो अवश्य होना चाहिए; उसी प्रकार विवेकी, अपनी बुद्धि के अनुसार, जिसमें समझे, उसमें थोड़ा या बहुत उपदेश को ग्रहण करे, परन्तु 'मुझे यह कार्यकारी है, यह कार्यकारी नहीं है'- इतना तो ज्ञान अवश्य होना चाहिए।

वहाँ कार्य तो इतना है—'यथार्थ श्रद्धान-ज्ञान करके, रागादि घटाना'; अतः अपना यह कार्य जिससे सिद्ध हो, उसी उपदेश का प्रयोजन ग्रहण करे; विशेष ज्ञान न हो तो प्रयोजन को तो नहीं भूले, इतनी सावधानी अवश्य होना चाहिए; जिसमें अपने हित की हानि हो, उस प्रकार उपदेश का अर्थ समझना, योग्य नहीं है।

इस प्रकार स्याद्वाददृष्टिसहित, जैनशास्त्रों का अभ्यास करने से, अपना कल्याण होता है।

यहाँ कोई प्रश्न करे—जहाँ अन्य-अन्य प्रकार सम्भवित हों, वहाँ तो स्याद्वाद सम्भव है परन्तु एक ही प्रकार से शास्त्रों में परस्पर विरोध भासित हो, वहाँ क्या करें ? जैसे—प्रथमानुयोग में 'एक तीर्थंकर के साथ हजारों [जीव] मोक्ष गए'- ऐसा बतलाया है; जबकि करणानुयोग में 'छह महीने आठ समय में, छह सौ आठ जीव मोक्ष जाते हैं'- ऐसा नियम कहा है।

इसी प्रकार प्रथमानुयोग में ऐसा कथन किया है—देव-देवांगना उत्पन्न होकर, फिर मरकर, साथ ही मनुष्यादि पर्यायों में उत्पन्न हुए। वहाँ करणानुयोग में देव की सागरों प्रमाण और देवांगना की पल्यों प्रमाण, आयु कही है, इत्यादि विधि कैसे मिलती है ?

उसका उत्तर—करणानुयोग में जो कथन है, वह तो तारतम्यसहित है, जबकि अन्य अनुयोग में कथन प्रयोजन के अनुसार है; इसलिए करणानुयोग का कथन तो जिस प्रकार किया है, उसी प्रकार है; अन्य [अनुयोगों] के कथन की जैसे विधि मिले, वैसे मिला लेना।

'हजारों मुनि, तीर्थंकर के साथ मोक्ष गए'—ऐसा बतलाया है, वहाँ यह जानना कि 'एक ही काल में इतने मोक्ष नहीं गए हैं परन्तु जहाँ तीर्थंकर गमनादि क्रिया मिटाकर स्थिर हुए, वहाँ उनके साथ इतने मुनि विद्यमान थे, फिर आगे-पीछे मोक्ष गए।'

इस प्रकार प्रथमानुयोग-करणानुयोग का विरोध दूर होता है।

इसी प्रकार 'देव-देवांगना साथ उत्पन्न हुए, फिर देवांगना ने चयकर, बीच में अन्य पर्यायें धारण कीं, उनका प्रयोजन न जानकर, कथन नहीं किया, फिर वे साथ मनुष्यपर्याय में उत्पन्न हुए।

इस प्रकार विधि मिलाने से, विरोध दूर होता है। इसी प्रकार अन्यत्र विधि मिला लेना।

फिर प्रश्न है—इस प्रकार के कथनों में भी किसी प्रकार विधि मिलती है परन्तु कहीं नेमिनाथस्वामी का सौरीपुर में और कहीं द्वारावती में जन्म कहा; रामचन्द्रादि की कथा अन्य - अन्य प्रकार से लिखी है, इत्यादि तथा कहीं एकेन्द्रियादि को सासादन-गुणस्थान होना लिखा, कहीं नहीं लिखा, इत्यादि; इन कथनों की विधि किस प्रकार मिले ?

उसका उत्तर—इस प्रकार विरोधसहित कथन, कालदोष से हुए हैं। इस काल में प्रत्यक्ष ज्ञानी व बहुश्रुतों का तो अभाव हुआ है और अल्पबुद्धि, ग्रन्थ करने के अधिकारी हुए, उनको भ्रम से कोई अर्थ, अन्यथा जैसा भासित हुआ, उसको वैसा लिखा अथवा इस काल में कितने ही जैनमत में भी कषायी हुए हैं; अत: उन्होंने कोई कारण पाकर, अन्यथा कथन लिखा है।

इस प्रकार अन्यथा कथन हुए; इसलिए जैनशास्त्रों में विरोध भासित होने लगा।

जहाँ विरोध भासित हो, वहाँ इतना करना—यह कथन करनेवाले बहुत प्रामाणिक हैं या यह कथन करनेवाले बहुत प्रामाणिक हैं ?—ऐसा विचार करके, बड़े आचार्यों आदि का कहा हुआ कथन, प्रमाण करना। वहाँ जिनमत के बहुत शास्त्र हैं, उनकी आम्नाय मिलाना; जो परम्परा आम्नाय से मिलें, उस कथन को प्रमाण करना।

इस प्रकार विचार करनेपर भी, सत्य-असत्य का निर्णय न हो सके तो 'जैसे केवली को भासित हुआ है, वैसे प्रमाण है'—ऐसा मान लेना, क्योंकि देवादि का व तत्त्वों का निर्धार हुए बिना तो मोक्षमार्ग होता नहीं है; उनका तो निर्धार भी हो सकता है; इसलिए कोई इनका स्वरूप विरुद्ध कहे तो आप ही को भासित हो जाता है। फिर भी किसी कथन का निर्धार न हो या संशयादि रहे या अन्यथा भी जानपना हो जाए और 'केवली का कहा प्रमाण है'—ऐसा श्रद्धान रहे तो मोक्षमार्ग में विघ्न नहीं होता है - ऐसा जानना।

यहाँ कोई तर्क करे—जैसे—नाना प्रकार के कथन, जिनमत में कहे हैं; वैसे कथन, अन्य मत में भी पाये जाते हैं। वहाँ तुम्हारे अपने मत के कथन का तो तुमने जिस तिस प्रकार स्थापन किया, परन्तु अन्यमत के ऐसे कथन में तुम दोष लगाते हो - यह तो तुम्हें राग-द्वेष है।

उसका समाधान—कथन तो नाना प्रकार के होते हैं परन्तु यदि एक ही प्रयोजन का पोषण करें, तब तो कोई दोष नहीं, लेकिन यदि कहीं किसी प्रयोजन का और कहीं किसी प्रयोजन का पोषण करें तो दोष ही है।

यहाँ जिनमत में तो एक रागादि मिटाने का प्रयोजन है; इसलिए कहीं बहुत रागादि छुड़ाकर, थोड़े रागादि कराने के प्रयोजन का पोषण किया है, कहीं सर्व रागादि मिटाने के प्रयोजन का पोषण किया है परन्तु रागादि बढ़ाने का प्रयोजन कहीं नहीं है; इसलिए जिनमत का सर्व कथन निर्दोष है।

जबकि अन्यमत में कहीं रागादि मिटाने के प्रयोजनसहित कथन करते हैं और कहीं रागादि बढ़ाने के प्रयोजनसहित कथन करते हैं, इसी प्रकार अन्य भी प्रयोजन की विरुद्धता-सहित कथन करते हैं; इसलिए अन्यमत का कथन सदोष है।

लोक में भी एक प्रयोजन का पोषण करनेवाले नाना कथन कहे, उसे **प्रामाणिक** कहा जाता है और अन्य-अन्य प्रयोजन का पोषण करनेवाली बातें करें, उसे **बावला** कहते हैं।

देखो! जिनमत में नाना प्रकार के कथन हैं, वे भिन्न-भिन्न अपेक्षासहित हैं, वहाँ दोष नहीं है। अन्यमत में एक ही अपेक्षा से, अन्य-अन्य कथन करते हैं, वहाँ दोष है। जैसे –जिनदेव को वीतरागभाव है और समवसरणादि विभूति भी पाई जाती है, वहाँ विरोध नहीं है। समवसरण आदि विभूति की रचना, इन्द्रादि करते हैं, इनको उसमें रागादि नहीं है; इसलिए दोनों बातें हो सकती हैं परन्तु अन्यमत में ईश्वर को साक्षीभूत वीतराग भी कहते हैं तथा उसी के द्वारा किये गये काम-क्रोधादि भाव, निरूपित करते हैं परन्तु एक आत्मा ही को वीतरागपना और काम-क्रोधादि भाव कैसे हो सकते हैं ? इसी प्रकार अन्यत्र जानना।

कालदोष से जिनमत में एक ही प्रकार से कोई कथन विरुद्ध लिखा है परन्तु यह तुच्छबुद्धियों की भूल है, कुछ मत में दोष नहीं है। फिर भी जिनमत का अतिशय इतना है कि प्रमाणविरुद्ध कथन कोई नहीं कर सकता। जैसे–नेमिनाथस्वामी का जन्म कहीं शौरीपुर में और कहीं द्वारावती में लिखा है; अत: कहीं भी हो, परन्तु नगर में जन्म होना प्रमाणविरुद्ध नहीं है, आज भी होते दिखाई देते हैं।

वहाँ अन्यमत में, सर्वज्ञ आदि यथार्थ ज्ञानियों के रचे हुए ग्रन्थ बतलाते हैं परन्तु उनमें परस्पर विरुद्धता भासित होती है। कहीं तो बालब्रह्मचारी की प्रशंसा करते हैं, कहीं कहते हैं कि 'पुत्र बिना गति ही नहीं होती'; अत: दोनों सच्चे कैसे हो सकते हैं ?–ऐसे कथन वहाँ बहुत पाये जाते हैं। **तथा प्रमाणविरुद्ध कथन भी उनमें पाये जाते हैं।** जैसे–'मुख में वीर्य गिरने से, मछली को पुत्र हुआ', परन्तु ऐसा इस काल में किसी को होता दिखाई नहीं देता और अनुमान से भी सिद्ध नहीं होता।

इस प्रकार ऐसे कथन भी बहुत पाये जाते हैं। यदि यहाँ सर्वज्ञादि की भूल मानें तो वे कैसे भूल सकते हैं ? और विरुद्ध कथन मानने में आता नहीं; इसलिए उनके मत में, दोष ठहराते हैं–ऐसा जानकर, एक जिनमत का ही उपदेश, ग्रहण करनेयोग्य है।

अनुयोगों का अभ्यास क्रम

इस प्रकार प्रथमानुयोगादि का अभ्यास करना। वहाँ पहले इसका अभ्यास करना, फिर इसका करना - ऐसा नियम नहीं है परन्तु अपने परिणामों की अवस्था देखकर, जिसके अभ्यास से, अपनी धर्म में प्रवृत्ति होती हो, उसी का अभ्यास करना। अथवा कभी किसी शास्त्र का अभ्यास करे, कभी किसी शास्त्र का अभ्यास करे।

जैसे—रोजनामचे (बही) में तो अनेक रकम (राशियाँ) जहाँ-तहाँ लिखी हैं, उनको खाते में अच्छी तरह खतौनी करे तो लेन-देन का निश्चय हो; उसी प्रकार शास्त्रों में तो अनेक प्रकार का उपदेश जहाँ-तहाँ दिया है, उसे सम्यग्ज्ञान में यथार्थ प्रयोजनसहित पहिचाने तो हित-अहित का निश्चय हो।

इसलिए स्यात्पद की सापेक्षतासहित, सम्यग्ज्ञान द्वारा जो जीव, जिन वचनों में रमते हैं, वे जीव, शीघ्र ही शुद्धात्मस्वरूप को प्राप्त होते हैं।

मोक्षमार्ग में पहला उपाय, 'आगमज्ञान' कहा है; आगमज्ञान बिना, धर्म का साधन अन्य नहीं हो सकता; इसलिए तुम्हें भी यथार्थ बुद्धि करके, आगम का अभ्यास करना चाहिए। तुम्हारा कल्याण होगा !

❁ ❁ ❁

- इति श्री मोक्षमार्गप्रकाशक नामक शास्त्र में
'उपदेश का स्वरूप' प्रतिपादक [आठवाँ] अधिकार
सम्पूर्ण हुआ॥ ८॥

नौवाँ अधिकार
मोक्षमार्ग का स्वरूप

॥ ॐ नमः ॥

दोहा – **शिव-उपाय करतैं प्रथम, कारन मंगलरूप।**
विघन विनाशक सुख करन, नमौं शुद्ध शिवभूप॥

अथ, **मोक्षमार्ग का स्वरूप** कहते हैं —

पूर्व में मोक्षमार्ग के प्रतिपक्षी, 'मिथ्यादर्शनादि का स्वरूप' बतलाया; उन्हें तो दुःखरूप व दुःख का कारण जानकर, हेय मानकर, उनका त्याग करना तथा बीच में 'उपदेश का स्वरूप' दिखलाया, उसे जानकर, उपदेश को यथार्थ समझना।

अब, मोक्ष के मार्ग 'सम्यग्दर्शनादि का स्वरूप' दिखलाते हैं; उन्हें सुखरूप व सुख का कारण जानकर, उपादेय मानकर, इनका अंगीकार करना, क्योंकि आत्मा का हित, मोक्ष ही है; उसी का उपाय 'आत्मा का कर्तव्य' है; इसलिए इसी का उपदेश यहाँ देते हैं —

आत्मा का हित, 'मोक्ष' ही है

वहाँ, आत्मा का हित, मोक्ष ही है; अन्य नहीं – ऐसा निश्चय किस प्रकार होता है ? वह कहते हैं —

आत्मा में नाना प्रकार की गुण-पर्यायरूप अवस्थाएँ पायी जाती हैं; उनमें अन्य तो कोई अवस्था हो, आत्मा का कुछ भी बिगाड़-सुधार नहीं है; एक दुःख-सुख अवस्था से बिगाड़-सुधार है; उसके लिए यहाँ कुछ भी हेतु-दृष्टान्त नहीं चाहिए; प्रत्यक्ष ऐसा ही प्रतिभासित होता है।

लोक में जितने जीव हैं, उनको यही एक उपाय पाया जाता है कि दुःख न हो, सुख हो तथा अन्य भी जितने उपाय करते हैं, वे सब एक इसी प्रयोजनसहित करते हैं; दूसरा प्रयोजन नहीं है। जिनके निमित्त से दुःख होता जानें, उनको दूर करने का उपाय करते हैं और जिनके निमित्त से सुख होता जानें, उनके होने का उपाय करते हैं। वहाँ संकोच-विस्तार आदि अवस्थाएँ भी आत्मा में ही होती हैं व अनेक परद्रव्यों का भी संयोग मिलता है परन्तु जिनसे दुःख-सुख होता न जाने, उनको दूर करने का व होने का कुछ भी उपाय कोई नहीं करता।

इस तरह यहाँ आत्मद्रव्य का ऐसा ही स्वभाव जानना।

अन्य तो सर्व अवस्थाओं को सह सकता है, एक दु:ख को नहीं सह सकता। परवशपने दु:ख हो तो यह क्या करे? उसे भोगता है परन्तु स्ववशपने तो किंचित् भी दु:ख को सहन नहीं करता तथा संकोच-विस्तारादि अवस्थाएँ जैसी होती हों, वैसी होओ; उसे स्ववशपने भी भोगता है। वहाँ स्वभाव में तर्क नहीं है। आत्मा का ऐसा ही स्वभाव जानना।

देखो! दु:खी हो, तब सोना चाहता है, वहाँ सोने में ज्ञानादि मन्द हो जाते हैं परन्तु जड़ -सरीखा होकर भी, दु:ख को दूर करना चाहता है। अथवा मरना चाहता है; वहाँ मरने में अपना नाश मानता है परन्तु अपना अस्तित्व खोकर भी, दु:ख को दूर करना चाहता है; अत: एक दु:खरूप पर्याय का अभाव करना ही इसका कर्तव्य है।

वहाँ दु:ख न हो, वही सुख है क्योंकि आकुलतालक्षणसहित दु:ख, उसका अभाव, वही निराकुलतालक्षण सुख है - यह भी प्रत्यक्ष भासित होता है।

बाह्य में किसी भी सामग्री का संयोग मिले; जिसके अन्तरंग में आकुलता है, वह दु:खी ही है; जिसके आकुलता नहीं है, वह सुखी है। वहाँ आकुलता होती है, वह रागादि कषाय-भाव होनेपर होती है क्योंकि **रागादि भावों से यह तो द्रव्यों को अन्य प्रकार परिणमित करना चाहता है परन्तु वे द्रव्य, जब अन्य प्रकार परिणमित हों, तब इसको आकुलता होती है।**

वहाँ या तो आप के रागादि दूर हों या जैसा आप चाहे, उसी प्रकार सर्व द्रव्य परिणमित हों तो आकुलता मिटे, परन्तु सर्व द्रव्य तो इसके आधीन नहीं हैं।

कदाचित् कोई द्रव्य, जैसी इसकी इच्छा हो, उसी प्रकार परिणमित हो, तब भी इसकी आकुलता सर्वथा दूर नहीं होती। **सर्व कार्य इसकी चाह के अनुसार ही हों; अन्यथा न हों, तब यह निराकुल रहे, परन्तु यह तो हो ही नहीं सकता, क्योंकि किसी द्रव्य का परिणमन, किसी द्रव्य के आधीन नहीं है; इसलिए अपने रागादि भाव, दूर होनेपर, निराकुलता होती है - ऐसे यह कार्य बन सकता है** क्योंकि रागादि भाव, आत्मा के स्वभावभाव तो हैं नहीं; औपाधिकभाव हैं, पर निमित्त से हुए हैं और वह निमित्त, मोहकर्म का उदय है; उसका अभाव होनेपर, सर्व रागादि विलय हो जाते हैं, तब आकुलता का नाश होनेपर, दु:ख दूर होता है और सुख की प्राप्ति होती है; इसलिए मोहकर्म का नाश हितकारी है।

वहाँ उस आकुलता का सहकारीकारण, ज्ञानावरणादि (घातिकर्मों) का उदय है।

ज्ञानावरण-दर्शनावरण के उदय से, ज्ञान-दर्शन सम्पूर्ण प्रगट नहीं होते; इसलिए इसको देखने-जानने की आकुलता होती है अथवा सम्पूर्ण वस्तु का यथार्थस्वभाव नहीं जानता, तब रागादिरूप होकर प्रवर्तता है, वहाँ आकुलता होती है।

अन्तराय के उदय से, इच्छानुसार दानादि कार्य नहीं बनते, तब आकुलता होती है।

इस प्रकार इनका उदय है, वह **मोह (कर्म)** का उदय होनेपर, आकुलता को

सहकारीकारण होता है; मोह के उदय का नाश होनेपर, उनका बल नहीं रहता है; अन्तर्मुहूर्त काल में अपने आप नाश को प्राप्त होते हैं परन्तु सहकारीकारण भी दूर हो जाए, तब प्रगटरूप निराकुल-दशा भासित होती है। वहाँ केवलज्ञानी भगवान, अनन्त सुखरूप दशा को प्राप्त कहलाते हैं।

तथा अघातिकर्मों के उदय के निमित्त से, शरीरादि का संयोग होता है।

वहाँ मोहकर्म का उदय होनेपर, शरीरादि का संयोग आकुलता का बाह्य सहकारीकारण होता है। अन्तरंग मोह के उदय से, रागादि होते हैं और बाह्य अघातिकर्मों के उदय से, रागादि के कारण, शरीरादि का संयोग होता है, तब आकुलता उत्पन्न होती है।

तथा मोह के उदय का नाश होनेपर भी, अघातिकर्म का उदय रहता है लेकिन वह कुछ भी आकुलता उत्पन्न नहीं कर सकता, परन्तु पूर्व में आकुलता का सहकारीकारण था; इसलिए अघातिकर्म का भी नाश, आत्मा को इष्ट ही है। वहाँ केवली को इनके होनेपर, कुछ दुःख नहीं है; इसलिए इनके नाश का उद्यम भी नहीं है परन्तु मोह का नाश होनेपर ये कर्म, अपने आप थोड़े ही काल में सर्व नाश को प्राप्त हो जाते हैं।

इस प्रकार सर्व कर्मों का नाश होना, आत्मा का हित है तथा सर्व कर्म के नाश ही का नाम, मोक्ष है; इसलिए आत्मा का हित, एक मोक्ष ही है और कुछ नहीं - ऐसा निश्चय करना।

यहाँ कोई कहे—संसारदशा में पुण्यकर्म का उदय होनेपर भी जीव, सुखी होता है; इसलिए केवल मोक्ष ही हित है - ऐसा किसलिए कहते हैं?

उसका समाधान—संसारदशा में सुख तो सर्वथा है ही नहीं; दुःख ही है परन्तु किसी को कभी बहुत दुःख होता है, किसी को कभी थोड़ा दुःख होता है; इसलिए पूर्व में बहुत दुःख था व अन्य जीवों को बहुत दुःख पाया जाता है, उस अपेक्षा से थोड़े दुःखवाले को, सुखी कहते हैं तथा उसी अभिप्राय से थोड़े दुःखवाला, आप (स्वयं) को सुखी मानता है; परमार्थ से सुख है नहीं। वहाँ यदि थोड़ा भी दुःख सदा काल रहता हो तो उसे भी हितरूप ठहराइए, परन्तु वह भी नहीं है तथा थोड़े काल ही पुण्य का उदय रहता है, वहाँ थोड़ा दुःख होता है, पश्चात् बहुत दुःख हो जाता है; इसलिए संसार अवस्था हितरूप नहीं है।

जैसे—किसी को विषमज्वर है; उसको असाता कभी बहुत होती है, कभी थोड़ी होती है; थोड़ी असाता हो तो वह अपने को अच्छा मानता है। लोग भी कहते हैं—अच्छा है परन्तु परमार्थ से जब तक ज्वर का सद्भाव है, तब तक अच्छा नहीं है; उसी प्रकार संसारी को, मोह का उदय है; उसको आकुलता कभी बहुत होती है, कभी थोड़ी होती है। थोड़ी आकुलता हो, तब वह आपको सुखी मानता है। लोग भी कहते हैं—सुखी है परन्तु परमार्थ से जब तक मोह का सद्भाव है, तब तक सुखी नहीं है।

और सुनो! संसारदशा में भी आकुलता घटनेपर, सुख नाम पाता है; आकुलता बढ़नेपर, दुःख नाम पाता है; कोई बाह्य सामग्री से सुख-दुःख नहीं है।

जैसे—किसी दरिद्री को किंचित् धन की प्राप्ति हुई, वहाँ कुछ आकुलता घटने से, उसे सुखी कहते हैं और वह भी आप (स्वयं) को सुखी मानता है परन्तु किसी बहुत धनवान को किंचित् धन की हानि हुई, वहाँ कुछ आकुलता बढ़ने से, उसे दुःखी कहते हैं और वह भी आपको दुःखी मानता है। इसी प्रकार सर्वत्र जानना।

देखो! आकुलता घटना-बढ़ना भी, बाह्य सामग्री के अनुसार नहीं है; कषायभावों के घटने-बढ़ने के अनुसार है। जैसे—किसी के पास थोड़ा धन है और उसे सन्तोष है तो उसको आकुलता थोड़ी है तथा किसी के पास बहुत धन है और उसे तृष्णा है तो उसको आकुलता बहुत है। किसी को, किसी ने बहुत बुरा कहा और उसे क्रोध नहीं हुआ तो उसको आकुलता नहीं होती और थोड़ी बातें कहनेपर ही क्रोध हो आए, तो उसको आकुलता बहुत होती है।

जैसे—गाय को बछड़े से कुछ भी प्रयोजन नहीं है परन्तु मोह बहुत है; इसलिए उसकी रक्षा करने की बहुत आकुलता होती है तथा सुभट के शरीरादि से बहुत कार्य सधते हैं परन्तु रण में मानादि के कारण, शरीरादि से मोह घट जाये तो मरने की भी थोड़ी आकुलता होती है।

इसलिए ऐसा जानना—संसार अवस्था में भी आकुलता घटने-बढ़ने से ही, सुख -दुःख मानते हैं तथा आकुलता का घटना-बढ़ना, रागादि कषाय घटने-बढ़ने के अनुसार है।

वहाँ परद्रव्यरूप बाह्य सामग्री के अनुसार, सुख-दुःख नहीं है। कषाय से इसे इच्छा उत्पन्न होती है और इसकी इच्छानुसार बाह्य सामग्री मिलती है, तब इसकी कुछ कषाय का उपशमन होने से, आकुलता घटती है, तब यह सुख मानता है और इच्छानुसार सामग्री नहीं मिलती है, तब कषाय बढ़ने से, आकुलता बढ़ती है और यह दुःख मानता है। वहाँ है तो इस प्रकार, परन्तु यह जानता है—मुझे परद्रव्य के निमित्त से, सुख-दुःख होते हैं लेकिन ऐसा जानना भ्रम ही है।

इसलिए यहाँ ऐसा विचार करना—संसार अवस्था में किंचित् कषाय घटनेपर, जब सुख मानते हैं, उसे हित जानते हैं तो जहाँ सर्वथा कषाय दूर होनेपर व कषाय के कारण दूर होनेपर, **परम निराकुलता होने से, अनन्त सुख प्राप्त होता है—ऐसी मोक्ष अवस्था को कैसे हितकारी न मानें ?**

संसार अवस्था में उच्चपद को प्राप्त करे तो भी या तो विषयसामग्री मिलाने की आकुलता होती है या विषयसेवन की आकुलता होती है या अपने को अन्य किसी क्रोधादि कषाय से इच्छा उत्पन्न हो तो उसे पूर्ण करने की आकुलता होती है; कभी सर्वथा निराकुल नहीं हो पाता; अभिप्राय में तो अनेक प्रकार की आकुलता बनी ही रहती है। तथा कोई आकुलता मिटाने के बाह्यउपाय करे, वहाँ प्रथम तो कार्य सिद्ध होता नहीं और यदि

भवितव्य योग से, वह कार्य सिद्ध हो जाए तो तत्काल अन्य आकुलता मिटाने के उपाय में लगता है।

इस प्रकार आकुलता मिटाने की आकुलता, निरन्तर बनी रहती है। यदि ऐसी आकुलता न रहे तो वह नये-नये विषयसेवनादि कार्यों में किसलिए प्रवर्तता है ? **इसलिए संसार अवस्था में पुण्य के उदय से, इन्द्र-अहमिन्द्रादि पद प्राप्त करे तो भी निराकुलता नहीं होती; दुःखी ही रहता है; इसलिए संसार अवस्था, हितकारी नहीं है।**

तथा मोक्ष अवस्था में, किसी भी प्रकार की आकुलता रही नहीं; इसलिए आकुलता मिटाने के उपाय करने का भी प्रयोजन नहीं है; सदा काल शान्तरस से सुखी रहते हैं; इसलिए मोक्ष अवस्था ही हितकारी है। पहले भी संसार अवस्था के दुःख का और मोक्ष अवस्था के सुख का विशेष वर्णन किया है, वह इसी प्रयोजन के अर्थ किया है; उसे भी विचारकर, **मोक्ष को हितरूप जानकर, मोक्ष का उपाय करना - सर्व उपदेश का तात्पर्य इतना है।**

पुरुषार्थ से ही मोक्षप्राप्ति

यहाँ प्रश्न—मोक्ष का उपाय, काललब्धि आनेपर भवितव्यानुसार बनता है या मोह आदि के उपशमादि होनेपर बनता है या अपने पुरुषार्थ से उद्यम करनेपर बनता है, वह कहो ? यदि प्रथम दोनों कारण मिलनेपर बनता है तो हमें उपदेश किसलिए देते हो ? और यदि पुरुषार्थ से बनता है तो उपदेश सब सुनते हैं, उनमें कोई उपाय कर सकता है, कोई नहीं कर सकता; उसका कारण क्या है ?

उसका समाधान—एक कार्य होने में, अनेक कारण मिलते हैं; अतः मोक्ष का उपाय बनता है, वहाँ तो पूर्वोक्त तीनों ही कारण मिलते हैं और नहीं बनता, वहाँ तीनों ही कारण नहीं मिलते हैं। पूर्वोक्त तीन कारण कहे, उनमें —

काललब्धि व होनहार तो कोई वस्तु नहीं है; जिस काल में कार्य बनता है, वही काललब्धि और जो कार्य हुआ, वही होनहार।

जो कर्म के उपशमादि हैं, वह पुद्गल की शक्ति है; उसका आत्मा, कर्ता-हर्ता नहीं है।

तथा जो पुरुषार्थ से उद्यम करते हैं—यह आत्मा का कार्य है; इसलिए आत्मा को पुरुषार्थ से उद्यम करने का उपदेश देते हैं।

वहाँ यह आत्मा, जिस कारण से कार्यसिद्धि अवश्य हो; उस कारणरूप उद्यम करे, वहाँ तो अन्य कारण मिलते ही मिलते हैं और कार्य की भी सिद्धि होती ही होती है।

तथा जिस कारण से, कार्य की सिद्धि हो अथवा नहीं भी हो; उस कारणरूप उद्यम करे, वहाँ अन्य कारण मिलें तो कार्यसिद्धि होती है; न मिलें तो सिद्धि नहीं होती।

वहाँ जिनमत में जो मोक्ष का उपाय कहा है—इससे मोक्ष, होता ही होता है; इसलिए जो जीव, पुरुषार्थ से, जिनेश्वर के उपदेशानुसार, मोक्ष का उपाय करता है, उसको काललब्धि

व होनहार भी हुए और कर्म के उपशमादि हुए हैं तो यह ऐसा उपाय करता है; इसलिए जो पुरुषार्थ से, मोक्ष का उपाय करता है, उसको सर्व कारण मिलते हैं—ऐसा निश्चय करना और उसको मोक्ष की प्राप्ति अवश्य होती है।

तथा जो जीव, पुरुषार्थ करके, मोक्ष का उपाय नहीं करता, उसके काललब्धि व होनहार भी नहीं हुए और कर्म के उपशमादि नहीं हुए हैं तो यह उपाय नहीं करता; इसलिए जो पुरुषार्थ करके, मोक्ष का उपाय नहीं करता, उसको कोई कारण नहीं मिलते—ऐसा निश्चय करना और उसको मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती।

वहाँ तू कहता है—उपदेश तो सब सुनते हैं, कोई मोक्ष का उपाय कर सकता है, कोई नहीं कर सकता, उसका कारण क्या है?

उसका कारण यह ही है—जो उपदेश सुनकर, पुरुषार्थ करते हैं, वे मोक्ष का उपाय कर सकते हैं और जो पुरुषार्थ नहीं करते, वे मोक्ष का उपाय नहीं कर सकते।

उपदेश तो शिक्षामात्र है; फल जैसा पुरुषार्थ करे, वैसा लगता है।

फिर प्रश्न—द्रव्यलिंगी मुनि, मोक्ष के लिए गृहस्थपना छोड़कर, तपश्चरणादि करता है, वहाँ पुरुषार्थ तो किया, कार्य सिद्ध नहीं हुआ; इसलिए पुरुषार्थ करने से तो कुछ सिद्धि नहीं है?

उसका समाधान—अन्यथा पुरुषार्थ करके, फल चाहे तो कैसे सिद्धि हो? तपश्चरणादि व्यवहारसाधन में, अनुरागी होकर प्रवर्तता है; उसका फल, शास्त्र में तो शुभबन्ध कहा है और यह उससे मोक्ष चाहता है परन्तु कैसे हो? - यह तो भ्रम है।

फिर प्रश्न—भ्रम का भी तो कारण, कर्म ही है; पुरुषार्थ क्या करे?

उसका उत्तर—सच्चे उपदेश से निर्णय करनेपर, भ्रम दूर होता है परन्तु ऐसा पुरुषार्थ नहीं करता है; उसी कारण, भ्रम रहता है। निर्णय करने का पुरुषार्थ करे तो भ्रम का कारण जो मोहकर्म है, उसका भी उपशमादि होता है, तब भ्रम दूर हो जाता है क्योंकि निर्णय करते हुए परिणामों की विशुद्धता होती है, उससे मोह के स्थिति-अनुभाग घटते हैं।

फिर प्रश्न—निर्णय करने में उपयोग नहीं लगाता है, उसका भी तो कारण, कर्म है?

उसका समाधान—एकेन्द्रियादि में विचार करने की शक्ति नहीं है, उनको तो कर्म ही का कारण है। इसको तो ज्ञानावरणादि के क्षयोपशम से, निर्णय करने की शक्ति हुई है, जहाँ उपयोग लगाए, उसी का निर्णय हो सकता है परन्तु यह अन्य निर्णय करने में उपयोग लगाता है, यहाँ उपयोग नहीं लगाता - यह तो इसी का दोष है; कर्म का तो कुछ भी प्रयोजन नहीं है।

फिर प्रश्न—सम्यक्त्व व चारित्र का घातक, मोह है; उसका अभाव हुए बिना, मोक्ष का उपाय कैसे बन सकता है?

उसका उत्तर—तत्त्वनिर्णय करने में उपयोग नहीं लगाता है - यह तो इसी का दोष है। जब पुरुषार्थ करके तत्त्वनिर्णय में उपयोग लगाता है, तब स्वयं ही मोह का अभाव होनेपर, सम्यक्त्वादिरूप मोक्ष के उपाय का पुरुषार्थ बनता है; **इसलिए मुख्यपने तो तत्त्वनिर्णय में उपयोग लगाने का पुरुषार्थ करना।** तथा जो उपदेश भी देते हैं, वह यही पुरुषार्थ कराने के लिए दिया जाता है। इस पुरुषार्थ से, मोक्ष के उपाय का पुरुषार्थ, आप ही से सिद्ध होगा।

और तत्त्वनिर्णय न करने में, किसी कर्म का दोष नहीं है; तेरा ही दोष है परन्तु तू आप तो महन्त रहना चाहता है और अपना दोष, कर्मादि को लगाता है लेकिन जिन-आज्ञा माने तो ऐसी अनीति सम्भव नहीं है। तुझे विषय-कषायरूप ही रहना है; इसलिए झूठ बोलता है। मोक्ष की सच्ची अभिलाषा हो तो ऐसी युक्ति किसलिए बनाए?

वहाँ सांसारिक कार्यों में, अपने पुरुषार्थ से सिद्धि न होती जाने, तथापि पुरुषार्थ से उद्यम किया करता है और यहाँ पुरुषार्थ खो बैठा; इसलिए जानते हैं कि मोक्ष को देखा-देखी उत्कृष्ट कहता है; उसका स्वरूप पहिचानकर, उसे हितरूप नहीं जानता। हित जानकर, उसका जो उद्यम बने, वह न करे - यह असम्भव है।

यहाँ प्रश्न—जो तुमने कहा, वह सत्य है परन्तु द्रव्यकर्म के उदय से, भावकर्म होता है; भावकर्म से, द्रव्यकर्म का बन्ध होता है, पुनः उसके उदय से, भावकर्म होता है—ऐसी ही अनादि से परम्परा है; वहाँ मोक्ष का उपाय कैसे हो सकता है?

उसका समाधान—कर्म का बन्ध व उदय, सदा काल समान ही होता रहे, तब तो ऐसा ही है परन्तु परिणामों के निमित्त से, पूर्वबद्धकर्मों के भी उत्कर्षण-अपकर्षण-संक्रमण आदि होने से, उनकी शक्ति हीनाधिक होती रहती है; इसलिए उनका उदय भी मन्द-तीव्र होता है, उनके निमित्त से, नवीन बन्ध भी मन्द-तीव्र होता है।

इसलिए संसारी जीवों को [मन्द-तीव्र] कर्मोदय के निमित्त से, कभी ज्ञानादि बहुत प्रगट होते हैं, कभी थोड़े प्रगट होते हैं; कभी रागादि मन्द होते हैं, कभी तीव्र होते हैं।

इस प्रकार परिवर्तन होता रहता है।

वहाँ कदाचित् संज्ञी-पंचेन्द्रियपर्याप्तपर्याय प्राप्त की, तब मन द्वारा विचार करने की शक्ति हुई। वहाँ इसको कभी तीव्र रागादि होते हैं, कभी मन्द होते हैं। वहाँ रागादि का तीव्र उदय होनेपर तो विषय-कषायादि के कार्यों में ही प्रवृत्ति होती है तथा रागादि का मन्द उदय होने-पर, बाह्य उपदेशादि का निमित्त बने और आप (स्वयं) पुरुषार्थ करके, उन उपदेशादि में उपयोग को लगाए तो धर्मकार्यों में प्रवृत्ति हो और निमित्त न बने व

आप पुरुषार्थ न करे तो अन्य कार्यों में ही प्रवर्ते, परन्तु मन्दरागादि सहित प्रवर्ते, तो **इस अवसर में, उपदेश कार्यकारी है।**

वहाँ विचारशक्तिरहित जो एकेन्द्रियादि हैं, उनको तो उपदेश समझने का ज्ञान ही नहीं है और तीव्ररागादि सहित जीवों का उपयोग, उपदेश में लगता नहीं है; इसलिए जो जीव, विचारशक्तिसहित हों तथा जिनके रागादि मन्द हों, उन्हें उपदेश के निमित्त से, धर्म की प्राप्ति हो जाए तो उनका भला हो तथा **इस ही अवसर में पुरुषार्थ कार्यकारी है।**

एकेन्द्रियादि तो धर्मकार्य करने में समर्थ ही नहीं हैं, कैसे पुरुषार्थ करें? और तीव्र कषायी, पुरुषार्थ करे तो वह पाप ही का करे; उससे धर्मकार्य का पुरुषार्थ हो नहीं सकता।

इसलिए जो विचारशक्तिसहित हो और जिसके रागादि मन्द हो—ऐसा जीव, पुरुषार्थ करके, उपदेशादि के निमित्त से, तत्त्वनिर्णयादि में उपयोग लगाए तो इसका उपयोग वहाँ लगे, तब उसका भला हो। यदि इस अवसर में भी तत्त्वनिर्णय करने का पुरुषार्थ न करे, प्रमाद से काल गँवाए—या तो मन्दरागादि सहित विषय-कषायों के कार्यों में ही प्रवर्ते या व्यवहारधर्मकार्यों में प्रवर्ते, तब अवसर तो चला जाएगा और संसार में ही भ्रमण होगा।

इस अवसर में जो जीव, पुरुषार्थ से तत्त्वनिर्णय करने में उपयोग लगाने का अभ्यास रखते हैं, उनको विशुद्धता बढ़ती है; उससे कर्मों की शक्ति हीन होती है। कुछ काल में अपने आप दर्शनमोह का उपशम होता है, तब तत्त्वों की यथावत् प्रतीति आती है।

अतः इसका तो कर्तव्य, तत्त्वनिर्णय का अभ्यास ही है, इसी से दर्शनमोह का उपशम तो स्वयमेव होता है; उसमें जीव का कर्तव्य कुछ भी नहीं है।

वहाँ उसके होनेपर, जीव को स्वयमेव सम्यग्दर्शन होता है और सम्यग्दर्शन होनेपर, श्रद्धान तो यह हुआ कि 'मैं आत्मा हूँ, मुझे रागादि नहीं करना', परन्तु चारित्रमोह के उदय से, रागादि होते हैं। वहाँ तीव्र उदय हो, तब तो विषयादि में प्रवर्तता है और मन्द उदय हो, तब अपने पुरुषार्थ से धर्मकार्यों में व वैराग्यादि भावना में उपयोग को लगाता है; उसके निमित्त से, चारित्रमोह मन्द होता जाता है—ऐसा होनेपर, देशचारित्र व सकलचारित्र अंगीकार करने का पुरुषार्थ प्रगट होता है।

पश्चात् चारित्र को धारण करके, अपने पुरुषार्थ से धर्म में परिणति को बढ़ाता है, वहाँ विशुद्धता के द्वारा, कर्म की शक्ति हीन होती है, उससे विशुद्धता बढ़ती है, उससे और अधिक कर्म की शक्ति हीन होती है।

इस प्रकार क्रम से, मोह का नाश करता है, तब परिणाम सर्वथा विशुद्ध होते हैं; उनके द्वारा, ज्ञानावरणादि का नाश होता है, तब केवलज्ञान प्रगट होता है।

पश्चात् वहाँ बिना उपाय, अघातिकर्म का नाश करके, शुद्धसिद्धपद को प्राप्त करता है

—ऐसे उपदेश का तो निमित्त बने और जीव अपना पुरुषार्थ करे तो कर्म का नाश होता है।

वहाँ जब कर्म का उदय तीव्र हो, तब पुरुषार्थ नहीं हो सकता है; ऊपर के गुणस्थानों से भी गिर जाता है; वहाँ तो जैसी होनहार हो, वैसा होता है परन्तु जहाँ मन्द उदय हो और पुरुषार्थ हो सके, वहाँ तो प्रमादी नहीं होना; सावधान होकर, अपना कार्य करना।

जैसे—कोई पुरुष, नदी के प्रवाह में पड़ा बह रहा है; वहाँ पानी का जोर हो, तब तो उसका पुरुषार्थ कुछ नहीं [चलता], उपदेश भी कार्यकारी नहीं। जब पानी का जोर थोड़ा हो, तब यदि पुरुषार्थ करके निकले तो निकल आए, उसी को निकलने की शिक्षा देते हैं और यदि न निकले तो धीरे-धीरे बहता है, फिर पानी का जोर होनेपर बहता चला जाता है।

उसी प्रकार जीव, संसार में भ्रमण कर रहा है; वहाँ कर्मों का तीव्र उदय हो, तब तो उसका पुरुषार्थ कुछ नहीं [चलता], उपदेश भी कार्यकारी नहीं। जब कर्म का मन्द उदय हो, तब यदि पुरुषार्थ करके, मोक्षमार्ग में प्रवर्तन करे तो मोक्ष प्राप्त कर ले; **उसी को मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं और यदि मोक्षमार्ग में प्रवर्तन नहीं करे तो किंचित् विशुद्धता पाता है, फिर तीव्र उदय आनेपर, निगोदादि पर्याय को प्राप्त करता है।**

इसलिए अवसर चूकना योग्य नहीं है! अब सर्व प्रकार से अवसर आया है—ऐसा अवसर प्राप्त करना कठिन है; इसलिए श्रीगुरु, दयालु होकर, मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं, उसमें भव्यजीवों को प्रवृत्ति करनी चाहिए।

मोक्षमार्ग का स्वरूप

अब, मोक्षमार्ग का स्वरूप कहते हैं —

जिनके निमित्त से आत्मा, अशुद्धदशा को धारण करके, दुःखी हुआ—ऐसे जो मोहादि कर्म, उनका सर्वथा नाश होनेपर, केवल आत्मा की सर्व प्रकार से शुद्ध अवस्था का होना, वह मोक्ष है। उसका जो उपाय या कारण, उसे मोक्षमार्ग जानना।

वहाँ कारण तो अनेक प्रकार के होते हैं —

१. कितने ही कारण तो ऐसे होते हैं—**जिनके हुए बिना तो कार्य नहीं होता, परन्तु जिनके होनेपर, कार्य होता भी है या नहीं भी होता है।** जैसे—मुनिलिंग धारण किये बिना तो मोक्ष नहीं होता, परन्तु मुनिलिंग धारण करनेपर, मोक्ष होता भी है और नहीं भी होता।

२. कितने ही कारण ऐसे हैं—**मुख्यतः तो जिनके होनेपर, कार्य होता है परन्तु किसी को उनके हुए बिना भी कार्यसिद्धि होती है।** जैसे—अनशनादि बाह्यतप का साधन करनेपर, मुख्यतः मोक्ष प्राप्त करते हैं परन्तु भरतादि को बाह्यतप किए बिना ही, मोक्ष की प्राप्ति हुई।

३. कितने ही कारण ऐसे हैं—**जिनके होनेपर, कार्यसिद्धि होती ही होती है और**

जिनके नहीं होनेपर, सर्वथा कार्यसिद्धि नहीं होती है। जैसे–सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता होनेपर तो मोक्ष होता ही होता है; उनके नहीं होनेपर, सर्वथा मोक्ष नहीं होता।

इस प्रकार ये कारण कहे, उनमें अतिशयपूर्वक नियम से मोक्ष का साधक जो सम्यग्दर्शन -ज्ञान-चारित्र का एकीभाव, उसे मोक्षमार्ग जानना–इन सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र में से एक भी न हो तो मोक्षमार्ग नहीं होता।

वही 'सूत्र में' कहा है–'**सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।**' (तत्त्वार्थसूत्र, १-१)

इस सूत्र की टीका में कहा है–यहाँ 'मोक्षमार्गः'–ऐसा एक वचन कहा, उसका अर्थ यह है कि तीनों मिलनेपर, 'एक मोक्षमार्ग' है; अलग-अलग तीन मार्ग नहीं हैं।

यहाँ प्रश्न–असंयत सम्यग्दृष्टि को तो चारित्र नहीं है, उसको मोक्षमार्ग हुआ है या नहीं हुआ है ?

उसका समाधान–मोक्षमार्ग इसको होगा–यह तो नियम हुआ है; इसलिए उपचार से इसको मोक्षमार्ग हुआ भी कहते हैं; परमार्थ से सम्यक्चारित्र होनेपर ही, मोक्षमार्ग होता है। जैसे–किसी पुरुष को किसी नगर जाने का निश्चय हुआ; इसलिए उसको व्यवहार से ऐसा भी कहते हैं–'यह उस नगर को चला है'; परमार्थ से मार्ग में गमन करनेपर ही चलना होगा; उसी प्रकार असंयत सम्यग्दृष्टि को वीतरागभावरूप मोक्षमार्ग का श्रद्धान हुआ; इसलिए उसको उपचार से मोक्षमार्गी कहते हैं; परमार्थ से वीतरागभावरूप परिणमित होनेपर ही मोक्षमार्ग होगा।

देखो ! प्रवचनसार में भी तीनों की एकाग्रता होनेपर ही मोक्षमार्ग कहा है; इसलिए यह जानना - **तत्त्वश्रद्धान-ज्ञान बिना तो रागादि घटाने से भी, मोक्षमार्ग नहीं है और रागादि घटाए बिना, तत्त्वश्रद्धान-ज्ञान से भी मोक्षमार्ग नहीं है; तीनों मिलनेपर साक्षात् मोक्षमार्ग होता है।**

अब, इनका **निर्देश, लक्षणनिर्देश** और **परीक्षा** द्वारा निरूपण करते हैं —

वहाँ, 'सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्ररूप मोक्ष का मार्ग है'–ऐसा नाममात्र कथन, उसे तो '**निर्देश**' जानना।

तथा जो अतिव्याप्ति-अव्याप्ति-असम्भवपने से रहित हो और जिससे इनको पहिचाना जाए, वह '**लक्षण**' जानना; उसका जो निर्देश अर्थात् निरूपण, उसे '**लक्षणनिर्देश**' जानना।

वहाँ, जिसको पहिचानना हो, उसका नाम '**लक्ष्य**' है। उसके बिना, बाकी का नाम '**अलक्ष्य**' है; इन 'लक्ष्य व अलक्ष्य दोनों में पाया जाता है'–ऐसा लक्षण जहाँ कहते हैं, वहाँ '**अतिव्याप्तिपना**' जानना। जैसे–आत्मा का लक्षण, 'अमूर्तत्व' कहा जाए तो अमूर्तत्व लक्षण, लक्ष्यभूत आत्मा में भी पाया जाता है और अलक्ष्यभूत आकाशादि में भी पाया जाता है;

इसलिए यह '**अतिव्याप्ति**' लक्षण है। इसके द्वारा आत्मा को पहिचाननेपर, आकाशादि भी आत्मा हो जाते हैं - यह दोष लगता है।

किसी लक्ष्य में तो हो और किसी में नहीं हो—ऐसे लक्ष्य के एकदेश में जो पाया जाता है—ऐसा लक्षण जहाँ कहते हैं, वहाँ '**अव्याप्तिपना**' जानना। जैसे—आत्मा का लक्षण 'केवलज्ञानादि' कहा जाए, परन्तु केवलज्ञान किसी आत्मा में तो पाया जाता है, किसी में नहीं पाया जाता; इसलिए यह '**अव्याप्ति**' लक्षण है। इसके द्वारा आत्मा को पहिचाननेपर, अल्पज्ञानी आत्मा नहीं हो सकता है - यह दोष लगता है।

जो लक्ष्य में पाया ही नहीं जाता है—ऐसा लक्षण जहाँ कहते हैं, वहाँ **असम्भविपना** जानना। जैसे—आत्मा का लक्षण, 'जड़पना' कहा जाए तो यह प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरुद्ध है क्योंकि यह '**असम्भवि**' लक्षण है। इसके द्वारा आत्मा को पहिचाननेपर, पुद्गलादि, आत्मा हो जाते हैं और जो आत्मा है, वह अनात्मा हो जाता है - यह दोष लगता है।

— ऐसे जो अतिव्याप्ति-अव्याप्ति-असम्भवि लक्षण होते हैं, वे 'लक्षणाभास' हैं।

वहाँ जो लक्ष्य में तो सर्वत्र पाया जाता है और अलक्ष्य में कहीं न पाया जाता, वह '**सच्चा लक्षण**' है। जैसे—आत्मा का स्वरूप, 'चैतन्य' है—यह लक्षण सर्व ही आत्माओं में तो पाया जाता है, अनात्मा में कहीं नहीं पाया जाता; इसलिए यह [आत्मा का] सच्चा लक्षण है। इसके द्वारा आत्मा को, आत्मा-अनात्मा का यथार्थज्ञान होता है; कुछ दोष नहीं लगता।

इस प्रकार '**लक्षण का स्वरूप**' उदाहरणमात्र कहा।

सम्यग्दर्शन का सच्चा लक्षण

अब, सम्यग्दर्शनादि का सच्चा लक्षण कहते हैं —

'विपरीताभिनिवेशरहित जीवादि तत्त्वार्थश्रद्धान', वह 'सम्यग्दर्शन' का लक्षण है।

जीव-अजीव-आस्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा-मोक्ष—ये सात तत्त्वार्थ हैं; इनका जो श्रद्धान, 'ऐसा ही है; अन्यथा नहीं है'—ऐसा प्रतीतिभाव, वही तत्त्वार्थश्रद्धान है। वहाँ विपरीताभिनिवेश अर्थात् अन्यथा अभिप्राय, उससे रहित [श्रद्धान], वही सम्यग्दर्शन है।

यहाँ विपरीताभिनिवेश के निराकरण के लिए, '**सम्यक्**' पद कहा है क्योंकि 'सम्यक्' —यह शब्द प्रशंसावाचक है; अतः श्रद्धान में विपरीताभिनिवेश का अभाव होनेपर ही, प्रशंसा सम्भव है - ऐसा जानना।

यहाँ प्रश्न—'तत्त्व' और 'अर्थ'—ये दो पद कहे हैं, उनका प्रयोजन क्या है?

इसका समाधान—'तत्' शब्द है, वह 'यत्' शब्द की अपेक्षासहित है; इसलिए जिसका प्रकरण हो, उसे 'तत्' कहा जाता है और उसका जो भाव अर्थात् स्वरूप, वह 'तत्त्व' जानना;

क्योंकि '**तस्य भावस्तत्त्वं**'—ऐसा 'तत्त्व' शब्द का समास होता है।

वहाँ '**जो जानने में आए**'- ऐसा '**द्रव्य-गुण व पर्याय**', **उसका नाम, 'अर्थ' है।**

इस प्रकार **तत्त्वेन अर्थस्तत्त्वार्थः** तत्त्व अर्थात् अपना स्वरूप, उससेसहित पदार्थ; उनका श्रद्धान, वह **सम्यग्दर्शन** है। यहाँ यदि 'तत्त्वश्रद्धान' ही कहते तो जिसका यह भाव है, उस [अर्थ] के श्रद्धान बिना, केवल भाव ही का श्रद्धान कार्यकारी नहीं है तथा यदि अर्थ-श्रद्धान ही कहते तो 'भाव (तत्त्व) के श्रद्धान बिना, पदार्थ का श्रद्धान' भी कार्यकारी नहीं है।

जैसे—किसी को ज्ञान-दर्शनादि व वर्णादि [भाव] का तो श्रद्धान हो कि—यह जानपना है, यह श्वेतपना है इत्यादि प्रतीति हो, परन्तु यह ज्ञान-दर्शन, आत्मा का स्वभाव है, 'मैं आत्मा हूँ' तथा 'वर्णादि, पुद्गल का स्वभाव है'; 'पुद्गल, मुझसे भिन्न-अलग पदार्थ है'—ऐसा पदार्थ का श्रद्धान न हो तो भाव का श्रद्धान कार्यकारी नहीं है। तथा जैसे—'मैं आत्मा हूँ'—ऐसा श्रद्धान किया, परन्तु जैसा आत्मा का स्वरूप है, वैसा श्रद्धान नहीं किया तो भाव के श्रद्धान बिना, पदार्थ का भी श्रद्धान कार्यकारी नहीं है; इसलिए तत्त्वसहित अर्थ का श्रद्धान होता है, वही कार्यकारी है।

अथवा जीवादि को 'तत्त्व' संज्ञा भी है व 'अर्थ' संज्ञा भी है; अतः '**तत्त्वमेवार्थस्तत्त्वार्थः**' जो तत्त्व है, वही अर्थ है; उनका श्रद्धान, वह **सम्यग्दर्शन** है—इस अर्थ द्वारा कहीं **तत्त्वश्रद्धान** को सम्यग्दर्शन कहें और कहीं **पदार्थश्रद्धान** को सम्यग्दर्शन कहें, वहाँ विरोध नहीं जानना।

इस प्रकार 'तत्त्व' और 'अर्थ'—दो पद कहने का प्रयोजन है।

तत्त्वार्थ सात ही क्यों ?

फिर प्रश्न—तत्त्वार्थ तो अनन्त हैं; वे सब सामान्य अपेक्षा से, जीव-अजीव में गर्भित हो गये; इसलिए दो ही कहने थे या अनन्त कहने थे। आस्रवादि तो जीव-अजीव ही के विशेष हैं, इन ही को अलग कहने का प्रयोजन क्या ?

उसका समाधान—यदि यहाँ पदार्थश्रद्धान करने का ही प्रयोजन होता, तब तो सामान्य से या विशेष से जैसे सर्व पदार्थों का जानना हो, वैसे ही कथन करते; वह तो यहाँ प्रयोजन है नहीं, यहाँ तो मोक्ष का प्रयोजन है; अतः जिन सामान्य या विशेषभावों का श्रद्धान करने से, मोक्ष हो और जिनका श्रद्धान किए बिना, मोक्ष न हो, उन्हीं का यहाँ निरूपण किया है।

वहाँ, जीव-अजीव—ये दो तो बहुत द्रव्यों की एक जाति अपेक्षा, सामान्यरूप तत्त्व कहे; अतः इन दो जातियों को जानने से, जीव को आपा-पर का श्रद्धान होता है, तब पर से भिन्न, अपने स्वरूप को जाने तो अपने हित के लिए मोक्ष का उपाय करे तथा अपने से भिन्न, पर को जाने तो परद्रव्य से उदासीन होकर, रागादि त्यागकर, मोक्षमार्ग में प्रवर्ते; इसलिए इन दो जातियों का श्रद्धान होनेपर ही, मोक्ष होता है और दो जातियाँ जाने बिना, आपा-पर का श्रद्धान नहीं

होता, तब पर्यायबुद्धि से सांसारिक प्रयोजन ही का उपाय करता है। परद्रव्य में राग -द्वेषरूप होकर प्रवर्ते तो मोक्षमार्ग में कैसे प्रवर्ते? इसलिए इन दो जातियों का श्रद्धान नहीं होनेपर, मोक्ष नहीं होता। **इस प्रकार ये दो सामान्यतत्त्व तो अवश्य श्रद्धान करनेयोग्य कहे हैं।**

पश्चात् **आस्रवादि पाँच कहे, वे जीव-पुद्गल की पर्यायें हैं;** इसलिए ये विशेषरूप तत्त्व हैं—इन पाँच पर्यायों को जानने से, मोक्ष का उपाय करने का श्रद्धान होता है।

वहाँ मोक्ष को पहिचाने तो उसे हितरूप मानकर, उसका उपाय करे; इसलिए **मोक्ष का श्रद्धान** करना तथा मोक्ष का उपाय, संवर-निर्जरा है—इनको पहिचाने तो जैसे—संवर -निर्जरा प्रगट हो, वैसे प्रवर्तता है; इसलिए **संवर-निर्जरा का श्रद्धान** करना।

तथा संवर-निर्जरा तो अभावलक्षणसहित है; इसलिए जिनका अभाव करना चाहता है, उनको पहिचानना चाहिए। जैसे—क्रोध का अभाव होनेपर, क्षमा होती है, वहाँ क्रोध को पहिचाने तो उसका अभाव करके, क्षमारूप प्रवर्तन करे; उसी प्रकार आस्रव का अभाव होनेपर, संवर होता है और बन्ध का एकदेश अभाव होनेपर, निर्जरा होती है, वहाँ आस्रव-बन्ध को पहिचाने तो उनका नाश करके, संवर-निर्जरारूप प्रवर्तन करे; इसलिए **आस्रव-बन्ध का श्रद्धान** करना।

— ऐसे इन **पाँच पर्यायों का श्रद्धान** होनेपर ही, मोक्षमार्ग होता है; इनको न पहिचाने तो **मोक्ष की पहिचान** बिना, उसका उपाय किसलिए करे? **संवर-निर्जरा की पहिचान** बिना, उनमें कैसे प्रवर्तन करे? **आस्रव-बन्ध की पहिचान** बिना, उनका नाश कैसे करे? **— ऐसे इन पाँच पर्यायों का श्रद्धान नहीं होनेपर मोक्षमार्ग नहीं होता है।**

इस प्रकार यद्यपि तत्त्वार्थ अनन्त हैं, उनका सामान्य-विशेष से अनेक प्रकार प्ररूपण होता है परन्तु यहाँ एक मोक्ष का प्रयोजन है; इसलिए दो तो जाति अपेक्षा सामान्यतत्त्व और पाँच, पर्यायरूप विशेषतत्त्व मिलाकर, सात ही तत्त्व कहे हैं।

इनके यथार्थ श्रद्धान के आधीन, मोक्षमार्ग है। इनके सिवा औरों का श्रद्धान हो या न हो या अन्यथा श्रद्धान हो; किसी के आधीन, मोक्षमार्ग नहीं है - ऐसा जानना।

तथा कहीं पुण्य-पापसहित नव पदार्थ कहे हैं; वहाँ **पुण्य-पाप,** आस्रवादि के ही विशेष हैं; इसलिए सात तत्त्वों में गर्भित हुए। अथवा **पुण्य-पाप का श्रद्धान** होनेपर, पुण्य को मोक्षमार्ग न माने व स्वच्छन्दी होकर, पापरूप न प्रवर्ते; इसलिए मोक्षमार्ग में इनका श्रद्धान भी उपकारी जानकर, दो तत्त्व विशेष के विशेष मिलाकर, **नव पदार्थ** कहे—इनको समयसार आदि में, **नव तत्त्व** भी कहा है।

फिर प्रश्न—इनका श्रद्धान, सम्यग्दर्शन कहा। वहाँ 'दर्शन' तो सामान्य अवलोकनमात्र और 'श्रद्धान' प्रतीतिमात्र है—इनका एकार्थपना किस प्रकार सम्भव है ?

उसका उत्तर—प्रकरण के वश से, धातु का अर्थ, अन्य-अन्य प्रकार होता है; अतः यहाँ प्रकरण 'मोक्षमार्ग' का है, उसमें 'दर्शन' शब्द का अर्थ, 'सामान्य अवलोकनमात्र' नहीं ग्रहण करना, क्योंकि चक्षु-अचक्षु दर्शन के द्वारा, सामान्य अवलोकन तो सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि को समान होता है; इससे कुछ भी मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति-अप्रवृत्ति नहीं होती।

वहाँ श्रद्धान होता है, वह सम्यग्दृष्टि ही को होता है, इससे मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति होती है; इसलिए 'दर्शन' शब्द का अर्थ भी यहाँ 'श्रद्धानमात्र' ही ग्रहण करना।

फिर प्रश्न—यहाँ विपरीताभिनिवेशरहित श्रद्धान करना कहा, उसका प्रयोजन क्या है ?

उसका समाधान—'अभिनिवेश' नाम 'अभिप्राय' का है; अतः जैसा तत्त्वार्थश्रद्धान का अभिप्राय है, वैसा न हो; अन्यथा अभिप्राय हो, उसका नाम 'विपरीताभिनिवेश' है।

तत्त्वार्थश्रद्धान करने का अभिप्राय, केवल उनका निश्चय करनामात्र ही नहीं है।

वहाँ ऐसा अभिप्राय है—जीव-अजीव को पहिचानकर, आप को व पर को जैसा का तैसा माने; आस्रव को पहिचानकर, उसे हेय माने; बन्ध को पहिचानकर, उसे अहित माने; संवर को पहिचानकर, उसे उपादेय माने; निर्जरा को पहिचानकर, उसे हित का कारण माने तथा मोक्ष को पहिचानकर, उसको अपना परम हित माने—ऐसा 'तत्त्वार्थश्रद्धान का अभिप्राय' है, उससे उलटे अभिप्राय का नाम, 'विपरीताभिनिवेश' है; अतः 'सच्चा तत्त्वार्थश्रद्धान' होनेपर, इसका अभाव होता है; इसलिए 'तत्त्वार्थश्रद्धान, विपरीताभिनिवेशरहित है' - ऐसा यहाँ कहा है।

अथवा किसी को आभासमात्र तत्त्वार्थश्रद्धान होता है परन्तु अभिप्राय में विपरीतपना नहीं छूटता। (यदि) किसी प्रकार से पूर्वोक्त अभिप्राय से, अन्यथा अभिप्राय अन्तरंग में पाया जाता है तो उसको सम्यग्दर्शन नहीं होता।

जैसे—द्रव्यलिंगी मुनि, जिनवचनों से तत्त्वों की प्रतीति करे, परन्तु शरीराश्रित क्रियाओं में अहंकार और पुण्यास्रव में उपादेयपना इत्यादि विपरीत अभिप्राय से मिथ्यादृष्टि ही रहता है; इसलिए जो तत्त्वार्थश्रद्धान, विपरीताभिनिवेशरहित है, वही सम्यग्दर्शन है।

इस प्रकार विपरीताभिनिवेशरहित जीवादि तत्त्वार्थों का 'श्रद्धानपना', वह सम्यग्दर्शन का 'लक्षण' है और सम्यग्दर्शन 'लक्ष्य' है।

वही तत्त्वार्थसूत्र में कहा है—'**तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।**' (अध्याय १-२)

अर्थात् तत्त्वार्थों का श्रद्धान, वही सम्यग्दर्शन है।

इस तत्त्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि नामक टीका है, उसमें 'तत्त्व' आदि पदों का अर्थ, प्रगट लिखा है और सात ही तत्त्व कैसे कहे?—उसका प्रयोजन लिखा है। उसके अनुसार ही यहाँ कुछ कथन किया है—ऐसा जानना, तथा पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में भी ऐसा ही कहा है —

जीवाजीवादीनां, तत्त्वार्थानां सदैव कर्तव्यम्।
श्रद्धानं विपरीताभिनिवेशविविक्तमात्मरूपं तत्॥ (श्लोक २२)

इसका अर्थ—विपरीताभिनिवेश से रहित, जीव-अजीवादि तत्त्वार्थों का श्रद्धान, सदा काल करना योग्य है—यह श्रद्धान, आत्मा का स्वरूप है; दर्शनमोह की उपाधि दूर होनेपर, प्रगट होता है; इसलिए आत्मा का स्वभावभाव है।

[यह सम्यग्दर्शन] **चतुर्थादि गुणस्थान में प्रगट होता है, पश्चात् सिद्ध अवस्था में भी सदा काल इसका सद्भाव रहता है** - ऐसा जानना।

तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण में, अव्याप्ति-अतिव्याप्ति-असम्भवि दोष का परिहार

यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है—कितने ही तिर्यंचादि तुच्छज्ञानी जीव, जो सात तत्त्वों का नाम भी नहीं जान सकते, उनको भी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति, शास्त्र में कही है; इसलिए तुमने जो तत्त्वार्थश्रद्धान को सम्यक्त्व का लक्षण कहा, उसमें 'अव्याप्ति' दूषण लगता है?

उसका समाधान—जीव-अजीवादि के नामादि जानो या न जानो या अन्यथा जानो, उनका स्वरूप यथार्थ पहिचानकर, श्रद्धान करनेपर, सम्यक्त्व होता है।

वहाँ कोई सामान्यपने स्वरूप को पहिचानकर, श्रद्धान करता है; कोई विशेषपने स्वरूप को पहिचानकर, श्रद्धान करता है; इसलिए जो तिर्यंचादि तुच्छज्ञानी सम्यग्दृष्टि हैं, वे जीवादि का नाम भी नहीं जानते, तथापि उनका सामान्यपने स्वरूप पहिचानकर, श्रद्धान करते हैं; इसलिए उनके सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है।

जैसे—कोई तिर्यंच, अपना व औरों का नामादि तो नहीं जानता, परन्तु आप (स्व) ही में अपनापन मानता है, औरों को पर मानता है; उसी प्रकार तुच्छज्ञानी, जीव-अजीव का नाम नहीं जानता, परन्तु जो ज्ञानादिस्वरूप आत्मा है, उसमें तो अपनापन मानता है और जो शरीरादि हैं, उनको पर मानता है—ऐसा श्रद्धान उसको होता है; वही **जीव-अजीव का श्रद्धान** है।

तथा जैसे—वही तिर्यंच, सुखादि के नामादि नहीं जानता है तथापि सुख अवस्था को पहिचानकर, उसके लिए आगामी दुःख के कारण को पहिचानकर, उसका त्याग करना चाहता है तथा जो दुःख का कारण बन रहा है, उसके अभाव का उपाय करता है; उसी प्रकार तुच्छज्ञानी, मोक्षादि का नाम नहीं जानता, तथापि सर्वथा सुखरूप **मोक्ष अवस्था का श्रद्धान** करता हुआ, उसके लिए आगामी बन्ध के कारण जो रागादि आस्रव, उसके त्यागरूप **संवर**

को करना चाहता है तथा जो संसारदुःख का कारण है, उसकी शुद्धभाव से **निर्जरा** करना चाहता है—ऐसे उसको **आस्रवादि का श्रद्धान** है।

इस प्रकार उनको भी **सप्त तत्त्व का श्रद्धान** पाया जाता है।

यदि ऐसा श्रद्धान न हो तो उसे रागादि त्यागकर, शुद्धभाव करने की चाह नहीं होती।

वही कहते हैं—यदि **जीव-अजीव** की जाति न जानकर, आपा-पर को न पहिचाने तो पर में रागादि कैसे न करे? रागादि को न पहिचाने तो उनका त्याग कैसे करना चाहे?

वे रागादि ही **आस्रव** हैं। रागादि का फल बुरा न जाने तो किसलिए रागादि छोड़ना चाहे? उन रागादि का फल ही **बन्ध** है। वहाँ रागादिरहित परिणाम को पहिचानता है तो उस -रूप होना चाहता है; उस रागादिरहित परिणाम ही का नाम, **संवर** है।

वहाँ पूर्व संसार अवस्था के कारण की हानि को पहिचानता है तो उसके लिए, तपश्चरण आदि से शुद्धभाव करना चाहता है; उस पूर्व संसार अवस्था का कारण, कर्म है; उसकी हानि, वही **निर्जरा** है। तथा यदि संसार अवस्था के अभाव को न पहिचाने तो **संवर-निर्जरारूप** किसलिए प्रवर्ते? उस संसार-अवस्था का अभाव ही **मोक्ष** है।

अतः सातों तत्त्वों का श्रद्धान होनेपर ही, रागादि छोड़कर, शुद्धभाव होने की इच्छा उत्पन्न होती है; यदि इनमें से एक भी तत्त्व का श्रद्धान न हो, तो ऐसी चाह उत्पन्न नहीं होती;

वहाँ ऐसी चाह तुच्छज्ञानी तिर्यंचादि सम्यग्दृष्टि को होती ही है; इसलिए उसको सात तत्त्व का श्रद्धान पाया जाता है - ऐसा निश्चय करना। ज्ञानावरण का क्षयोपशम, थोड़ा होने से, विशेषरूप से तत्त्वों का ज्ञान नहीं होता है तथापि दर्शनमोह के उपशमादि से, सामान्यपने तत्त्वश्रद्धान की शक्ति प्रगट होती है—ऐसे इस लक्षण में 'अव्याप्तिदूषण' नहीं है।

फिर प्रश्न—जिस काल में सम्यग्दृष्टि, विषय-कषायों के कार्य में प्रवर्तता है, उस काल में सात तत्त्व का विचार ही नहीं है; वहाँ श्रद्धान कैसे सम्भव है? परन्तु सम्यक्त्व रहता ही है; इसलिए उस लक्षण में अव्याप्तिदूषण आता है।

उसका समाधान—विचार है, वह तो उपयोग के आधीन है; जहाँ उपयोग लगता है, उसी का विचार होता है तथा श्रद्धान है, वह प्रतीतिरूप है; इसलिए अन्य ज्ञेय का विचार होनेपर या निद्रा आदि क्रिया होनेपर, तत्त्वों का विचार नहीं है तथापि उनकी प्रतीति बनी रहती है; नष्ट नहीं होती; इसलिए उसको सम्यक्त्व का सद्भाव है।

जैसे—किसी रोगी मनुष्य को ऐसी प्रतीति है—'मैं मनुष्य हूँ; तिर्यंचादि नहीं हूँ, मुझे इस कारण से रोग हुआ है; अतः अब कारण मिटाकर, रोग को घटाकर, निरोग होना है।' तथा वही मनुष्य जब अन्य विचारादिरूप प्रवर्तता है, तब उसको ऐसा विचार नहीं होता है परन्तु श्रद्धान ऐसा ही बना रहता है।

उसी प्रकार **इस आत्मा (सम्यग्दृष्टि जीव) को ऐसी प्रतीति है**—'मैं आत्मा हूँ, पुद्गल

आदि नहीं हूँ; मुझे आस्रव से बन्ध हुआ है; अत: अब संवर करके–निर्जरा करके, मोक्षरूप होना है।' तथा वही आत्मा, अन्य विचारादिरूप प्रवर्तता है, तब उसके ऐसा विचार नहीं होता, परन्तु श्रद्धान ऐसा ही रहा करता है।

फिर प्रश्न—यदि ऐसा श्रद्धान रहता है तो वह बन्ध होने के कारणों में कैसे प्रवर्तता है ?

उसका उत्तर—जैसे–वही मनुष्य, किसी कारणवश, रोग बढ़ने के कारणों में भी प्रवर्तता है, व्यापारादि कार्य व क्रोधादि कार्य करता है तथापि उस श्रद्धान का उसे नाश नहीं होता है।

उसी प्रकार वही आत्मा, कर्मोदयरूप निमित्तवश, बन्ध होने के कारणों में भी प्रवर्तता है, विषयसेवनादि कार्य व क्रोधादि कार्य करता है तथापि **उस श्रद्धान का उसे नाश नहीं होता है; इसका विशेष निर्णय आगे करेंगे।**

— ऐसे सप्त तत्त्व का विचार न होनेपर भी, श्रद्धान का सद्भाव पाया जाता है; इसलिए वहाँ **अव्याप्तिपना नहीं** है।

फिर प्रश्न—उच्चदशा में जहाँ निर्विकल्प आत्मानुभव होता है, वहाँ तो सप्त तत्त्वादि के विकल्प का भी निषेध किया है परन्तु सम्यक्त्व के लक्षण का निषेध करना, कैसे सम्भव है ? और यदि वहाँ निषेध सम्भव है तो **अव्याप्तिदूषण** आता है।

उसका उत्तर—निचलीदशा में सप्त तत्त्वों के विकल्पों में उपयोग लगाया, उससे प्रतीति को दृढ़ किया और विषयादि से उपयोग छुड़ाकर, रागादि घटाए। पश्चात् कार्य सिद्ध होनेपर, कारणों का भी निषेध करते हैं; इसलिए जहाँ प्रतीति भी दृढ़ हुई और रागादि दूर हुए, वहाँ उपयोग भ्रमाने का खेद किसलिए करें ? इसलिए वहाँ उन विकल्पों का निषेध किया है।

देखो ! सम्यक्त्व का लक्षण तो प्रतीति है, वहाँ प्रतीति का तो निषेध नहीं किया। यदि प्रतीति छुड़ाई हो तो इस लक्षण का निषेध किया कहा जाए, वह तो है नहीं। सातों तत्त्वों की प्रतीति, वहाँ भी बनी रहती है; इसलिए यहाँ **अव्याप्तिपना नहीं** है।

फिर प्रश्न—छद्मस्थ को तो प्रतीति-अप्रतीति कहना सम्भव है; इसलिए वहाँ सप्त तत्त्वों की प्रतीति को सम्यक्त्व का लक्षण कहा, वह हमने माना, परन्तु केवली-सिद्ध भगवान को तो सर्व का जानपना समानरूप है, वहाँ सप्त तत्त्वों की प्रतीति कहना सम्भव नहीं है तथापि उनको सम्यक्त्वगुण पाया ही जाता है; इसलिए वहाँ उस लक्षण का **अव्याप्तिपना** आया।

उसका समाधान—जैसे–छद्मस्थ को श्रुतज्ञान के अनुसार, प्रतीति पायी जाती है; उसी प्रकार केवली-सिद्धभगवान को केवलज्ञान के अनुसार, प्रतीति पायी जाती है। जिन सप्त तत्त्वों का स्वरूप पहले निर्णय किया था, वही केवलज्ञान से जाना; वहाँ **प्रतीति का परमावगाढ़पना**

हुआ; इसी कारण वहाँ **परमावगाढ़सम्यक्त्व** कहा। जो पहले श्रद्धान किया था, उसको झूठ जाना होता तो वहाँ अप्रतीति होती; वह तो जैसा सप्त तत्त्वों का श्रद्धान छद्मस्थ को हुआ था, वैसा ही केवली-सिद्धभगवान को पाया जाता है; इसलिए ज्ञानादि की हीनता-अधिकता होनेपर भी, तिर्यंचादि या केवली-सिद्धभगवान के सम्यक्त्वगुण समान ही कहा है।

वहाँ, पूर्व अवस्था में यह मानते थे कि संवर-निर्जरा से मोक्ष का उपाय करना। पश्चात् मुक्त अवस्था होनेपर, ऐसा मानने लगे कि संवर-निर्जरा से हमको मोक्ष हुआ।

तथा पहले ज्ञान की हीनता से, जीवादि के थोड़े विशेष जानते थे, पश्चात् केवलज्ञान होनेपर, उनके सर्व विशेष जानने लगे, परन्तु मूलभूत जीवादि के स्वरूप का श्रद्धान जैसा छद्मस्थ को पाया जाता है, वैसा ही केवली को पाया जाता है।

वहाँ, यद्यपि केवली-सिद्धभगवान अन्य पदार्थों को भी प्रतीतिसहित जानते हैं तथापि वे पदार्थ, प्रयोजनभूत नहीं हैं; इसलिए सम्यक्त्वगुण में सप्त तत्त्वों ही का श्रद्धान ग्रहण किया है। **केवली-सिद्धभगवान, रागादिरूप परिणमित नहीं होते हैं, संसार-अवस्था को नहीं चाहते हैं—यह इस श्रद्धान का बल जानना।**

फिर प्रश्न—सम्यग्दर्शनको तो मोक्षमार्ग कहा था, मोक्ष में इसका सद्भाव कैसे कहते हैं ?

उसका उत्तर—कोई कारण ऐसा भी होता है, जो कार्य सिद्ध होनेपर भी, नष्ट नहीं होता। जैसे—किसी वृक्ष की किसी एक शाखा से, अनेक शाखायुक्त अवस्था हुई, उसके होनेपर, वह एक शाखा नष्ट नहीं होती; उसी प्रकार किसी आत्मा को सम्यक्त्वगुण से, अनेक गुणयुक्त मुक्त अवस्था हुई, उसके होनेपर, सम्यक्त्वगुण नष्ट नहीं होता—ऐसे केवली-सिद्धभगवान को भी तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण [युक्त] ही सम्यक्त्व पाया जाता है; इसलिए वहाँ **अव्याप्तिपना नहीं** है।

फिर प्रश्न—'मिथ्यादृष्टि को भी तत्त्वश्रद्धान होता है'—ऐसा शास्त्र में निरूपण है। **प्रवचनसार में 'आत्मज्ञानशून्य, तत्त्वार्थश्रद्धान अकार्यकारी' कहा है;** इसलिए सम्यक्त्व का लक्षण तत्त्वार्थश्रद्धान कहनेपर, उसमें **अतिव्याप्तिदूषण** लगता है।

उसका समाधान—मिथ्यादृष्टि को जो तत्त्वश्रद्धान कहा है, वह नामनिक्षेप से कहा है; जिसमें तत्त्वश्रद्धान का गुण नहीं, परन्तु व्यवहार में जिसका नाम तत्त्वश्रद्धान कहा जाता है, वह मिथ्यादृष्टि को होता है अथवा आगमद्रव्यनिक्षेप से होता है; वह तत्त्वार्थश्रद्धान के प्रतिपादक शास्त्रों का अभ्यास करता है परन्तु उनका स्वरूप निश्चय करने में, उपयोग नहीं लगाता है —ऐसा जानना; लेकिन यहाँ सम्यक्त्व का लक्षण जो तत्त्वार्थश्रद्धान कहा है, वह भावनिक्षेप से कहा है—ऐसा गुणसहित सच्चा तत्त्वार्थश्रद्धान, मिथ्यादृष्टि को कदापि नहीं होता।

वहाँ जो 'आत्मज्ञानशून्य, तत्त्वार्थश्रद्धान' कहा है, वहाँ भी यही अर्थ जानना; जिसको जीव-अजीवादि का सच्चा श्रद्धान हो, उसे आत्मज्ञान कैसे नहीं हो ? - होता ही होता है।

— ऐसे किसी भी मिथ्यादृष्टि को सच्चा तत्त्वार्थश्रद्धान सर्वथा नहीं पाया जाता है; इसलिए उस लक्षण में **अतिव्याप्तिदूषण** नहीं लगता है।

तथा जो यह तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण कहा है, वह **असम्भवि** भी नहीं है क्योंकि सम्यक्त्व के प्रतिपक्षी मिथ्यात्व का यह [लक्षण] नहीं है; उसका लक्षण, इससे विपरीततासहित है।

इस प्रकार **अव्याप्ति-अतिव्याप्ति-असम्भविपने से रहित [लक्षण]**, सर्व सम्यग्दृष्टियों में तो पाया जाता है और किसी मिथ्यादृष्टि में नहीं पाया जाता है—**ऐसा सम्यग्दर्शन का सच्चा लक्षण, तत्त्वार्थश्रद्धान है।**

सम्यक्त्व के विभिन्न लक्षणों का समन्वय

यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है—यहाँ सातों तत्त्वों के श्रद्धान का नियम कहते हो, वह नहीं बनता क्योंकि कहीं 'पर से भिन्न, आप (स्व) के श्रद्धान ही को सम्यक्त्व' कहते हैं। समयसार[१] में '**एकत्वे नियतस्य**' इत्यादि कलश है; उसमें ऐसा कहा है —

''इस आत्मा का परद्रव्य से भिन्न अवलोकन करना, वही नियम से 'सम्यग्दर्शन' है; इसलिए नव तत्त्व की सन्तति को छोड़कर, हमारे यह एक आत्मा ही होओ।''

तथा कहीं 'एक आत्मा के निश्चय ही को सम्यक्त्व कहते हैं। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय[२] में **दर्शनमात्मविनिश्चितिः**—ऐसा पद है, वहाँ उसका यही अर्थ है।

इसलिए जीव-अजीव ही का अथवा केवल जीव ही का श्रद्धान होनेपर, सम्यक्त्व होता है; सातों के श्रद्धान का नियम होता तो ऐसा किसलिए लिखते?

इसका समाधान—पर से भिन्न, आपका श्रद्धान होता है, वह आस्रवादि के श्रद्धान से रहित होता है या सहित होता है?

यदि रहित होता है तो **मोक्ष के श्रद्धान** बिना, किस प्रयोजन के लिए, ऐसा उपाय करता है? **संवर-निर्जरा के श्रद्धान** बिना, रागादिरहित होकर, स्वरूप में उपयोग लगाने का उद्यम किसलिए रखता है? **आस्रव-बन्ध के श्रद्धान** बिना, पूर्व अवस्था को किसलिए छोड़ता है? इसलिए **आस्रवादि के श्रद्धानरहित, आपा-पर का श्रद्धान करना** सम्भव नहीं है तथा यदि आस्रवादि के श्रद्धानसहित होता है तो स्वयं ही सातों तत्त्वों के श्रद्धान का नियम हुआ।

यदि **केवल आत्मा का निश्चय (सम्यग्दर्शन) है** तो पर का पररूप श्रद्धान हुए बिना, आत्मा का श्रद्धान नहीं होता; इसलिए अजीव का श्रद्धान होनेपर ही, जीव का श्रद्धान होता है।

---

[१] एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो, व्याप्तुर्यदस्यात्मनः; पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह, द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक्।
सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानयं; तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसन्ततिमिमामात्मायमेकोऽस्तु नः॥ (समयसार कलश ६)

[२] दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः। स्थितिरात्मनि चारित्रं, कुत एतेभ्यो भवति बन्धः॥ (श्लोक २१६)

इसी प्रकार उसके पूर्ववत् आस्रवादि का भी श्रद्धान होता ही होता है; इसलिए यहाँ भी **सातों तत्त्वों के ही श्रद्धान का नियम** जानना।

आस्रवादि के श्रद्धान बिना, आपा-पर का श्रद्धान या केवल आत्मा का श्रद्धान, सच्चा नहीं होता, क्योंकि आत्मा, द्रव्य है, वह तो शुद्ध-अशुद्ध पर्यायसहित है; इसलिए जैसे —तन्तु के अवलोकन बिना, पट का अवलोकन नहीं होता; उसी प्रकार शुद्ध-अशुद्ध पर्याय पहिचाने बिना, आत्मद्रव्य का श्रद्धान नहीं होता; उस शुद्ध-अशुद्ध अवस्था की पहिचान, आस्रवादि की पहिचान से होती है तथा आस्रवादि के श्रद्धान बिना, आपा-पर (स्व-पर) का श्रद्धान या केवल आत्मा का श्रद्धान कार्यकारी भी नहीं है क्योंकि श्रद्धान करो या न करो —आप है, सो आप है ही; पर है, सो पर है। वहाँ आस्रवादि का श्रद्धान हो तो आस्रव-बन्ध का अभाव करके, संवर-निर्जरारूप उपाय से, मोक्षपद को प्राप्त करता है।

वहाँ जो आपा-पर का भी श्रद्धान कराते हैं, वह उसी प्रयोजन के लिए कराते हैं; अतः **आस्रवादि के श्रद्धानसहित आपा-पर का जानना या आप का जानना,** कार्यकारी है।

यहाँ प्रश्न—यदि ऐसा है तो **शास्त्रों में आपा-पर के श्रद्धान या केवल आत्मा के श्रद्धान ही को सम्यक्त्व कहा व कार्यकारी कहा।** तथा **नव तत्त्व की सन्तति छोड़कर, हमारे एक आत्मा ही होओ**—ऐसा कहा, वह किस प्रकार कहा है?

उसका समाधान—जिसको सच्चा आपा-पर का श्रद्धान या आत्मा का श्रद्धान होता है, उसको सातों तत्त्वों का श्रद्धान होता ही होता है। तथा जिसको सच्चा सात तत्त्वों का श्रद्धान होता है, उसको आपा-पर का व आत्मा का श्रद्धान होता ही होता है—ऐसा **परस्पर अविनाभावीपना** जानकर, आपा-पर के श्रद्धान को या आत्मश्रद्धान ही को सम्यक्त्व कहा है।

वहाँ इस छल से कोई सामान्यपने आपा-पर को जानकर या आत्मा को जानकर, कृतकृत्यपना माने तो उसको भ्रम है क्योंकि ऐसा कहा है —

'निर्विशेषं हि सामान्यं, भवेत् खरविषाणवत्।' (आलापपद्धति, श्लोक ९)

इसका अर्थ यह है—विशेषरहित सामान्य है, वह गधे के सींगसमान है।

इसलिए **प्रयोजनभूत आस्रवादि विशेषसहित, आपा-पर का या आत्मा का श्रद्धान करना** योग्य है। अथवा सातों तत्त्वार्थों के श्रद्धान से, रागादि मिटाने के लिए, परद्रव्यों को भिन्न भाता है या अपने आत्मा ही को भाता है, उसको प्रयोजन की सिद्धि होती है; इसलिए **मुख्यता से भेदविज्ञान को या आत्मज्ञान को कार्यकारी कहा है।**

वहाँ तत्त्वार्थश्रद्धान किये बिना, सर्व जानना कार्यकारी नहीं है क्योंकि प्रयोजन तो रागादि मिटाने का है, वहाँ आस्रवादि के श्रद्धान बिना, यह प्रयोजन भासित नहीं होता, तब

केवल जानने ही से मान को बढ़ाता है; रागादि नहीं छोड़ता, तब उसका कार्य कैसे सिद्ध हो?

तथा नव तत्त्व सन्तति का छोड़ना कहा है, वहाँ पूर्व में नव तत्त्व के विचार से सम्यग्दर्शन हुआ, पश्चात् निर्विकल्पदशा होने के लिए, नव तत्त्वों के भी विकल्प छोड़ने की चाह की, परन्तु जिसको पहले ही नव तत्त्वों का विचार नहीं है, उसको वे विकल्प छोड़ने का क्या प्रयोजन है? अन्य जो अनेक विकल्प आपको पाये जाते हैं, उन्हीं का त्याग करो!

इस प्रकार **आपा-पर के श्रद्धान में या आत्मश्रद्धान में, सप्त तत्त्व के श्रद्धान की सापेक्षता** पायी जाती है; इसलिए तत्त्वार्थश्रद्धान, सम्यक्त्व का लक्षण है।

फिर प्रश्न—कहीं शास्त्रों में 'अरहन्तदेव—निर्ग्रन्थ गुरु—हिंसारहित धर्म के श्रद्धान को सम्यक्त्व' कहा है, वह किस प्रकार है?

उसका समाधान—अरहन्तदेवादि के श्रद्धान से, कुदेवादि का श्रद्धान दूर होने के कारण, गृहीतमिथ्यात्व का अभाव होता है, उस अपेक्षा इसको, सम्यक्त्व कहा है। वहाँ सर्वथा सम्यक्त्व का लक्षण यह नहीं है क्योंकि द्रव्यलिंगी मुनि आदि व्यवहारधर्म के धारक मिथ्यादृष्टियों को भी, ऐसा [अरहन्तदेवादि का] श्रद्धान होता है।

अथवा जैसे—अणुव्रत-महाव्रत होनेपर तो देशचारित्र-सकलचारित्र हो या न हो, परन्तु अणुव्रत-महाव्रत हुए बिना, देशचारित्र-सकलचारित्र कदाचित् नहीं होते; इसलिए व्रतों को अन्वयरूप कारण जानकर, कारण में कार्य का उपचार करके, इनको चारित्र कहा है; उसी प्रकार अरहन्तदेवादि का श्रद्धान होनेपर तो सम्यक्त्व हो या न हो, परन्तु अरहन्तादि का श्रद्धान हुए बिना, 'तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यक्त्व' कभी नहीं होता; इसलिए अरहन्तादि के श्रद्धान को अन्वयरूप कारण जानकर, कारण में कार्य का उपचार करके, इस श्रद्धान को सम्यक्त्व कहा है। इसी से इसका नाम, व्यवहारसम्यक्त्व है।

अथवा जिसको तत्त्वार्थश्रद्धान हो, उसको अरहन्तादि के स्वरूप का सच्चा श्रद्धान होता ही होता है। तत्त्वार्थश्रद्धान बिना, पक्ष से अरहन्तादि का श्रद्धान करे, परन्तु यथावत् स्वरूप की पहिचानसहित श्रद्धान नहीं होता। तथा **जिसको अरहन्तादि के स्वरूप का सच्चा श्रद्धान हो, उसको तत्त्वश्रद्धान होता ही होता है**① क्योंकि अरहन्तादि का स्वरूप पहिचानने पर,① जीव-अजीव-आस्रवादि की पहिचान होती है। इस प्रकार इनको परस्पर अविनाभावी जानकर, कहीं अरहन्तादि के श्रद्धान को सम्यक्त्व कहा है।

यहाँ प्रश्न—यद्यपि नारकादि जीवों को देव-कुदेवादि का व्यवहार नहीं है तथापि उनको सम्यक्त्व पाया जाता है; इसलिए सम्यक्त्व होनेपर, अरहन्तादि का श्रद्धान होता ही होता है - ऐसा नियम सम्भव नहीं है।

---

① मूल हस्तलिखित प्रति (पृष्ठ ४२४) में लिखा है - **जाकै सांचा अरहंतादिक के स्वरूप का श्रद्धान होइ, ताकै तत्त्वश्रद्धान होइ ही होय, जातैं अरहंतादिक का स्वरूप पहचानें जीव-अजीव -आस्रवादिक की पहचांनि हो है।**

उसका समाधान—सप्त तत्त्वों के श्रद्धान में, अरहन्तादि का श्रद्धान गर्भित है क्योंकि तत्त्वश्रद्धान में मोक्षतत्त्व को सर्वोत्कृष्ट मानते हैं, वह मोक्षतत्त्व तो अरहन्त-सिद्ध का लक्षण है। जो लक्षण को उत्कृष्ट माने, वह उसके लक्ष्य को उत्कृष्ट माने ही माने; इसलिए उनको भी सर्वोत्कृष्ट माना; अन्य को नहीं माना, वही **देव का श्रद्धान** हुआ।

तथा मोक्ष के कारण, संवर-निर्जरा हैं; इसलिए इनको भी उत्कृष्ट मानता है और संवर -निर्जरा के धारक, मुख्यतः मुनि हैं; इसलिए मुनि को उत्तम माना; अन्य को नहीं माना, वही **गुरु का श्रद्धान** हुआ। तथा रागादिरहित भाव का नाम, अहिंसा है, उसी को उपादेय मानते हैं; अन्य को नहीं मानते, वही **धर्म का श्रद्धान** हुआ।

इस प्रकार **तत्त्वश्रद्धान में, अरहन्तदेवादि का श्रद्धान गर्भित** होता है।

अथवा जिस निमित्त से इसको तत्त्वार्थश्रद्धान होता है, उस निमित्त से अरहन्तदेवादि का भी श्रद्धान होता है; इसलिए सम्यक्त्व में देवादि के श्रद्धान का नियम है।

फिर प्रश्न—कितने ही जीव, अरहन्तादि का श्रद्धान करते हैं, उनके गुण पहिचानते हैं परन्तु उनको तत्त्वश्रद्धानरूप सम्यक्त्व नहीं होता; इसलिए जिसको अरहन्तादि का सच्चा श्रद्धान हो, उसके तत्त्वश्रद्धान होता ही होता है—ऐसा नियम सम्भव नहीं है।

उसका समाधान—जो तत्त्वश्रद्धान बिना, अरहन्तादि के छ्यालिस आदि गुणों को जानता है, वह पर्यायाश्रित गुणों को जानता है परन्तु भिन्न-भिन्न जीव-पुद्गल में जिस प्रकार सम्भव हैं, उस प्रकार यथार्थ नहीं पहिचानता; इसलिए सच्चा श्रद्धान भी नहीं होता, क्योंकि **जीव -अजीव जाति पहिचाने बिना, अरहन्तादि के आत्माश्रित गुणों को व शरीराश्रित गुणों को भिन्न-भिन्न नहीं जानता। यदि जाने तो अपने आत्मा को, परद्रव्यों से भिन्न कैसे न माने ?**

इसलिए प्रवचनसार में ऐसा कहा है —

जो जाणदि अरहंतं, दव्वत्त-गुणत्त-पज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं, मोहो खलु जादि तस्स लयं॥ ८०॥

इसका अर्थ यह है—जो अरहन्त को, द्रव्यत्व-गुणत्व-पर्यायत्व से जानता है, वह [अपने] आत्मा को जानता है; उसका मोह, विलय को प्राप्त होता है।

इसलिए जिसको जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान नहीं है, उसको अरहन्तादि का भी सच्चा श्रद्धान नहीं है तथा मोक्षादि तत्त्वों के श्रद्धान बिना, अरहन्तादि का माहात्म्य यथार्थ नहीं जानता। लौकिक अतिशयादि से अरहन्त का, तपश्चरणादि से गुरु का और परजीवों की अहिंसादि से धर्म की महिमा जानता है परन्तु ये पराश्रितभाव है क्योंकि आत्माश्रितभावों से अरहन्तादि का स्वरूप, तत्त्वश्रद्धान होनेपर ही जाना जाता है; इसलिए **जिसको अरहन्तादि का सच्चा श्रद्धान हो, उसको तत्त्वश्रद्धान होता ही होता है—ऐसा नियम जानना।**

— ऐसे सम्यक्त्व का लक्षणनिर्देश किया।

यहाँ प्रश्न—सच्चा तत्त्वार्थश्रद्धान या आपा-पर का श्रद्धान या आत्मश्रद्धान या देव-गुरु-धर्म का श्रद्धान—ऐसे सम्यक्त्व के लक्षण कहे तथा इन सर्व लक्षणों की परस्पर एकता भी दिखाई, वह जानी, परन्तु अन्य-अन्य प्रकार से लक्षण कहने का प्रयोजन क्या?

उसका उत्तर—ये चार लक्षण कहे, उनमें सच्ची दृष्टि से एक लक्षण को ग्रहण करने-पर, चारों लक्षणों का ग्रहण होता है तथापि मुख्य प्रयोजन भिन्न-भिन्न विचारकर, अन्य-अन्य प्रकार लक्षण कहे हैं —

जहाँ **तत्त्वार्थश्रद्धान** लक्षण कहा है, वहाँ तो यह प्रयोजन है कि **इन तत्त्वों को पहिचाने तो वस्तु के यथार्थ स्वरूप का व अपने हित-अहित का श्रद्धान करे, तब मोक्षमार्ग में प्रवर्ते।**

जहाँ **आपा-पर का भिन्न श्रद्धान** लक्षण कहा है, वहाँ तत्त्वार्थश्रद्धान का प्रयोजन जिससे सिद्ध हो, उस श्रद्धान को मुख्य लक्षण कहा है। जीव-अजीव के श्रद्धान का प्रयोजन, आपा-पर का भिन्न श्रद्धान करना है तथा आस्रवादि के श्रद्धान का प्रयोजन, रागादि छोड़ना है; वहाँ आपा-पर का भिन्न श्रद्धान होनेपर, परद्रव्य में रागादि न करने का श्रद्धान होता है— **ऐसे तत्त्वार्थश्रद्धान का प्रयोजन, आपा-पर के भिन्न श्रद्धान से सिद्ध होता जानकर, इस लक्षण को (मुख्य) कहा है।**

जहाँ आत्मश्रद्धान लक्षण कहा है, वहाँ आपा-पर के भिन्न श्रद्धान का प्रयोजन इतना ही है कि आपको आप जानना। आपको आप जाननेपर, पर का भी विकल्प कार्यकारी नहीं है **— ऐसे मूलभूत प्रयोजन की प्रधानता जानकर, आत्मश्रद्धान को मुख्य लक्षण कहा है।**

तथा जहाँ देव-गुरु-धर्म का श्रद्धान लक्षण कहा है, वहाँ बाह्यसाधन की प्रधानता की है क्योंकि अरहन्त देवादि का श्रद्धान, सच्चे तत्त्वार्थश्रद्धान का कारण है और कुदेवादि का श्रद्धान, कल्पित तत्त्वश्रद्धान का कारण है—**ऐसे बाह्यकारण की प्रधानता से, कुदेवादि का श्रद्धान छुड़ाकर, सुदेवादि का श्रद्धान कराने के लिए, देव-गुरु-धर्म के श्रद्धान को मुख्य लक्षण कहा है।**

इस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रयोजनों की मुख्यता से, भिन्न-भिन्न लक्षण कहे हैं।

यहाँ प्रश्न—जो ये चार लक्षण कहे, उनमें यह जीव किस लक्षण को अंगीकार करे?

उसका समाधान—मिथ्यात्वकर्म के उपशमादि होनेपर, विपरीताभिनिवेश का अभाव होता है; वहाँ चारों लक्षण युगपत् पाये जाते हैं।

विचार अपेक्षा, मुख्यरूप से कभी तत्त्वार्थों का विचार करता है या आपा-पर का भेद-विज्ञान करता है या आत्मस्वरूप ही की सम्हाल करता है या देवादि का स्वरूप विचारता है।

इस प्रकार ज्ञान में तो नाना प्रकार विचार होते हैं परन्तु श्रद्धान में सर्वत्र परस्पर सापेक्षपना

पाया जाता है। तत्त्वविचार करता है तो भेदविज्ञानादि के अभिप्रायसहित करता है और भेदविज्ञान करता है तो तत्त्वविचारादि के अभिप्रायसहित करता है। **इसी प्रकार अन्यत्र भी परस्पर सापेक्षपना है; इसलिए सम्यग्दृष्टि के श्रद्धान में, चारों ही लक्षणों का अंगीकार है।**

तथा जिसको मिथ्यात्व का उदय है—उसको विपरीताभिनिवेश पाया जाता है; उसे उक्त लक्षण आभासमात्र होते हैं; सच्चे नहीं होते। वह जिनमत के जीवादि तत्त्वों को मानता है, अन्य को नहीं मानता; उनके नाम-भेदादि को सीखता है—ऐसा तत्त्वार्थश्रद्धान होता है परन्तु उनके यथार्थभाव का श्रद्धान नहीं होता।

तथा **वह आपा-पर के भिन्नपने की बातें करता है, चिन्तवन भी करता है परन्तु जैसे—पर्याय में अहंबुद्धि और वस्त्रादि में परबुद्धि है; वैसे आत्मा में अहंबुद्धि और शरीरादि में परबुद्धि नहीं होती है।** वहाँ आत्मा का जिनवचनानुसार चिन्तवन करता है परन्तु प्रतीतिरूप आपको, आपरूप श्रद्धान नहीं करता है।

वहाँ अरहन्तदेवादि के सिवाय, अन्य कुदेवादि को नहीं मानता, परन्तु उनके स्वरूप को यथार्थ पहिचानकर, श्रद्धान नहीं करता।

इस प्रकार ये लक्षणाभास मिथ्यादृष्टि को होते हैं—इनमें कोई होता है, कोई नहीं होता तथा वहाँ इनके भिन्नपना भी सम्भव है।

— इन लक्षणाभासों में **इतना विशेष है कि पहले तो देवादि का श्रद्धान हो, फिर तत्त्वों का विचार हो, फिर आपा-पर का चिन्तवन करे, फिर केवल आत्मा का चिन्तवन हो—इस अनुक्रम से साधन करे तो परम्परा सच्चे मोक्षमार्ग को पाकर, कोई जीव, सिद्धपद को भी प्राप्त कर लेता है।**

वहाँ इस अनुक्रम का उल्लंघन करके, जिसको देवादि की मान्यता का तो कुछ निर्णय नहीं है और बुद्धि की तीव्रता से, तत्त्वविचारादि में प्रवर्तता है; इससे अपने को ज्ञानी जानता है अथवा तत्त्वविचार में भी उपयोग नहीं लगाता है और आपा-पर का भेदविज्ञानी बना रहता है अथवा आपा-पर का भी निर्णय नहीं करता और अपने को आत्मज्ञानी मानता है—ये सब चतुराई की बातें हैं, मानादि कषाय के साधन हैं; कुछ भी कार्यकारी नहीं हैं।

इसलिए जो जीव, अपना भला करना चाहता है, उसे जब तक सच्चे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति न हो, तब तक इनको भी अनुक्रम ही से अंगीकार करना चाहिए।

वही कहते हैं—पहले तो आज्ञादि से व किसी परीक्षा से कुदेवादि का मानना छोड़कर, अरहन्तदेवादि का श्रद्धान करना, क्योंकि ऐसा श्रद्धान होनेपर, गृहीतमिथ्यात्व का तो अभाव होता है तथा मोक्षमार्ग के विघ्न करनेवाले कुदेवादि का निमित्त दूर होता है; मोक्षमार्ग के सहायक अरहन्तदेवादि का निमित्त मिलता है; इसलिए पहले देवादि का श्रद्धान करना।

फिर जिनमत में कहे जीवादि तत्त्वों का विचार करना; नाम-लक्षणादि सीखना, क्योंकि **इस अभ्यास से तत्त्वार्थश्रद्धान की प्राप्ति होती है।**

पश्चात् आपा-पर का भिन्नपना जैसे भासित हो, वैसे विचार करता रहे, क्योंकि इस

अभ्यास से, भेदविज्ञान होता है। उसके बाद आप (आत्मा) में, अपनत्व मानने के लिए, स्वरूप का विचार करता रहे, क्योंकि इस अभ्यास से आत्मानुभव की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार अनुक्रम से इनको अंगीकार करके फिर इन्हीं में से कभी देवादि के विचार में, कभी तत्त्वविचार में, कभी आपा-पर के विचार में व कभी आत्मविचार में उपयोग लगाए, —ऐसे अभ्यास से, दर्शनमोह मन्द होता जाता है, तब कदाचित् सच्चे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है; वहाँ ऐसा नियम तो है नहीं; किसी जीव को कोई प्रबल विपरीत कारण बीच में हो जाए तो सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं भी होती, परन्तु मुख्यरूप से बहुत जीवों को तो इस अनुक्रम से कार्यसिद्धि होती है; इसलिए इनको ऐसे अंगीकार करना।

जैसे—पुत्र का अर्थी, विवाहादि कारणों को मिलाता है, पश्चात् बहुत पुरुषों को तो पुत्र की प्राप्ति होती ही है; किसी को न हो तो न हो, (परन्तु) इसे तो उपाय करना; उसी प्रकार सम्यक्त्व का अर्थी, इन कारणों को मिलाता है, पश्चात् बहुत जीवों को तो सम्यक्त्व की प्राप्ति होती ही है; किसी को न हो तो नहीं भी हो, परन्तु इसे तो अपने से बने, वह उपाय करना।

— ऐसे सम्यक्त्व का लक्षणनिर्देश किया।

यहाँ प्रश्न—सम्यक्त्व के लक्षण तो अनेक प्रकार कहे, उनमें आपने तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण को मुख्य किया, उसका कारण क्या है?

उसका समाधान—तुच्छबुद्धियों को अन्य लक्षणों में प्रगट प्रयोजन भासित नहीं होता व भ्रम उत्पन्न होता है, जबकि इस तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण में, प्रगट प्रयोजन भासित होता है, कुछ भ्रम उत्पन्न नहीं होता; इसलिए इस लक्षण को मुख्य किया है।

वही दिखलाते हैं—'देव-गुरु-धर्म के श्रद्धान' में, तुच्छबुद्धियों को ऐसा भासित हो कि 'अरहन्तदेवादि को मानना, औरों को नहीं मानना; इतना ही सम्यक्त्व है।' वहाँ जीव-अजीव का व बन्ध-मोक्ष के कारण-कार्य का स्वरूप भासित न हो, तब मोक्षमार्ग के प्रयोजन की सिद्धि न हो व जीवादि का श्रद्धान हुए बिना, इसी श्रद्धान में सन्तुष्ट होकर, अपने को सम्यक्त्वी माने; मात्र कुदेवादि से द्वेष तो रखे, अन्य रागादि छोड़ने का उद्यम नहीं करे - ऐसा भ्रम उत्पन्न होता है।

आपा-पर के श्रद्धान में, तुच्छबुद्धियों को ऐसा भासित होता है कि, आपा-पर का ही जानना कार्यकारी है, इसी से सम्यक्त्व होता है।

वहाँ आस्रवादि का स्वरूप भासित न हो, तब मोक्षमार्ग के प्रयोजन की सिद्धि न हो व आस्रवादि का श्रद्धान हुए बिना, इतना ही जानने में सन्तुष्ट होकर, अपने को सम्यक्त्वी माने; स्वच्छन्द होकर, रागादि छोड़ने का उद्यम न करे—ऐसा भ्रम उत्पन्न होता है।

आत्मश्रद्धान में, तुच्छबुद्धियों को ऐसा भासित होता है कि आत्मा ही का विचार, कार्यकारी है, इसी से सम्यक्त्व होता है। वहाँ जीव-अजीवादि के विशेष व आस्रवादि का

स्वरूप भासित नहीं होता, तब मोक्षमार्ग के प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती तथा जीवादि के विशेष व आस्रवादि के स्वरूप का श्रद्धान हुए बिना, इतने ही विचार से अपने को सम्यक्त्वी माने; स्वच्छन्द होकर, रागादि छोड़ने का उद्यम न करे—ऐसा इसको भी भ्रम उत्पन्न होता है।

— ऐसा जानकर, इन लक्षणों को मुख्य नहीं किया।

तथा तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण में, जीव-अजीवादि का व आस्रवादि का श्रद्धान होता है; वहाँ सर्व का स्वरूप भली-भाँति भासित होता है, तब मोक्षमार्ग के प्रयोजन की सिद्धि होती है।

— ऐसा श्रद्धान होनेपर, सम्यक्त्वी होता है परन्तु यह सन्तुष्ट नहीं होता। आस्रवादि का श्रद्धान होने से, रागादि छोड़कर, मोक्ष का उद्यम रखता है, इसको भ्रम उत्पन्न नहीं होता।

इसलिए तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण को मुख्य किया है।

अथवा तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण में तो देवादि का श्रद्धान, आपा-पर का श्रद्धान व आत्मश्रद्धान गर्भित होता है—यह तो तुच्छबुद्धियों को भी भासित होता है परन्तु अन्य लक्षणों में तत्त्वार्थश्रद्धान का गर्भितपना—जो विशेष बुद्धिमान हों, उन्हीं को भासित होता है; तुच्छबुद्धियों को भासित नहीं होता; इसलिए 'तत्त्वार्थश्रद्धान' लक्षण को मुख्य किया है।

अथवा मिथ्यादृष्टि को आभासमात्र ये होते हैं, वहाँ तत्त्वार्थों का विचार तो शीघ्रपने विपरीताभिनिवेश दूर करने में कारण होता है; अन्य लक्षण शीघ्रपने कारण नहीं होते हैं अथवा विपरीताभिनिवेश के भी कारण हो जाते हैं।

इसलिए यहाँ सर्व प्रकार से प्रसिद्ध जानकर, विपरीताभिनिवेशरहित जीवादि तत्त्वार्थों का श्रद्धान, वही सम्यक्त्व का लक्षण है—ऐसा निर्देश किया।

इस प्रकार लक्षणनिर्देश का निरूपण किया—ऐसा लक्षण, जिस आत्मा के स्वभाव में पाया जाता है, वही सम्यक्त्व जानना।

सम्यक्त्व के भेद और उनका स्वरूप

अब, इस **सम्यक्त्व के भेद** दिखलाते हैं —

वहाँ प्रथम [सम्यक्त्व के] निश्चय-व्यवहार की अपेक्षा, भेद दिखलाते हैं —

विपरीताभिनिवेशरहित श्रद्धानरूप आत्मा का परिणाम, वह तो **निश्चयसम्यक्त्व** है क्योंकि यह सम्यक्त्व का सत्यार्थस्वरूप है; वहाँ **सत्यार्थ ही का नाम निश्चय** है।

तथा विपरीताभिनिवेशरहित श्रद्धान को कारणभूतश्रद्धान, वह **व्यवहारसम्यक्त्व** है क्योंकि कारण में कार्य का उपचार किया है, वहाँ **उपचार ही का नाम व्यवहार** है।

वहाँ सम्यग्दृष्टि जीव को, देव-गुरु-धर्मादि का सच्चा श्रद्धान है, उसी के निमित्त से इसके श्रद्धान में विपरीताभिनिवेश का अभाव है; अतः यहाँ विपरीताभिनिवेशरहित श्रद्धान, वह तो **निश्चयसम्यक्त्व** है और देव-गुरु-धर्मादि का श्रद्धान, वह **व्यवहारसम्यक्त्व** है।

इस प्रकार एक ही काल में, दोनों सम्यक्त्व पाये जाते हैं।

वहाँ मिथ्यादृष्टि जीव को देव-गुरु-धर्मादि का श्रद्धान, आभासमात्र होता है क्योंकि इसके श्रद्धान में विपरीताभिनिवेश का अभाव नहीं होता; इसलिए यहाँ **निश्चयसम्यक्त्व** तो है नहीं और **व्यवहारसम्यक्त्व** भी आभासमात्र है क्योंकि इसको देव-गुरु-धर्मादि का श्रद्धान है परन्तु वह विपरीताभिनिवेश के अभाव को साक्षात् कारण नहीं हुआ। कारण हुए बिना, उपचार सम्भव नहीं है; इसलिए नियमरूप साक्षात् कारण अपेक्षा, **व्यवहारसम्यक्त्व** भी इसको सम्भव नहीं है।

अथवा इसको देव-गुरु-धर्मादि का जो श्रद्धान होता है, वह विपरीताभिनिवेशरहित श्रद्धान को परम्परा कारणभूत है। **यद्यपि नियमरूप कारण नहीं है तथापि मुख्यरूप से कारण है; अतः कारण में कार्य का उपचार सम्भव है;** इसलिए मुख्यरूप परम्परा कारण की अपेक्षा, मिथ्यादृष्टि को भी व्यवहारसम्यक्त्व कहते हैं।

यहाँ प्रश्न—कितने ही शास्त्रों में देव-गुरु-धर्म के श्रद्धान को व तत्त्वश्रद्धान को तो व्यवहारसम्यक्त्व कहा है और आपा-पर के श्रद्धान को या केवल आत्मा के श्रद्धान को, निश्चयसम्यक्त्व कहा है, वह किस प्रकार है ?

उसका समाधान—देव-गुरु-धर्म के श्रद्धान में तो प्रवृत्ति की मुख्यता है। जो प्रवृत्ति में अरहन्तादि को देवादि माने; अन्य को न माने, उसे देवादि का श्रद्धानी कहते हैं और तत्त्वश्रद्धान में, उनके विचार की मुख्यता है; जो ज्ञान में जीवादि तत्त्वों का विचार करे, उसे तत्त्वश्रद्धानी कहते हैं। इस प्रकार मुख्यता पायी जाती है।

वहाँ ये दोनों, किसी जीव को सम्यक्त्व के कारण तो होते हैं परन्तु इनका सद्भाव मिथ्यादृष्टि को भी सम्भव है; इसलिए इनको व्यवहारसम्यक्त्व कहा है।

तथा आपा-पर के श्रद्धान में या आत्मश्रद्धान में विपरीताभिनिवेशरहितपने की मुख्यता है। जो आपा-पर का भेदविज्ञान करे या अपने आत्मा का अनुभव करे, उसको मुख्यरूप से विपरीताभिनिवेश नहीं होता; इसलिए भेदविज्ञानी को या आत्मज्ञानी को सम्यग्दृष्टि कहते हैं।

इस प्रकार मुख्यता से आपा-पर का श्रद्धान या आत्मश्रद्धान, सम्यग्दृष्टि ही को पाया जाता है; इसलिए इनको निश्चयसम्यक्त्व कहा है।

— ऐसे कथन, मुख्यता की अपेक्षा हैं।

तारतम्यरूप से ये चारों मिथ्यादृष्टि को आभासमात्र होते हैं; सम्यग्दृष्टि को सच्चे होते हैं। वहाँ जो आभासमात्र हैं, वे तो नियम बिना, परम्परा कारण हैं और जो सच्चे हैं, वे नियमरूप साक्षात् कारण हैं; इसलिए इन [चारों] को व्यवहाररूप कहते हैं—इनके निमित्त से जो विपरीताभिनिवेशरहित श्रद्धान हुआ, वह **निश्चयसम्यक्त्व** है - ऐसा जानना।

फिर प्रश्न—कितने ही शास्त्रों में लिखा है कि **आत्मा है, वही निश्चयसम्यक्त्व है; अन्य सर्व व्यवहार है,** वह किस प्रकार है ?

उसका समाधान—जो विपरीताभिनिवेशरहित श्रद्धान हुआ, वह आत्मा ही का स्वरूप है, वहाँ अभेदबुद्धि से आत्मा और सम्यक्त्व में, भिन्नता नहीं है; इसलिए निश्चय से आत्मा ही को सम्यक्त्व कहा। अन्य सर्व, सम्यक्त्व को निमित्तमात्र है व भेदकल्पना करनेपर, आत्मा और सम्यक्त्व में भिन्नता कहते हैं; इसलिए अन्य सर्व, व्यवहार कहे हैं - ऐसा जानना।

इस प्रकार निश्चयसम्यक्त्व व व्यवहारसम्यक्त्व से सम्यक्त्व के दो भेद होते हैं।

वहाँ अन्य निमित्तादि की अपेक्षा, **सम्यक्त्व के आज्ञासम्यक्त्व आदि दश भेद** किये हैं, वे आत्मानुशासन में कहे गये हैं —

आज्ञामार्गसमुद्भव-मुपदेशात्सूत्रबीजसंक्षेपात्।
विस्तारार्थाभ्यां, भवमवपरमावादिगाढं च॥ ११॥

इसका अर्थ—जिन आज्ञा से तत्त्वश्रद्धान हुआ हो, वह **आज्ञासम्यक्त्व** है।

यहाँ इतना जानना—'मुझे जिनआज्ञा प्रमाण है', इतना ही श्रद्धान, सम्यक्त्व नहीं है; आज्ञा मानना तो कारणभूत है। इसी कारण यहाँ उसे आज्ञा से उत्पन्न कहा है; इसलिए पहले जिन आज्ञा मानने के बाद, जो तत्त्वश्रद्धान हुआ, वह **आज्ञासम्यक्त्व** है।

— ऐसे ही निर्ग्रन्थमार्ग के अवलोकन से तत्त्वश्रद्धान हो, वह **मार्गसम्यक्त्व** है①....

— ऐसे आठ भेद तो कारण अपेक्षा किए। वहाँ श्रुतकेवली को जो तत्त्वश्रद्धान है, उसे **अवगाढ़सम्यक्त्व** कहते हैं तथा केवलज्ञानी को जो तत्त्वश्रद्धान है, उसे **परमावगाढ़-सम्यक्त्व** कहते हैं—ऐसे दो भेद, ज्ञान के सहकारीपने की अपेक्षा किये हैं।

इस प्रकार **सम्यक्त्व के दश भेद** किये।

---

① *मार्गसम्यक्त्व के बाद यहाँ पण्डितजी की हस्तलिखित प्रति में छह प्रकार के सम्यक्त्व का वर्णन करने के लिए कुछ स्थान छोड़ा गया है किन्तु वे उसे पूरा लिख नहीं पाए; अत: इनका कुछ वर्णन अन्य ग्रन्थों के अनुसार दिया जाता है -*

'उत्कृष्ट पुरुष तीर्थंकरादि, उनके पुराणों के उपदेश से उत्पन्न जो सम्यग्ज्ञान, उससे उत्पन्न आगम-समुद्र में प्रवीण पुरुषों के उपदेशादि से हुई जो उपदेशदृष्टि, वह '**उपदेशसम्यक्त्व**' है।

मुनि के आचरण के विधान को प्रतिपादन करनेवाला जो आचारसूत्र, उसे सुनकर जो श्रद्धान करना, उसे भले प्रकार सूत्रदृष्टि कहा है, वह '**सूत्रसम्यक्त्व**' है।

गणितज्ञान को कारण जो बीज, उनके द्वारा दर्शनमोह के अनुपम उपशम के बल से, दुष्कर है जानने की गति जिसकी, ऐसा पदार्थों का समूह, उसकी हुई है उपलब्धि अर्थात् श्रद्धानरूप परिणति जिसके, ऐसा जो करणानुयोग का ज्ञानी भव्य, उसके बीजदृष्टि होती है, उसे '**बीजसम्यक्त्व**' जानना।

पदार्थों को संक्षेपपने से जानकर जो श्रद्धान हुआ, वह भली संक्षेपदृष्टि है, उसे '**संक्षेपसम्यक्त्व**' जानना।

द्वादशांग वाणी को सुनकर की गयी जो रुचि-श्रद्धान, उसे हे भव्य! तू विस्तारदृष्टि जान, वह '**विस्तारसम्यक्त्व**' है।

तथा जैनशास्त्रों के वचनों के सिवाय, किसी अर्थ के निमित्त से हुई, वह अर्थदृष्टि है, उसे '**अर्थसम्यक्त्व**' जानना।'

वहाँ सर्वत्र सम्यक्त्व का स्वरूप, 'तत्त्वार्थश्रद्धान' ही जानना।

इसी प्रकार सम्यक्त्व के तीन भेद किये हैं – १. औपशमिक, २. क्षायोपशमिक, ३. क्षायिक – ये तीन भेद, दर्शनमोह की अपेक्षा किये गये हैं।

वहाँ औपशमिकसम्यक्त्व के दो भेद हैं – प्रथमोपशमसम्यक्त्व और द्वितीयोपशम-सम्यक्त्व। वहाँ मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में, करण द्वारा, दर्शनमोह का उपशम करके जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है, उसे **प्रथमोपशमसम्यक्त्व** कहते हैं।

वहाँ इतना विशेष है—अनादि मिथ्यादृष्टि को तो एक मिथ्यात्वप्रकृति का ही उपशम होता है क्योंकि इसको मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीय की सत्ता है नहीं। जब जीव, उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त हो, वहाँ उस सम्यक्त्व के काल में, मिथ्यात्व के परमाणुओं को, मिश्रमोहनीयरूप व सम्यक्त्वमोहनीयरूप परिणमित करता है, तब तीन प्रकृतियों की सत्ता होती है; इसलिए अनादि मिथ्यादृष्टि को एक मिथ्यात्वप्रकृति की सत्ता है, उसी का उपशम होता है।

तथा सादिमिथ्यादृष्टि में किसी को, तीन प्रकृतियों की सत्ता है, किसी को एक ही की सत्ता है। जिसको सम्यक्त्वकाल में तीन की सत्ता हुई थी, वह सत्ता जिसे पायी जाती है, उसको तीन की सत्ता है परन्तु जिसको मिश्रमोहनीय व सम्यक्त्वमोहनीय की उद्वेलना हो गई हो, उनके परमाणु, मिथ्यात्वरूप परिणमित हो गये हों, उसको एक मिथ्यात्व की सत्ता है; इसलिए सादि मिथ्यादृष्टि को तीन प्रकृतियों का या एक प्रकृति का उपशम होता है।

उपशम किसे कहते हैं ?—अनिवृत्तिकरण में किये गये अन्तरकरणविधान से जो सम्यक्त्व के काल में उदय आनेयोग्य निषेक थे, उनका तो अभाव किया; उनके परमाणु अन्य काल में उदय आनेयोग्य निषेकरूप किये तथा अनिवृत्तिकरण में ही किये गये उपशम-विधान से - जो उस काल के पश्चात् उदय आनेयोग्य निषेक थे - वे उदीरणारूप होकर, इस काल में उदय न आ सकें - ऐसे किये।

इस तरह जहाँ सत्ता तो पायी जाये, परन्तु उदय न पाया जाये; उसका नाम **उपशम** है।

यह मिथ्यात्व से हुआ **प्रथमोपशमसम्यक्त्व** है, वह चतुर्थ आदि सप्तम गुणस्थान-पर्यन्त पाया जाता है।

तथा उपशमश्रेणी के सन्मुख होनेपर, सप्तम गुणस्थान में, क्षयोपशमसम्यक्त्व से जो उपशमसम्यक्त्व हो, उसका नाम **द्वितीयोपशमसम्यक्त्व** है।

यहाँ करण द्वारा, तीनों ही प्रकृतियों का उपशम होता है क्योंकि इसको तीनों ही की सत्ता पायी जाती है। यहाँ भी अन्तरकरणविधान व उपशमविधान से—जो उनके उदय का

अभाव करता है, वही उपशम है - यह द्वितीयोपशमसम्यक्त्व, सप्तम आदि ग्यारहवें गुणस्थान-पर्यन्त होता है। गिरते हुए किसी को छट्ठे, पाँचवें या चौथे में भी रहता है - ऐसा जानना।

इस तरह उपशमसम्यक्त्व, दो प्रकार का है—यह सम्यक्त्व वर्तमानकाल में क्षायिकवत् निर्मल होता है; इसमें प्रतिपक्षी कर्म की सत्ता पायी जाती है; इसलिए अन्तर्मुहूर्त कालमात्र यह सम्यक्त्व रहता है, पश्चात् दर्शनमोह का उदय आता है - ऐसा जानना।

इस प्रकार उपशमसम्यक्त्व का स्वरूप कहा है।

जहाँ दर्शनमोह की तीन प्रकृतियों में से सम्यक्त्वमोहनीय का उदय हो; अन्य दो का उदय न हो, वहाँ क्षयोपशमसम्यक्त्व होता है। उपशमसम्यक्त्व का काल पूर्ण होनेपर, यह सम्यक्त्व होता है तथा सादि मिथ्यादृष्टि को मिथ्यात्वगुणस्थान से या मिश्रगुणस्थान से भी इसकी प्राप्ति होती है।

क्षयोपशम किसे कहते हैं ?—दर्शनमोह की तीन प्रकृतियों में जो **मिथ्यात्व** का अनुभाग है, उसके अनन्तवें भाग, **मिश्रमोहनीय** का है; उसके अनन्तवें भाग, **सम्यक्त्वमोहनीय** का है; इनमें सम्यक्त्वमोहनीय प्रकृति, देशघाती है, इसका उदय होनेपर भी, सम्यक्त्व का घात नहीं होता; जो किंचित् मलिनता करे, मूलघात न कर सके, उसी का नाम, देशघाती है।

ऐसे जहाँ मिथ्यात्व व मिश्रमिथ्यात्व के वर्तमानकाल में उदय आनेयोग्य निषेकों का उदय आये बिना ही निर्जरा होती है, उसे तो **क्षय** जानना; इन्हीं के आगामीकाल में उदय आनेयोग्य निषेकों की सत्ता पायी जाती है, वही **उपशम** है और सम्यक्त्वमोहनीय का **उदय** पाया जाता है—ऐसी दशा जहाँ होती है, वह **क्षयोपशम** है; इसलिए जो समल तत्त्वार्थश्रद्धान है, वह **क्षयोपशमसम्यक्त्व** है।

यहाँ जो **मल** लगता है, उसका तारतम्यस्वरूप तो केवली जानते हैं; उदाहरण दिखलाने के लिए, चल-मलिन-अगाढ़पना कहा है। वहाँ व्यवहारमात्र देवादि की प्रतीति तो होती है परन्तु अरहन्तदेवादि में 'ये मेरे हैं; ये अन्य के हैं' इत्यादि भाव, वह चलपना है। शंकादि (दोष) मल लगे, वह मलिनपना है। 'ये शान्तिनाथ, शान्तिकर्ता हैं' इत्यादि भाव, वह अगाढ़पना है—ऐसे उदाहरण, व्यवहारमात्र बतलाये, परन्तु नियमरूप नहीं हैं।

क्षयोपशमसम्यक्त्व में जो नियमरूप कोई मल लगता है, उसे केवली जानते हैं। **इतना जानना**—इसके तत्त्वार्थश्रद्धान में, किसी प्रकार से समलपना होता है; इसलिए यह सम्यक्त्व निर्मल नहीं है। इस क्षयोपशमसम्यक्त्व का एक ही प्रकार है, इसमें कोई भेद नहीं है।

इतना विशेष है—क्षायिकसम्यक्त्व के सन्मुख होनेपर, अन्तर्मुहूर्तकालमात्र जब

द्वितीयोपशमसम्यक्त्व की प्रगटता के सम्बन्ध में आचार्यश्री वीरसेनस्वामी लिखते हैं -'**...एदाओ सत्तपयडीओ असंजदसम्माइट्ठिप्पहुडि जाव अप्पमत्तसंजदो त्ति ताव एदेसु जो वा सो वा उवसामेदि।**' अर्थात् चौथे से लेकर सातवें गुणस्थानवर्ती कोई भी मुनि, इन सात प्रकृतियों का उपशम कर, द्वितीयोपशम सम्यक्त्व प्राप्त कर सकते हैं। धवला पुस्तक १, सूत्र २६ की टीका; कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ४८४ और मूलाचार गाथा १२४८ की टीका में भी यही निरूपण है।

मिथ्यात्व की प्रकृति का क्षय करता है, तब वहाँ दो ही प्रकृतियों की सत्ता रहती है, पश्चात् मिश्रमोहनीय का भी क्षय करता है, वहाँ सम्यक्त्वमोहनीय की ही सत्ता रहती है। पश्चात् सम्यक्त्वमोहनीय की जब तक काण्डकघात आदि क्रिया नहीं करता, तब तक '**कृतकृत्य-वेदकसम्यग्दृष्टि**' नाम पाता है - ऐसा जानना।

वहाँ इस क्षयोपशमसम्यक्त्व ही का नाम, वेदकसम्यक्त्व है; जहाँ मिथ्यात्व व मिश्रमोहनीय की मुख्यता से कहते हैं, वहाँ क्षयोपशम नाम पाता है तथा सम्यक्त्वमोहनीय की मुख्यता से कहते हैं, वहाँ वेदक नाम पाता है - ऐसे कथनमात्र दो नाम हैं; स्वरूप में भेद नहीं है। तथा यह क्षयोपशमसम्यक्त्व, चतुर्थ आदि सप्तम गुणस्थानपर्यन्त पाया जाता है।

इस प्रकार क्षयोपशमसम्यक्त्व का स्वरूप कहा है।

तथा [इस दर्शनमोह की] तीनों प्रकृतियों के सर्वथा, सर्व निषेकों का नाश होनेपर, अत्यन्त निर्मल तत्त्वार्थश्रद्धान होता है, वह **क्षायिकसम्यक्त्व** है। ऐसे चतुर्थ आदि चार गुणस्थानों में कहीं क्षयोपशमसम्यग्दृष्टि को इसकी प्राप्ति होती है।

कैसे होती है ? उसे कहते हैं—प्रथम तीन करण करता है, वहाँ मिथ्यात्व के परमाणुओं को, मिश्रमोहनीय व सम्यक्त्वमोहनीयरूप परिणमित करता है एवं निर्जरा करता है—ऐसे **मिथ्यात्व की सत्ता नाश** करता है। मिश्रमोहनीय के परमाणुओं को, सम्यक्त्वमोहनीयरूप परिणमित करता है व निर्जरा करता है—ऐसे **मिश्रमोहनीय का नाश** करता है। तथा **सम्यक्त्व-मोहनीय के निषेक, उदय में आकर खिरते** हैं, उनकी बहुत स्थिति आदि हो तो उसे **स्थिति-काण्डकादि द्वारा घटाता** है। जब अन्तर्मुहूर्त स्थिति रहती है, तब **कृतकृत्यवेदकसम्यग्दृष्टि** होता है; पश्चात् अनुक्रम से, इन निषेकों का नाश करके, **क्षायिकसम्यग्दृष्टि** होता है।

यह प्रतिपक्षी कर्म के अभाव से, **निर्मल** है व मिथ्यात्वरूप रंजना के अभाव से, **वीतराग** है, इसका नाश नहीं होता; जबसे उत्पन्न हो, तबसे सिद्ध अवस्थापर्यन्त इसका सद्भाव रहता है।

इस प्रकार क्षायिकसम्यक्त्व का स्वरूप कहा है।

— ऐसे सम्यक्त्व के तीन भेद हैं।

अनन्तानुबन्धी कषाय—सम्यक्त्व होनेपर, **अनन्तानुबन्धी कषाय** की दो अवस्थाएँ होती हैं - या तो **अप्रशस्त उपशम** होता है या **विसंयोजन** होता है।

वहाँ जो करण द्वारा, **उपशमविधान** से उपशम हो, उसका नाम, **प्रशस्तउपशम** है तथा उदय का अभाव, उसका नाम, **अप्रशस्तउपशम** है। वहाँ अनन्तानुबन्धी का प्रशस्तउपशम तो होता ही नहीं, जबकि मोह की अन्य प्रकृतियों का होता है तथा इसका अप्रशस्तउपशम ही

होता है। वहाँ जो तीन करण द्वारा, अनन्तानुबन्धी के परमाणुओं को अन्य चारित्रमोह की प्रकृतिरूप परिणमित करके, उसका सत्ता नाश करते हैं, उसका नाम, विसंयोजन है।

वहाँ इनमें से **प्रथमोपशमसम्यक्त्व** में तो **अनन्तानुबन्धी का अप्रशस्तउपशम** ही होता है तथा **द्वितीयोपशमसम्यक्त्व** की प्राप्ति, पहले **अनन्तानुबन्धी का विसंयोजन होनेपर ही होती है**–ऐसा नियम कोई आचार्य लिखते हैं और कोई नियम नहीं लिखते।

क्षयोपशमसम्यक्त्व में किसी जीव को [**अनन्तानुबन्धी का**] **अप्रशस्तउपशम** होता है अथवा किसी को **विसंयोजन** होता है तथा **क्षायिकसम्यक्त्व** है, वह पहले **अनन्तानुबन्धी का विसंयोजन होनेपर ही होता है** - ऐसा जानना।

यहाँ यह विशेष है—उपशम व क्षयोपशमसम्यक्त्वी को, **अनन्तानुबन्धी के विसंयोजन** से, जो सत्ता नाश हुआ था, वह यदि मिथ्यात्व में आये तो अनन्तानुबन्धी का पुनः बन्ध करता है; वहाँ फिर उसकी सत्ता का सद्भाव होता है परन्तु **क्षायिकसम्यग्दृष्टि**, मिथ्यात्व में आता नहीं है; इसलिए उसको अनन्तानुबन्धी की सत्ता पुनः कभी नहीं होती।

यहाँ प्रश्न—अनन्तानुबन्धी तो चारित्रमोह की प्रकृति है, वह चारित्र का घात करती है; इससे सम्यक्त्व का घात कैसे सम्भव है ?

उसका समाधान—अनन्तानुबन्धी के उदय से, क्रोधादिरूप परिणाम होते हैं, कुछ अतत्त्वश्रद्धान नहीं होता; इसलिए अनन्तानुबन्धी, चारित्र ही का घात करती है; सम्यक्त्व का घात नहीं करती है; अतः परमार्थ से है तो ऐसा ही, परन्तु अनन्तानुबन्धी के उदय से जैसे –क्रोधादि होते हैं; वैसे क्रोधादि, सम्यक्त्व होनेपर नहीं होते—ऐसा निमित्त-नैमित्तिकपना पाया जाता है।

जैसे—त्रसपने की घातक तो स्थावरप्रकृति ही है परन्तु त्रसपना होनेपर, एकेन्द्रियजाति-प्रकृति का भी उदय नहीं होता; इसलिए उपचार से एकेन्द्रियप्रकृति में भी त्रसपने का घातकपना कहा जाए तो दोष नहीं है; उसी प्रकार **सम्यक्त्व का घातक तो दर्शनमोह है** परन्तु सम्यक्त्व होनेपर, अनन्तानुबन्धी कषायों का भी उदय नहीं होता; इसलिए उपचार से अनन्तानुबन्धी में भी सम्यक्त्व का घातकपना कहा जाए तो दोष नहीं है।

फिर यहाँ प्रश्न—अनन्तानुबन्धी भी, चारित्र ही का घात करती है तो इसके जानेपर, कुछ चारित्र हुआ कहो; असंयतगुणस्थान में, असंयम किसलिए कहते हो ?

उसका समाधान—अनन्तानुबन्धी आदि भेद हैं, वे तीव्र-मन्द कषाय की अपेक्षा नहीं हैं क्योंकि मिथ्यादृष्टि को तीव्रकषाय होनेपर या मन्दकषाय होनेपर, अनन्तानुबन्धी आदि चारों का उदय युगपत् होता है; वहाँ चारों के उत्कृष्ट स्पर्धक समान कहे हैं।

इतना विशेष है—अनन्तानुबन्धी के साथ जैसा तीव्रउदय, अप्रत्याख्यानादि का होता है, वैसा उस [अनन्तानुबन्धी] के जानेपर, नहीं होता; इसी प्रकार अप्रत्याख्यान के साथ, जैसा

प्रत्याख्यान-संज्वलन का उदय होता है, वैसा उसके जानेपर नहीं होता तथा जैसा प्रत्याख्यान के साथ, संज्वलन का उदय होता है, वैसा केवल संज्वलन का उदय नहीं होता।

इसलिए अनन्तानुबन्धी के जानेपर, कषायों की कुछ मन्दता तो होती है परन्तु ऐसी मन्दता नहीं होती, जिससे कोई चारित्र (चारित्र के पाँच भेदों में कोई एक)[१] नाम प्राप्त करे, क्योंकि कषायों के असंख्यातलोकप्रमाण स्थान हैं; उनमें सर्वत्र पूर्वस्थान से, उत्तरस्थान में मन्दता पायी जाती है परन्तु व्यवहार से उन स्थानों में तीन मर्यादाएँ कीं —

१. प्रारम्भ के बहुत स्थान तो असंयमरूप कहे, २. फिर कितने ही देशसंयमरूप कहे, ३. फिर कितने ही सकलसंयमरूप कहे; उनमें —

प्रथमगुणस्थान से लेकर, चतुर्थगुणस्थानपर्यन्त जो कषाय के स्थान होते हैं, वे सर्व असंयम ही के होते हैं; इसलिए कषायों की मन्दता होनेपर भी, चारित्र (संयम) नाम नहीं पाते हैं।

यद्यपि परमार्थ से कषाय का घटना, चारित्र (सम्यक्त्वाचरणचारित्र) का अंश है तथापि व्यवहार से जहाँ ऐसा कषायों का घटना हो, जिससे श्रावकधर्म या मुनिधर्म का अंगीकार हो, वहाँ ही चारित्र (संयमाचरणचारित्र) नाम पाता है परन्तु असंयत (गुणस्थान) में ऐसे कषायें घटती नहीं हैं; इसलिए यहाँ असंयम कहा है।

कषायों का अधिक-हीनपना होनेपर भी, जैसे-प्रमत्तादि गुणस्थानों में, सर्वत्र सकल-संयम ही नाम पाता है; उसी प्रकार मिथ्यात्वादि असंयतपर्यन्त गुणस्थानों में, असंयम नाम पाता है; सर्वत्र असंयम की समानता नहीं जानना।[२]

फिर यहाँ प्रश्न—अनन्तानुबन्धी, सम्यक्त्व का घात नहीं करती है तो इसका उदय होनेपर, सम्यक्त्व से भ्रष्ट होकर, सासादनगुणस्थान को कैसे प्राप्त करता है ?

उसका समाधान—जैसे-किसी मनुष्य को मनुष्यपर्याय के नाश का कारण, तीव्ररोग प्रगट हुआ हो, उसे मनुष्यपर्याय का छोड़नेवाला कहते हैं; वहाँ मनुष्यपना दूर होनेपर, देवादिपर्याय होती है, वह तो रोग अवस्था में नहीं हुई, यहाँ तो मनुष्य ही की आयु है, उसी प्रकार सम्यक्त्वी को सम्यक्त्व के नाश का कारण, अनन्तानुबन्धी का उदय प्रगट हुआ, उसे सम्यक्त्व का विराधक, सासादन कहा, परन्तु सम्यक्त्व का अभाव होनेपर, जो मिथ्यात्व होता है, वह तो

---

[१] मूल हस्तलिखित प्रति (पृष्ठ ४४३) में इस स्थल पर दश पंक्तियाँ कटी हैं, परन्तु पढने में स्पष्ट आ रही हैं; जिनमें इस विषय को किंचित् विस्तार से समझाया गया है, वे पंक्तियाँ इस प्रकार हैं —

..... जैसे—मिथ्यात्वगुणस्थान विषै मिथ्यात्व का कबहू मंद उदय होइ, तहां मिथ्यात्व की मंदता तौ हो है परंतु ऐसी मंदता न हो है, जा करि सम्यक्त्व का अंश प्रगट होइ। बहुरि मिश्रमोहनी विषै ऐसा मंद उदय हो है, जा करि किंचित् अंश सम्यक्त्व का प्रगट हो है। बहुरि सम्यक्त्वमोहनी विषै ऐसा मंद उदय हो है, जा करि सम्यक्त्व का घात न होय; किंचित् मल लागै। तैसें अनंतानुबंधी का उदय दूरि भए, चतुर्थगुणस्थान विषै कषाय का मंद उदय होइ, तहां कषाय की मंदता हो है परंतु ऐसी मंदता न हो है, जा करि चारित्र (संयम) का अंश प्रगट होइ। बहुरि अप्रत्याख्यान का उदय दूरि भए, देशसंयत विषै ऐसा मंद उदय हो है, जा करि किंचित् चारित्र का अंश प्रगट हो है। बहुरि प्रत्याख्यान का उदय दूरि भए ऐसा मंद उदय हो है, जा करि चारित्र का घात न होय; किंचित् मल लागै। ऐसें अनंतानुबंधी गए चारित्र (संयम) नाम न पावै है। जैसें—कोई वस्तु कै बहुत वस्त्र लपेटे थै, तहां कोई वस्त्र दूरि कीया, परंतु उस वस्तु का अंश भी प्रगट न भया। कोई वस्त्र दूरि कीए किंचित् अंश प्रगट .... ।

[२] विशेष देखें, आचार्य समन्तभद्र विरचित युक्त्यनुशासन, श्लोक ५२ की आचार्य विद्यानन्दि द्वारा रचित संस्कृत टीका

सासादन में नहीं हुआ तथा यहाँ तो उपशमसम्यक्त्व का ही काल है—ऐसा जानना।

इस प्रकार अनन्तानुबन्धीचतुष्क की, सम्यक्त्व होनेपर अवस्था होती है; इसलिए सात प्रकृतियों के उपशमादि से भी सम्यक्त्व की प्राप्ति कहते हैं।

फिर प्रश्न—सम्यक्त्वमार्गणा के छह भेद किये गये हैं, वे किस प्रकार हैं?

उसका समाधान—सम्यक्त्व के तो तीन भेद ही हैं तथा सम्यक्त्व के अभावरूप मिथ्यात्व है; दोनों का मिश्रभाव, वह मिश्र है। सम्यक्त्व का घातकभाव, वह सासादन है। इस प्रकार सम्यक्त्वमार्गणा से, जीव का विचार करनेपर, छह भेद कहे हैं।

यहाँ कोई कहे—[सम्यक्त्वमार्गणा के अन्तर्गत] सम्यक्त्व से भ्रष्ट होकर, मिथ्यात्व में आया हो, उसे मिथ्यात्व-सम्यक्त्व कहना चाहिए?

[**उसका समाधान**]—यह असत्य है क्योंकि अभव्य को भी उस [सम्यक्त्वमार्गणा के अन्तर्गत, मिथ्यात्व] का सद्भाव पाया जाता है तथा मिथ्यात्व-सम्यक्त्व कहना ही अशुद्ध है; जैसे—संयममार्गणा में, असंयम कहा; भव्यमार्गणा में, अभव्य कहा; उसी प्रकार सम्यक्त्व-मार्गणा में, मिथ्यात्व कहा है परन्तु मिथ्यात्व को, सम्यक्त्व का भेद नहीं जानना।

सम्यक्त्व अपेक्षा विचार करते हुए कितने ही जीवों के, सम्यक्त्व का अभाव भासित हो, वहाँ मिथ्यात्व पाया जाता है—ऐसा अर्थ प्रगट करने के लिए, सम्यक्त्वमार्गणा में मिथ्यात्व कहा है; इसी प्रकार सासादन व मिश्र भी, सम्यक्त्व के भेद नहीं हैं। **सम्यक्त्व के भेद, तीन ही हैं** - ऐसा जानना।

यहाँ कर्म के उपशम आदि से, उपशमादि सम्यक्त्व कहे, **परन्तु कर्म के उपशमादि इसके करने से नहीं होते—यह तो तत्त्वश्रद्धान करने का उद्यम करे; उसके निमित्त से स्वयमेव कर्म के उपशमादि होते हैं, तब इसके तत्त्वश्रद्धान की प्राप्ति होती है** - ऐसा जानना।

— इस तरह सम्यक्त्व के भेद जानना।

इस प्रकार **सम्यग्दर्शन का स्वरूप** कहा है।

सम्यग्दर्शन के आठ अंग

सम्यग्दर्शन के आठ अंग कहे हैं—१. निःशंकितत्व, २. निःकांक्षितत्व, ३. निर्विचिकित्सत्व, ४. अमूढ़दृष्टित्व, ५. उपबृंहण (उपगूहन), ६. स्थितिकरण, ७. प्रभावना, ८. वात्सल्य।

१. भय का अभाव अथवा तत्त्वों में संशय का अभाव, वह **निःशंकितत्व** है।

२. परद्रव्यादि में रागरूप वाँछा का अभाव, वह **निःकांक्षितत्व** है।

३. परद्रव्यादि में द्वेषरूप ग्लानि का अभाव, वह **निर्विचिकित्सत्व** है।

४. तत्त्वों में व देवादि में अन्यथा प्रतीतिरूप मोह का अभाव, वह **अमूढ़दृष्टित्व** है।

५. आत्मधर्म को व जिनधर्म को बढ़ाना, उसका नाम **उपबृंहण** है; इसी अंग का नाम **उपगूहन** भी कहा जाता है, वहाँ धर्मात्मा जीवों के दोष ढ़ँकना—ऐसा उसका अर्थ जानना।

६. अपने स्वभाव में व जिनधर्म में अपने व पर को स्थापित करना, वह **स्थितिकरण** है।

७. अपने स्वरूप की व जिनधर्म की महिमा प्रगट करना, वह **प्रभावना** है।

८. स्वरूप में, जिनधर्म में व धर्मात्मा जीवों में अतिप्रीतिभाव, वह **वात्सल्य** है।

— ऐसे ये आठ अंग जानना। जैसे-मनुष्यशरीर के हस्त-पादादि अंग हैं; उसी प्रकार ये सम्यक्त्व के अंग हैं।

यहाँ प्रश्न—कितने ही सम्यक्त्वी जीवों को भी भय, इच्छा, ग्लानि आदि पाये जाते हैं और कितने ही मिथ्यादृष्टियों को नहीं पाये जाते; इसलिए नि:शंकितादि को सम्यक्त्व के अंग कैसे कहते हो?

उसका समाधान—जैसे—मनुष्यशरीर के हस्त-पादादि अंग कहे जाते हैं; वहाँ कोई मनुष्य ऐसा भी हो, जिसके हस्त-पाद आदि में कोई अंग न हो, तथापि उसके मनुष्यशरीर तो कहा जाता है परन्तु उन अंगों के बिना, वह शोभायमान व सकल कार्यकारी नहीं होता; उसी प्रकार सम्यक्त्व के नि:शंकित आदि अंग कहे जाते हैं; वहाँ कोई सम्यक्त्वी ऐसा भी हो, जिसके नि:शंकितत्व आदि में से कोई अंग न हो, तथापि उसके सम्यक्त्व तो कहा जाता है परन्तु उन अंगों के बिना, वह निर्मल व सकल कार्यकारी नहीं होता।

जैसे—बन्दर को भी हस्त-पाद आदि अंग होते हैं परन्तु जैसे मनुष्य को होते हैं, उसी प्रकार नहीं होते; उसी प्रकार मिथ्यादृष्टियों को भी व्यवहाररूप नि:शंकितादि अंग होते हैं परन्तु जैसे निश्चय की सापेक्षतासहित सम्यक्त्वी को होते हैं, वैसे नहीं होते।

सम्यग्दर्शन के पच्चीस मलदोष

सम्यक्त्व में पच्चीस मल [दोष] कहे हैं—आठ शंका आदि, आठ मद, तीन मूढ़ता, और षट् अनायतन।

— ये सम्यक्त्वी के नहीं होते; कदाचित् किसी को कोई मल लगता है परन्तु सम्यक्त्व का सर्वथा नाश नहीं होता; वहाँ सम्यक्त्व मलिन ही होता है - ऐसा जानना। **बहु .....**①

❁ ❁ ❁ ❁ ❁

① मूल हस्तलिखित प्रति (पृष्ठ ४४७) में यह अन्तिम वाक्य मिलता है, यहाँ पण्डितजी '**बहुरि**' (बहु...) भी पूरा नहीं कर पाये।

समाधिमरण का स्वरूप

[पण्डितप्रवर टोडरमलजी के सुपुत्र, पण्डित गुमानीरामजी द्वारा रचित]

[आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी के सहपाठी और धर्मप्रभावना में उत्साहप्रेरक ब्र. रायमलजी, जयपुर कृत '**ज्ञानानन्द निर्भर निजरस श्रावकाचार**' नामक ग्रन्थ में से यह अधिकार① बहुत सुन्दर जानकर, सोनगढ़ से प्रकाशित मासिक पत्रिका 'आत्मधर्म' अंक २५३-५४ में दिया गया था।]

अब, अपने इष्टदेव को नमस्कार कर, अन्तिम **समाधिमरण का स्वरूप** वर्णन करते हैं—

सो हे भव्य! तू सुन! अब उस **समाधिमरण का ही लक्षण** वर्णन करते हैं—**समाधि नाम, निःकषाय शान्तपरिणामों का है - ऐसा उसका स्वरूप जानना।** (अर्थात् भेदविज्ञानसहित, कषायरहित, शान्तपरिणामों से मरण होना, समाधिमरण है। संक्षिप्तरूप से समाधिमरण का यही वर्णन है।) विशेषरूप से कथन आगे किया जाता है —

वहाँ सम्यग्ज्ञानी पुरुष का यह सहज स्वभाव ही है कि वह समाधिमरण ही को चाहता है; उसकी हमेशा यही भावना रहती है। अन्त में, मरण समय निकट आनेपर, वह इस प्रकार सावधान होता है, मानो सोते हुए सिंह को किसी पुरुष ने ललकार कर, सावधान किया हो—

''हे सिंह! अपना पुरुषार्थ करो। तुम्हारे ऊपर वैरियों की फौज ने आक्रमण किया है; अतः गुफा से बाहर शीघ्र निकलो! जब तक बैरियों का समूह कुछ दूर है, तब तक तुम तैयार हो जाओ और बैरियों की फौज को जीत लो। महान पुरुषों की यही रीति है।''

वहाँ जागते ही, सबसे पहले उस पुरुष के ऐसे वचन सुनकर, वह शार्दूल, तत्क्षण ही उठा और उसने ऐसी गर्जना की कि मानो आषाढ़ मास में इन्द्र (मेघ) ने ही गर्जना की हो, सो सिंह की ऐसी गर्जना सुनकर, वैरियों की फौज में हाथी-घोड़े-पुरुष आदि काँपने लग जाते हैं और वे आगे कदम नहीं बढ़ाते।

कैसा है हाथियों का समूह—जिनके हृदय में सिंह का आकार प्रविष्ट हो गया है, जिससे वे हाथी अब धीरज धारण नहीं कर पा रहे हैं। **कैसे धीरज नहीं रख पा रहे हैं ?**—वे क्षण-क्षण में नीहार कर रहे हैं, उनसे सिंह का पराक्रम सहा नहीं जा रहा है।

उसी प्रकार सम्यग्ज्ञानी पुरुष, सिंह के समान और अष्टकर्म, वैरियों के समान हैं। वे मरण समय इन्द्रिय-विषयों को विशेषरूप से जीतने के लिए उद्यम करते हैं। वे सम्यग्ज्ञानी

① इस 'समाधिमरण' प्रकरण के अनुवाद को श्री चन्द्रप्रभ दिगम्बर जैन मन्दिर, झालरापाटन से प्राप्त प्रतिलिपि (संवत् १८८५) एवं श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, भोपाल से प्रकाशित मूल ढूँढारी प्रकाशन के आधार पर संशोधित एवं परिमार्जित किया है।

पुरुष, कर्मरूपी वैरियों को आया जानकर, सिंह के समान सावधान होते हैं और कायरपने को दूर से ही छोड़ते हैं।

कैसा है वह सम्यग्ज्ञानी पुरुष ?

उसके हृदय में आत्मस्वरूप दैदीप्यमान प्रगटरूप से प्रतिभासता है। कैसा प्रतिभासता है ?—वह ज्ञानज्योति को धारण करके, आनन्दरस से झरता हुआ साक्षात् पुरुषाकार, अमूर्तिक, चैतन्यधातु का पिण्ड, अनन्त गुणों से युक्त—ऐसा चैतन्यदेव, आप स्वयं को जानता है; उसके अतिशय से, वह परद्रव्य के प्रति रंचमात्र भी रागी नहीं होता।

सम्यग्ज्ञानी, रागी क्यों नहीं होता ?

क्योंकि उसने अपने निजस्वरूप को ज्ञाता-दृष्टा, परद्रव्य से भिन्न, शाश्वत और अविनाशी जाना है और परद्रव्यों को, पूरण-गलन स्वभाववाला, क्षणभंगुर, अशाश्वत, अपने स्वभाव से भिन्न, भलीभाँति स्पष्ट जाना है; इसलिए सम्यग्ज्ञानी पुरुष, मरण से कैसे डरें ?—वह सम्यग्ज्ञानी पुरुष, मरण समय के अवसर में इस प्रकार की भावना व विचार करता है—

अब मुझे ऐसे चिह्न दिखाई देने लगे हैं, जिनसे मालूम होता है कि अब इस शरीर की आयु थोड़ी है; इसलिए मुझे सावधान होना उचित है; इसमें विलम्ब करना उचित नहीं है।

जैसे—योद्धा पुरुष, युद्ध की भेरी सुनने के बाद, बैरियों पर आक्रमण करने में क्षणमात्र की भी देर नहीं करता है और उसको ऐसा वीररस प्रकट होने लगता है और ऐसी अभिलाषा जागृत होती है कि कब बैरियों से मुकाबला करूँ और कब उनको जीतूँ ?

उसी प्रकार मेरा भी अब काल को जीतने का अभिप्राय है; इसलिए हे कुटुम्ब -परिवारवाले बन्धुओं ! तुम सुनो !! अहो, देखो ! इस पुद्गलपर्याय का चरित्र ! यह देखते -देखते ही उत्पन्न हुआ है और देखते-देखते ही नष्ट हो जाएगा। देखो ! मैंने तो पहले ही इसका स्वभाव, विनाशीक जाना था। उसी के अनुसार, अब यह अवसर प्राप्त हुआ है। इस शरीर की आयु तुच्छ रह गयी है और उसमें भी प्रति समय, वह गलता जाता है; उसे मैं ज्ञाता-दृष्टा होकर देख रहा हूँ।

मैं, इसका पड़ोसी हूँ; इसलिए मैं देख रहा हूँ कि इस शरीर की आयु कैसे पूर्ण होती है और कैसे इस शरीर का नाश होता है; इसे मैं, टकटकी लगाकर देख रहा हूँ।

मैं, तमाशा देखनेवाला तमाशगीर होकर, इसका चरित्र देख रहा हूँ—अनन्त पुद्गल परमाणु इकट्ठे होकर, शरीर की पर्यायरूप परिणमते हैं, उसे उत्पन्न करते हैं; शरीर कोई उनसे भिन्न पदार्थ नहीं है परन्तु मेरा स्वरूप तो एक, चैतन्यस्वभावी, शाश्वत, अविनाशी है; उसकी महिमा अद्भुत है, उसे मैं किससे कहूँ ?

अरे, देखो! इस पुद्गलपर्याय का माहात्म्य कि अनन्त परमाणुओं का एकसा परिणमन, इतने दिनों तक बना रहा, उसका बड़ा आश्चर्य है! अब ये भिन्न-भिन्न पुद्गल परमाणु, अन्य -अन्यरूप परिणमन करने लगे हैं तो इसमें आश्चर्य क्या?

जैसे—लाखों मनुष्यों के इकट्ठे होकर मिलने से, 'मेला' होता है। वहाँ यह 'मेला' नामक पर्याय कितने ही काल तक बनी रहती है तो इसका आश्चर्य समझना चाहिए। इतने दिनों तक लाखों मनुष्यों का परिणमन एकसा बना रहा—ऐसा विचार करनेवाला मनुष्य, आश्चर्य मानता है। तत्पश्चात् वे लाखों मनुष्य, भिन्न-भिन्न दशों दिशाओं में चले जाते हैं, तब 'मेला' पर्याय का नाश हो जाता है। वहाँ उन पुरुषों का अन्य-अन्यरूप परिणमन करना तो उनका स्वभाव ही है, इसमें आश्चर्य क्या है?

उसी प्रकार अब इस शरीर का अन्य प्रकार से परिणमन हो रहा है तो अब यह कैसे स्थिर रहेगा? अब इस 'शरीर' पर्याय को बनाये रखने में कोई समर्थ नहीं है, वही बताते हैं—

तीन लोक में जितने भी पदार्थ हैं, वे सब अपने-अपने स्वभावरूप परिणमन करते हैं, कोई किसी को परिणमाता नहीं है। कोई किसी का कर्ता नहीं है, कोई किसी का भोक्ता नहीं है; आप स्वयं ही उत्पन्न होता है, आप स्वयं ही नष्ट होता है; आप स्वयं ही मिलता है, आप स्वयं ही बिछुड़ता है; आप स्वयं ही गलता है, आप स्वयं ही स्कन्धरूप बनता है, तो मैं इस शरीर का कर्ता और भोक्ता कैसे हो सकता हूँ? और मेरे रखने से यह शरीर कैसे रह सकता है? इसी प्रकार मेरे दूर करने से, यह कैसे दूर हो सकता है?

मेरा इन पदार्थों के प्रति, कोई कर्तव्य है ही नहीं; मैं झूठ-मूठ ही अपना कर्तव्य मानता हूँ; मैं तो अनादिकाल से व्यर्थ ही खेद-खिन्न और आकुल-व्याकुल होकर, महादुःख पा रहा था; अतः यह न्याययुक्त ही है कि जिसका किया तो कुछ हो नहीं, वह परद्रव्य का कर्ता होकर, उसे अपने स्वभाव के अनुसार परिणमाना चाहे तो, वह दुःख पावे ही पावे।

मैं तो एक ज्ञायकस्वभाव ही का कर्ता हूँ, उसी का भोक्ता हूँ, उसी का वेदन करता हूँ और उसी का अनुभव करता हूँ; इसलिए इस शरीर के जाने से, मेरा कुछ भी बिगाड़ नहीं और इसके रहने से, मेरा कुछ भी सुधार नहीं है। (यह तो प्रत्यक्ष ही काष्ठ या पाषाण की तरह अचेतन द्रव्य है। काष्ठ-पाषाण और शरीर में कोई भेद नहीं है।)

इस शरीर के अन्दर जो जानपने का चमत्कार है, वह तो मेरा स्वभाव है; इस शरीर का नहीं; शरीर तो प्रत्यक्ष मुर्दा है। मैं जैसे ही इस शरीर में से निकला; वैसे ही शरीर को मुर्दा जानकर, उसे जला देते हैं। मेरे ही कारण, इस शरीर का जगत् आदर करता है किन्तु जगत को यह खबर नहीं है कि आत्मा भिन्न है और शरीर भिन्न है; इसीलिए जगत् के लोग, भ्रमबुद्धि

के कारण इस शरीर को अपना जानकर, ममत्व करते हैं; इसको नष्ट होते देखकर, दु:खी होते हैं और शोक करते हैं - ''हाय! हाय!! मेरा पुत्र! तू कहाँ गया? हाय! हाय!! मेरा पति! तू कहाँ गया? हाय! हाय!! मेरी पुत्री! तू कहाँ गयी? हाय! हाय!! मेरी माता! तू कहाँ गयी? हाय! हाय!! मेरा पिता! तू कहाँ गया? हाय! हाय!! इष्ट भ्राता! तू कहाँ गया?''

इत्यादि अनेक प्रकार से विरह का विलाप करके अज्ञानी जीव, इस पर्याय को सत्य जानकर, झूरते हैं, दु:खी होते हैं और महादु:ख-क्लेश को पाते हैं किन्तु ज्ञानी पुरुष, ऐसा विचार करते हैं-'अहो! किसका पुत्र? किसकी पुत्री? किसका पति? किसकी स्त्री? किसकी माता? किसका पिता? किसकी हवेली? किसका मन्दिर? किसका धन? किसका माल? किसके आभूषण और किसके वस्त्र? इत्यादि सर्व **सामग्री, झूठी सामग्री है; कोई वस्तुभूत नहीं है। जैसे—स्वप्न में दिखा हुआ राज्य या इन्द्रजाल द्वारा बनाया हुआ तमाशा हो; जैसे—भूतों की माया हो या जैसे—आकाश में बादलों की शोभा, इत्यादि सामग्री,**[१] देखने में तो रमणीकसी लगती हैं परन्तु वस्तुस्वभाव का विचार करनेपर, ये कुछ भी नहीं हैं। यदि ये वस्तु होतीं तो स्थिर रहतीं और नाश को प्राप्त क्यों होतीं?

अत: ऐसा जानकर मैं, **त्रिलोक में पुद्गल की जितनी पर्यायें हैं, उन सबसे ममत्व छोड़ता हूँ और उसी प्रकार अपने शरीर से भी ममत्व छोड़ता हूँ;** इसी कारण शरीर के जाने का मेरे परिणामों में लेशमात्र भी खेद नहीं है। यह शरीरादि सामग्री, चाहे जैसे परिणमे; उससे मेरा कुछ भी प्रयोजन नहीं है। चाहे वह क्षीण हो जाए, चाहे भीग जाए, चाहे प्रलय को प्राप्त हो जाए, उससे मेरा कुछ भी प्रयोजन नहीं है।

अहो देखो! मोह का स्वभाव!! प्रत्यक्ष यह सामग्री, परवस्तु है, उसमें भी विनाशीक हैं और परभव में (एवं वर्तमानभव में) दु:खदायी हैं तो भी यह संसारी जीव, इन्हें अपना जानकर, इनकी रक्षा ही करता है; इसलिए मैं ऐसा चरित्र देखकर, ज्ञाता-दृष्टा हुआ हूँ। मेरा तो मात्र एक शुद्ध निर्मल ज्ञानस्वभाव है, उसे ही मैं देखता हूँ और काल या मृत्यु का आगमन देखकर, मैं नहीं डरता हूँ। काल तो इस शरीर पर लागू पड़ता है; मुझ पर लागू नहीं है।

जैसे—मक्खी, दौड़-दौड़कर, मिठाई आदि स्वादिष्ट वस्तुओं पर ही जाकर बैठती है किन्तु अग्नि पर कदाचित् भी नहीं बैठती है; उसी प्रकार काल (मृत्यु) भी दौड़-दौड़कर, शरीर ही को ग्रासीभूत करता है और मेरे से दूर-दूर ही भागता है। मैं तो अनादिकाल से अविनाशी, चैतन्यदेव, त्रिलोक द्वारा पूज्य—ऐसा परम पदार्थ हूँ, उस पर काल का जोर नहीं चलता। इसलिए अब कौन मरे और कौन जीवे और कौन मृत्यु का भय करे? **मुझे तो मृत्यु**

---

[१] हस्तलिखित प्रति (पृष्ठ १६६) में यहाँ उक्त (मोटे अक्षरों में) प्रकरण प्राप्त होता है, जबकि पूर्व प्रकाशित ज्ञानानन्द श्रावकाचार (ढुंढारी) में ये पंक्तियाँ प्राप्त नहीं होती हैं।

दिखती नहीं है। जो मरता है, वह तो पहले ही मरा हुआ था और जीवित है, वह पहले ही से जीवित है, वह कभी मरता नहीं। मोहदृष्टि के कारण, अन्यथा भासित होता था; अब मेरा मोहकर्म नष्ट हो गया है; इसलिए जैसा वस्तु का स्वभाव है, वैसा ही मुझे प्रतिभासित हुआ है; उसमें (जिनेन्द्रदेव ने) जन्म-मरण, सुख-दु:ख कुछ भी देखे नहीं हैं; अत: मैं अब किस बात का सोच-विचार करूँ? मैं तो शाश्वत बनी-बनायी चैतन्यधातुमयी मूर्ति हूँ; उसका अवलोकन करते हुए, मरण आदि का दु:ख कैसे व्याप्त हो?

और कैसा हूँ मैं?—मैं ज्ञानानन्द निजरस से पूर्ण भरा हुआ हूँ और शुद्धोपयोगी होकर, ज्ञानरस का आचरण करता हूँ और ज्ञानांजलि द्वारा, शुद्धामृत को पीता हूँ—ऐसा निज शुद्धामृत मेरे स्वभाव से उत्पन्न हुआ है; इसलिए स्वाधीन है, पराधीन नहीं है; इसलिए उसके आस्वादन में मुझे खेद नहीं है।

और कैसा हूँ मैं?—मैं अपने निजस्वभाव में स्थित हूँ, अडोल हूँ, अकम्प हूँ।

और कैसा हूँ मैं?—स्वरस से निर्भर अर्थात् ज्ञानामृत से अतिशयरूप भरा हुआ हूँ, परिपूर्ण हूँ। ज्वलित अर्थात् दैदीप्यमान ज्ञानज्योति से प्रगट, अपने ही निजस्वभाव में स्थित हूँ।

देखो! इस अद्‌भुत चैतन्यस्वरूप की महिमा! उसके ज्ञानस्वभाव में, समस्त ज्ञेयपदार्थ स्वयमेव आकर झलकते हैं किन्तु वह स्वयं ज्ञेयरूप नहीं परिणमता है और उन्हें जानते हुए, विकल्प का अंश भी उत्पन्न नहीं होता है; इसीलिए उसे निर्विकल्प, अतीन्द्रिय, अनुपम और बाधारहित अखण्ड सुख उत्पन्न होता है—ऐसा सुख, संसार में दुर्लभ है। यद्यपि संसार में, अज्ञानी जीव को सुख का आभास तो होता है किन्तु वह सच्चा सुख नहीं है।

और कैसा हूँ मैं?—मैं ज्ञानादि गुणों से पूर्ण भरा हुआ हूँ, ज्ञानादि गुणमय एक वस्तु हूँ और अनन्त गुणों की खान हूँ।

और कैसा हूँ मैं?—मेरा चैतन्यस्वरूप, जहाँ-तहाँ सर्वांग में चैतन्य से व्याप्त है; जैसे—नमक की डली / पिण्ड में सर्वांग क्षाररस व्याप्त होता है अथवा जैसे—शक्कर की डली में सर्वांग में अमृतरस व्याप्त हो रहा है, वे शक्कर के कण, शुद्ध अमृतमय पिण्ड ही हैं; उसी प्रकार मैं एक ज्ञानमय पिण्ड बना हुआ हूँ, मेरे सर्वांग में ज्ञानमय ही ज्ञानपुंज है, ज्ञान का शरीर है, आकार है—ऐसा मान-मानकर, (बाह्य) शरीर का निमित्त पाकर, शरीर के आकार ही मेरा आकार है तथा वस्तु के द्रव्य-भाव का विचार करनेपर, तीन लोकप्रमाण मेरा आकार है; वह अवगाहनाशक्ति के द्वारा, इतने (शरीर के) आकार में इतना बड़ा आकार समा जाता है, एक प्रदेश में असंख्यात प्रदेश भिन्न-भिन्न रहते हैं—ऐसा सर्वज्ञदेव ने अलग-अलग देखा है क्योंकि इसमें संकोच-विस्तार की शक्ति है।

और कैसा है मेरा निजस्वरूप ?—अनन्त आत्मिकसुख का भोक्ता है, एक सुख ही की मूर्ति है, चैतन्य पुरुषाकार है। जैसे—मिट्टी के साँचे में, एक शुद्ध चाँदी की प्रतिमा बनाते हैं, वैसे ही इस शरीर में आत्मा का स्वभाव जानना चाहिए। जैसे—मिट्टी का साँचा, समय पाकर गल जाता है, विलीन हो जाता है, फूट जाता है किन्तु चाँदी की प्रतिमा, ज्यों की त्यों बनी रहती है, उस प्रतिमा का नाश नहीं होता; (वह आवरणरहित होकर, सबको प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो जाती है।) वास्तव में पहले से ही दो वस्तुएँ थीं; इसलिए एक का नाश होनेपर दूसरे का नाश कैसे हो ?—यह तो सर्वमान्य नियम है; उसी प्रकार समय पाकर, शरीर नष्ट होता है तो होओ, मेरे स्वभाव का तो नाश होता नहीं है; इसलिए मैं किस बात का सोच करूँ ?

और कैसा है ?—वह चैतन्यस्वरूप, आकाश के समान निर्मल है, आकाश में किसी प्रकार का विकार नहीं है; वह एक शुद्ध स्वच्छ निर्मलता का पिण्ड है। और यदि कोई आकाश को तलवार से तोड़ना या काटना चाहे या अग्नि से जलाना चाहे या पानी से गलाना चाहे तो वह आकाश तोड़ा या काटा नहीं जा सकता है और वह कैसे जलाया या गलाया जा सकता है ? कभी भी उसका नाश नहीं हो सकता है। यदि कोई आकाश को पकड़ना या तोड़ना चाहे तो वह कैसे पकड़ा या तोड़ा जा सकता है; वैसे ही मैं, आकाश के समान अमूर्तिक, निर्मल से निर्मल, निर्विकार, पूर्ण शुद्ध, निर्मलता का एक पिण्ड हूँ।

मेरा नाश किसी बात से हो नहीं सकता और किसी प्रकार नहीं हो सकता - यह नियम है। यदि आकाश का नाश हो तो मेरा भी हो - ऐसा जानना; परन्तु आकाश के स्वभाव में और मेरे स्वभाव में इतना विशेष (अन्तर) है कि आकाश तो जड़ अमूर्तिक पदार्थ है और मैं, चैतन्यरूप अमूर्तिक पदार्थ हूँ; अत: 'चैतन्य' था तो ऐसा विचार हुआ। वहाँ आकाश, जड़ है और मैं, चैतन्य हूँ। मुझमें यह स्पष्ट जानपना दिखाई देता है, जो आकाश में नहीं दिखाई देता - यह नि:सन्देह है।

और कैसा हूँ मैं ?—जैसे—दर्पण, एक शुद्ध स्वच्छत्वशक्ति का पिण्ड है; उसकी स्वच्छत्वशक्ति में स्वच्छत्वशक्ति स्वयमेव ही है, उसमें घट-पटादि पदार्थ आकर झलकते हैं, दर्पण पदार्थ तो स्वयमेव झलकता है। ऐसी स्वच्छत्वशक्ति, मेरे स्वभाव में व्याप्त हो रही है। ऐसे स्वभाव में मैं विराजमान हूँ। मेरे सर्वांग में एक स्वच्छता भरी हुई है, उसमें मानों ये ज्ञेय पदार्थ, स्वच्छतामय हो गये हैं परन्तु यह स्वच्छता भिन्न है और ज्ञेयपदार्थ भिन्न हैं। वहाँ स्वच्छत्वशक्ति का ऐसा स्वभाव है कि उसमें अन्य पदार्थों के प्रतिबिम्ब आते ही हैं।

और कैसा हूँ मैं ?—अनन्त अतिशय निर्मल साक्षात् प्रकट ज्ञान का पुंज बना हुआ हूँ और अत्यन्त शान्तरस से पूर्ण भरा हुआ हूँ। एक, अभेद, निराकुलता से व्याप्त हूँ।

और कैसा है मेरा चैतन्यस्वरूप ?—अपनी अनन्त महिमा से युक्त है; उसे किसी की सहायता नहीं है और वह चाहता भी नहीं है—ऐसे स्वभाव को यह धारण किये हुए है, स्वयंभू है; एक अखण्ड ज्ञानमूर्ति, परद्रव्य से भिन्न, शाश्वत, अविनाशी परमदेव ही है और इसके अतिरिक्त उत्कृष्ट देव किसे मानें ? यदि तीन लोक - तीन काल में कोई हो तो मानें ?

और कैसा है यह ज्ञानस्वरूप ?—अपने स्वभाव को छोड़कर, अन्यरूप नहीं परिणमता है, निजस्वभाव की मर्यादा नहीं छोड़ता है; जैसे—समुद्र, जल के समूह से पूर्ण भरा हुआ है परन्तु वह अपने स्वभाव को छोड़कर, अन्यत्र गमन नहीं करता है; अपनी तरंगावलीरूप लहरों के द्वारा, अपने स्वभाव में ही भ्रमण करता है; उसी प्रकार यह ज्ञानरूपी समुद्र, अपनी शुद्धपरिणतिरूप तरंगावलियुक्त अपने सहजस्वभाव में भ्रमण करता है—ऐसी अद्‌भुत महिमायुक्त मेरा ज्ञानस्वरूप परमदेव, अनादिकाल से इस शरीर से भिन्न विराजमान है।

मेरा और इस शरीर का पड़ोसी के समान संयोग है। मेरा स्वभाव, अन्य प्रकार का और इसका स्वभाव, अन्य प्रकार का। मेरा परिणमन, अन्य प्रकार का और इसका परिणमन, अन्य प्रकार का है; इसलिए अभी यदि यह शरीर, गलनस्वभावरूप परिणमता है तो मैं किस बात का शोक करूँ और किस बात का दु:ख करूँ ? मैं तो तमाशगीर पड़ोसी की तरह विराजमान हूँ।

मुझे इस शरीर से राग-द्वेष नहीं है। राग-द्वेष, इस जगत् में निन्द्य और परलोक में भी महादु:खदायी हैं। ये राग-द्वेष, मोह ही से उत्पन्न होते हैं। जिसका मोह नष्ट हो जाता है, उसके राग-द्वेष भी नष्ट हो जाते हैं। मोह से ही परद्रव्यों में अहंकार-ममकार उत्पन्न होते हैं।

'ये परद्रव्य हैं, वे ही मैं हूँ'—ऐसा भाव तो 'अहंकार' है और 'ये परद्रव्य, मेरे हैं'—ऐसा भाव, 'ममकार' है परन्तु वह सामग्री, चाहनेपर मिलती नहीं और छोड़ी जाती नहीं तो यह आत्मा, खेद-खिन्न होता है लेकिन यदि उस सर्व सामग्री को पहले से ही दूसरे की जाने तो उसके आने-जाने का विकल्प ही क्यों उत्पन्न हो ? इसलिए मेरा मोह, पहले ही नष्ट हो गया है और मैंने शरीरादि सामग्री को पहले ही परायी जान ली है; अत: अब इस शरीर के जाने से, किस बात का विकल्प उठे ? अर्थात् कदाचित् नहीं उठे। विकल्प उत्पन्न करानेवाला मोह है, उसका मैंने भलीभाँति नाश किया है; इसलिए मैं निर्विकल्प आनन्दमय निजस्वरूप को बार-बार संभालता एवं याद करता हुआ, अपने स्वभाव में स्थित रहता हूँ।

यहाँ कोई कहता है—यह शरीर तो तुम्हारा नहीं है किन्तु इस शरीर के निमित्त से मनुष्यपर्याय में 'शुद्धोपयोग' का साधन भली प्रकार होता था, उसका उपकार जानकर, इसे रखने का उद्यम करना उचित है; इसमें हानि नहीं है।

उसको कहते हैं—हे भाई ! तुमने ऐसा कहा, इस बात को हम भी जानते हैं। मनुष्य-पर्याय में शुद्धोपयोग का साधन, ज्ञानाभ्यास का साधन और ज्ञान-वैराग्य की वृद्धि आदि, अन्य

भी अनेक गुणों की वृद्धि होती है, जैसी अन्य पर्याय में दुर्लभ है किन्तु **अपने संयमादि गुण रहते हुए, शरीर रहे तो रहो, वह तो भला ही है; हमारे कोई शरीर से वैर तो है नहीं; परन्तु यदि शरीर नहीं रहता है तो अपने संयमादि गुण निर्विघ्नरूप से रखना और शरीर से ममत्व अवश्य छोड़ना। शरीर के वश होकर, संयमादि गुण कदाचित् भी नहीं खोना चाहिए।**

जैसे—कोई रत्नों का लोभी पुरुष, रत्नद्वीप में परदेश से आकर, फूस की झोपड़ी बनाता है और वहाँ रत्न ला-लाकर इकट्ठा करता है। यदि उस झोपड़ी में आग लग जावे तो वह विचक्षण पुरुष, ऐसा विचार करता है—किसी भी प्रकार युक्ति से इस आग का निवारण करना चाहिए और रत्नोंसहित इस झोपड़ी को बचाना चाहिए। यदि यह झोपड़ी रहेगी तो इसके सहारे बहुत रत्न और इकट्ठे कर लूँगा। इस प्रकार वह पुरुष, अग्नि को बुझती हुई समझे तो रत्नों की रक्षा करते हुए, झोपड़ी को बचाता है और यदि वह समझे कि रत्न गँवाकर, झोपड़ी बचेगी तो वह कभी भी झोपड़ी बचाने का यत्न नहीं करता।

उस अवस्था में वह झोपड़ी को तो जलने देता है और आप स्वयं सम्पूर्ण रत्नों को लेकर वापस अपने देश आ जाता है। तत्पश्चात् वह एक-दो रत्न बेचकर, अनेक तरह की विभूति को भोगता है और अनेक प्रकार के स्वर्णयुक्त और चाँदीयुक्त महल-मकान व बागादि का निर्माण करता है; पश्चात् वहाँ रहकर, राग-रंग-सुगन्ध आदि से युक्त आनन्द-क्रीड़ा करता है और निर्भयतापूर्वक अत्यन्त सुखी होकर, स्थित होता है।

इस प्रकार वही भेदविज्ञानी पुरुष है, जो शरीर के लिए संयमादि गुणों में अतिचार भी नहीं लगाता और ऐसा विचार करता है —

''यदि संयमादि गुण रहेंगे तो ही मैं विदेहक्षेत्र में उत्पन्न होकर, अवतार लूँगा और श्री सीमन्धरस्वामी आदि बीस तीर्थंकरों और अनेक केवलियों एवं मुनियों के दर्शन करूँगा। श्रीतीर्थंकर केवली भगवान के चरणकमल में अनेक प्रकार के मनवांछित प्रश्न करूँगा और अनेक प्रकार के प्रश्नों के उत्तरों द्वारा, पदार्थों व तत्त्वों के स्वरूप को उनके मुख से जानूँगा, जिससे क्षायिकसम्यक्त्व का प्रारम्भ करके निष्ठापन करूँगा और पवित्र होकर, जन्म-जन्म के संचित पापों का अतिशयरूप से नाश करूँगा और अनेक प्रकार के संयम को ग्रहण करूँगा, श्री-तीर्थंकरदेव के निकट दीक्षा धारण करूँगा। तत्पश्चात् मैं नाना प्रकार के दुर्द्धर तपश्चरण करूँगा।

वहाँ राग-द्वेष के संस्कारों का शीघ्रता से अतिशयपने जडमूल नाश करूँगा और श्रीपरमदयालु आनन्दमय केवल लक्ष्मीसंयुक्त श्रीजिनेन्द्रदेव के माध्यम से, नित्यनिरंजन (निज-शुद्धात्मा) का स्वरूप देखकर, उसके दर्शनरूपी अमृत का अतिशयपने अर्चन करूँगा, उसके द्वारा कर्म-कलंक धुल जाएगा, तब मैं पवित्र होऊँगा; उसके अतिशय से शुद्धोपयोग अत्यन्त निर्मल होगा, तब स्वरूप में आत्यन्तिकरूप लीन होऊँगा, तब क्षपकश्रेणी चढ़कर, उस

(केवलज्ञान) के सन्मुख होऊँगा। उसके बाद शीघ्रता से, कर्मरूपी शत्रुओं के सामने अड़े रहकर, उनसे झगड़ा करूँगा और पटक-पटककर, भचक-भचककर, उन्हें जड़मूल से नष्ट करके, केवलज्ञान प्राप्त करूँगा; जिससे मुझे एक समय में समस्त लोकालोक के त्रिकालवर्ती चराचर पदार्थ दृष्टिगोचर हो जाएँगे, तत्पश्चात् मेरा ऐसा ही स्वभाव शाश्वत रहेगा।''

इस प्रकार मैं ऐसी केवलज्ञानलक्ष्मी का स्वामी हूँ, उसको इस शरीर से ममत्व कैसे उत्पन्न हो ?—ऐसे सम्यग्ज्ञानी पुरुष, विचार करता है।

मुझे दोनों ही तरह आनन्द है—१. शरीर रहेगा तो भी मैं शुद्धोपयोग की ही आराधना करूँगा, और २. शरीर नहीं रहेगा तो भी परलोक में जाकर, शुद्धोपयोग की ही आराधना करूँगा। इसलिए मुझे किसी भी प्रकार से शुद्धोपयोग के सेवन में तो कोई विघ्न दिखता नहीं है तो मुझे परिणामों में संक्लेश क्यों उत्पन्न हो ?

मेरे परिणाम, शुद्धस्वरूप में अत्यन्त आसक्त हैं; उसे छुड़वाने में ब्रह्मा-विष्णु-महेश, इन्द्र-नरेन्द्र-धरणेन्द्र आदि कोई भी समर्थ नहीं हैं। इस आसक्ति को छुड़ाने में, केवल मोहकर्म ही समर्थ था, जिसे मैंने पहले ही जीत लिया है; इसलिए अब तीन लोक में मेरा कोई वैरी नहीं रहा और वैर भी नहीं, त्रिकाल-त्रिलोक में कोई दु:ख नहीं है; अत: हे सभा में उपस्थित लोगों! मुझे मरण से भय कैसे कह सकते हो ? इस प्रकार मैं आज सर्व प्रकार से निर्भय हुआ हूँ। तुम यह बात अच्छी तरह जानो, इसमें कुछ भी सन्देह मत विचारो।

इस प्रकार शुद्धोपयोगी पुरुष, शरीर की स्थिति से पूर्णत: परिचित हैं - ऐसा विचार करके, वे आनन्द में रहते हैं, उनको किसी तरह की आकुलता उत्पन्न नहीं होती है क्योंकि आकुलता ही संसार का बीज है; इस आकुलता के बीज से ही संसार की स्थिति होती है। आकुलता करने से बहुत काल के संचित किये हुए संयमादि गुण, उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं, जिस प्रकार अग्नि में, रुई भस्म हो जाती है।

इस कारण सम्यग्दृष्टि पुरुष को किसी भी प्रकार की आकुलता नहीं करनी चाहिए। वस्तुत: एक निजस्वरूप का ही बार-बार विचार करना चाहिए, उसी को बार-बार देखना चाहिए, उसी के गुणों का चिन्तवन करना चाहिए, उसी की पर्याय की अवस्था का विचार करना चाहिए, उसी का स्मरण करना चाहिए, उसी में स्थित रहना चाहिए। यदि कदाचित् शुद्धस्वरूप से चित्त चलायमान हो तो ऐसा विचार करना चाहिए कि यह संसार अनित्य है, इस संसार में कुछ भी सार नहीं है। यदि इसमें कुछ सार होता तो तीर्थंकरदेव इसे क्यों छोड़ते ?

इसलिए अब मुझे निश्चय से मेरा स्वरूप ही शरण है और बाह्य में पंच परमेष्टी, जिनवाणी और रत्नत्रयधर्म शरण है और इसके अतिरिक्त मेरे अभिप्राय से कभी स्वप्न में या भूले-भटके भी मुझे अन्य कोई वस्तु शरण नहीं है - ऐसा मेरा नियम है।

ऐसा विचार करके वह पुनः स्वरूप में उपयोग लगाता है; फिर भी यदि वहाँ से उपयोग चलायमान हो या वहाँ उपयोग नहीं लगे तो अर्हन्त-सिद्ध के स्वरूप का अवलोकन करना चाहिए और उनके द्रव्य-गुण-पर्याय का विचार करना चाहिए। इस तरह उनके द्रव्य -गुण-पर्याय को विचारते-विचारते जब उपयोग, निर्मल (विशुद्ध) हो, तब पुनः अपने स्वरूप में लगाना चाहिए। वहाँ अपने स्वरूप के समान, अरिहन्त-सिद्ध का स्वरूप है और अरिहन्त-सिद्ध के स्वरूप के समान, अपना स्वरूप है।

ऐसा किस प्रकार है ?—वहाँ मेरी आत्मा और अरिहन्त-सिद्ध के द्रव्यत्वस्वभाव में तो अन्तर नहीं है किन्तु उनके पर्यायस्वभाव में अन्तर है ही। लेकिन मैं तो द्रव्यत्वस्वभाव का ग्राहक हूँ; इसीलिए अरिहन्त का ध्यान करते हुए, आत्मा का ध्यान भली प्रकार सधता है क्योंकि अरिहन्त के स्वरूप और आत्मा के स्वरूप में अन्तर नहीं है; चाहे अरिहन्त का ध्यान करो या आत्मा का ध्यान करो—ऐसा विचार करता हुआ सम्यग्दृष्टि पुरुष, सावधान होकर, स्वभाव में स्थित होता है।

सम्यग्दृष्टि की, कुटुम्ब-परिवार आदि से ममत्व छुड़ाने की प्रक्रिया

इसके बाद, सम्यग्दृष्टि क्या विचार करता है और कैसे (माता-पिता, स्त्री-पुत्र आदि) कुटुम्ब-परिवार आदि से ममत्व छुड़ाता है, वही कहते हैं —

सर्व प्रथम माता-पिता से ममत्व का परिहार

अहो! इस शरीर के माता-पिता! आप यह अच्छी तरह जानो —

यह शरीर इतने दिनों तक आपका था, अब वह आपका नहीं है। अब इसकी आयु पूरी होनेवाली है; इसलिए उसे अब किसी के भी बचानेपर, बचाया नहीं जा सकता, इसकी इतनी ही स्थिति थी; अतः अब इससे ममत्व छोड़ो! अब इससे ममत्व करने से, क्या लाभ है ?—अब इससे प्रीति करना दुःख ही का कारण है।

यह शरीरपर्याय, इन्द्रादि देवों की भी विनाशीक है। जब उनका मरण समय आता है, तब इन्द्रादि देव भी दुःखी होकर, मुँह ताकते रह जाते हैं और अन्य सब देवों के देखते-देखते ही काल-किंकर उसे उठा ले जाते हैं; किसी की यह शक्ति नहीं है कि काल-किंकरों से उन्हें क्षण-मात्र भी बचा लेवें। ये काल-किंकर, एक-एक करके सबको ले जाकर, सबका भक्षण करेगा।

इस प्रकार जो अज्ञानवश होकर, काल के अधीन रहेंगे, उनकी यही गति होगी। फिर भी तुम मोह के वश होकर, इस पराये शरीर से, ममत्व करते हो और उसे रखना चाहते हो; इस कारण तुम्हें मोह के वश होने से, संसार का चरित्र झूठा नहीं लगता है। दूसरे का शरीर रखना तो दूर, तुम अपना शरीर तो पहले रख लो, फिर दूसरों के शरीर के रखने का उपाय

करना। आपकी यह भ्रमबुद्धि है, वह व्यर्थ ही दु:ख का कारण है किन्तु यह प्रत्यक्ष होते हुए भी, तुम्हें नहीं दिख रहा है।

इस संसार में अब तक काल ने किसको छोड़ा है, जो अब तुझे छोड़ेगा ? हाय! हाय!! देखो! आश्चर्य की बात कि आप निर्भय होकर बैठे हो—यह आपकी कौन सी अज्ञानता है? आपकी कैसी होनहार है ? - यह मैं नहीं जानता हूँ।

इसीलिए मैं आपसे पूछता हूँ कि आपको आपा-पर की कुछ खबर भी है ?—**मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ? मैं यह पर्याय पूर्णकर कहाँ जाऊँगा ?** तुम पुत्रादि से प्रीति करते हो, वह भले करो, परन्तु वह कौन है ? यह हमारा पुत्र इतने दिनों तक (जन्म लेने से पूर्व) कहाँ था ? अब इस पुत्र के प्रति ममताबुद्धि हुई है और उसके वियोग का शोक हो रहा है; इसलिए अब तुम सावधान होकर, इन सब प्रश्नों पर विचार करो और भ्रमरूप मत रहो।

हे माता-पिता! आप तो अपना कार्य विचारने से सुखी होओगे। दूसरे का कार्य -अकार्य उसके हाथ है, उसमें आपका कर्तव्य नहीं है; आप व्यर्थ ही खेद-खिन्न होकर, प्रवर्तन क्यों कर रहे हो और अपने आपको मोह के वश होकर संसार में क्यों डुबो रहे हो ? संसार में नरकों के दु:ख आप ही को सहने पड़ेंगे, आपके लिए उन्हें कोई दूसरा नहीं सहेगा। जैनधर्म का ऐसा उपदेश नहीं है कि पाप कोई करे और भोगे कोई दूसरा; अत: मुझे आपके लिए उल्टी दया आती है! आप मेरा यह उपदेश ग्रहण करें, मेरा यह उपदेश, आपके लिए महा सुखदायी है।

वह उपदेश कैसे सुखदायी है, वही बताता हूँ—मैंने तो यथार्थ जिनधर्म का स्वरूप जान लिया है और आपने नहीं जाना है, इसी कारण, मोह आपको दु:ख दे रहा है। मैंने जिनधर्म के प्रताप से, सरलतापूर्वक मोह को जान लिया है, यह एक जिनधर्म का ही प्रभाव जानो; इसलिए जिनधर्म का स्वरूप विचारना कार्यकारी है।

देखो! आप प्रत्यक्ष ज्ञाता-दृष्टा आत्मा हैं और शरीरादि, परवस्तु है। आत्मा, अपने स्वभावरूप स्वयं सहज ही परिणमता है; किसी के रखने से वह रहता नहीं है किन्तु भोले जीवों को भ्रमबुद्धि हैं; इसलिए आप भ्रमबुद्धि छोड़ें और आपा-पर का स्वरूप अच्छी तरह निर्णय करके समझें, जिसमें अपना हित सधे - ऐसा कार्य ही करें। विचक्षण पुरुषों की यही रीति है कि वे एकमात्र अपना हित चाहते हैं; वे निष्प्रयोजन एक कदम भी नहीं रखते।

हे माता-पिता! आप मुझसे जितना अधिक ममत्व करेंगे, उतना अधिक आपको दु:ख होगा, उससे आपका कुछ भी कार्य बनेगा नहीं। इस जीव ने अनन्त बार अनन्त पर्यायों में, भिन्न-भिन्न माता-पिता पाये हैं, वे अब कहाँ गए ? इसी प्रकार इस जीव को अनन्तबार, स्त्री -पुत्र-पुत्री का संयोग मिला है, वे भी कहाँ गए ? ऐसे ही पर्याय-पर्याय में अनेक भाई -कुटुम्ब-परिवारादि मिले हैं, वे सब अब कहाँ गए ?

यह संसारी जीव तो पर्यायबुद्धिवाला है, अत:; जैसी पर्याय धारण करता है, उसी में अपनापन मानता है और उसी में तन्मय होकर, परिणमने लगता है—यह नहीं जानता है कि **इस पर्याय का स्वभाव विनाशीक है और मेरा निजस्वरूप नित्य शाश्वत अविनाशी है**—ऐसा विचार उसे उत्पन्न नहीं होता, लेकिन इसमें तेरा क्या दोष है?—यह तो मोह का माहात्म्य है और वह प्रत्यक्ष झूठी बात को सच्ची करके दिखाता है।

जिसके मोह नष्ट हो गया है—ऐसा भेदविज्ञानी पुरुष, इस पर्याय में अपनत्व कैसे मान सकता है? वह कैसे इसे सत्य मान सकता है? इसी प्रकार वह दूसरे किसी के द्वारा, कैसे चलित हो सकता है? कभी भी नहीं। इस कारण **अब मुझे यथार्थ ज्ञानभाव उदित हुआ है और आपा-पर के स्वरूप का अच्छी तरह निर्णय हुआ है;** इसलिए अब मुझे ठगने में कौन समर्थ है? मैं अनादिकाल से पर्याय-पर्याय में ठगाता चला आया हूँ, उसके कारण मैंने, भव-भव में जन्म-मरण के दु:ख सहे।

हे माता-पिता! अब आप अच्छी तरह जान लें कि आपका और हमारा इतने दिनों का ही संयोगसम्बन्ध था, जो अब पूर्ण हो गया है; अत: **अब आपको भी आत्मकार्य करना ही उचित है; मोह करना, उचित नहीं है; इसलिए अब आप अपने शाश्वत निजस्वरूप को सम्हालें, उसमें किसी तरह का खेद नहीं है, उसकी किसी के पास याचना भी नहीं करना है। हमारे अपने ही घर में अमूल्यनिधि है, उसको सम्हालने से, अनेक जन्म के दु:ख नष्ट हो जाते हैं।**

इस संसार में जन्म-मरण का जितना दु:ख है, वह सब अपना स्वरूप जाने बिना है; इसलिए **सबको एक ज्ञान ही की आराधना करनी चाहिए—ऐसा ज्ञानस्वभाव, अपना निजस्वरूप है, उसे पाकर यह जीव, महासुखी होता है** और उसे पाये बिना ही, महादु:खी होता है। इसलिए यह प्रत्यक्ष देखने-जाननेवाला ज्ञायक पुरुष, स्वभावत: शरीर से भिन्न—ऐसे अपने स्वभाव को छोड़कर, दूसरी किस चीज से प्रीति उत्पन्न कर सकता है?

जैसे—सोलहवें स्वर्ग का कोई कल्पवासी देव, कौतूहलवश मध्यलोक में आकर, किसी दरिद्री मनुष्य का वेश धारण करे और दरिद्री के समान अनेक प्रकार की क्रियाएँ करने लगता है—वह कभी तो लकड़ी का गठ्ठर सिरपर रखकर, बाजार में बेचने जाता है और कभी मिट्टी का बर्तन हाथ में लेकर, माताओं व स्त्रियों के पास रोटी माँगने लगता है; कभी कंकर-पत्थर से खेलने लगता है अथवा कभी धान काटने लग जाता है; कभी राजादि के पास जाकर, याचना करता है—'महाराज! मैं अजीविका के लिए बहुत दु:खी हूँ, मेरी प्रतिपालना करो।'

कभी दो पैसे की मजदूरी करने के लिए, हसिया लेकर हरे-हरे गीले घास काटने लग जाता है; कभी एक-दो रुपये की वस्तु खोकर, रोने लगता है। कैसे रोने लगता है?—'हाय!

हाय!! अब मैं क्या करूँगा? मेरा धन चोर ले गये! मैंने जैसे-तैसे बड़ी कठिनाई से कमा -कमाकर इकट्ठा किया और आज वह चला गया, इसलिए अब मैं कैसे अपना समय बिताऊँगा?'

यदि कभी नगर में भगदड़ हो तो वह पुरुष, एक लड़के को अपने कन्धे पर बैठाता है, एक लड़के की अँगुली पकड़ लेता है और स्त्री व पुत्री को अपने आगे कर लेता है। सूप -चलनी-मटकी-झाड़ू आदि सामान को एक टोकरी में भरकर, स्त्री के सिर पर रख देता है और एक-दो गूदड़ों की गठरी बाँधकर, उसे अपने सिर पर रख लेता है। उसके बाद आधी रात के समय, नगर से बाहर निकलता है। वहाँ मार्ग में कोई पथिक या राहगीर मिलता है तो वह उस पुरुष को पूछता है—'हे भाई! तुम कहाँ जाते हो?' तब वह उत्तर देता है—'इस नगर में शत्रुओं की सेना आयी है; इसलिए मैं अपना धन लेकर भाग रहा हूँ और दूसरे नगर में जाकर, अपना जीवन यापन करूँगा।'

— इत्यादि प्रकार से अनेक चरित्र करता हुआ, वह कल्पवासी देव, उस गरीब के शरीर में रहते हुए भी, अपने सोलहवें स्वर्ग की विभूति को एक क्षणमात्र भी नहीं भूलता है, वह अपनी विभूति का अवलोकन करता हुआ, महासुखी रहता है। उस दरिद्र पुरुष के वेश में जो नाना प्रकार की अवस्थाएँ हुई हैं, उनमें उसे कभी भी अहंकार-ममकार नहीं होता। एकमात्र सोलहवें स्वर्ग की देवांगना आदि विभूतियों और अपने देवस्वरूप में ही उसे अहंकार-ममकार होता है।

उसी प्रकार मैं सिद्धसमान आत्मद्रव्य हूँ, पर्याय में नाना प्रकार की चेष्टा करता हुआ भी, अपनी मोक्ष-लक्ष्मी को कभी नहीं भूलता हूँ; इसलिए मैं लोक में किसका भय करूँ?

स्त्री से ममत्व का परिहार

तत्पश्चात् वह साधक पुरुष, स्त्री से ममत्व कैसे छुड़ाता है, वही कहते हैं —

अहो! इस शरीर की स्त्री! अब इस शरीर से ममत्व छोड़! तेरा और इस शरीर का इतना ही संयोग था, वह अब पूरा हो गया है। अब इस शरीर से तेरा कुछ भी स्वार्थ नहीं सधेगा; इसलिए तू अब मोह छोड़ और बिना प्रयोजन खेद मत कर।

यदि तेरे रखने से यह शरीर रहे तो तू उसे रख ले, मैं तो तुझे रोकता नहीं और यदि तेरे रखने से यह शरीर न रहे तो मैं क्या करूँ? हे स्त्री! यदि तू अच्छी तरह विचार करे तो तुझे ज्ञात होगा कि **तू भी आत्मा है और मैं भी आत्मा हूँ।** स्त्री-पुरुष की पर्याय तो पौद्गलिक है; इसलिए उससे कैसी प्रीति?—यह जड़ और आत्मा चैतन्य, यह तो ऊँट-बैल के समान जोड़ा हुआ; अतः इन दोनों का संयोग कैसे बने? तथा तेरी यह स्त्रीपर्याय है, उसे भी तू चंचल जान। उससे तू अपने हित का विचार क्यों नहीं करती है?

हे स्त्री! हमने रात-दिन भोग किया, परन्तु उससे क्या सिद्धि हुई? जो अब कुछ सिद्धि होनी है। व्यर्थ ही भोगों के माध्यम से हमने आत्मा को संसार में ही डुबाया है। इस मरण-समय का विचार नहीं किया। आप स्वयं के मरण के बाद, तीन लोक की सम्पदा भी झूठी हो जाती है; इसलिए तुम्हें मेरी पर्याय के विषय में चिन्ता करना उचित नहीं है।

यदि तुम मेरी प्रिय हो तो मुझे धर्म का उपदेश दो कि 'यह तुम्हारी बेला आई है।' और यदि तुम मतलब ही की सगी हो तो तुम्हारी तुम जानो। मैं, तुम्हारे डिगाने से डिगूँगा नहीं। मैंने तो तुझपर दया करके यह उपदेश दिया है। तुझे मानना हो तो मान, नहीं मानना हो तो तेरी जैसी होनहार होगी, वैसा होगा। मुझे तो अब कुछ मतलब नहीं है; इसलिए तुम अब मेरे पास से जाओ और परिणामों को शान्त रखो; आकुलता मत करो। **आकुलता ही संसार का बीज है।**''

इस प्रकार साधक पुरुष, स्त्री को समझाकर सीख देता है।

कुटुम्ब-परिवार को सम्बोधन

तत्पश्चात् वह साधक पुरुष, अपने कुटुम्ब-परिवार के अन्य व्यक्तियों को बुलाकर, उन्हें सम्बोधित करता है —

''अहो कुटुम्ब-परिवारीजन! अब इस शरीर की आयु कुछ ही शेष रही है। अब मेरा परलोक निकट है; इसलिए मैं आप सभी से कहता हूँ कि 'आप मुझसे किसी प्रकार का राग मत कीजिए। आपका और मेरा चार दिन का संयोग बाकी है, अधिक नहीं। जैसे—धर्मशाला में अलग-अलग स्थानों से राहगीर, दो रात ठहरते हैं लेकिन यदि वे बिछुड़ते समय दु:खी हों तो इसमें कौन सा सयानापन है; इसलिए मेरा आप सबसे क्षमाभाव है। आप सब आनन्द से रहें। अनुक्रम से हम सबकी ऐसी स्थिति होनी है; इसलिए संसार का ऐसा चरित्र जानकर भी, ऐसा कौन बुद्धिमान है, जो इससे प्रीति करेगा।''

इस प्रकार कुटुम्ब-परिवार को समझाकर वह सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा, उन्हें सीख देता है।

अन्त में पुत्र को सम्बोधन

अन्त में वह सम्यग्दृष्टि साधक धर्मात्मा, अपने पुत्र को बुलाकर समझाता है —

''अहो पुत्र! तुम समझदार हो, तुम मुझसे किसी प्रकार का मोह नहीं करना। एक जिनेश्वरदेव का धर्म ही श्रेष्ठ है, उसका भली प्रकार पालन करना। तुझे एकमात्र धर्म ही सुखकारी है, माता-पिता भी सुखकारी नहीं हैं; माता-पिता को कोई सुख का कर्ता मानते हैं - यह मोह का ही माहात्म्य जानना चाहिए। वस्तुत: कोई किसी का कर्ता नहीं, कोई किसी का भोक्ता नहीं; सर्व ही पदार्थ, अपने-अपने स्वभाव के कर्ता-भोक्ता हैं; इसलिए अब हम तुम्हें क्या समझाएँ? यदि तुम व्यवहार से मेरी आज्ञा मानते हो तो जैसा मैंने कहा, वैसा करो —

प्रथम तो देव-धर्म-गुरु की सच्ची दृढ़ प्रतीति करो, साधर्मियों से मित्रता करो, दान -शील-तप-संयम से अनुराग करो और स्व-पर के बीच में भेदविज्ञान करने का उपाय करो, संसारी जीवों के प्रति ममताभाव या प्रीति को छोड़ो।

सरागी जीवों की संगति से, संसार में अनादिकाल से ही यह जीव, महादु:ख पा रहा है; इसलिए सरागी पुरुषों की संगति अवश्य छोड़नी चाहिए और **धर्मात्मा पुरुषों की संगति** इस लोक और परलोक, दोनों में महासुखदायी है—इस लोक में तो महानिराकुलतारूप सुख की प्राप्ति होती है और यश की प्राप्ति होती है तथा परलोक में स्वर्गादि का सुख पाकर, मोक्ष में शिवरमणी का भर्तार या स्वामी होता है; वहाँ निराकुल, अतीन्द्रिय, अनुपम, बाधारहित, शाश्वत, अविनाशी सुख भोगता है।

इसलिए हे पुत्र! यदि तुम्हें मेरे वचनों की सत्यता भासित होती हो और इसमें तुम्हारा हित होना दिखता हो तो मेरे वचन अंगीकार करो और यदि मेरे वचन झूठे भासित हों और इसमें तुम्हारा अहित होता दिखता हो तो उन्हें अंगीकार मत करो। यद्यपि मेरा तुमसे कोई प्रयोजन नहीं है किन्तु दयाबुद्धि से तुम्हें यह उपदेश दिया है; अत: इसे मानो तो मानो और न मानो तो तुम तुम्हारी जानो।''

साधक सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा का अन्तिम कर्तव्य

तत्पश्चात् वह सम्यग्दृष्टि पुरुष, अपनी आयु, थोड़ी व पूर्ण होती जानकर जो कुछ दान-पुण्य करना होता है, उसे अपने हाथ से स्वयं करता है। तदनन्तर उसे जिन पुरुषों को जो कुछ बतलाना होता है, उनसे बात करके, वह नि:शल्य होता है। पश्चात् सांसारिक कार्यों से सम्बन्धित स्त्री-पुरुषों को समझाकर और धार्मिककार्यों से सम्बन्धित पुरुषों को बुलाकर, अपने निकट रखता है।

जब वह अपनी आयु का अन्त अतिनिकट समझता है, तब सर्व प्रकार के परिग्रह और चारों प्रकार के आहार का यावज्जीवन त्याग कर देता है और समस्त परिग्रह का भार, पुत्रों को सौंपकर, स्वयं विशेषरूप से नि:शल्य अर्थात् वीतरागी हो जाता है। लेकिन यदि अपनी आयु का पूर्ण होना नहीं जानता है तो दो-चार घड़ी, प्रहर, रात-दिन आदि काल की मर्यादा करके, त्याग करता है; यावज्जीवन त्याग नहीं करता है।

तत्पश्चात् जैसे—शत्रुओं को जीतने के लिए सुभट, उद्यमी होकर, रणभूमि में प्रविष्ट होता है, उसी प्रकार वह साधक धर्मात्मा, चारपाई से उतरकर, जमीन पर सिंह की तरह निर्भय होकर, स्थित होता है; किसी प्रकार की रंचमात्र भी आकुलता उत्पन्न नहीं करता है।

कैसा है शुद्धोपयोगी सम्यग्दृष्टि ?—जिसको मोक्षलक्ष्मी का पाणिग्रहण करने की तीव्र इच्छा प्रवर्तती है। उसे ऐसा अनुराग है कि 'अभी मोक्ष में जाकर, मोक्षलक्ष्मी का वरण कर लूँ'; उसने अपने हृदय में मोक्षलक्ष्मी का आकार उत्कीर्ण कर रखा है; वह उसकी शीघ्र प्राप्ति चाहता है। इसी कारण वह किंचित् भी रागपरिणति के प्रदेश नहीं बाँधता है अर्थात् किंचित्मात्र भी राग नहीं होने देता।

वह इस प्रकार विचार करता है—'यदि मेरे स्वभाव में रागपरिणति ने आकर, किंचित् भी प्रवेश किया तो मुझे वरण करने के लिए जो मोक्षलक्ष्मी उद्यत हुई है, वह लौट जाएगी; इसलिए मैं रागपरिणति को दूर ही से छोड़ता हूँ।'

— ऐसा विचार करता हुआ वह, अपना काल पूर्ण करता है, उसके परिणामों में निराकुल आनन्दरस बरसता रहता है; इसलिए वह शान्तरस के कारण, अत्यन्त तृप्त रहता है, उसको आत्मीक सुख के अलावा, किसी अन्य चीज की वाँछा नही है; केवल अपूर्व अतीन्द्रिय सुख की वाँछा है। इस प्रकार वह स्वाधीन सुख को ही भोगना चाहता है।

यद्यपि उसे साधर्मियों का सुलभ संयोग है तथापि उनका संयोग, पराधीन होने से, आकुलतासहित ही भासित होता है। वह ऐसा जानता है कि 'निश्चय से ये भी सुख के कारण नहीं हैं। मेरा सुख तो मेरे पास ही है; इसलिए वह स्वाधीन है।

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि आनन्दमयी होकर, स्थित होता है; अतः वह शान्तपरिणामों से युक्त '**समाधिमरण**' करता है।

इसके बाद इस 'समाधिमरण के फल' से वह इन्द्रादि की विभूति को पाता है। पश्चात् वहाँ से चयकर, राजाधिराज चक्रवर्ती आदि होता है। फिर कितने ही काल तक राज्य की विभूति को भोगकर, अर्हद्-दीक्षा या जिन-दीक्षा धारण करता है, फिर क्षपकश्रेणी चढ़कर चार घातिकर्मों का नाश करके केवलज्ञानलक्ष्मी को पाता है।

कैसी है केवलज्ञान लक्ष्मी ?—जिसमें त्रिकाल सम्बन्धी समस्त लोकालोक के चराचर पदार्थ, एक समय में ही झलक जाते हैं; उसके सुख की महिमा वचन-अगोचर है।

॥ इति 'समाधिमरण' वर्णन सम्पूर्ण हुआ ॥

रहस्यपूर्ण चिट्ठी

[आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी द्वारा लिखित]

सिद्ध श्री मुलताननगर महाशुभस्थान में अनेक उपमायोग्य अध्यात्मरसरोचक साधर्मी भाईजी श्री खानचन्दजी①, गंगाधरजी, श्रीपालजी, सिद्धारथदासजी, अन्य सर्व साधर्मियों को योग्य लिखी टोडरमल के श्री प्रमुख विनय शब्द, अवधारण करना।

यहाँ यथासम्भव आनन्द है; आपको भी चिदानन्दघन के अनुभव से, सहजानन्द की वृद्धि चाहते हैं।

अपरंच आपका एक पत्र भाईजी श्री रामसिंहजी भुवानीदासजी के लिए आया था। उसके समाचार जहानाबाद से मुझको अन्य साधर्मियों ने लिखे थे।

सो भाईजी! ऐसे प्रश्न आपके समान ही लिखते हैं। इस वर्तमानकाल में अध्यात्मरस के रसिक, बहुत थोड़े हैं। धन्य हैं, जो स्वात्मानुभव की बात भी करते हैं। वही कहा है—

तत्प्रति प्रीतिचित्तेन येन वार्तापि हि श्रुता।
निश्चितं स भवेद्भव्यो भाविनिर्वाणभाजनम्॥

– (पद्मनंदि पंचविंशतिका, एकत्वाशीति, २३)

अर्थ—जिस जीव ने प्रसन्न चित्त से, इस चेतनस्वरूप आत्मा की बात भी सुनी है, वह निश्चय से भव्य है और अल्पकाल में मोक्ष का पात्र है।

वहाँ भाईजी! आपने प्रश्न लिखे, उनके उत्तर मेरी अपनी बुद्धि के अनुसार कुछ लिखे हैं - सो जानना। तथा अध्यात्म—आगम की चर्चागर्भित पत्र तो शीघ्र-शीघ्र देवें; मिलाप तो जब उदय में होगा, तब होगा। तथा निरन्तर स्वरूपानुभवन का अभ्यास रखोगे जी। श्रीरस्तु।

अथ, स्वानुभवदशा में प्रत्यक्ष-परोक्षादि प्रश्नों के उत्तर, स्वबुद्धि अनुसार लिखते हैं। वहाँ प्रथम ही स्वानुभव का स्वरूप जानने के निमित्त लिखते हैं —

जीवपदार्थ, अनादि से मिथ्यात्वी है। **वहाँ आपा-पर के यथार्थ श्रद्धानरूप से विपरीत श्रद्धान का नाम, 'मिथ्यात्व' है।** तथा जिस काल में किसी जीव को, दर्शनमोह के उपशम -क्षय-क्षयोपशम से, आपा-पर के यथार्थ श्रद्धानरूप तत्त्वार्थश्रद्धान हो, तब जीव, 'सम्यक्त्वी' होता है क्योंकि **आपा-पर के श्रद्धान में, शुद्धात्मश्रद्धानरूप 'निश्चयसम्यक्त्व' गर्भित है।**

---

① उपलब्ध हस्तलिखित प्रति में यहाँ (पृष्ठ1) 'पाणचन्दजी' नाम लिखा मिलता है।

वहाँ यदि आपा-पर का श्रद्धान नहीं है और जिनमत में कथित देव-गुरु-धर्म ही को मानता है, सप्त तत्त्वों को मानता है, अन्यमत में कहे देवादि व तत्त्वादि को नहीं मानता है तो ऐसे केवल व्यवहारसम्यक्त्व से, 'सम्यक्त्व' नाम नहीं पाता; इसलिए **स्व-पर भेदविज्ञानसहित जो तत्त्वार्थश्रद्धान हो, उसी को 'सम्यक्त्व' जानना चाहिए।**

तथा ऐसे सम्यक्त्व होनेपर—जो ज्ञान, मिथ्यात्वदशा में पाँच इन्द्रिय व छठे मन के द्वारा, क्षयोपशमरूप कुमति-कुश्रुतिरूप हो रहा था, वही ज्ञान, अब मति-श्रुतरूप सम्यग्ज्ञान हुआ। सम्यक्त्वी जितना कुछ जानता है, उसका वह सर्व जानना, सम्यग्ज्ञानरूप है।

(वह सम्यक्त्वी) यदि कदाचित् घट-पटादि पदार्थों को अयथार्थ भी जाने तो वह आवरणजनित औदयिक अज्ञानभाव है। उसे जो क्षयोपशमरूप प्रगट ज्ञान है, वह तो सर्व सम्यग्ज्ञान ही है क्योंकि जानने में, वह विपरीतरूप पदार्थों को नहीं साधता। **वहाँ यह सम्यग्ज्ञान, केवलज्ञान का अंश है;** जैसे—थोड़ा-सा मेघपटल विलय होनेपर, कुछ प्रकाश प्रगट होता है, वह सर्व प्रकाश का अंश है।

जो ज्ञान, मति-श्रुतपर्यायरूप होकर प्रवर्तता है; वही ज्ञान, बढ़ते-बढ़ते केवलज्ञानरूप होता है; ये, सम्यग्ज्ञान की जाति अपेक्षा, एक हैं।

वहाँ इस सम्यक्त्वी के परिणाम—सविकल्प-निर्विकल्परूप होकर, दो प्रकार से प्रवर्तते हैं। वहाँ जो परिणाम, विषय-कषायादिरूप व पूजा-दान-शास्त्राभ्यास आदिरूप प्रवर्तता है, उसे सविकल्परूप जानना।

यहाँ प्रश्न—शुभाशुभरूप परिणमित होते हुए, सम्यक्त्व का अस्तित्व कैसे पाया जाता है ?

उसका समाधान—जैसे—कोई गुमाश्ता, सेठ के कार्य में प्रवर्तता है, उसको अपना भी कहता है, उसमें हर्ष-विषाद भी मानता है; वहाँ उस कार्य में प्रवर्तते हुए, अपनी और सेठ की भिन्नता का भी विचार नहीं करता, परन्तु अन्तरंग श्रद्धान ऐसा है कि 'यह मेरा कार्य नहीं है।' (वास्तव में) ऐसे कार्य करता हुआ गुमाश्ता, साहूकार है। यदि सेठ के धन को चुराकर, अपना माने तो वह गुमाश्ता, चोर है; उसी प्रकार (सम्यक्त्वी भी) कर्मोदयजनित शुभाशुभरूप कार्य को करता हुआ, तद्रूप परिणमित होता है तथापि उसके अन्तरंग में ऐसा श्रद्धान है कि 'यह कार्य मेरा नहीं है।' यदि वह शरीराश्रित व्रत-संयम को भी अपना मानता है तो मिथ्यात्वी हो जाता है। इस प्रकार उसे ऐसे सविकल्पपरिणाम होते हैं।

अब, सविकल्प ही के द्वारा, निर्विकल्प परिणाम होने का विधान कहते हैं —

वही सम्यक्त्वी, कदाचित् स्वरूप का ध्यान करने के लिए उद्यमी होता है। वहाँ प्रथम स्व-पर का भेदविज्ञान करता है — नोकर्म-द्रव्यकर्म-भावकर्मरहित, केवल चैतन्य-चमत्कार-

मात्र अपना स्वरूप जानता है; पश्चात् पर का भी विचार छूट जाता है, केवल स्वात्मविचार ही रहता है; वहाँ अनेक प्रकार से निजस्वरूप में अहंबुद्धि धारण करता है। **'चिदानन्द हूँ, शुद्ध हूँ, सिद्ध हूँ' इत्यादि विचार होनेपर, सहज ही आनन्द तरंग उठती हैं, रोमांच हो आता है।** तत्पश्चात् ऐसा विचार तो छूट जाता है, केवल चिन्मात्रस्वरूप भासने लगता है; वहाँ सर्व परिणाम, उस स्वरूप में एकाग्र होकर प्रवर्तते हैं; दर्शन-ज्ञानादि का व नय-प्रमाणदि का भी विकल्प नष्ट हो जाता है।

जिस चैतन्यस्वरूप का सविकल्पदशा में निश्चय किया था, उस ही में व्याप्य -व्यापकतारूप होकर इस प्रकार प्रवर्तता है, जहाँ ध्याता-ध्येयपना दूर हो जाता है; सो ऐसी दशा का नाम, 'निर्विकल्प अनुभव' है। सो बड़े नयचक्र ग्रन्थ में ऐसा ही कहा है —

तच्चाणेसणकाले समयं बुज्झेहि जुत्तिमग्गेण।
णो आराहणसमये पच्चक्खोअणुहवो जह्मा॥ २६६॥

अर्थ—तत्त्व के अवलोकन अर्थात् अन्वेषण के काल में, समय अर्थात् शुद्धात्मा को युक्ति अर्थात् नय-प्रमाण के द्वारा पहले जानना चाहिए। पश्चात् आराधन के समय अर्थात् अनुभवन के काल में, नय-प्रमाण नहीं हैं क्योंकि वहाँ प्रत्यक्ष अनुभव है।

जैसे—रत्न को खरीदने में अनेक विचार अर्थात् विकल्प होते हैं परन्तु जब प्रत्यक्ष उसे पहिनते हैं, तब विकल्प नहीं होते हैं; पहिनने का सुख ही होता है।

इस प्रकार सविकल्प के द्वारा, निर्विकल्प अनुभव होता है।

यहाँ जो ज्ञान, पाँच इन्द्रियों व छठे मन के द्वारा प्रवर्तता था, वह ज्ञान, सब ओर से सिमटकर, इस निर्विकल्प अनुभव में केवल स्वरूपसन्मुख हुआ, क्योंकि यह ज्ञान, क्षयोपशमरूप है; इसलिए एक काल में एक ज्ञेय ही को जानता है; वह ज्ञान, स्वरूप जानने में प्रवर्तित हुआ, तब अन्य का जानना सहज ही रह गया। **वहाँ ऐसी दशा हो जाती है कि बाह्य अनेक शब्दादि विकार हों तो भी स्वरूपध्यानी को कुछ खबर नहीं।** इस प्रकार मतिज्ञान भी स्वरूपसन्मुख हुआ। (तथा नयादि के विचार मिटनेपर, श्रुतज्ञान भी स्वरूपसन्मुख हुआ।)①

— ऐसा वर्णन, समयसार की आत्मख्याति टीका व आत्मावलोकनादि में है।

इसी कारण निर्विकल्प अनुभव को 'अतीन्द्रिय' कहते हैं क्योंकि इन्द्रियों का धर्म तो यह है कि स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-शब्द को जानें, वह यहाँ नहीं है और मन का धर्म यह है कि अनेक विकल्प करे, वह भी यहाँ नहीं हैं; इसलिए यद्यपि जो ज्ञान, इन्द्रिय-मन में प्रवर्तता था, वही ज्ञान, अनुभव में प्रवर्तता है तथापि इस ज्ञान को 'अतीन्द्रिय' कहते हैं।

---

① यह पंक्ति, प्राप्त हस्तलिखित प्रतियों में नहीं है, परन्तु पूर्व प्रकाशित प्रतियों में है; अतः उपयोगी जानकर, यहाँ दी गयी है।

तथा इस स्वानुभव को मन द्वारा हुआ भी कहते हैं क्योंकि **इस अनुभव में मतिज्ञान -श्रुतज्ञान ही हैं; अन्य कोई ज्ञान नहीं है।**

मति-श्रुतज्ञान, इन्द्रिय-मन के अवलम्बन बिना नहीं होते, लेकिन यहाँ इन्द्रिय का तो अभाव ही है क्योंकि इन्द्रिय का विषय, मूर्तिकपदार्थ ही है तथा यहाँ **मनज्ञान है क्योंकि मन का विषय, अमूर्तिकपदार्थ है;** इसलिए यहाँ मनसम्बन्धी परिणाम, स्वरूप में एकाग्र होकर, अन्य चिन्ता का निरोध करते हैं; इसलिए इसको मन द्वारा कहते हैं।'**एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्**'—ऐसा ध्यान का भी लक्षण कहा है—ऐसा अनुभवदशा में सम्भव है।

समयसार नाटक के कवित्त में कहा है —

वस्तु विचारत ध्यावतैं, मन पावै विश्राम।
रस स्वादत सुख ऊपजै, अनुभव याकौ नाम॥

इस प्रकार मन बिना, कोई अलग ही परिणाम, स्वरूप में प्रवर्तित नहीं होते; इसलिए **स्वानुभव को मनजनित भी कहते हैं; अतः अतीन्द्रिय कहने में और मनजनित कहने में कोई विरोध नहीं है; विवक्षा भेद है।**

वहाँ आपने लिखा—आत्मा, अतीन्द्रिय है; इसलिए अतीन्द्रिय द्वारा ही ग्रहण किया जा सकता है?—परन्तु (भाईजी) मन, अमूर्तिक का भी ग्रहण करता है क्योंकि मति-श्रुतज्ञान का विषय, सर्व द्रव्य (और असर्व पर्यायें) कहे हैं। तत्त्वार्थसूत्र में भी कहा है —

मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु। *(१-२६)*

वहाँ आपने प्रत्यक्ष-परोक्ष का प्रश्न लिखा ?—परन्तु भाईजी! प्रत्यक्ष-परोक्ष तो सम्यक्त्व के भेद हैं नहीं। चौथे गुणस्थान में सिद्धसमान क्षायिकसम्यक्त्व हो जाता है; इसलिए सम्यक्त्व तो केवल यथार्थ श्रद्धानरूप ही है। वह (सम्यक्त्वी) शुभाशुभकार्य भी करता रहता है।

इसलिए आपने जो लिखा था—निश्चयसम्यक्त्व प्रत्यक्ष है और व्यवहारसम्यक्त्व परोक्ष है परन्तु ऐसा नहीं है। सम्यक्त्व के तो तीन भेद हैं—वहाँ उपशमसम्यक्त्व और क्षायिकसम्यक्त्व तो निर्मल हैं क्योंकि वे मिथ्यात्व के उदय से रहित हैं और क्षयोपशम-सम्यक्त्व, समल है क्योंकि वह सम्यक्त्वमोहनीय के उदय से सहित है परन्तु इस सम्यक्त्व में प्रत्यक्ष-परोक्ष कोई भेद नहीं हैं।

क्षायिकसम्यक्त्वी को शुभाशुभरूप प्रवर्तते हुए व स्वानुभवरूप प्रवर्तते हुए, सम्यक्त्व-गुण तो समान ही है; इसलिए सम्यक्त्व के तो प्रत्यक्ष-परोक्ष भेद नहीं मानना।

वहाँ प्रमाण के प्रत्यक्ष-परोक्ष भेद हैं; वह प्रमाण, 'सम्यग्ज्ञान' है; इसलिए मतिज्ञान -श्रुतज्ञान तो परोक्षप्रमाण हैं; अवधि-मनःपर्यय-केवलज्ञान, प्रत्यक्षप्रमाण हैं।

वहाँ **आद्ये परोक्षं प्रत्यक्षमन्यत्।** *(तत्त्वार्थसूत्र, १/११-१२)* —ऐसा सूत्र का वचन है।

तथा तर्कशास्त्र में प्रत्यक्ष-परोक्ष का ऐसा लक्षण कहा है—'**स्पष्टप्रतिभासात्मकं प्रत्यक्षमस्पष्टं परोक्षं।**' अर्थात् जो ज्ञान, अपने विषय को निर्मलतारूप स्पष्टतया भली-भाँति जाने, वह प्रत्यक्ष और जो स्पष्ट भली-भाँति न जाने, वह परोक्ष।

वहाँ मतिज्ञान-श्रुतज्ञान का विषय तो बहुत है परन्तु वे एक भी ज्ञेय को सम्पूर्ण नहीं जान सकते; इसलिए उन्हें परोक्ष कहा है और अवधि-मन:पर्ययज्ञान का विषय अल्प है तथापि वे अपने विषय को स्पष्ट भली-भाँति जानते हैं; इसलिए उन्हें एकदेश प्रत्यक्ष कहा है और केवलज्ञानी, सर्व ज्ञेयों को आप स्पष्ट जानते हैं; इसलिए वह सर्व प्रत्यक्ष है।

प्रत्यक्ष के दो भेद हैं—एक पारमार्थिक प्रत्यक्ष, दूसरा सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष।

वहाँ अवधि, मन:पर्यय और केवलज्ञान तो स्पष्ट प्रतिभासरूप हैं ही; इसलिए वे, पारमार्थिक प्रत्यक्ष हैं तथा नेत्रादि से वर्णादि को जानते हैं, वहाँ व्यवहार से ऐसा कहते हैं - 'इनसे वर्णादि प्रत्यक्ष जाने', इनमें एकदेश निर्मलता भी पाई जाती है; इसलिए इनको सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं परन्तु यदि एक वस्तु में अनेक मिश्रित वर्ण हैं, वे नेत्र द्वारा भली-भाँति नहीं ग्रहण किये जाते हैं; इसलिए इनको पारमार्थिक प्रत्यक्ष नहीं कहा जाता है।

तथा परोक्षप्रमाण के पाँच भेद हैं—स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम।

वहाँ पूर्व काल में जो वस्तु जानी थी, उसे याद करके जानना, उसे 'स्मृति' कहते हैं। दृष्टान्त द्वारा वस्तु का निश्चय किया जाए, उसे 'प्रत्यभिज्ञान' कहते हैं। हेतु के विचारयुक्त जो ज्ञान होता है, उसे 'तर्क' कहते हैं। हेतु (साधन) से, साध्य वस्तु का जो ज्ञान होता है, उसे 'अनुमान' कहते हैं। आगम से जो ज्ञान होता है, उसे 'आगम' कहते हैं।

इस प्रकार प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रमाण के भेद कहे गये हैं।

वहाँ **इस स्वानुभवदशा में जो आत्मा को जाना जाता है, वह श्रुतज्ञान द्वारा जाना जाता है। श्रुतज्ञान है, वह मतिज्ञानपूर्वक ही है,** वे मतिज्ञान-श्रुतज्ञान 'परोक्ष' कहे हैं; इसलिए यहाँ आत्मा का जानना, 'प्रत्यक्ष' नहीं है। तथा अवधि-मन:पर्यय का विषय, 'रूपी' पदार्थ ही हैं एवं केवलज्ञान, छद्मस्थ के है नहीं; इसलिए **अनुभव** में अवधि-मन:पर्यय-केवल द्वारा, आत्मा का जानना नहीं है। तथा यहाँ आत्मा को स्पष्ट भली-भाँति नहीं जानता है; इसलिए पारमार्थिकप्रत्यक्षपना तो सम्भव नहीं है।

जैसे—नेत्रादि से वर्णादि जानते हैं, वैसे एकदेश निर्मलतासहित भी आत्मा के असंख्यात प्रदेशादि नहीं जानते हैं; इसलिए सांव्यवहारिकप्रत्यक्षपना भी सम्भव नहीं है।

इस प्रकार आगम-अनुमानादि परोक्षज्ञान से, आत्मा का अनुभव होता है।

जिनागम में जैसा आत्मा का स्वरूप कहा है, उसे वैसा जानकर, उसमें परिणामों को मग्न करता है; इसलिए **आगम परोक्षप्रमाण** कहते हैं।

अथवा '**मैं आत्मा ही हूँ क्योंकि मुझमें ज्ञान है; जहाँ-जहाँ ज्ञान है, वहाँ-वहाँ आत्मा है; जैसे—सिद्धादि। तथा जहाँ आत्मा नहीं है, वहाँ ज्ञान भी नहीं है; जैसे—मृतक कलेवरादि।' इस प्रकार अनुमान द्वारा, वस्तु का निश्चय करके, उसमें परिणाम मग्न करता है; इसलिए अनुमान परोक्षप्रमाण कहा जाता है।**

अथवा **आगम-अनुमानादि द्वारा जो वस्तु जानने में आयी, उसी को याद रखकर, उसमें परिणाम मग्न करता है; इसलिए उसे स्मृति कहते है, इत्यादि प्रकार से स्वानुभव में, परोक्षप्रमाण द्वारा ही आत्मा का जानना होता है।**

वहाँ पहले जानना होता है, पश्चात् जो स्वरूप जाना, उसी में परिणाम मग्न होते हैं; परिणाम मग्न होनेपर, कुछ विशेष जानपना होता नहीं है।

यहाँ फिर प्रश्न—यदि सविकल्प-निर्विकल्प में जानने का विशेष नहीं है तो अधिक आनन्द कैसे होता है?

उसका समाधान—सविकल्पदशा में ज्ञान, अनेक ज्ञेयों को जाननेरूप प्रवर्तता था; निर्विकल्पदशा में केवल आत्मा का ही जानना है, एक तो यह विशेषता है। दूसरी विशेषता यह है कि जो परिणाम, नाना विकल्पों में परिणमित होता था, वह केवल स्वरूप ही से तादात्म्यरूप होकर प्रवृत्त हुआ; दूसरी यह विशेषता हुई।

— ऐसी विशेषताएँ होनेपर, कोई वचनातीत-ऐसा अपूर्व आनन्द होता है, जो कि विषयसेवन में उसकी जाति का अंश भी नहीं है; इसलिए उस आनन्द को **अतीन्द्रिय** कहते हैं।

यहाँ फिर प्रश्न—अनुभव में भी आत्मा परोक्ष ही है तो ग्रन्थों में अनुभव को प्रत्यक्ष कैसे कहते हैं? उपर्युक्त गाथा में भी कहा है—'**पच्चक्खो अणुहवो जम्हा**'[१] वह कैसे है?

उसका समाधान—अनुभव में आत्मा तो परोक्ष ही है, कुछ आत्मा के प्रदेशों के आकार तो भासित होते नहीं हैं परन्तु **जो स्वरूप में परिणाम मग्न होने से, स्वानुभव हुआ, वह स्वानुभवप्रत्यक्ष है। वहाँ स्वानुभव का स्वाद, कुछ आगम-अनुमानादि परोक्षप्रमाण द्वारा नहीं जानता है; आप (स्वयं) ही अनुभव के रस को वेदता है।**

जैसे—कोई अन्ध पुरुष, मिश्री को आस्वादता है; वहाँ मिश्री के आकारादि तो परोक्ष हैं परन्तु जो जिह्वा से स्वाद लिया है, वह स्वाद प्रत्यक्ष है; वैसे स्वानुभव में आत्मा, परोक्ष है परन्तु जो परिणामों में स्वाद आया, वह स्वाद प्रत्यक्ष है - ऐसा जानना।

अथवा जो प्रत्यक्ष की ही भाँति हो, उसे भी 'प्रत्यक्ष' कहते हैं। जैसे—लोक में कहते

---

[१] वृहद्नयचक्र, गाथा २६६

हैं कि 'मैंने स्वप्न में अथवा ध्यान में अमुक पुरुष को प्रत्यक्ष देखा'; वहाँ कुछ प्रत्यक्ष देखा नहीं है परन्तु प्रत्यक्ष की ही भाँति, प्रत्यक्षवत् यथार्थ देखा; इसलिए उसे 'प्रत्यक्ष' कहते हैं; उसी प्रकार **अनुभव में आत्मा, प्रत्यक्ष की भाँति यथार्थ प्रतिभासित होता है; इसलिए इस न्याय से आत्मा का भी प्रत्यक्ष जानना कहते हैं, वहाँ दोष नहीं है।** इस प्रकार कथन अनेक प्रकार से होते हैं, उन्हें सर्व आगम-अध्यात्म शास्त्रों से जैसे विरोध न हो, वैसे विवक्षाभेद से कथन जानना।

फिर यहाँ प्रश्न—ऐसा अनुभव कौन से गुणस्थान में होता है ?

उसका समाधान—चौथे ही से होता है परन्तु चौथे में तो बहुत काल के अन्तराल से होता है और ऊपर के गुणस्थानों में शीघ्र-शीघ्र होता है।

फिर यहाँ प्रश्न—अनुभव तो निर्विकल्प है, वहाँ ऊपर के और नीचे के गुणस्थानों में भेद क्या ?

उसका समाधान—परिणामों की मग्नता में विशेष है। जैसे—दो पुरुष, किसी का नाम लेते हैं और दोनों ही के परिणाम नाम में हैं; वहाँ एक को तो मग्नता विशेष है और एक को थोड़ी है; उसी प्रकार जानना।

फिर यहाँ प्रश्न—यदि निर्विकल्प अनुभव में कोई विकल्प नहीं है तो शुक्लध्यान का प्रथम भेद—पृथक्त्ववितर्कवीचार कहा है; वहाँ 'पृथक्त्व—नाना प्रकार, वितर्क—श्रुत, और वीचार—अर्थ-व्यंजन-योग का संक्रमण—ऐसा क्यों कहा है ?

उसका समाधान—कथन दो प्रकार का होता है—एक स्थूलरूप और एक सूक्ष्मरूप। जैसे-स्थूलता से तो छठे ही गुणस्थान में सम्पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत कहा, परन्तु सूक्ष्मता से नौवें गुणस्थान तक, मैथुन संज्ञा कही; उसी प्रकार यहाँ अनुभव में निर्विकल्पता, स्थूलरूप कहते हैं तथा सूक्ष्मता से पृथक्त्ववितर्कवीचार आदि भेद व कषायादि दसवें गुणस्थान तक कहे हैं। **वहाँ अपने जानने में व अन्य के जानने में आवें—ऐसे भाव का कथन, स्थूल जानना तथा जो आप भी न जाने और केवली भगवान ही जानें—ऐसे भाव का कथन, सूक्ष्म जानना।**

चरणानुयोग आदि में, स्थूलकथन की मुख्यता है और करणानुयोग में, सूक्ष्मकथन की मुख्यता है—ऐसा भेद, अन्यत्र भी जानना चाहिए।

इस प्रकार निर्विकल्प अनुभव का स्वरूप जानना।

तथा भाईजी! आपने तीन दृष्टान्त लिखे व दृष्टान्त में प्रश्न लिखा, परन्तु दृष्टान्त सर्वांग मिलता नहीं है; जो दृष्टान्त है, वह एक प्रयोजन को बतलाता है सो यहाँ दूज का चन्द्रमा,

जलबिन्दु, अग्निकणिका—ये तो एकदेश के उदाहरण हैं और पूर्णमासी का चन्द्र, महासागर तथा अग्निकुण्ड—ये सर्वदेश के उदाहरण हैं; उसी प्रकार चौथे गुणस्थान में आत्मा के ज्ञानादि गुण, एकदेश प्रगट हुए हैं और तेरहवें गुणस्थान में आत्मा के ज्ञानादि गुण, सर्वथा प्रगट होते हैं। वहाँ जैसे—दृष्टान्तों की एक जाति है, **वैसे ही जितने गुण, अविरत सम्यग्दृष्टि को प्रगट हुए हैं, उनकी और तेरहवें गुणस्थान में जो गुण प्रगट होते हैं, उनकी, एक जाति है।**

फिर आपने प्रश्न लिखा—यदि एक जाति है तो जिस प्रकार केवली सर्व ज्ञेयों को प्रत्यक्ष जानते हैं; उसी प्रकार चौथे गुणस्थानवाला भी आत्मा को प्रत्यक्ष जानता होगा?

उसका उत्तर—देखो भाईजी! प्रत्यक्षता की अपेक्षा, एक जाति नहीं है; सम्यग्ज्ञान की अपेक्षा, एक जाति है। चौथे गुणस्थानवालों को मति-श्रुतरूप सम्यग्ज्ञान है और तेरहवें गुणस्थान-वालों को केवलरूप सम्यग्ज्ञान है। तथा एकदेश-सर्वदेश का तो अन्तर इतना ही है कि मति-श्रुतज्ञानवाला अमूर्तिक वस्तु को अप्रत्यक्ष और मूर्तिक वस्तु को भी प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष, किंचित् अनुक्रम से जानता है तथा सर्वथा सर्व वस्तु को, केवलज्ञान युगपत् जानता है; वह परोक्ष जानता है, यह प्रत्यक्ष जानता है - इतना ही विशेष है। तथा सर्व प्रकार से एक ही जाति कहें तो जिस प्रकार केवली युगपत् प्रत्यक्ष अप्रयोजनरूप ज्ञेयों को भी, निर्विकल्परूप जानते हैं; उसी प्रकार यह भी जाने, परन्तु ऐसा तो है नहीं; **इस प्रकार प्रत्यक्ष-परोक्ष का विशेष जानना।**

अष्टसहस्री में भी कहा है —

स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत्॥

(आप्तमीमांसा, अष्टसहस्री, दशम परिच्छेद, १०५)

अर्थ—स्याद्वाद अर्थात् श्रुतज्ञान और केवलज्ञान—ये दोनों सर्व तत्त्वों का प्रकाशन करनेवाले हैं। इनमें विशेष इतना ही है कि केवलज्ञान, प्रत्यक्ष है और श्रुतज्ञान, परोक्ष है परन्तु जो वस्तु है, वह अन्य नहीं है।

वहाँ आपने जो निश्चयसम्यक्त्व का स्वरूप और व्यवहारसम्यक्त्व का स्वरूप लिखा है, वह सत्य है परन्तु इतना (विशेष) जानना कि **सम्यक्त्वी के व्यवहारसम्यक्त्व में व अन्य काल में अन्तरंग निश्चयसम्यक्त्व गर्भित है, वह सदैव गमनरूप रहता है।**

तथा आपने लिखा कि कोई साधर्मी कहता है—यदि आत्मा को प्रत्यक्ष जानता है तो वह, कर्मवर्गणा को प्रत्यक्ष क्यों नहीं जानता है?

उससे कहते हैं—आत्मा को प्रत्यक्ष तो केवली ही जानते हैं और कर्मवर्गणा को अवधिज्ञानी भी जानते हैं।

तथा आपने लिखा—द्वितीया के चन्द्रमा की भाँति, आत्मा के प्रदेश भी कुछ खुले कहो ?

उसका उत्तर—यहाँ दृष्टान्त में प्रदेशों की अपेक्षा नहीं है; यहाँ दृष्टान्त में गुण की अपेक्षा है।

इस प्रकार आपने जो सम्यक्त्वसम्बन्धी और अनुभवसम्बन्धी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष आदि के प्रश्न लिखे थे, उनका उत्तर अपनी बुद्धि अनुसार लिखा है; उनका आप भी जिनवाणी से व अपनी परिणति से मिलान कर लेना।

और भाईजी! विशेष कहाँ तक लिखें; जो बात जानते हैं, वह लिखने में आती नहीं। मिलनेपर कुछ कहा भी जाए, परन्तु मिलना कर्माधीन है; इसलिए भला यह है कि चैतन्यस्वरूप के अनुभव का उद्यमी रहना।

वर्तमानकाल में अध्यात्मतत्त्व तो आत्मख्याति-समयसारग्रन्थ की आचार्य अमृतचन्द्र-कृत संस्कृतटीका में है और आगम की चर्चा, गोम्मटसारग्रन्थ में है तथा और भी अन्य ग्रन्थों में है।

जो जानते हैं, वह सब लिखने में आता नहीं; इसलिए तुम भी अध्यात्म व आगम ग्रन्थों का अभ्यास रखना और स्वरूपानन्द में मग्न रहना।

आगे, आपने कोई विशेष ग्रन्थ जाने हों तो उनके बारे में मुझको लिख भेजना। साधर्मियों को तो परस्पर चर्चा ही चाहिए और मेरी तो इतनी बुद्धि है नहीं, परन्तु आपके समान भाईयों के साथ परस्पर विचार होता है, वह बड़ी बात है।

जब तक मिलना नहीं हो, तब तक पत्र तो अवश्य ही लिखा करना।

[१]मिती फागुन बदी ५, सं० १८११

।। इति रहस्यपूर्ण चिट्ठी।।

❁❁❁

---

[१] उपलब्ध हस्तलिखित प्रति (पृष्ठ ९) पर यहाँ मिती फाल्गुण सुदी ५ लिखा है; जबकि पूर्व प्रकाशित ढूंढारी प्रति में फागुन बदी ५ ही लिखा मिलता है।

परमार्थ वचनिका

[कविवर पण्डित बनारसीदासजी द्वारा लिखित]

एक जीवद्रव्य, उसके अनन्त गुण व अनन्त पर्यायें, एक-एक गुण के असंख्यात प्रदेश, एक-एक प्रदेश में अनन्त कर्मवर्गणाएँ, एक-एक कर्मवर्गणा में अनन्त-अनन्त पुद्गलपरमाणु, एक-एक पुद्गलपरमाणु, अनन्त गुण व अनन्त पर्यायसहित विराजमान है।

इस प्रकार यह एक संसारावस्थित जीवपिण्ड की अवस्था है। इसी प्रकार अनन्त जीवद्रव्य सपिण्डरूप जानना। एक जीवद्रव्य, अनन्त-अनन्त पुद्गलद्रव्य से संयोगित (संयुक्त) मानना।

उसका विवरण—अन्य-अन्यरूप जीवद्रव्य की परिणति, अन्य-अन्यरूप पुद्गलद्रव्य की परिणति।

उसका विवरण—एक जीवद्रव्य, जिस प्रकार की अवस्थासहित नाना आकाररूप परिणमित होता है, उस प्रकार वह अन्य जीव से नहीं मिलता; उसका इससे अन्य प्रकार परिणमन होता है। इसी प्रकार अनन्तानन्तस्वरूप जीवद्रव्य, अनन्तानन्तस्वरूप अवस्थासहित वर्त रहे हैं परन्तु किसी जीवद्रव्य के परिणाम, किसी अन्य जीवद्रव्य से मिलते नहीं हैं।

इसी प्रकार एक पुद्गलपरमाणु, एक समय में जिस प्रकार की अवस्था धारण करता है; वह अवस्था, अन्य पुद्गलपरमाणुद्रव्य से नहीं मिलती। इसलिए पुद्गल (परमाणु) द्रव्य की भी, अन्य-अन्यता जानना।

वहाँ जीवद्रव्य-पुद्गलद्रव्य, एकक्षेत्रावगाही अनादि काल के हैं, उनमें विशेष इतना कि जीवद्रव्य एक और पुद्गलपरमाणुद्रव्य अनन्तानन्त, चलाचलरूप आगमन-गमनरूप, अनन्ताकार परिणमनरूप, बन्ध-मुक्ति शक्तिसहित वर्तते हैं।

वहाँ जीवद्रव्य की अनन्ती अवस्थाएँ हैं, उनमें तीन अवस्थाएँ मुख्य स्थापित कीं—एक अशुद्ध अवस्था, एक शुद्धाशुद्धरूप मिश्र अवस्था और एक शुद्ध अवस्था—ये तीन अवस्थाएँ, संसारी जीवद्रव्य की जानना तथा संसारातीत सिद्ध, अनवस्थितरूप कहे जाते हैं।

यहाँ तीनों अवस्थाओं का विचार—एक अशुद्ध निश्चयात्मक द्रव्य, एक शुद्ध निश्चयात्मक द्रव्य और एक मिश्र निश्चयात्मक द्रव्य। अशुद्ध निश्चयद्रव्य को सहकारी, अशुद्धव्यवहार; मिश्रद्रव्य को सहकारी, मिश्रव्यवहार व शुद्धद्रव्य को सहकारी, शुद्धव्यवहार।

अब, निश्चय-व्यवहार का विवरण —

'निश्चय' तो अभेदरूप द्रव्य है और द्रव्य के यथास्थित भाव, 'व्यवहार' हैं।

परन्तु विशेष इतना कि जितने काल तक संसारावस्था, उतने काल तक व्यवहार कहा जाता है और सिद्ध, व्यवहारातीत कहे जाते हैं क्योंकि संसार और व्यवहार को एकरूप दिखलाया गया है। **संसारी सो व्यवहारी; व्यवहारी सो संसारी।**

अब, उक्त तीनों अवस्थाओं का विवरण —

जितने काल तक मिथ्यात्व अवस्था, उतने काल तक अशुद्ध निश्चयात्मकद्रव्य, अशुद्धव्यवहारी। सम्यग्दृष्टि होते ही, चतुर्थ गुणस्थान से बारहवें गुणस्थानकपर्यन्त, मिश्र निश्चयात्मक-द्रव्य, मिश्रव्यवहारी। केवलज्ञानी, शुद्धनिश्चयात्मक (द्रव्य), शुद्धव्यवहारी।

अब, निश्चय तो द्रव्य का स्वरूप व व्यवहार, संसारावस्थित भाव, उसका विवरण —

मिथ्यादृष्टि जीव, अपना स्वरूप नहीं जानता; इसलिए परस्वरूप में मग्न होकर, अपना कार्य मानता है; उस कार्य को करता हुआ, अशुद्धव्यवहारी कहलाता है।

सम्यग्दृष्टि, अपने स्वरूप को परोक्षप्रमाण के द्वारा अनुभवता है; परसत्ता-परस्वरूप से अपना कार्य न मानता हुआ, योगद्वार से अपने स्वरूप के ध्यान-विचाररूप क्रिया करता है; उस कार्य को करता हुआ, मिश्रव्यवहारी कहलाता है।

केवलज्ञानी, यथाख्यातचारित्र के बल से, शुद्धात्मस्वरूप में रमणशील है; इसलिए शुद्धव्यवहारी कहलाता है। वहाँ योगरूप अवस्था विद्यमान है; इसलिए 'व्यवहारी' नाम कहलाता है। शुद्धव्यवहार की सीमा, तेरहवें गुणस्थान से लेकर, चौदहवें गुणस्थानपर्यन्त जानना। **असिद्धत्व-परिणमनत्वात् व्यवहारः।** (असिद्धत्वरूप परिणमन होने से, व्यवहार है।)

अब, तीनों व्यवहार के स्वरूप का विवरण —

अशुद्धव्यवहार—शुभाशुभाचाररूप; **शुद्धाशुद्धव्यवहार**—शुभोपयोगमिश्रित स्वरूपाचरणरूप; और **शुद्धव्यवहार**—शुद्धस्वरूपाचरणरूप।

वहाँ विशेष इनका इतना—कोई कहे कि शुद्धस्वरूपाचरणरूप तो सिद्ध में भी विद्यमान है, वहाँ भी व्यवहार संज्ञा कहना चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि संसारी अवस्थापर्यन्त ही व्यवहार कहा जाता है। संसारावस्था के मिटनेपर, व्यवहार भी मिटा कहलाता है। यहाँ इस प्रकार स्थापना की है; इसलिए सिद्ध, व्यवहारातीत कहलाते हैं।

इस प्रकार यहाँ **व्यवहार-विचार** समाप्त होता है।

अब, आगम-अध्यात्म के स्वरूप का विवरण —

वस्तु का जो स्वभाव, उसे 'आगम' कहते हैं और आत्मा का जो अधिकार, उसे 'अध्यात्म' कहते हैं। आगम तथा अध्यात्मस्वरूप भाव, आत्मद्रव्य के जानना चाहिए। ये दोनों भाव, संसार-अवस्था में त्रिकालवर्ती मानना चाहिए।

उसका विवरण—आगमरूप कर्मपद्धति और अध्यात्मरूप शुद्धचेतनापद्धति।

उसका विवरण—कर्मपद्धति, पौद्गलिक द्रव्यरूप अथवा भावरूप। वहाँ द्रव्यरूप पुद्गलपरिणाम और भावरूप पुद्गलाकार आत्मा की अशुद्धपरिणतिरूप परिणाम, ये दोनों परिणाम, आगमरूप स्थापित किये। अब, शुद्धचेतनापद्धतिरूप शुद्धात्मपरिणाम, वे भी द्रव्यरूप अथवा भावरूप। द्रव्यरूप तो जीवत्वपरिणाम और भावरूप, ज्ञान-दर्शन-सुख -वीर्य आदि अनन्त गुणपरिणाम; ये दोनों परिणाम, अध्यात्मरूप जानना चाहिए।

इस प्रकार आगम-अध्यात्मरूप दोनों पद्धतियों में, अनन्तता माननी चाहिए।

अनन्तता का विचार —

अनन्तता का स्वरूप, दृष्टान्त द्वारा दिखलाते हैं। जैसे—वटवृक्ष का एक बीज, हथेली में रखकर, उसका दीर्घदृष्टि से विचार करें तो उस वट के एक बीज में, एक वट का वृक्ष है; उस वृक्ष की जैसी कुछ भाविकाल में होनहार है, वैसे विस्तारसहित विद्यमान है, उसमें वास्तविकरूप में मौजूद है, वह अनेक शाखा-प्रशाखा-पत्र-पुष्प-फल संयुक्त है; उसके प्रत्येक फल में, अनेक बीज होंगे।

इस प्रकार की अवस्था एक वट के बीजसम्बन्धी विचारें और सूक्ष्मदृष्टि देनेपर तो उस वटवृक्ष में जो-जो बीज हैं, वे-वे अन्तर्गर्भित वटवृक्षसंयुक्त होते हैं।

इसी प्रकार एक वट में, अनेक-अनेक बीज हैं; वहाँ एक-एक बीज में, एक-एक वट है, उसका विचार करें तो भाविनय की अपेक्षा, न वटवृक्षों की मर्यादा पायी जाती है, न बीजों की मर्यादा पायी जाती है।

इस तरह अनन्तता का स्वरूप जानना।

उस अनन्तता के स्वरूप को केवलज्ञानी पुरुष भी अनन्त ही देखते-जानते-कहते हैं; अनन्त का तो अन्त है ही नहीं, जो ज्ञान में भासित हो; इसलिए अनन्तता, अनन्तरूप ही प्रतिभासित होती है।

इस प्रकार आगम-अध्यात्म की (अपेक्षा) अनन्तता जानना।

उसमें विशेष इतना—अध्यात्म का स्वरूप, अनन्त और आगम का स्वरूप, अनन्तानन्तरूप; यथार्थपने की अपेक्षा, 'अध्यात्म - एक द्रव्याश्रित' और आगम - 'अनन्तानन्त पुद्गलद्रव्याश्रित'।

इन दोनों का स्वरूप सर्वथा प्रकार तो केवलज्ञानगोचर है, अंशमात्र मति-श्रुतज्ञान द्वारा ग्राह्य है; इसलिए सर्वथा प्रकार आगमी-अध्यात्मी तो केवली हैं; अंशमात्र मति-श्रुतज्ञानी हैं; देशमात्र ज्ञाता, अवधिज्ञानी-मन:पर्ययज्ञानी हैं—ये तीनों यथावस्थित ज्ञानप्रमाण न्यूनाधिकरूप जानना।

मिथ्यादृष्टि जीव, न आगमी है—न अध्यात्मी है।

किसलिए ?—क्योंकि कथनमात्र तो ग्रन्थ-पाठ के बल से, आगम-अध्यात्म का स्वरूप उपदेशमात्र कहता है परन्तु आगम-अध्यात्म का स्वरूप, सम्यक् प्रकार से नहीं जानता; इसलिए **मूढ़ जीव, 'न आगमी है—न अध्यात्मी है'; निर्वेदकत्वात्** (निर्वेदक होने से)।

अब, मूढ़ तथा ज्ञानी जीव का विशेषपना और भी सुनो —

ज्ञाता तो मोक्षमार्ग को साधना जानता है परन्तु मूढ़, मोक्षमार्ग को साधना नहीं जानता।

किसलिए ?—तो सुनो! मूढ़ जीव, आगमपद्धति को व्यवहार कहता है और अध्यात्मपद्धति को निश्चय कहता है'; इसलिए आगम-अंग को एकान्तपने साधकर, मोक्षमार्ग दिखलाता है और अध्यात्म-अंग को व्यवहार से नहीं जानता—यह मूढ़दृष्टि का स्वभाव है क्योंकि उसे इसी प्रकार सूझता है।

किसलिए ?—क्योंकि आगम-अंग, बाह्यक्रियारूप प्रत्यक्षप्रमाण है, उसका स्वरूप साधना, सुगम है; इसलिए बाह्यक्रिया करता हुआ मूढ़ जीव, अपने को मोक्ष का अधिकारी मानता है; जबकि अन्तर्गर्भित जो अध्यात्मरूप क्रिया है, वह तो अन्तर्दृष्टि ग्राह्य है; उसे क्रिया-मूढ़ जीव नहीं जानता, क्योंकि अन्तर्दृष्टि के अभाव से, अन्तर्क्रिया दृष्टिगोचर नहीं होती; इसलिए मिथ्यादृष्टि जीव, मोक्षमार्ग साधने में, असमर्थ होता है।

अब, सम्यग्दृष्टि का विचार सुनो —

अब, सम्यग्दृष्टि कौन है ? उसे सुनो—संशय-विमोह-विभ्रम—ये तीन भाव, जिसमें नहीं होते हैं, वह 'सम्यग्दृष्टि' है।

संशय-विमोह-विभ्रम क्या है ?—उसका स्वरूप दृष्टान्त द्वारा दिखलाते हैं, उसे सुनो—

जैसे—किसी एक स्थान में, चार पुरुष खड़े थे। उन चारों के पास आकर, किसी अन्य पुरुष ने एक सीप का टुकड़ा दिखाया और प्रत्येक-प्रत्येक से प्रश्न किया कि 'यह क्या है ? - सीप है या चाँदी है ?

प्रथम ही उनमें से संशयवान एक पुरुष बोला—'कुछ समझ नहीं पड़ती कि यह सीप है या चाँदी है ? मेरी दृष्टि में इसका निर्धार नहीं होता है।'

दूसरा विमोहवान (अनध्यवसायी) पुरुष बोला—'मुझे यह समझ नहीं है कि तुम सीप, किससे कहते हो और चाँदी, किससे कहते हो ? - मेरी दृष्टि में कुछ आता नहीं है; इसलिए हम नहीं जानते हैं कि तू क्या कहता है ? अथवा वह गहलता (तीव्र अज्ञान) के कारण, चुप ही रहता है; बोलता नहीं।'

तीसरा विभ्रमवाला (विपर्यय) पुरुष भी बोला—'यह तो प्रत्यक्षप्रमाण चाँदी है, इसे सीप कौन कहेगा ? मेरी दृष्टि में तो चाँदी सूझता है; इसलिए सर्वथा प्रकार यह चाँदी है।'

इस तरह तीनों पुरुषों ने तो उस सीप का स्वरूप जाना नहीं; अत: तीनों मिथ्यावादी हैं।

अब, चौथा पुरुष बोला—'अरे! यह तो प्रत्यक्षप्रमाण सीप का टुकड़ा है, इसमें क्या धोखा है ?—सीप-सीप-सीप, निर्धाररूप से सीप ही है, इसको जो कोई अन्य वस्तु कहे, वह प्रत्यक्षप्रमाण से भ्रामक अथवा अन्ध है; उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि को स्व-पर स्वरूप में, न संशय है, न विमोह है और न विभ्रम है; उसे यथार्थदृष्टि है; इसलिए सम्यग्दृष्टि जीव, अन्तर्दृष्टि से मोक्षपद्धति को साधना जानता है। वह बाह्यभावों को, बाह्य निमित्तरूप मानता है, वे निमित्त नानारूप हैं; एकरूप नहीं। वह अन्तर्दृष्टि के प्रमाण में, मोक्षमार्ग साधता है। इस प्रकार सम्यग्ज्ञान-स्वरूपाचरण की कणिका जागनेपर, मोक्षमार्ग सच्चा होता है।

वहाँ 'मोक्षमार्ग को साधना'—व्यवहार है और 'शुद्धद्रव्य अक्रियारूप'—निश्चय है।

इस प्रकार निश्चय-व्यवहार का स्वरूप, सम्यग्दृष्टि जानता है; मूढ़ जीव न जानता है, न मानता है। मूढ़ जीव, बन्धपद्धति को साधकर, मोक्ष कहता है—यह बात, ज्ञाता नहीं मानते।

किसलिए ?—क्योंकि बन्ध के साधने से, बन्ध सधता है; मोक्ष नहीं सधता। ज्ञाता, जब कदाचित् बन्धपद्धति का विचार करता है, तब जानता है कि इस पद्धति से मेरा द्रव्य, अनादि से बन्धरूप चला आया है; अब इस पद्धति से मोह तोड़कर, प्रवर्तन करना चाहते हो तो इस पद्धति का राग, पूर्व की भाँति, हे नर! किसलिए करते हो ? **जो क्षणमात्र भी बन्धपद्धति में मग्न नहीं होता—ऐसा ज्ञाता, अपने स्वरूप का विचार करता है, अनुभव करता है, ध्याता है, गाता है, श्रवण करता है, नवधाभक्ति, तप, क्रिया आदि, अपने शुद्धस्वरूप के सन्मुख होकर करता है। यह ज्ञाता का आचार है, इसी का नाम 'मिश्रव्यवहार' है।**

अब, 'हेय-ज्ञेय-उपादेयरूप ज्ञाता की चाल' का विचार लिखते हैं —

हेय—त्यागरूप तो अपने द्रव्य की अशुद्धता; ज्ञेय—विचाररूप अन्य षट्द्रव्यों का स्वरूप; उपादेय—आचरणरूप अपने द्रव्य की शुद्धता।

उसका विवरण—गुणस्थानप्रमाण 'हेय-ज्ञेय-उपादेयरूप शक्ति' ज्ञाता की होती है;

ज्यों-ज्यों ज्ञाता की हेय-ज्ञेय-उपादेयरूप शक्ति वर्धमान होती है, त्यों-त्यों गुणस्थान की वृद्धि होती है। **गुणस्थानप्रमाण ज्ञान, गुणस्थानप्रमाण क्रिया।**

उसमें विशेष इतना—एक गुणस्थानवर्ती अनेक जीव हों तो वहाँ अनेक प्रकार का ज्ञान कहा जाता है, अनेक प्रकार की क्रिया कही जाती है। भिन्न-भिन्न सत्ता के प्रमाण से, एकता मिलती नहीं। एक-एक जीवद्रव्य में, अन्य-अन्यरूप औदयिकभाव होते हैं, उन औदयिकभावों के अनुसार, ज्ञान की अन्य-अन्यता जानना चाहिए।

परन्तु विशेष इतना—किसी जाति का ज्ञान ऐसा नहीं होता है कि परसत्तावलम्बनशीली होकर, मोक्षमार्ग को साक्षात् कहता हो। **किसलिए ?**—क्योंकि ज्ञान, अवस्थाप्रमाण परसत्तावलम्बक होता है; परसत्तावलम्बी ज्ञान को, परमार्थ नहीं कहते हैं।

जो ज्ञान, स्वसत्तावलम्बनशीली होता है, उसी का नाम ज्ञान है। उस ज्ञान को सहकारभूत निमित्तरूप नाना प्रकार के औदयिकभाव होते हैं, वह उन औदयिकभावों का तमाशगीर अर्थात् ज्ञाता होता है; न कर्ता है, न भोक्ता है, न अवलम्बी है; इसलिए **कोई ऐसा कहे** कि इस प्रकार के औदयिकभाव, सर्वथा हों तो अमुक गुणस्थान होता है तो वह झूठ है; उन्होंने द्रव्य का स्वरूप सर्वथा प्रकार जाना नहीं है।

किसलिए ?—क्योंकि अन्य गुणस्थानों की तो क्या बात करें ? केवली को भी, औदयिकभावों का नानापना, जानना चाहिए। सभी केवलियों को भी, औदयिकभाव एक समान नहीं होते। किसी केवली को दण्ड-कपाटरूप क्रिया का उदय होता है, किसी केवली को नहीं होता; अतः जब केवली में भी उदय का नानापना है, तो अन्य गुणस्थानों की क्या बात करें ? इसलिए औदयिकभावों के सहारे ज्ञान नहीं होता; ज्ञान, स्वशक्तिप्रमाण होता है।

स्व-परप्रकाशक ज्ञान की शक्ति, ज्ञायकप्रमाण ज्ञान तथा यथानुभवप्रमाण, स्वरूपाचरणरूप चारित्र—यह ज्ञाता का सामर्थ्यपना है।

इन बातों का विवरण कहाँ तक लिखें, कहाँ तक कहें ? वह वचनातीत है, इन्द्रियातीत है, ज्ञानातीत है; इसलिए इन विचारों को बहुत क्या लिखें ? जो ज्ञाता होगा, वह थोड़ा ही लिखा बहुत करके समझेगा; जो अज्ञानी होगा, वह यह चिट्ठी सुनेगा तो सही, परन्तु समझेगा नहीं।

यह वचनिका ज्यों की त्यों, सुमतिप्रमाण, केवली-वचनानुसारी है। जो इसे सुनेगा, समझेगा, श्रद्धेगा; उसे भाग्यप्रमाण कल्याणकारी है।

।। इति परमार्थवचनिका सम्पूर्ण।।

उपादान-निमित्त की चिट्ठी

[कविवर पण्डित बनारसीदासजी द्वारा लिखित]

प्रथम ही कोई पूछता है—निमित्त क्या और उपादान क्या ?

उसका विवरण—निमित्त तो संयोगरूप कारण; उपादान, वस्तु की सहजशक्ति।

उसका विवरण—एक द्रव्यार्थिक निमित्त-उपादान; एक पर्यायार्थिक निमित्त-उपादान।

उसका विवरण—द्रव्यार्थिक निमित्त-उपादान, 'गुणभेदकल्पना'; पर्यायार्थिक निमित्त -उपादान, 'परयोगकल्पना'।

उनकी चौभंगी—प्रथम ही **गुणभेदकल्पना की चौभंगी** का विस्तार कहता हूँ—

वह किस प्रकार ?—ऐसे सुनो—जीवद्रव्य, उसके अनन्त गुण; सब गुण, असहाय, स्वाधीन सदा काल; उनमें दो गुण प्रधान या मुख्य स्थापित किए।

उस पर चौभंगी का विचार—एक तो जीव का ज्ञानगुण और दूसरा जीव का चारित्रगुण। – ये दोनों गुण, शुद्धरूप भाव जानने, अशुद्धरूप भी जानने; यथायोग्य स्थानक मानने।

उसका विवरण—इन दोनों की गति न्यारी-न्यारी, शक्ति न्यारी-न्यारी, जाति न्यारी -न्यारी, सत्ता न्यारी-न्यारी।

प्रथम, ज्ञानगुण का विवरण—ज्ञानगुण की तो ज्ञान-अज्ञानरूप 'गति', स्व-पर प्रकाशक 'शक्ति', ज्ञानरूप तथा मिथ्यात्वरूप 'जाति', और द्रव्यप्रमाण 'सत्ता'।

परन्तु एक (जाति में) विशेष इतना—ज्ञानरूप जाति का नाश नहीं है परन्तु सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होनेपर, मिथ्यात्वरूप जाति का नाश होता है—**यह तो ज्ञानगुण का निर्णय हुआ।**

अब, चारित्रगुण का विवरण—संक्लेश-विशुद्धरूप 'गति', थिरता-अस्थिरता 'शक्ति', मन्द-तीव्ररूप 'जाति', और द्रव्यप्रमाण 'सत्ता'।

परन्तु एक (जाति में) विशेष इतना—मन्दता की स्थिति, चौदहवें गुणस्थानपर्यन्त है; तीव्रता की स्थिति, पाँचवें गुणस्थानपर्यन्त है।

— यह तो दोनों का गुणभेद न्यारा-न्यारा किया।

अब, इनकी व्यवस्था—न ज्ञान, चारित्र के आधीन है और न चारित्र, ज्ञान के आधीन है; दोनों असहायरूप हैं—यह तो मर्यादा-बन्ध है।

अब, (द्रव्यार्थिक) चौभंगी का विचार—ज्ञानगुण, निमित्त और चारित्रगुण, उपादान उसका विवरण—एक तो 'अशुद्ध निमित्त - अशुद्ध उपादान'; दूसरा, 'अशुद्ध निमित्त - शुद्ध उपादान'; तीसरा, 'शुद्ध निमित्त - अशुद्ध उपादान'; चौथा, 'शुद्ध निमित्त - शुद्ध उपादान'।

उसका विवरण—सूक्ष्मदृष्टि देकर, द्रव्य की एक समय की अवस्था लेना, समुच्चयरूप मिथ्यात्व-सम्यक्त्व की बात नहीं चलाना।

जीव की अवस्थाएँ इस प्रकार होती हैं—किसी समय, 'जानरूप ज्ञान - विशुद्ध चारित्र'; किसी समय 'अजानरूप ज्ञान - विशुद्ध चारित्र'; किसी समय, 'जानरूप ज्ञान - संक्लेशरूप चारित्र'; किसी समय, 'अजानरूप ज्ञान - संक्लेश चारित्र'।

जिस समय, 'अजानरूप **गति**, ज्ञान की - संक्लेशरूप **गति**, चारित्र की'; उस समय, '**निमित्त-उपादान - दोनों अशुद्ध**'। किसी समय, 'अजान(गति)रूप ज्ञान - विशुद्ध (गति)रूप चारित्र'; उस समय, '**अशुद्ध निमित्त - शुद्ध उपादान**'। किसी समय, 'जानरूप ज्ञान - संक्लेशरूप चारित्र'; उस समय, '**शुद्ध निमित्त - अशुद्ध उपादान**'। किसी समय, 'जानरूप ज्ञान - विशुद्धरूप चारित्र'; उस समय, '**शुद्ध निमित्त - शुद्ध उपादान**'।

इस प्रकार जीव की अन्य-अन्य दशा, अनादिरूप सदा काल है।

उसका विवरण—जानरूप 'ज्ञान की शुद्धता' कहलाती है, विशुद्धरूप 'चारित्र की शुद्धता कहलाती है; अजानरूप 'ज्ञान की अशुद्धता' कहलाती है, संक्लेशरूप 'चारित्र की अशुद्धता' कहलाती है। **अब, उसका विचार सुनो —**

मिथ्यात्व अवस्था में किसी समय, जीव का ज्ञानगुण 'जानरूप' होता है, तब क्या जानता है ? ऐसा जानता है कि लक्ष्मी, पुत्र, कलत्र इत्यादि मुझसे न्यारे हैं, प्रत्यक्षप्रमाण; मैं मरूँगा, ये यहाँ ही रहेंगे - ऐसा जानता है। अथवा ये जाऐंगे, मैं रहूँगा, किसी काल इनसे मेरा एक दिन वियोग है - ऐसा जानपना, मिथ्यादृष्टि को होता है, सो तो शुद्धता कही जाए, परन्तु '**सम्यक् शुद्धता नहीं, गर्भित शुद्धता'; जब वस्तु का स्वरूप जाने, तब सम्यक्शुद्धता; वह, ग्रन्थिभेद के बिना नहीं होती, परन्तु गर्भितशुद्धता, वह भी 'अकामनिर्जरा' है।** उसी जीव का ज्ञानगुण किसी समय, 'अजानरूप या गहलरूप' है, उससे 'केवल बन्ध' है।

इसी प्रकार मिथ्यात्व अवस्था में किसी समय, चारित्रगुण 'विशुद्धरूप' है; इसलिए चारित्रावरण (चारित्रमोहनीय) कर्म मन्द है, उस मन्दता से निर्जरा है। किसी समय, चारित्रगुण 'संक्लेशरूप' है; इसलिए केवल तीव्रबन्ध है।

इस प्रकार मिथ्या अवस्था में जिस समय, 'जानरूप ज्ञान' है और 'विशुद्धतारूप चारित्र' है, उस समय 'निर्जरा' है। जिस समय, 'अजानरूप ज्ञान' है और 'संक्लेशरूप चारित्र' है, उस समय 'बन्ध' है।

उसमें विशेष इतना—'अल्प निर्जरा - बहुत बन्ध'; इसलिए मिथ्यात्व-अवस्था में, अल्प की अपेक्षा, 'केवल बन्ध' कहा। जैसे—किसी पुरुष को, नफा थोड़ा - टोटा बहुत हो, उस पुरुष को टोटावाला ही कहा जाता है परन्तु बन्ध-निर्जरा के बिना, जीव किसी अवस्था में नहीं है - ऐसा यह दृष्टान्त है। यदि विशुद्धता से निर्जरा न होती तो एकेन्द्रिय जीव, निगोद अवस्था से व्यवहारराशि में किसके बल आता; वहाँ तो ज्ञानगुण, अजानरूप है, गहलरूप है, अबुद्धरूप है; इसलिए ज्ञानगुण का तो बल नहीं है। विशुद्धरूप चारित्र के बल से, जीव व्यवहारराशि में चढ़ता है; जीवद्रव्य में कषाय की मन्दता होती है, उससे निर्जरा होती है; उसी मन्दता के प्रमाण में, शुद्धता जानना।

अब, और भी विस्तार सुनो—'जानपना, ज्ञान का और विशुद्धता, चारित्र की', दोनों मोक्षमार्गानुसारी हैं; इसलिए दोनों में विशुद्धता मानना, **परन्तु विशेष इतना—'गर्भितशुद्धता', 'प्रगटशुद्धता' नहीं है।**

— इन दोनों गुणों की गर्भितशुद्धता, जब तक ग्रन्थिभेद न हो, तब तक मोक्षमार्ग नहीं साधती, परन्तु ऊर्ध्वता को करती है, अवश्य करती ही है। इन दोनों गुणों की गर्भितशुद्धता, में जब ग्रन्थिभेद होता है, तब इन दोनों की शिखा फूटती है, तब दोनों गुण, धाराप्रवाहरूप से मोक्षमार्ग में चलते हैं; ज्ञानगुण की शुद्धता से, ज्ञानगुण निर्मल होता है और चारित्रगुण की शुद्धता से, चारित्रगुण निर्मल होता है। वह **केवलज्ञान का अंकुर** और वह **यथाख्यातचारित्र का अंकुर**।

यहाँ कोई प्रश्न करता है—तुमने कहा कि, ज्ञान का जानपना और चारित्र की विशुद्धता —दोनों से निर्जरा है; वहाँ ज्ञान के जानपने से निर्जरा—यह हमने माना, परन्तु चारित्र की विशुद्धता से निर्जरा कैसे?—यह हम नहीं समझे।

उसका समाधान—सुन भैया! 'विशुद्धता', स्थिरतारूप परिणाम को कहते हैं; वह स्थिरता, यथाख्यात का अंश है; इसलिए 'विशुद्धता में, शुद्धता' आ जाती है।

तब वह प्रश्नकार बोला—तुमने विशुद्धता से निर्जरा कही, परन्तु हम कहते हैं कि विशुद्धता से निर्जरा नहीं है; शुभबन्ध है।

उसका समाधान—सुन भैया! यह तो तू सच्चा है कि 'विशुद्धता से, शुभबन्ध है और संक्लेशता से अशुभबन्ध है—यह तो हमने भी माना, परन्तु इसमें और भेद (रहस्य) है, उसे सुनो! अशुभपद्धति, अधोगति का परिणमन है और शुभपद्धति, ऊर्ध्वगति का परिणमन है; इसलिए **अधोरूप से संसार और ऊर्ध्वरूप से मोक्षस्थान पकड़ (स्वीकार कर), शुद्धता उसमें आयी—ऐसा मान, मान; इसमें धोखा नहीं है; 'विशुद्धता' सदा काल मोक्ष का मार्ग है परन्तु ग्रन्थिभेद बिना, शुद्धता का जोर चलता नहीं है न।**

जैसे—कोई पुरुष, नदी में डुबकी मारे, फिर जब उछले (ऊपर आए), तब दैवयोग से उस पुरुष के ऊपर नौका आ जाए तो यद्यपि वह तैराक पुरुष है तथापि किस भाँति निकले? उसका जोर चलता नहीं; वह बहुत कोशिश करता है परन्तु कुछ वश नहीं चलता; उसी प्रकार विशुद्धता की भी ऊर्ध्वता जाननी चाहिए; इसीलिए उसे गर्भितशुद्धता कहा है। वह गर्भितशुद्धता ग्रन्थिभेद होनेपर, मोक्षमार्ग को चली; अपने स्वभाव से वर्द्धमानरूप हुई, तब पूर्णयथाख्यात प्रगट कहलाया। **विशुद्धता की जो ऊर्ध्वता, वही उसकी शुद्धता।**

और सुन! जब मोक्षमार्ग साधते हैं, तब कहते हैं—**सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः** और ऐसा भी कहते हैं—**ज्ञान-क्रियाभ्यां मोक्षः**।

उसका विचार—चतुर्थ गुणस्थान से लेकर, चौदहवें गुणस्थानपर्यन्त मोक्षमार्ग कहा है।

उसका विवरण—सम्यक्‌रूप ज्ञानधारा और विशुद्धरूप चारित्रधारा—ये दोनों धाराएँ, मोक्षमार्ग को चलीं; वहाँ ज्ञान से ज्ञान की शुद्धता; क्रिया से क्रिया की शुद्धता है। यदि विशुद्धता में शुद्धता है तो यथाख्यातरूप होती है। यदि विशुद्धता में शुद्धता का अंश नहीं होता तो (केवली में) ज्ञानगुण शुद्ध होता और क्रिया अशुद्ध रहती, परन्तु ऐसा तो है नहीं; उसमें शुद्धता थी, उससे विशुद्धता हुई है।

यहाँ कोई कहे—ज्ञान की शुद्धता से क्रिया शुद्ध हुई, परन्तु ऐसा तो है नहीं। कोई गुण, किसी दूसरे गुण के सहारे नहीं है; सब असहायरूप हैं।

और भी सुन—यदि क्रियापद्धति सर्वथा अशुद्ध होती तो अशुद्धता में इतनी शक्ति नहीं है कि वह मोक्षमार्ग को चले; इसलिए विशुद्धता में, यथाख्यात का अंश है; इसलिए वह अंश क्रम-क्रम से पूर्ण हुआ। **हे भाई प्रश्नवाले!** तुमने विशुद्धता में शुद्धता मानी या नहीं? यदि तुमने वह मानी तो कुछ और कहने का काम नहीं है; यदि तुमने वह नहीं मानी तो तेरा द्रव्य, इसी प्रकार परिणमित हुआ है, हम क्या करें? **यदि मानी तो शाबाश!**

इस प्रकार यह 'द्रव्यार्थिक की चौभंगी' पूर्ण हुई।

निमित्त-उपादान का शुद्ध-अशुद्धरूप विचार —

अब, पर्यायार्थिक की चौभंगी सुनो!—एक तो वक्ता, अज्ञानी; श्रोता भी अज्ञानी; वहाँ तो **निमित्त भी अशुद्ध-उपादान भी अशुद्ध**। दूसरा—वक्ता, अज्ञानी; श्रोता, ज्ञानी; वहाँ **निमित्त, अशुद्ध-उपादान, शुद्ध**। तीसरा-वक्ता, ज्ञानी; श्रोता, अज्ञानी; वहाँ **निमित्त, शुद्ध - उपादान, अशुद्ध**। चौथा-वक्ता, ज्ञानी; श्रोता भी ज्ञानी; वहाँ तो **निमित्त भी शुद्ध, उपादान भी शुद्ध।**

— इस प्रकार यह 'पर्यायार्थिक की चौभंगी' सिद्ध की।

।। इति निमित्त-उपादान, शुद्ध-अशुद्धरूप विचार-वचनिका।। ❁❁❁

पण्डितप्रवर श्री टोडरमलजी द्वारा लिखित गोम्मटसारादि महान ग्रन्थों की 'सम्यग्ज्ञान-चन्द्रिका टीका' की प्रस्तावना के कुछ महत्त्वपूर्ण अंश

शास्त्राभ्यास की महिमा

...पुनश्च, अर्थ का पक्षपाती कहता है – इस शास्त्र का अभ्यास करने से क्या होता है? सर्व कार्य धन से बनते हैं। धन से ही प्रभावना आदि धर्म निष्पन्न होते हैं, धनवान के निकट अनेक पण्डित आकर रहते हैं; अन्य भी सर्व कार्यों की सिद्धि होती है; इसलिए धन उपजाने का उद्यम करना चाहिए।

उसको कहते हैं – अरे पापी! धन कुछ अपना उपजाया तो होता नहीं है; भाग्य से होता है। वहाँ ग्रंथाभ्यास आदि धर्मसाधन से जो पुण्य उत्पन्न हो, उसी का नाम, **भाग्य** है;

यदि **धन प्राप्त होना है तो शास्त्राभ्यास करने से, कैसे नहीं होगा? और नहीं होना है तो शास्त्राभ्यास नहीं करने से, कैसे होगा? इसलिए धन का होना या न होना तो उदय के आधीन है; अतः शास्त्राभ्यास में क्यों शिथिल होते हो?**

और सुनो! **धन है, वह तो विनाशीक है, भय संयुक्त है, पाप से पैदा होता है, नरकादि का कारण है, और यह शास्त्राभ्यासरूप ज्ञानधन है, वह अविनाशी है, भयरहित है, धर्मरूप है, स्वर्ग-मोक्ष का कारण है; इसलिए महंत पुरुष तो धनादि को छोड़कर, शास्त्राभ्यास में लगते हैं** और तू पापी, शास्त्राभ्यास को छुड़ाकर, धन उत्पन्न करने की बड़ाई करता है; अतः तू अनंत संसारी है।

वहाँ तुमने कहा – प्रभावना आदि धर्म भी धन से ही होते हैं।

[**उससे कहते हैं** –] देखो! प्रभावना आदि धर्म हैं, वे किंचित् सावद्यक्रिया संयुक्त हैं। समस्त सावद्यरहित शास्त्राभ्यासरूप धर्म, उससे प्रधान है। यदि ऐसा न हो तो गृहस्थ अवस्था में, प्रभावना आदि धर्म साधते थे, उनको छोड़कर संयमी होकर, शास्त्राभ्यास में क्यों लगते हैं? तथा शास्त्राभ्यास से प्रभावनादि भी विशेष होती है।

तथा तुमने कहा – धनवान के निकट पण्डित भी आकर रहते हैं।

[**उससे कहते हैं** –] 'यदि लोभी पण्डित हो और अविवेकी धनवान हो', वहाँ ऐसा होता है और शास्त्राभ्यासवालों की तो इन्द्रादिक सेवा करते हैं। यहाँ भी बड़े-बड़े महंत पुरुष, दास होते देखे जाते हैं; इसलिए शास्त्राभ्यासवालों से, धनवान को महंत मत जान।

वहाँ तूने कहा – धन से सर्व कार्य सिद्धि होती है।

[**उससे कहते हैं** –] परन्तु धन से तो इस लोकसम्बन्धी कुछ विषयादि कार्य - ऐसे सिद्ध होते हैं, जिनसे बहुत कालपर्यंत नरकादि दुःख सहने पड़ते हैं, और शास्त्राभ्यास से ऐसा कार्य सिद्ध होता है, जिससे इहलोक में और परलोक में, अनेक सुखों की परम्परा प्राप्त होती है।

इसलिए **धन उपजाने का विकल्प छोड़कर, शास्त्राभ्यास करना और यदि सर्वथा ऐसा न बने तो संतोषसहित धन उपजाने का साधनकर, शास्त्राभ्यास में तत्पर रहना।**

पुनश्च, काम-भोगादि का पक्षपाती कहता है – शास्त्राभ्यास करने में सुख नहीं है, बडाई नहीं

है; इसलिए जिनसे यहाँ ही सुख उत्पन्न हो - ऐसे स्त्रीसेवन, खाना, पहनना इत्यादि विषयों का सेवन करना चाहिए अथवा जिनसे यहाँ ही बड़ाई हो - ऐसे विवाहादिक कार्य करना चाहिए।

उसको कहते हैं - विषयजनित जो सुख है, वह दुःख ही है क्योंकि विषयसुख है, वह पर-निमित्त से होता है; पहले, बाद में और तत्काल आकुलतासहित है, जिसके नाश होने के अनेक कारण मिलते हैं; आगामी नरकादि दुर्गति को प्राप्त करानेवाला है - ऐसा होनेपर भी, तुम्हारे चाहने से मिलता नहीं; पूर्व पुण्य से मिलता है; इसलिए विषम है। जैसे-खाज से पीड़ित पुरुष, अपने अंग को कठोर वस्तु से खुजाता है, वैसे ही इन्द्रियों द्वारा पीड़ित जीव, जब उनकी पीड़ा सही नहीं जाती, तब किंचित्मात्र उस पीड़ा के प्रतिकार करते हुए भासित होनेवाले विषयसुखों में झंपापात करते हैं, वह परमार्थरूप सुख नहीं है।

तथा **शास्त्राभ्यास करने से हुआ जो सम्यग्ज्ञान, उससे उत्पन्न जो आनन्द, वही सच्चा सुख है क्योंकि वह सुख, स्वाधीन है, आकुलतारहित है, किसी से नष्ट नहीं होता, मोक्ष का कारण है, विषम नहीं है।** जैसे-जब खाज की पीड़ा न हो, तब सहज ही सुख को प्राप्त होता है; वैसे ही जब इन्द्रियाँ पीड़ा देने में समर्थ न हों, तब सहज ही सुख को प्राप्त होता है। इसलिए विषयसुख छोड़कर, शास्त्राभ्यास करना। यदि सर्वथा न छूटे तो जितना बने, उतना छोड़कर, शास्त्राभ्यास में तत्पर रहना।

तथा **तुमने विवाहादिक कार्य में बड़ाई होने की बात कही।**

[**उससे कहते हैं** -] तो वह बडाई कितने दिन रहेगी? जिसके लिए महा-पापारम्भ द्वारा नरकादि में बहुत काल तक दुःख भोगना होगा। अथवा उन कार्यों में तुझसे भी अधिक धन लगानेवाले बहुत हैं; इसलिए विशेष बड़ाई भी होनेवाली नहीं है।

तथा **शास्त्राभ्यास से तो ऐसी बड़ाई होती है कि जिसकी सर्वजन महिमा करते हैं, इन्द्रादि भी प्रशंसा करते हैं और वह, परम्परा स्वर्ग-मोक्ष का कारण है; इसलिए विवाहादिक कार्यों के विकल्प छोड़कर, शास्त्राभ्यास का उद्यम रखना। यदि पूरी तरह से न छूटें तो बहुत विकल्प नहीं करना।**

हे भव्य! शास्त्राभ्यास के अनेक अंग हैं-शब्द-अर्थ का पढना या सीखना, सिखाना, उपदेश देना, विचारना, सुनना, प्रश्न करना - समाधान जानना, बारम्बार चर्चा करना; इत्यादि अनेक अंग हैं। वहाँ **जैसे बने, वैसे अभ्यास करना। यदि सर्व शास्त्र का अभ्यास न बने तो इस शास्त्र में सुगम और दुर्गम अनेक अर्थों का निरूपण है। वहाँ जिसका सम्भव हो, उसी का अभ्यास करना, परन्तु अभ्यास में आलसी मत होना।**

देखो! शास्त्राभ्यास की महिमा!! जिसके होनेपर परम्परा आत्मानुभवदशा को प्राप्त होता है; जिससे 'मोक्षरूप फल उत्पन्न होता है'।

यद्यपि यह तो परम्परारूप फल है, परन्तु शास्त्राभ्यास से तत्काल ही इतने गुण प्रकट होते हैं-

१. क्रोधादि कषायों की तो मन्दता होती है।

२. पाँच इन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्ति रुकती है।

३. अति चंचल मन भी एकाग्र होता है।

४. हिंसादि पाँच पाप नहीं प्रवर्तते हैं।

५. अल्प ज्ञान होनेपर भी, त्रिलोक के त्रिकालसम्बन्धी समस्त चराचर पदार्थों का जानना होता है।

६. हेय-उपादेय की पहचान होती है।

७. आत्मज्ञान-सन्मुख होता है।

८. अधिक-अधिक ज्ञान होनेपर, आनन्द उत्पन्न होता है।

९. लोक में महिमा व यश विशेष होता है।

१०. सातिशय पुण्य का बन्ध होता है।

- इत्यादि गुण शास्त्राभ्यास करने से तत्काल ही प्रकट होते हैं; इसलिए शास्त्राभ्यास अवश्य करना।

पुनश्च, हे भव्य! शास्त्राभ्यास करने का अवसर पाना महा-दुर्लभ है।

- ऐसा किस कारण है?

वह कहते हैं-एकेन्द्रियादि असंज्ञीपर्यन्त जीवों के तो मन ही नहीं है तथा नारकी, वेदना से पीड़ित हैं; तिर्यंच विवेकरहित हैं; देव, विषयासक्त हैं; इसलिए मनुष्यों को अनेक सामग्री मिलनेपर शास्त्राभ्यास होता है।

इस प्रकार मनुष्यपर्याय की प्राप्ति होना ही द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से महा-दुर्लभ है।

वहाँ **द्रव्य** से (संख्या अपेक्षा) लोक में मनुष्य जीव, बहुत थोड़े हैं, तुच्छ संख्यातमात्र ही हैं (पर्याप्त मनुष्यों की अपेक्षा) और अन्य जीवों में निगोदिया अनंत हैं, दूसरे जीव असंख्यात हैं। **क्षेत्र** से मनुष्यों का क्षेत्र, बहुत कम है, अढ़ाई द्वीप मात्र ही है: तथा अन्य जीवों में एकेन्द्रियों का क्षेत्र, सर्व लोक है, औरों का कितने ही राजू प्रमाण है। **काल** से मनुष्यपर्याय में रहने का उत्कृष्ट काल, कम है, कर्मभूमि की अपेक्षा, पृथक्त्व कोटि पूर्व मात्र ही है; तथा अन्य पर्यायों में रहने का उत्कृष्ट काल एकेन्द्रियों में तो असंख्यात पुद्गल परिवर्तन मात्र और दूसरों में संख्यात पल्य मात्र है। तथा **भाव** से, तीव्र शुभाशुभपने से रहित - ऐसे मनुष्य-पर्याय के कारणभूत परिणाम होना अत्यन्त दुर्लभ है। अन्य पर्याय के कारणभूत अशुभरूप और शुभरूप परिणाम होना, सुलभ है।

इस तरह शास्त्राभ्यास की कारणभूत 'पर्याप्त कर्मभूमिज मनुष्यपर्याय' का दुर्लभपना जानना।

वहाँ सुवास, उच्च कुल, पूर्ण आयु, इन्द्रियों की सामर्थ्य, नीरोगपना, सुसंगति, धर्मरूप अभिप्राय, बुद्धि की प्रबलता, इत्यादि की प्राप्ति होना उत्तरोत्तर महा-दुर्लभ है - ऐसा प्रत्यक्ष देखते हैं तथा इतनी सामग्री मिले बिना, ग्रन्थाभ्यास बनता नहीं है।

देखो! तुमने भाग्य से यह अवसर पाया है; इसलिए तुम्हें हठ से भी तुम्हारे हित के लिए प्रेरित करते हैं। 'जैसे बने, वैसे'-शास्त्र का अभ्यास करो; अन्य जीवों को 'जैसे बने, वैसे'-शास्त्राभ्यास कराओ; तथा जो जीव, शास्त्राभ्यास करते हैं, उनकी अनुमोदना करो। पुस्तक लिखवाना व पढ़ने-पढ़ानेवालों की स्थिरता करना, इत्यादि शास्त्राभ्यास के बाह्य-कारणों का साधन करना, क्योंकि इनके द्वारा भी परम्परा कार्यसिद्धि होती है और महत् पुण्य उपजता है।

नोट्स

नोट्स

ग्रन्थ के प्रकाशन - सहयोगकर्ता

Late Sh. Vinod Kumar Jain & Late Smt. Veena Rani Jain 128, Mary Pearson Drive, Markham, Ontario L3S3E9 Canada Thru, New Jersey Residents	1,90,000/-
श्री अनिल जैन परिवार, बुलन्दशहर	1,20,000/-
श्री विजयकुमार जैन, 'हाथरसवाले', दादर, मुम्बई	50,000/-
एक मुमुक्षु बहिन, मुम्बई	21,000/-
एक मुमुक्षु बहिन, मुम्बई	5,000/-

श्री दिगम्बर जैन मंदिर
पार्ला, मुम्बई

मोक्षमार्गप्रकाशक

आचार्यकल्प पण्डित प्रवर टोडरमलजी